संस्थापक संपादक : दूधनाथ सिंह : 1975

पक्षधर

प्रतिरोध की संस्कृति का रचनात्मक हस्तक्षेप

वर्ष : 15 अंक : 30 जनवरी-जून, 2021

संपादक

विनोद तिवारी

संपादन सहयोग

आशीष मिश्र • पंकज बोस

अजय आनंद • सूरज त्रिपाठी

अक्षर संयोजन

कम्प्यूटेक सिस्टम
ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32
आवरण चित्र : विश्वाची तिवारी

मूल्य :

एक प्रति : ₹ 150 (व्यक्तिगत) ₹ 200 (संस्थागत)

सदस्यता :

वार्षिक (व्यक्तिगत) : ₹ 350 (डाक खर्च सहित)
वार्षिक (संस्थागत) : ₹ 400 (डाक खर्च सहित)
पंचवार्षिक : ₹ 1500
आजीवन : ₹ 5000
विदेश के लिए : $ 100

भुगतान हेतु बैंक-खाता विवरण :
A/c Name / No. : Pakshdhar / 31266280438
Bank : SBI / IFSC-SBIN0001067

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक **विनोद तिवारी, सी-4/604, ऑलिव काउंटी, सेक्टर-5, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012** के लिए बी.के. ऑफसेट, एफ-93, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से प्रकाशित और मुद्रित।

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादक और लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित सामग्री के किसी भी तरह के उपयोग की अनुमति नहीं होगी।

सम्पर्क :

सी-4/604, ऑलिव काउंटी, सेक्टर-5,
वसुंधरा, गाजियाबाद-201012
मो. 09560236569
ई-मेल : pakshdharwarta@gmail.com
वेब पता : www.pakshdhar.com

PAKSHDHAR
A Bi-Annual Literary Magazine
Editor : Vinod Tiwari
Language : Hindi

ISSN : 2231-1173

अनुक्रम

संपादकीय

आज़ादी के पचहत्तर साल : भारत बनाम नया भारत 5

एक कवि : एक राग

दस कविताएँ : **हरिश्चंद्र पाण्डेय** 9

अन्ततः सिर्फ कवि : हरिश्चन्द्र पाण्डे : **अष्टभुजा शुक्ल** 16

स्मृति की रेखाएँ

'अब तक गीत जौन अनगावल...' : **अखिलेश** 22

वे हमसे दोस्ताना रिश्ता पसंद करते हैं : **बलिराज पाण्डेय** 57

लेख

अरे इन दोहुन राह न पाई : **कुमार पंकज** 73

चतुष्टयी की किसान गाथा (दीनबन्धु मित्र, रवीन्द्रनाथ, फकीर मोहन सेनापति और प्रेमचन्द) : **श्रीनारायण पाण्डेय** 103

'कबीर' की परिभूमि : साम्प्रदायिक संकीर्णता के विरूद्ध युद्ध : **सव्यसाची भट्टाचार्य** 110
(अनु. : रणजीत साहा)

हिंदी उपन्यास की भारतीय ज़मीन : **विनोद शाही** 117

'चाँद' पत्रिका और विधवाओं के बयानात : **विजय झा** 148

कहानियाँ

देवी प्रसाद मिश्र की अन्य कथाएँ : **देवी प्रसाद मिश्र** 157

सीताराम से सिकंदर : **वर्तुल सिंह** 164

पितृ-पक्ष : **चन्दन पांडेय** 182

ख़्वाब-सफ़र और सहरा : **आयशा आरफ़ीन** 188

डायरी

यह जो यथार्थ का सच है : **शशांक** 203

पत्र

मैं मृत्युमुखी जीना चाहता हूँ (सुकान्त भट्टाचार्य के सात पत्र) : **अनु. मीता दास** 212

कविताएँ

चार कविताएँ : **आर. चेतन क्रांति** 222

पाँच कविताएँ : **आशुतोष दुबे** 227

तीन कविताएँ : **जावेद आलम ख़ान** 231

पाँच कविताएँ : **संजीव कौशल** 235

चार कविताएँ : **मालिनी गौतम** 239

बाहरी दुनिया

नेल्सन मण्डेला की चिन्तनपरक प्रशंसा अथवा प्रतिबिंबन का नियम : **ज़ॉक देरिदा** 245
(अनु. : रामकीर्ति शुक्ल)

वे शुरुआती दिन : **सिमॉन द बोउवा** 271
(अनु. : उर्वशी शर्मा)

नया वरक़

पाँच कविताएँ : **अशीष कुमार तिवारी** 278

पुस्तक-समीक्षा

कोई हयात ज़माने को है अज़ीज़ बहुत (उर्दू शायर फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की जीवनी) : **पंकज पराशर** 283

प्रतिरोध और प्रतिबद्धता का आख्यान : **राहुल सिंह** 289

'दूसरा जीवन' : स्वतन्त्र मानस का बेबाक विचरण : **रेनू त्रिपाठी** 297

वाचिक परंपरा की लिखित अभिव्यक्ति है 'एक और जनी शिकार' : **महेश कुमार** 305

खण्डहरों की वास्तविकता का वास्तुशिल्प : **सुषमा भटनागर** 313

भोजपुरिया प्रवसन का सांस्कृतिक इतिहास : **संतोष कुमार** 317

आज़ादी के पचहत्तर साल : भारत बनाम नया भारत

इतिहास को 'परिवर्तन की शक्तियों' का पावर हाउस कहा गया है। उसके करवट बदलने से नए युग की शुरुआत भी हो सकती है और अंधकार-युग में भी हम जा सकते हैं। इसलिए, इतिहास बहुत निर्मम और क्रूर होता है, ऐसा भी कहा जाता है। भारत की जातीय-रहन (एथनिसिटी) का मामला एक तरफ़ अपनी बहुजातीय पहचान के चलते और दूसरी तरफ़ औपनिवेशिक-दौर में शुरू और आज़ादी के बाद विकसित आधुनिक राष्ट्र-राज्य की संरचनागत व्यवस्थाओं और जरूरतों के नाते, इकहरे या एकरेखीय समझ का मामला नहीं हो सकता। एक सौ तीस करोड़ से ऊपर की आबादी, इनमें से जाति के आधार पर चिह्नित और परिभाषित होने वाले तीन हज़ार से ज़्यादा जातीय समुदाय हैं, जिनमें 350 से ऊपर आदिवासी समुदाय हैं। 2011 की जनगणना के मुताबिक 121 भाषाएँ बोली जाती हैं। ये 121 का आँकड़ा पूरा नहीं है, क्योंकि इन्हें 10 हज़ार की संख्या वाले भाषा-भाषी लोगों के आधार पर रखा गया है, जबकि ऐसी अनेक भाषाएँ हैं जिनके बोलने वाले समुदाय में लोगों की संख्या मात्र दो है। अतः कुल भाषिक समुदायों की संख्या 121 से अधिक है। भारत में, हिन्दू, इस्लाम, सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन, पारसी, यहूदी धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। तकरीबन 80 प्रतिशत लोग हिन्दू धर्म को मानते हैं और लगभग 15 प्रतिशत इस्लाम को मानने वाले लोग हैं। अर्थात् कुल आबादी के लगभग 19-20 करोड़ लोग इस्लाम को मानने वाले लोग हैं। 2011 की जनगणना की मानें तो इस देश में तीस लाख से ऊपर पूजा/इबादत/प्रार्थना स्थल हैं। इसके अलावा अनेक तरह की आस्थाएँ और धार्मिक विश्वास हैं। तीन मौसम हैं, छह ऋतुएँ हैं। तरह-तरह के पहाड़, पठार, मैदान, नदी, झरने हैं। जीव, जंतुओं, पशु-पक्षियों की अनेक नस्लें हैं, अनेक रूप हैं, अनेक गुण हैं। आश्चर्य यह कि जाति, धर्म, बोली, भाषा, रूप, रंग, गुण आदि की भिन्नता के बावजूद ये एक दूसरे से विच्छिन्न कभी नहीं रहे। ये सभी, किसी न किसी रूप में साहित्य, संस्कृति, कलाओं आदि को जोड़ने-बाँधने वाली प्रतीकात्मक समझ से जुड़े-बँधे हुए हैं। ये, संलग्न होकर भी स्वायत्त रहे हैं।

पर, उनमें विच्छिन्नता या कहें कि तोड़-फोड़ की शुरुआत अंग्रेजी हुकूमत और उसके राष्ट्र-राज्य की उस परियोजना की वजह से हुआ जिसमें बहुलताओं को 'एक राज्य' में बाँधने की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा सर्वोपरि थी। आज़ादी के बाद इसी आधुनिक राष्ट्र-राज्य को विधायी संरचनाओं और संस्थाओं के द्वारा स्थापित-संचालित किया गया। राजनीतिक-समाजशास्त्री धीरूभाई शेठ लिखते हैं—"ऐसे (भारत जैसे) सभ्यतामूलक समाज को औपनिवेशिक शासन ने एक भू-क्षेत्रीय राज्य के खाँचे में फिट किया और आज़ादी के बाद उसे राष्ट्र-राज्य के साँचे

में ढालने की मुहिम शुरू की गयी। अपनी अखंडता कायम रखने के लिए इस नए राज्य ने सहजीवन की संहिताओं को बनाए रखने तक सीमित रखने के बजाय किसी भी अन्य आधुनिक राज्य की तरह विविधताओं के समरूपीकरण की अबाध परियोजनाएँ चलाईं। संवैधानिक गुंजाइशों के बावजूद एक बहुआयामी और बहुजातीय समाज को एक राष्ट्रीय समाज में बदलने के लिए आधुनिक भारतीय राज्य अपने शासन को क़ानूनी, संवैधानिक और आर्थिक-सुसंगति प्रदान करने में लग गया। अगर किसी सामाजिक-सांस्कृतिक समुदाय ने स्वशासन के अपने रूपों का आग्रह किया तो 'राज्य' ने उसके प्रतिरोध का अक्सर हिंसक तरीके से दमन किया।" इस पर राजनीति और समाजविज्ञान के अनुशासनों में बहुत विस्तार से लिखा-पढ़ा गया है। उनकी पुनरावृत्ति यहाँ ज़रूरी नहीं है।

ठीक से देखा-समझा जाय तो 'राष्ट्र-राज्य' के रूप में भारत के पास आज भी कोई दूसरा या नया साँचा-ढाँचा नहीं है। हाँ, वह उक्त 'राष्ट्र-राज्य' के साँचे-ढाँचे को, अपनी राष्ट्रवादी, सांस्कृतिक परियोजना के अंतर्गत नए रंग में रंगने, चमकाने में लगा है। इस चमक-दमक वाले, दिलेर, मर्दाना, आक्रामक भारत को ही 'नया भारत' कहा जा रहा है। जिसका फिल्मिया अंदाज़ कुछ यूँ है—'यह नया भारत है, जो दुश्मन को घर में घुसकर मारता है।' उत्तेजक और इंस्टेंट। नया भारत। सांस्कृतिक विविधता, अल्पसंख्यकों, स्त्रियों, आदिवासियों के मानाधिकार का इस नए भारत में कहीं कोई महत्त्व नहीं। यह नया भारत विभाजन को कमजोर नहीं बल्कि और मजबूत करने की राजनीतिक परियोजना पर काम करता दिख रहा है। भारत की सांस्कृतिक पहचान के नाम पर 'परंपरा की समझ' और 'कट्टरता के आग्रह' को परस्पर घुला-मिला दिया गया है। पूरी तैयारी और नीति के तहत परंपरा को कट्टरता के पर्याय की तरह पेश किया जा रहा है। सनातन का ज़ोर बढ़ा है। पर, वे नहीं जानते कि सनातन के प्रति निष्ठा का मतलब, अन्य धर्मों की तर्ज़ पर अथवा उनकी तरह से प्रतिस्पर्द्धा में किसी बनी-बनाई सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था और आचार-विचार को रूढ़ करना नहीं है। बल्कि, सनातनता सभ्यता और संस्कृतियों के बनने-विकसित होने, निरंतर, सतत् चलने वाली, चलती रहने वाली सामाजिक प्रक्रिया के प्रति निष्ठा है। 'सनातन' कोई धर्म नहीं है। इसे किसी एक धर्म-विधान के रूप में प्रस्तुत करना इसकी मूल आत्मा के साथ ही छेड़छाड़ करना है।

आज़ादी के 75 साल पूरे हुए। देश 'आज़ादी का अमृत महोत्सव' मना रहा है। अतीत के खुर्दबीन से वर्तमान को देखने की कोशिश की जाय तो साफ़-साफ़ दिखाई देता है कि जिस 'राष्ट्र-राज्य' को सुस्थिर और निश्चित टेरेटरी में बाँटने-बाँधने की राजनीतिक-कूटनीतिक पहल (कुछ गाँधीवादी समाजवादी इसे राजनीतिक विवशता कहते हैं) हुई, उसमें से दो चीजें निकलकर सामने आयीं—"पहली, आज़ादी के आंदोलन के दौरान विकसित पारस्परिकता, एकतामूलक समावेशन की प्रवृत्ति और दूसरी विभाजन से निकली विभाजनकारी, विभेदी, नफ़रती संघर्षमूलक प्रवृत्ति।" पहली प्रवृत्ति पर आज़ादी के बाद भी, आजादी के आंदोलन में शरीक और उसके बचे-खुचे आदर्शों, सपनों की लाज-हया के चलते एक हद तक अमल होता रहा। लेकिन, आज आज़ादी के पचहत्तर साल बाद तथाकथित 'नया भारत' किस प्रवृत्ति को महत्त्व दे रहा है, इसकी शिनाख़्त मुश्किल नहीं। नए भारत के 'राष्ट्रवाद' में इसे सहज ही ढूँढा जा सकता है। यह नया नहीं है बल्कि उस 'सांस्कृतिक परियोजना' का ही मूर्त्तीकरण है जिसे कन्नड़ के साहित्यिक-राजनीतिक चिंतक डी. आर. नागराज इस रूप में रेखांकित करते हैं—"संघ-स्वदेशी के नजरिए से आधुनिकीकृत भारतीय अस्मिता का मतलब है, सैन्यवाद, संस्कृति आधारित उपभोक्तावाद, बहुसंख्यक हिंदुओं को छोड़कर बाक़ी समुदायों के प्रति असहिष्णुता और एक

शक्तिशाली केंद्रीकृत राष्ट्र (अखंड भारत) की रचना। आधुनिकीकृत भारतीय अस्मिता के इन तमाम लक्षणों को परंपरा के मैदान में एक दूसरे से गूँथा जाता है।" इस परियोजना को लागू करने की नीति के सम्बन्ध में अपनी बात को और आगे बढ़ाते हुए वे लिखते हैं—"अपनी परियोजना से असहमति व्यक्त करने वाले यथार्थ अथवा आदर्श प्रतीकों के अन्य रूपों को या तो वह (संघ) व्यर्थ कर देना चाहता है या सैद्धांतिक रूप से उसे नकारने का प्रयास करता है। उसे हमेशा डर लगा रहता है कि कहीं दूसरी संरचनाएँ उस केंद्रीकृत और अपरिवर्तनीय किस्म की संरचना से होड़ करने और उसे तोड़ देने का दुस्साहस न करने लगें। इसलिए हिन्दू-अस्मिता अपने सामने और बाहर की दुनिया के सामने बार-बार कहती रहती है कि वह सदैव से एकताबद्ध समुदाय थी और उसमें कभी कोई विघटनकारी तत्व थे ही नहीं। ऐसे अस्मिता-आख्यानों के लिए आंतरिक मतभेदों को न दिखने देना बेहद ज़रूरी हो जाता है। यह प्रक्रिया उस समय और भी जटिल हो जाती है जब समुदाय की रचना का इस्तेमाल किए जा रहे आत्म-प्रतिनिधित्व के नए रूपों को नाना प्रकार की स्मृतियों और विविध जीवनानुभवों का सामना करना पड़ता है। ऐसी जबरदस्त बहुलता के बीच से एक एकीकृत समुदाय बनाने के लिए विखंडन और संघटन की तकरीबन उन्हीं विधियों का प्रयोग करना पड़ता है जो कमोबेश एटम बम बनाने के लिए अपनाई जाती हैं।"

यह आजमाई हुई, इतिहास-शोधित बात है कि पूरी दुनिया में, जब-जब आर्थिक और सांस्कृतिक संकट गहराया है, तब-तब 'सांप्रदायिकता', 'अखंडता', 'एकीकरण', 'राष्ट्रवाद' आदि प्रवृत्तियों का उभार हुआ है। शासन-तंत्र और उसकी मशीनरी ने प्रचार-तंत्र के अपने अकूत संसाधनों के सहारे 'प्रोपेगैंडा मैनेजमेंट' की विधि से लोगों का ध्यान मूल समस्या से भटकाने और उनकी आस्था व भावना के तापमान को बढ़ाने का काम किया है। अमूर्त्त को मूर्त्त बनाने के प्रयास हुए हैं। इस दृष्टि से 'नए भारत' में परंपरा, मिथकों, पुराणों, प्रतीकों का जिस तरह से 'शुद्ध वस्तुकरण' हुआ है, वह अकल्पनीय तो नहीं लेकिन अभूतपूर्व है। 'शुद्ध वस्तुकरण' का सिद्धान्त प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक जार्ज लूकाच ने दिया था। अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री एंड क्लास कान्शसनेस' में वे इस सिद्धान्त को विस्तार से समझाते हुए बताते हैं कि कैसे मिथकों, धार्मिक आस्थाओं और विश्वासों पर निर्भर भावात्मक-चेतना के आधार पर किसी अनदेखी, निराकार वस्तु को साकार और मूर्त्त रूप दिया जाता है। उसका इस तरह से वस्तुकरण किया जाता है कि वह हर तरह के सवाल, तर्क और साक्ष्य के दायरे से परे की चीज हो जाती है। यह 'शुद्ध-वस्तुकरण' का ही नतीज़ा है कि 'आस्था' क़ानून पर विजयी हो जाती है।

बहरहाल, आज़ादी का यह 75वाँ साल जिस एक परिघटना के लिए इतिहास में सदा-सदा के लिए दर्ज़ हो गया, वह है भारत के किसानों और उनके आन्दोलन व संघर्ष की जीत। जब भारत के किसान अपनी कड़ी मेहनत और सीमित संसाधनों के सहारे न केवल सवा अरब से ऊपर की आबादी का पेट भरने लायक बल्कि बाहर भेजने के लिए भी भरपूर अन्न उत्पादित कर रहे हैं, ऐसे कृषि-क्षेत्र पर पूँजीपति घरानों की नज़र क्योंकर न हो। इसलिए, अपने निजी व्यवसाय और फायदे के लिए कृषि क्षेत्र के दोहन और किसानों के शोषणकारी ऐसे तीन क़ानून उन पर थोपे गए, जो किसी भी तरह से किसानों और उनकी उपज के लिए फायदेमंद नहीं थे। धीरे-धीरे इसके खिलाफ देश के हर कोने से किसान लामबंद हुए और दिल्ली की ओर कूच कर दिया। दिल्ली डर गयी और उसने किसानों को दिल्ली की सीमाओं पर रोक दिया गया। किसानों ने भी इस अवरोध को अपने आंदोलन की ताकत बना लिया और लंबी लड़ाई का संकल्प लेकर वहीं डट गए। अस्थायी बस्तियाँ बस गईं। और अंततः एक साल से भी

ऊपर चलने वाले इस ऐतिहासिक किसान आंदोलन के आगे सरकार की एक न चली। तीनों क़ानून वापस लिए गए। इस आंदोलन ने पूरी दुनिया को दिखला दिया की सोद्देश्य सत्याग्रह कभी विफल नहीं होते। इस आंदोलन ने यह दिखा दिया कि जन-बल के आगे पूँजीपतियों, मीडिया घरानों और शासन-सत्ता का सम्मिलित बल भी बहुत देर तक नहीं टिक सकता। इस आंदोलन ने भूमंडलीकरण के साथ विकसित उस नीति और नजरिए को भी एक धक्का दिया है, जिसमें यह सिद्धान्त लाया गया कि "लोकतन्त्र को 'जनता के दबाव' को बेअसर करने की योजनाओं पर निरंतर काम करते रहना चाहिए।" 'जनता के दबाव' को बेअसर करने के लिए क्या कुछ नहीं किया गया। लेकिन किसान थके नहीं, हारना तो वे जानते ही नहीं। पंजाब के जिला फ़िरोज़पुर की तहसील जिरा के अरियानवाला गाँव के एक 33 वर्षीय किसान गुरजीत सिंह कहते हैं 'यह हमारे संघर्षों की, हमारी लड़ाई की जीत है, पर अंतिम विजय नहीं।' पंजाब के ही गुरदास पुर जिले के एक दूसरे किसान गुरजीत सिंह 'आज़ाद' कहते हैं 'यह जीत हम सबकी है। हमने मिलकर एक ज़िद्दी शासक को हराया है और उसके इस निर्णय से हम खुश हैं।'

पर, यहीं पर थोड़ा ठहरकर, 'लोकतन्त्र' के वर्तमान और भविष्य तथा उसके मूल लक्ष्य को पाने और बचाने की लड़ाईयों के बारे में सोचना, विचार करना ज़रूरी हो जाता है। ख़ासकर तब, जब इस क़ानून वापसी के पीछे मूल कारण, पाँच राज्यों के चुनाव को माना जा रहा हो। डॉ. राम मनोहर लोहिया ने कहा था, जनता के पास शासन-सत्ता के अहंकार को चूर करने के लिए तीन वैकल्पिक साधन हैं—कारागार, कुदाल और मतपेटी। आज़ादी के आंदोलन में कारागार प्रमुख विकल्प रहा। आज़ादी के बाद कुदाल और मतपेटी का विकल्प प्रमुख हुआ। कुदाल अर्थात् किसानों ने समय-समय पर अपनी ताक़त का एहसास कराया है। उसका लंबा इतिहास है। पर धीरे-धीरे 'मतपेटी' एक मात्र विकल्प बनता चला गया। आज स्थिति यह है कि 'संसदीय लोकतन्त्र' केवल 'चुनावी लोकतन्त्र' में सिमट कर रह गया है। यह न केवल स्वस्थ लोकतन्त्र में विपक्ष के लिए बल्कि जन-आन्दोलनों और जन-संघर्षों के लिए भी नुकसानदेह है। अगर केवल 'मतपेटी' का ही दबाव लोकतन्त्र में बचा रह जाता है, तो लोकतन्त्र के अन्य निकायों और उनकी निरर्थकता पर फिर से एकबार नए सिरे से बहस ज़रूरी है। इसलिए, तीन कृषि क़ानूनों की वापसी की जीत को जन-आंदोलनों और संघर्षों की सफलता के रूप में देखना उचित है, पर नव-उदरवादी, वैश्विक-व्यापार के फ़ायदे-नुकसान वाले 'व्यापार-तन्त्र' में लोकतन्त्र की मजबूती के संघर्ष और आंदोलनों को अधिक साकार और सक्रिय करने की जरूरत है। जब 'मतपेटी' ही कारगर जरिया बनता जा रहा हो, ऐसे में आम-जन को अधिक से अधिक शिक्षित, विवेकवान और मानवीय-अधिकारों के लिए नैतिक रूप से सजग बनाने की मुहिम छेड़ने की जरूरत है।

पक्षधर का आगामी अंक प्रसिद्ध मार्क्सवादी कार्यकर्ता और चिंतक अन्तोनिओ ग्राम्शी पर केन्द्रित होगा। इस विशेषांक के संपादक युवा आलोचक विजय झा होंगे। **पक्षधर** के इस अंक से, दो युवा लेखक—पंकज बोस और सूरज त्रिपाठी, हमारे साथ जुड़ रहे हैं। हम उनका स्वागत करते हैं। उनके सहयोग से हम **पक्षधर** को, पाठकों की उम्मीद और भरोसे के और अनुकूल बना सकेंगे। इस अंक का आवरण विश्वाची तिवारी ने बनाया है। वह फ़ैशन डिजाइनिंग की पढ़ाई कर रही हैं। रंगीन कपड़ों के छोटे-छोटे टुकड़ों की सुई-धागे के सहारे पच्चीकारी (Applique work) से इसे तैयार किया गया है।

विनोद तिवारी

दस कविताएँ

हरिश्चंद्र पाण्डेय

आदिम बनाम आदमी

भूख लगने पर ढ़ूँढ़ के खाता था आहार
भरा होने पर मिले हुए को छोड़ देता था
पेट ही जेब रहा
कोई भी अतिरिक्त जेब न थी
कोई बाहरी पेट न था
वह आदिम, आदमी होने की राह पर था
आदिम ने पेट भरते ही कहा था—आज बस इतना ही
होते हुए आदमी ने कहा—
कल के लिए भी रख लो
परसों के लिए गाड़ दो
आदमी ने कहा—बरसों के लिए
अब धड़ नंगा नहीं रह गया था
अब पेट ही जेब नहीं।

कहानी में बच्चे

पहले कहानियों में बच्चे
अक्सर अपनी नानी के घर जाया करते थे

बाद में वे
दादी के घर जाने लगे

अब तो अपने माँ-बाप के घर जाने लगे हैं बच्चे
आगे किसी एक के घर अवश्य जाएँगे वे

कहानी में बच्चे बचे रहे तो।

श्मशान घाट पर

दूसरे को राख कर
ख़ुद बची हुई है गँठीली लकड़ी

श्मशान सब कुछ राख नहीं कर पाता

जो राख है उसमें भी
ढूँढ़ रहे हैं कुछ जीवन के जेवर
कुछ अधजली लकड़ी के बचपन पर निगाहें गड़ाए हुए हैं

एक गूँगा बची हुई लकड़ी को
अपनी अव्यय आवाज़ के सहारे उठा कंधे पर लाद लेता है

श्मशान सबको राख नहीं कर पाता
बल्कि कुछ लोग इसे ठंडी रातों में
लिहाफ़ बना ओढ़ लेते हैं।

तलवारों की प्रशस्ति में

खड्ग वजनी रहे
भरपूर वार के लिए उन्हें हाथों का संयुक्त बल चाहिए था
भाले कहते हमें एक अपेक्षित दूरी चाहिए
हाथी-घोड़े सी ऊँचाई भी
गुप्ती छल में इस्तेमाल होती रही
ख़ासकर गले मिलते हुए
चाकू चिरकुट रहा
गोद-गोदकर मारने में असफल प्रयास की बड़ी प्रतिशतता लिये हुए

बस तलवार ही थी

जिसका दबदबा इतिहास और मिथक दोनों में रहा

धार की वर्तुल रेंज, पैनी और दीर्घ
बहुविध कौतुक की गुंजाइश लिये हुए
यानी कम से कम समय में अधिक से अधिक काम हो सके

विक्रम-बेताल में दिखी वह, रावण अहिरावण में भी
दुर्गा का एक हाथ उसकी मूठ थामने के लिए रहा

तलवार की छाँह में अपने प्रेम को ले गया पृथ्वीराज
तलवारों को हवा में लहराते हुए आए सारे आक्रांता

जो तलवार लहराते आया वह रक्त टपकाते हुए ले गया ख़ज़ाने
जो किताबें लेकर गया वह तलवार लेकर नहीं आया था

तलवारों के इस दबदबे में
ढाल और जिरहबख़्तर का कहीं कोई ज़िक्र नहीं आता
जो हमेशा तलवारों के साथ-साथ रहते हैं

जो लौह-कुल के होते हुए भी
हंता-कुल से नहीं।

यहाँ से

जो भी गया
जंगल-गाड़-गधेरे-धुनें सब लेता गया साथ
पर यहाँ ज़रा भी कम नहीं हुआ कुछ
पूरे में से पूरा निकलकर पूरा बचा रहा

जो आया
एक भी फूल गाँव जवार के जूड़े में नहीं खोंसने दिया उसने
एक भी फल ज़मीन का गुरुत्वाकर्षण नहीं पा सका
जो भी आया थनों के लिए आया मुख के लिए कोई नहीं

भाषा-बोली
संस्कृति-डोली के अग्रिम कहारों में थी
वह आठवीं अनुसूची के दरवाज़े को पीट रही है
देर से...।

कोरोना-काल में स्कूल

दूर-दूर तक नहीं दिखता कोई भी बच्चा

यह कैसा समय है
घास दिख रही है लंबी-लंबी
तारे दिख रहे हैं और भी साफ़
गहरे पानी में मछलियाँ दिख रही हैं
दूरस्थ हिमालय की चोटियाँ भी दिखने लगी हैं
पर बच्चे नहीं दिख रहे हैं

बच्चे ही तो थे मेरा सूर्योदय
मैं एक, ध्रुवीय सूर्यास्त में पड़ा हुआ हूँ

अपने-अपने घरों से निकले फूल से ये बच्चे
मुझे एक फुलवारी बना देते थे
हाफ़टाइम में जब खुलते इनके टिफिन
ख़ुशबुओं से मेरा प्रांगण पट जाता
और अहाते का आकाश पक्षियों से।

आओ बच्चो! बहुत उदास हूँ मैं
मैं जो समय को घंटा बनाकर ऊँचाई पर टाँक देता था
मैं जो छोटी-छोटी ग़ैरहाज़िरी पर तुम्हें मुर्ग़ा बना देता था
अब इस लंबी ग़ैरहाज़िरी पर तुम्हें याद कर रहा हूँ बेतरह
मैं कहाँ से लाऊँ वह रजिस्टर
जिसमें सारे के सारे बच्चे एक साथ अनुपस्थित दर्ज़ किए जा सकें
कैसे पूछूँ वह कारण
जिससे पूरी कायनात वाबस्ता है।

देखो, इतनी बारिश हुई पर एक भी रेनीडे नहीं हुआ
एक दिन की छुट्टी में कितना झूम उठते थे तुम
अब इतनी छुटिट्याँ हैं और तुम
बिना पानी के पौधे की तरह मुरझा रहे हो

आओ बच्चो! आओ!
फिर शरारत करो उधम मचाओ
तुम्हारे परस्पर दाँत गड़ाने के साँचे मेरी यादों में नत्थी हैं अभी भी
गिरकर उठने की धूल झाड़ती सरपट मुद्राएँ भी

आओ कि झाड़ू खुद गंदे हो गए हैं
रोशनदानों में मकड़ियों ने जालीदार पर्दे टाँक दिए हैं

मैं तुम्हारी दृष्य-नींव हूँ बच्चो, आओ
दूसरों को सुनना और अपना कहना सीखो

आओ कि नेटवर्क की पहुँच के बाहर है एक बहुत बड़ी दुनिया
जहाँ बच्चों के लिए दुधारु जानवरों को बेचकर स्मार्टफोन खरीदे जा रहे हैं

आओ बच्चो! आओ
फिर से लाओ ब्लैकबोर्डों वाले उजले दिन।

लौह-यात्रा

अन्न ही नहीं उगाया जाता
धरती पर लोहे की कीलें भी उगाई जाती हैं

उन्हीं के लिए जो अन्न उगाते हैं

कीलें, हलब्बी-हलब्बी बीहड़
पृथ्वी की कक्षा से बाहर जाने को उद्यत सी

भले ही शरीर में धँसने से रह गईं
पर आत्मा में धँस गईं गहरे।

बहुत गहराई में छुपे हैं लौह अयस्कों के भण्डार
एक लौह-यात्रा यह भी
मज़दूरों से किसानों तक की

फ़सल एक धैर्य का नाम है बीज से बालियों तक
कितना समय लगता है कीलों को ढालने में

काश! ठीक उलट कर रख दी गई होती वे कीलें
धरती का बंजरपन चला गया होता
दिमागों का भी।

वह नन्ही चिड़िया रंगीन

कोरोना समय में पृथक्वास के दिनों

वह सीधे रँगरेज़ के यहाँ से चली आई थी कमरे में
मेरा अपना रंग धूसर था उस वक़्त

मैं पहाड़ था कि पेड़ पता नहीं क्या था उसके लिए
वह डर नहीं रही थी मुझसे
मुझे लगा वह मेरी बाँह को शाख समझ कर बैठ जाएगी अभी
कुछ न कुछ ज़रुर गाएगी
शायद वह जानती थी ये गाने के दिन नहीं

सारे नन्हें पावों की नुमाइंदगी करते हुए उसके पाँव अभी
कमरे के बहाने पूरी धरती नाप रहे थे
और धरती के हर कोने में अभी ऑक्सीजन
सारे मज़हबों का अकेला ईश्वर थी

जंगल ऑक्सीजन के विशाल संयंत्र थे
और पेड़ भरे हुए सिलिंडर

वह पेड़ से उतरकर ही कमरे में आई होगी
मेरी अनींद में नींद की कलम लगाकर चली गई।

लय

जो उखाड़ा गेंदे के फूल को तो देखा
जड़ें अभी कई फूल खिलाने को हैं

उजाड़ने की लय में यह भूल ही गया
ये फूल हैं आदमी नहीं।

उस्ताद

(गुलज़ार का एक साक्षात्कार देखते हुए)

बात फिल्मों से होते हुए राजनीति पर आ गई थी
राजनीति के भी कई दौर आए-गए
और कई नाम भी

गाँधी भी एक नाम था

बोलते ही गाँधी दोनों हाथ कानों को स्पर्श करने लगे
बात राजनीति की ही चल रही थी संगीत की नहीं

चलो, अभी सब कुछ ख़त्म नहीं हुआ है

संगीत की ऊँचाइयों तक पहुँचाया जा सकता है राजनीति को भी
बस उस्ताद चाहिए।

संपर्क : ए/114, गोविंदपुर कॉलोनी, प्रयागराज-21110 मो. : 9455623176

अन्ततः सिर्फ कवि : हरिश्चन्द्र पाण्डे

अष्टभुजा शुक्ल

हिन्दी कविता में जिसे नवें दशक से अभिहित करने की कोशिशें हुईं, उसके कई अब के उल्लेखनीय कवियों की पृष्ठभूमि के केन्द्र में पहले का सांस्कृतिक शहर इलाहाबाद रहा। आशय यह कि तब के कवियों की जनपदीयता भले किंचित् भिन्न रही हो लेकिन उनकी युवा-चेतना और संवेदना का नाभिक अब का प्रयागराज ही रहा। स्वाभाविक रूप से इस कविता पर अस्सी के दशक का प्रभाव और दबाव शुरुआती दौर में दिखा किन्तु कालान्तर में आए वैश्विक परिवर्तनों के मद्देनजर इसने अपने काव्य-प्रत्यय और मुहावरे अर्जित करने और उन्हें विकसित करने की प्रतिज्ञाएं ठानीं और जैसा कि हिन्दी समाज एवं साहित्य के साथ अक्सर होता रहा है, बाद में इसे प्रायोजित ढंग से 'लांग नाइन्टीज़' इत्यादि सिद्धान्तों से जोड़ने की जी-जान से किन्तु असफल कोशिशें भी हुईं, जिनकी तफसील में जाना यहाँ बेमतलब है। इसे महज संयोग नहीं माना जा सकता कि उन्हीं दिनों इलाहाबाद से ही एक अनियतकालीन किन्तु कविता-केन्द्रित पत्रिका 'उन्नयन' की शुरुआत हुई जिसके हरेक अंक में संपादक श्रीप्रकाश मिश्र ने अपनी टिप्पणी के साथ 'जिनसे उम्मीद है' नामक स्तम्भ जारी किया। इसके अन्तर्गत उन्होंने उभरते हुए कवियों को शामिल किया और इसी शृंखला में पहली बार मेरा सामना हरिश्चन्द्र पाण्डेय की कुछ इकट्ठी कविताओं से हुआ। उनकी कविताओं का यह प्रथम पाठ ही इतना अमिट रहा, उनका मर्म, वस्तुबोध और सौन्दर्य बोध पर इतना प्रभावी रहा, उनकी काव्यदृष्टि और संवेदना इतनी विरल प्रतीत हुई कि व्यक्तिगत रूप से मैं क्रमशः उनकी कविता का एक प्रेमी-पाठक बनता गया।

उक्त परिदृश्य में दो महत्त्वपूर्ण कवि ऐसे रहे जिन्हें अस्सी-नब्बे करने वालों ने लगातार अनदेखा किया। दिनेश कुमार शुक्ल और हरिश्चन्द्र पाण्डेय। इसी में तीसरे संजय चतुर्वेदी को भी रखा जा सकता है। ये कवियों, आलोचकों, लेखकों या साहित्य की जमात से बाहर के किन्तु असली कवि रहे। इन्हें वैसी केन्द्रीयता न मिल सकी जिसके वे हकदार रहे। वैसे दिनेश

कुमार शुक्ल और हरिश्चन्द्र पाण्डेय की कविता के फलक और काव्यशिल्प में आत्यंतिक रूप से मौलिक अन्तर है। दिनेश शुक्ल की कविता में स्पन्दन, आन्तरिक लय और भाषा कुछ और है तो हश्चिंद्र में कुछ और। लेकिन काव्यकर्म की उभयता करीब-करीब एक समान है। ये दोनों अस्सी-नब्बे को अधिकाधिक पास लाने और पारस्परिक बनने वाले ऐसे प्रतिनिधि कवि हैं जिनसे प्रेरित आज तक की कविता का आकाश विस्तृत होता है और जमीन बहुव्यापिनी। फिलहाल, आठवें दशक की कविता का सचेतन प्रभाव नवें दशक पर कई रूपों में पड़ा। आरंभिक रूप में प्रतिरोध की सैद्धान्तिक वैचारिकी ने नवें दशक के नवोदित कवियों पर इस कदर प्रभाव डाला कि बचपन भी इसके अतिरेक से अछूता नहीं रहा। कहीं 'पिपिहरी' से 'तूर्य की आवाज' आने लगी तो कहीं खेल-खेल में 'आइस-पाइस' से 'मौत को भी देखकर' चिह्नित कर लेने की कल्पना; तो कहीं 'कॉपी से कागज फाड़कर जहाज बना लेने' की कामनाएँ प्रकट हुईं। कागज के इस जहाज के साथ हरिश्चंद्र पाण्डेय जैसे धीर-संवेदन वाले कवि, 'बेटी जहाज हो गई थी? की थीम को लेकर चले आ रहे थे। यहाँ बेटी ओर जहाज एकसाथ आकर हमारे समय की कविता की प्रस्तावना तैयार कर रहे थे। मतलब हरिश्चंद्र की कविता में अगर कोई 'उड़ान' भी है तो उसमें रोर या शोर कथमपि नहीं।

आठवें दशक की कविता का लोकायत और लोकेषणा नवें दशक तक आते-आते और घनीभूत, मार्मिक एवं सांद्र होने लगी। इसमें सजगता, विश्वसनीयता तथा वैश्वीकरण के बरक्स जन-पदीयता का कारगर आग्रह था। आठवें दशक की कविता की एक प्रमुख रीति घर-परिवार, पड़ोस के सम्बन्धों पर लिखने की चल पड़ी। इसमें माँ, पिता, बहन, बेटी पत्नी आदि को कविता का आलम्बन बनाया गया। लेकिन ये विषय सम्बन्धों की एकरैखिक सरलता, मर्मभेदी भावाकुलता या जैविक-सांस्कृतिक उपस्थित तक ही सीमित रहे। घर-परिवार के परितंत्र में इन चरित्रों या पात्रों की सामाजिक संश्लिष्टता, उनकी स्वाधीन इयत्ता, उनके स्वप्न और व्यक्तिगत समस्याएँ, आर्थिक स्थिति आदि प्रायः अलक्षित ही रह गए। ऐसी कविताएँ एक-तरफा संवेदना को हवा देने वाली साबित हुईं। नवें दशक की कविता इस लिहाज से अधिक सजग और सतर्क रही। लघु पत्रिका 'उन्नयन' में 'जिनसे उम्मीद है 'स्तम्भ' के अन्तर्गत प्रकाशित हरिश्चंद्र पाण्डेय की 'माँ' शीर्षक कविता अपनी इसी संश्लिष्ट संवेदना के नाते काफी प्रभावी सिद्ध हुई। इस अपेक्षाकृत छोटी और सघन कविता में आलंबन की नख-शिख व्याप्ति और उसमें सामाजिक-पारिवारिक अवस्थिति का हार्दिक संघटन तो है ही, अपने समय और समाज की वह पर्यावरणीय चिन्ता भी शामिल है, जो किसी पहाड़ी-मन में; दूसरों की तुलना में अधिक खिन्नत पैदा करने वाली है और जहाँ से 'चिपको आंदोलन' का सूत्रपात होता है। ध्यातव्य यह है कि 'चिपको आन्दोलन' जैसा अहिंसक आंदोलन शायद ही विश्व-इतिहास में घटित हुआ हो! यह सर्वथा जड़ीभूत, मूक और अविरोध जीवन-प्रणाली के संरक्षण का अपूर्व और मनुष्कृत जज्बा था। क्रूरताओं को भीतर तक हिला देने वाली आत्माहुति क अद्वितीय आकांक्षा थी। कविता शायद इस तरह थी—'पिता पेड़ हैं/हम शाखाएँ हैं उनकी/माँ/छाल की तरह चिपकी हुई है/ पूरे पेड़ पर/ जब भी चली है कुल्हाड़ी/पेड़ या उसकी शाखाओं पर/माँ ही गिरी है सबसे पहले/टुकड़े-टुकड़े होकर।'

वास्तव में तथाकथित सभ्यता के विकास के छलावे या मनुष्य की अतृप्त अहम्मन्यता के चलते यह कुठाराघात केवल वनोपज पर ही नहीं बल्कि सहजीवन पर भी लगातार जारी है। इसका सबसे अनिष्ट प्रभाव जल, जंगल और जमीन के साथ समूचे स्नायुतंत्र से जुड़े उस मानव-जीवन पर पड़ रहा है जो इस विनाशक विकास की अवधारणा से ही त्रस्त और असहमत है। वस्तुतः आरण्यक जीवन से ही मनुष्य की प्रकृति के प्रति अपनापा एवं संवेद्यता के संकेत

और उसे प्राणवंत मानने के प्रमाण हमें महाभारतकार के यहाँ भी मिलते हैं। वे वृक्षों, वनौषधियों, लताओं आदि को विशेष रूप से अन्तःस्पर्शी बताते हैं—वनस्पत्यौषधिलतात्वक्सारा विरुधाः द्रुमाः। अंतः स्पर्शिनः विशेषिणः।' जब हरिश्चंद्र पाण्डेय 'माँ' कविता में माँ को पेड़ की समूची त्वचा (छाल) की तरह लिपटी हुई बताते हैं तो उस पर कुठाराघात की थरथराहट हमें भीतर तक हिला देती है। आशय यह कि हरिश्चंद्र की कविता में किसी थ्रिल के बजाय एक थरथराहट है जो उनके पदबन्धों में सतत् उपलब्ध होती है। एक-एक वाक्य पाठक को विचलित कर सकने की संवेदना से भरे पड़े हैं। और हर वाक्य एक अपूर्ण कविता की धड़कन से अनुप्राणित है। अमुखरता की ऐसी आन्तरिक ऊष्मा दुर्लभ है। हिन्दी में पहाड़-मूल के कई महत्त्वपूर्ण कवियों की भाँति हरिश्चंद्र पाण्डेय भी कविता में अपना परिवेश लेकर पूरी शिद्दत के साथ आते हैं किन्तु इलाहाबाद में धुरीकृत अपनी जीविका के चलते संस्थानों, संगठनों या माध्यमों से निरासक्त रहने के कारण अथवा अपने अचंचल और सौम्य स्वभाव के नाते उनकी भाँति कौतूहल के कवि नहीं सिद्ध हो पाते। किन्तु उनकी कविताओं में निहित स्थितिज उर्जा कविता की अचल पूँजी है। अधिकांश देवी-देवता पहाड़ों में ही परिकल्पित हैं। यह अकारण नहीं कि मैदानों में आकर भी वे पत्थरों में ही मूर्त होते हैं। 'देवता' कविता में 'पत्थर' तीन रूपों में आता है। पहला, आदमी की उदरपूर्ति के लिए उठता है। दूसरा, आदमी द्वारा आदमी के लिए ही उठता है। लेकिन, तीसरा उठने से इनकार कर देता है और देवता बना दिया जाता है। वैसे कविता में यह 'पाहन' कबीर, रसखान, तुलसी आदि के यहाँ भी विभिन्न संदर्भों में आता है, लेकिन आधुनिक जीवन-संदर्भों में पहाड़ी आदमी हाड़-माँस-त्वचा की देह को दिल पत्थर करके ही जीता है और हर टीले या खोह में किसी देवता के बूते ही जीने को अभिशप्त है। यह देवता एक अनसुलझा रहस्य है और जिन्दगी है कि इसी रहस्य तले दबी भी है और असुरक्षित ढंग से सुरक्षा का काल्पनिक आश्वासन। पहाड़ों और पत्थरों के बीच 'पानी' कितना दुर्लभ किन्तु अनिवार्य है। पहाड़ी स्रोतों के साथ जीवन की कितनी स्मृतियाँ संगुफित हैं। लेकिन 'धारे का पानी' जब एक समाचार की तरह आता है, उसके सूख जाने की स्तब्धकारी खबर आते-आते पोस्टकार्ड का एक कोना ही नदारद हो जाता है। धारे के पानी का सूखना एक ऐसा सांस्कृतिक अपरदन है जिससे उत्सव, परंपरा प्रेम, श्रम, आकांक्षा आदि एकाएक नीरस, बेजान और विरंजित हो उठते हैं। सपनों और दृश्यों के विरंजन को अनेक उदास करदेने वाली मार्मिक कविताएँ हश्चिंद्र पाण्डेय की दुनियाँ में शामिल है। नए 'परदे' पर चित्रित अनेक पशु-पक्षियों के चटक रंग समय के साथ उड़ने लगते हैं लेकिन परदे में चौकड़ी भरते हिरण के उठे हुए पैर अंत तक जमीन नहीं छू पाते। घरों में आई प्रकृति की ऐसी चित्राकृतियाँ भी पहाड़ी जीवन की उन्हीं असहाय और बेबस जिन्दगी की अधूरी गाथाएं हैं, जिसे हरिश्चंद्र अपनी काव्यात्मक सूक्ष्मेक्षिका से, किसी घड़ीसाज की चिमटी से पकड़कर पूरी करने की बार-बार कोशिश ही नहीं करते, उसे समूचे स्नायुतंत्र से उकेरते हैं। जिन्दगी की इस साँसत और पेंचोखम के बीच कुछ ऐसे रसायन भी हैं, जिनके मूल तत्वों के सहारे जीवन सदैव जीने योग्य बना रहता है।एक ऐसी ही काव्य-रीति या पुरानी विधा रही है—अंत्याक्षरी।

बचपन का यह तुकात्मक संवाद—बात से बात उठा लेने की यह वाग्मिता—संवादहीनता के इस आत्मकेनिद्रत होते जा रहे समय में कितनी तसल्ली देती है जैसे छोड़ा गया सिरा कोई आगे थाम लेने को मौजूद हो। जीवन में इस चुम्बक की निर्मिति भी कविता का एक महत्त्वपूर्ण कार्यभार है, जिसे हरिश्चंद्र पाण्डेय बखूबी और बराबर निभाते चलते हैं।

हरिश्चंद्र अफ़सोस में उम्मीद के कवि हैं। उनके अनुभव की सघन ऐन्द्रिकता में रपटीला

या फौरी कुछ भी नहीं। वे प्रतिक्रिया के कम, प्रक्रिया के कवि अधिक हैं। जीवन-प्रक्रिया ही उनकी रचना-प्रक्रिया है जिसमें निरुक्त और अनिरुक्त दोनों ही विषय यथाप्रसंग समाहित हैं। दुनिया के स्त्री-पुरुष के लिंगवाची झमेले से इतर मनुष्यरूपेण होते हुए जहाँ स्त्री या पुरुष नहीं हैं फिर भी स्त्री या पुरुष का असफल स्वाँग रचते हुए 'विद्रूप हारमोनों' और उदास वल्दियत के साथ 'दुनिया के हर मेले में शामिल हो रहे 'हिजड़ों' की जीवन-विडम्बना का इतना विश्वस्त अनुभव किसी दूसरे कवि के यहाँ शायद ही मिले। तो दूसरी ओर पैतृक पेशे को चुनौती देती विधवा 'महराजिन बुआ' का मर्दाना चरित्र है, जो जलती चिताओं के बीच 'खिले पलाश वन' सरीखी विचरती है। यह कविता जीवन के सारे सामाजिक और दार्शनिक सवालों के साथ झकझोरने की ताकत रखती है। हरिश्चंद्र की कविता में जिन्दगी के सिक्के का कोई इकलौता पहलू या निर्दिष्ट जीवन-प्रक्रिया खोजना कवि की संपूर्णता से वंचित हो जाना है।

विष्णु खरे के बाद हरिश्चंद्र पाण्डेय दूसरे ऐसे कवि हैं जिनकी कविता का गद्यान्वय इतना मर्मभेदी और इतना विषयविपुल है। कहीं-कहीं विष्णु खरे में वर्णनात्मकता का अतिरेक (ओवरनैरेटिक) कथ्य को बहुत लचीला बना देता है जबकि हरिश्चन्द्र के गद्यान्वय का कसाव अभिव्यक्ति की शिथिलता का आभास कराता है, लेकिन अनुभूति की गहनता इस आभासी शिथिलता में जैसा स्फुरण और तनाव पैदा करती है, वह अद्वितीय है। यथार्थ का पुनर्सृजन शायद इसे ही कहते होंगे। इस पुनर्सृजन का भाष्य केवल राजनीतिक शब्दावलियों में घटित नहीं किया जा सकता। जैसा कि पहले ही संकेत किया गया है कि जीवन की विडम्बनाओं को उकेरने में कवि हरिश्चंद्र का जवाब नहीं। एक किशोरावय का हथरिक्शा खींचना, किसी फूल का रिक्शा खींचना बन जाता है, जिस पर सवार होकर हमारी सदी भविष्य की ओर बढ़ना चाहती है। बाल श्रमिकों पर राजनीति प्रेरित या देखा-देखी बहुत-सी कविताएँ लिखी गई हैं। लेकिन 'इक्कीसवीं सदी की ओर' कविता का ऐसा अमिट बिम्ब हमारे मन-मस्तिष्क पर पड़ता है, जो भुलाए नहीं भूलता—

हम रिक्शे पर बैठे
राजनीति पर बातें कर रहे थे
लड़का रिक्शा खींच रहा था

तेरह वसंतों में जितनी शक्ति
और जितना अनुभव संचित हो सकता है
सब झोंक दिया था उसने

कभी एक ओर झुकता हुआ पूरा
कभी दूसरी ओर
अपने दिवंगत पिता की उम्र की पीढ़ी को
उस परिचित रास्ते पर ले जा रहा था
जो कच्चा ही नहीं
उतार-चढ़ावों से भरा भी था
खुश थे हम कि
रिक्शा सस्ता मिल गया था
खुश थे हम कि
वसंत के आते ही पेड़ कैसे लद गए हैं फूलों से

ग़ज़ब की चीज होती है यह वसंत भी भाई
क्या कहते हैं–
डालों पर फूलों का आना
किस औरत का
अपने जीवन को धन्य समझना होता है।

यहाँ इस कविता की व्याख्या में जाने का अवकाश नहीं, फिर भी यह कहना आवश्यक है कि हरिश्चन्द्र पाण्डेय गहरी सभ्यता-समीक्षा के सिर्फ़ कवि हैं। वे कवि, बनना, होना या दिखना नही चाहते। कविता उनके संवेदनशील कवि-मन की विवशता है। उनका कवि न तो निर्द्वन्द्व है और न ही स्थूल प्रत्ययों में द्वन्द्वाधीन। वह अधिकतम मनुष्य होने का विचलन है। उक्त कविता में आया उष्ट्रपृष्ठ हथरिक्शा इलाहाबादी स्थानीयता की एक कारगर पहचान है। 'कसाईबाड़े की ओर' कविता में रिक्शे पर बकरी लेकर जाता कसाई जैसे तथाकथित विकास के जाते हुए जनाजे का शोकगीत है। कसाई की मनुष्यता का चरम और उसकी वर्ग-विवशता के बीच बकरी की अवस्थिति से मन सिहर-सिहर उठता है और कविता पाठक को असहाय छोड़ देती है। 'लाश घर में', 'बड़े-बूढ़े', 'मिट्ठू हमारे घर में', 'नृत्यांगना' जैसी कविताएँ, कविता के आयतन को और बड़ा करती हैं तो 'अधूरा मकान' और 'बैठक का कमरा' निम्न मध्यवर्गीय जीवन की आकांक्षाओं और सपनों के फिर-फिर हरियाते-मुरझाते उद्वेगों के, घर-घर के स्पंदित होते आख्यान हैं। बल्कि 'बैठक का कमरा' कविता तो थोड़े अलग परिप्रेक्ष्य में भीष्म साहनी की कहानी 'चीफ की दावत' के टक्कर और वजन-विजन की प्रतीति कराती है। यह देखने की बात है कि काफी पहले लिखी हुई कविता 'किसान और आत्महत्या' तमाम पौराणिक और भारतीय जीवन-विश्वासों के साथ कैसे हमारे अभी के समय को सम्बोधित कर रही है। हत्या एवं आत्महत्या के कारक भी हरिश्चंद्र की कविता में बार-बार आते हैं तो यह अकारण नहीं बल्कि हमारे दुर्घट समय के साक्षी बनकर आते हैं। इस कौशल विकास के समय में कुछ भी सकुशल नहीं। सिर्फ राजनीतिक कौशल बचे हैं और समूची कृषि-सभ्यता संकटापन्न है। बकौल श्रीकांत वर्मा–'कोसल में कमी है तो विचारों की। बचे हैं सिर्फ़ वाचाल।'

हरिश्चंद्र पाण्डेय एक विचारशील कवि हैं। लाउडनेस न तो उनके कवि-स्वभाव में है न जीवन-स्वभाव में। एक शालीन उद्विग्नता सदैव उनकी कविता का स्थायी भाव है। कुछ ही कवि अब तक की बनी-बनाई परिभाषाओं को ढहाकर काव्य-विवेक के जरिए अपनी कविता का परिसर निर्मित कर पाते हैं। हरिश्चन्द्र उनमें से एक हैं। उनमें सायास लिखने या कवि बनने की न तो बहुत उत्कंठा या उठाबैठक है, न तो अनायास लिखने का क्रीड़ा-विलास या निष्प्रयोजनीयता। 'गले की ज्योति मिलना' से लगायत 'फूल को खिलते हुए सुनना' जैसे तमाम पदबंध पारंपरिक इंद्रियबोध से आगे बढ़कर कवि के अनुभव-संसार को व्यापक करते हुए सर्वथा नई अनुभूतियों से बावस्ता होते हैं। आभासी दृश्यों के घटाटोप को भेदती हुईं उनकी कविताएँ उन अनगिनत आवाज़ों को ठहरकर सुनने का प्रस्ताव करती हैं जिनमें एतराज, चीख, चीत्कार, हँसी और क्वचित् ललकार के कंठ भी ध्वनित होते हैं। और 'हर आवाज़ चाहती है कि उसे गौर से सुना जाए।' क्योंकि हमारी दुनिया 'अँधे के टापू' में तब्दील होती जा रही है और भयावहता अँधेरे को बेकाबू हाथी के अक्स में ढालती जा रही है। इसे कोई दृष्टिसंपन्न देख पाए या न देख पाए लेकिन एक 'सूर गायक' अपनी प्रज्ञाचक्षु से देख भी रहा है और उन्हें अपनी आवाज़ भी दे रहा है–एक ऐसी टेर जिससे लोकगीत कहते हैं कि हमें अपना कंठ दे दो और निर्गुन कहते हैं कि हमें। हरिश्चंद्र की कविताएँ ऐसी आवाज़ों के समवेत स्वर हैं जिसमें एकदम बेआवाज़

'बादल छँटने की आवाज़' भी शामिल है। इनमें हमारे समय की उद्दण्ड बर्बरता भी शरीक है और खिलखिलाहट भी जिसमें किशोरवय को सेलीब्रेट करतीं, खुसुर-पुसुर, चुहल, चहचहाहट भरी कालेज जाती लड़कियाँ हैं तो कोई विघ्नसंतोषी एसिड की बोतल खरीदता घात लगाए युवक। इसीलिए अपने नतोन्नत पहाड़ों पर खिलते बुरूंश के फूलों से लेकर गंगा-जमुना के कछारों तक पसरी हरिश्चंद्र पाण्डेय की कविताएँ अपनी सौन्दर्यदृष्टि, वस्तुबोध और अनुभव-जगत के जरिए तथाकथित मुख्यधारा से अलग कवि के काव्य-परिसर को और आगे तक देखने को आमंत्रित करती हैं। वे दशकों के टुकड़ों में आमने-सामने वाले या प्रचलित मुहावरों के कवि नहीं। वे अंततः और पूर्णतः कवि है। सिर्फ़ कवि।

संपर्क : आचार्य रामचंद्र शुक्ल नगर (इटैली पाण्डेय), कैली रोड, पो. लबनापार, जिला-बस्ती-272002 (उ.प्र.)
मो. : 8795594931

'अब तक गीत जौन अनगावल...'

अखिलेश

यह वृत्तांत है एक अनोखे इंसान और उसके भाग्य के मध्य टकराव का जिसमें इंसान लड़ता, चोट खाता, परास्त होता है लेकिन बार बार उठ खड़ा हो जाता है फिर से भिड़ंत के लिए। उस शख़्स के साथ जो भी कहें, कुदरत, ईश्वर, किस्मत ने अन्याय किया। लेकिन उसने इस अपराध का प्रायश्चित करते हुए उस शख़्स को विस्मयकारी वरदान भी दिए। वरदान और शाप दोनों से अप्रभावित उसने ईश्वर से बदला इस तरह लिया कि उसने अपने भीतर अच्छाइयाँ शामिल कर कुछ खास हासिल किया है लेकिन उसने गलतियाँ करके खुद का बहुत कुछ नुकसान भी किया है। वह लगातार गलतियाँ करता है, जानबूझकर, क्योंकि इससे वह भाग्य से अपना प्रतिशोध लेता है और दूसरी बात कि गलतियों से लुत्फ़ मिलता है जो उसे बेहद पसंद है। उसने समाज में बड़ा मुकाम हासिल किया, बावजूद इसके कि वह उससे भी बड़ा मुकाम हासिल कर सकने के सर्वथा योग्य है; अतः तय कर पाना मुश्किल हो जाता है कि वह लाभार्थी है या नाकामयाब। ऐसी मुश्किलें वह अपने जानने वालों के सम्मुख अक्सर उपस्थित कर देता है; वे अंदाजा नहीं लगा पाते हैं कि आखिर यह किस तरह का इंसान है? और यह इंसान कल क्या होगा?

9 नवंबर 2018, दिन के 12 बजे मैं शेखसराय, नई दिल्ली के एक फ्लैट में उनके सामने बैठा था। यह उनका नया ठिकाना था। राज्यसभा सदस्य के रूप में कार्यकाल पूरा हो जाने के बाद फिरोजशाह रोड वाला मकान छोड़कर यहाँ अस्थायी रूप से रहने वह आ गए थे। 'वह' यानी डी. पी. त्रिपाठी अर्थात देवी प्रसाद त्रिपाठी अर्थात् डीपीटी अर्थात् देवी प्रसाद जी अर्थात् देवी और एक समय में वियोगी जी और दूसरे समय में शक्तिधन्वा, तीसरे में अग्निवेश। मुख़्तसर में कहा जा सकता है कि उनको विविध प्रकार के संबोधनों से नवाज़ा जाता रहा है लेकिन इसे भी बताना गैरज़रूरी नहीं होगा कि उनकी शख़्सियत इससे भी ज्यादा विविध

है। वह उत्थान और पराभव, सम्पन्नता और फ़कीरी, अर्श और फ़र्श, सादगी और चमकदमक, विलक्षणताओं और सामान्यताओं, अत्याधुनिक और देशज सरीखे अनेक परस्पर विरोधी तत्वों से निर्मित उस दिलचस्प आख्यान की तरह हैं, जिसका कोई समतुल्य ढूँढ़ने पर भले मिले वर्ना काफी मुश्किल है।

देवी प्रसाद जी और मेरा गाँव एक है - मलिकपुर नोनरा, जिसे संक्षेप में महज 'मलिकपुर' बताया जाता है। इस नाते उनसे लगाव होना स्वाभाविक है, किन्तु उनसे अपनेपन की अन्य अनेक वजहें हैं जो ज्यादा मायने रखती हैं, जिनकी चर्चा आगे होगी। फ़ीलहाल अभी मैंने पूछा—"डॉक्टर ने क्या बताया?" कैंसर का इलाज पूरा करा लेने के बाद वह स्वस्थ हो गए थे किन्तु इधर उनकी भोजननली से रक्तस्राव होने के लक्षण के रूप में वह शायद पुनः प्रकट हो रहा था...।

"डॉक्टरों का कहना है कि इस बार बीमारी हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है।"

मैं स्तब्ध और दुःखी। जैसे वह मुझे सांत्वना दे रहे हों—"अगर होगा तो देखा जाएगा। क्या किया जा सकता है।" वह मुझको ही ढाढ़स दे रहे थे या मुमकिन है, अपने भय से पंजा लड़ा रहे थे। जल्दी ही उन्होंने विषय बदल दिया; बेहद सहज ढंग से राजस्थान, छत्तीसगढ़, म.प्र. के विधानसभा चुनावों के बारे में बतियाने लगे; बोले—"तीनों जगह भाजपा हारेगी।"

ऐसी भविष्यवाणियाँ उन्होंने हमारे लोकतंत्र के विभिन्न चुनावों के मौकों पर की हैं; दिलचस्प है कि वे यदाकदा गलत हुई हैं मगर प्रायः सटीक सिद्ध हुई हैं। बौद्धिक जगत में इसको उनकी विलक्षण मेधा का प्रतिफल माना जाता है जबकि हमारे गाँव में लोगों का मत है- "हे भइया, देबी के जिभिया पे सरस्वती मइया बैठी रहती हैं।" सरस्वती मइया यानी ज्ञान, बुद्धि की देवी, जो देवी प्रसाद त्रिपाठी के भीतर निवास करती हैं। यह वैसा ही लोकमत है जैसा उनकी अद्भुत स्मरणशक्ति के बारे में मलिकपुर नोनरा तथा इर्द-गिर्द के गावों में प्रचलित यह कथन - "देवी परसाद के दिमाग में छापामशीन लगी है, वो एक बार जो पढ़ लेते हैं वह उनके दिमाग में छप जाता है। एकदम्म हूबहू। चाहें तो मुँहजबानी सुना दें कामा फुलस्टॉप के साथ।" इसी कड़ी में उत्साह में आकर लोग यह भी बताते कि वह अनेक भाषाओं के ज्ञाता हैं। हिंदी, अंग्रेजी की कोई बात ही नहीं, वह ज्योति बसु से बांग्ला में बतिया चुके हैं तो शरद पवार से मराठी में। चन्द्रबाबू नायडू से तेलुगू और स्टालिन से तमिल में ऐसे संवाद करते हैं गोया वह उनकी अपनी भाषा है। निश्चय ही भारतीय समाज अतिरंजना प्रेमी है; खूबियाँ-खामियाँ दोनों ही बढ़ाचढ़ा कर कहना उसे पसंद है, अतः देवी प्रसाद जी को यदाकदा विश्व की कई भाषाओं में निष्णात् बताने वाले भी मिलते रहे हैं। जो भी हो, सार रूप में इतना ही है कि वह बहुभाषा-भाषी हैं। उनको बेहतरीन हिंदी, अंग्रेजी, बांग्ला में बोलते हुए कइयों ने सुना है। इलाहाबाद के दिनों में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ और फ़हमीदा रियाज, इन दोनों से उनकी गहरी आत्मीयता थी, नफ़ीस उर्दू में उनकी बतकही का साक्षी मैं स्वयं हूँ। यह अलग बात है कि तब भी और अब भी मैं स्वयं कौन सा उर्दू का जानकार हूँ...। एक घटना संस्कृत को लेकर, जो मेरे बचपन की है...।

गाँव में त्रिपाठी जी के परिवार में किसी लड़की का विवाह था, रिवाज के मुताबिक वरपक्ष और वधूपक्ष के पंडितों में शास्त्रार्थ होना था। वरपक्ष, के पंडित जो थे वह पुरोहितों की आम अवधारणा के विपरीत कमीज पैंट पहने थे और पढ़े-लिखे थे जबकि इधर वाले पंडित जी जो ठाकुर प्रसाद बाबा के नाम से मशहूर थे, गाँव मलिकपुर नोनरा के प्रत्येक परिवार के खानदानी पुरोहित थे, बल्कि अब भी हैं - कम शिक्षित, 'आत्मविश्वास ज्यादा योग्यता कम' सरीखे गुणों

से लैस। शास्त्रार्थ में ठाकुर प्रसाद बाबा पहले आक्रामक होकर चढ़ाई किये परन्तु प्रतिद्वंदी के आगे जल्द ही वह लड़खड़ाने लगे। वह संभवतः कठिन संस्कृत में सवाल पूछ रहा था और हमारे पुरोहित बाबा आसान संस्कृत में भी तंग थे; अतः बेचारे घिघियाने लगे। नतीजा यह था : दूल्हे की तरफ का जनसमूह उत्साह में आकर इधर की खिल्ली उड़ाने लगा और लड़की वाले परास्त, खामोश बेइज्जती का घूंट पी रहे थे। त्रिपाठी जी तब सत्रह अठारह साल के रहे होंगे, ठाकुर प्रसाद बाबा को उठाकर खुद उनकी जगह बैठ गए; शुरू हुआ फिर से संस्कृत में शास्त्रार्थ का नया दौर। बहुत जल्द उधर के पुरोहित की दशा कुछ वक्त पहले के हमारे ठाकुर प्रसाद बाबा जैसी थी।

देवी प्रसाद जी को तब से जानता हूँ जब मैं उ.प्र. के जिला सुल्तानपुर की तहसील कादीपुर के क़स्बे में स्थित प्राइमरी पाठशाला में तख्ती लेकर पढ़ने जाया करता था। वह हमारे स्कूल से एक फर्लांग की दूरी पर बने नेशनल इंटर कॉलेज के होनहार छात्र थे। मेरे बड़े भाई उनके सहपाठी थे, इस तरह वह भी बड़े भाई ठहरे। मैं जब चौथी कक्षा में विद्यार्जन कर रहा था तब वे दोनों ग्यारहवीं के विद्यार्थी थे। हम दोनों का गाँव कादीपुर से लगभग छह मील की दूरी पर स्थित है। मैं अपने परिवार के साथ कादीपुर में ही रहता था जबकि त्रिपाठी जी पढ़ने के लिए रोजाना साइकिल से मलिकपुर से कादीपुर आते थे। मलिकपुर के एक साधारण ब्राह्मण परिवार में राजदेव त्रिपाठी के सबसे छोटे बेटे के रूप में देवी प्रसाद का जन्म हुआ था। उनसे बड़े दो भाई सामान्य रूप से पैदा हुए मगर उनके बाद जन्मने वाले देवी प्रसाद जी और उनकी एक बहन के साथ अजीब त्रासदी घटित हुई—दोनों की आँखों को अत्यन्त क्षीण रोशनी मिली। आज भी त्रिपाठी जी को हमेशा की तरह किसी किताब को पढ़ने के लिए किताब को आँखों के एकदम नजदीक, लगभग सटाकर, रखना होता है। देखने वाले को ऐसा देखकर भले ही तकलीफ होती होगी लेकिन त्रिपाठी जी को निश्चय ही, पढ़ने में बेइंतिहा सुख भी मिलता रहा है तभी वह दुनिया की अनगिनत किताबें पढ़ते रहते हैं। यह अलग बात है कि घनघोर पढ़ाकू दूसरे भी होंगे किन्तु पढ़कर जितना त्रिपाठी जी को याद रह जाता है उसका मुकाबला करने वाले शायद ही कुछ हों। अब की नहीं कह सकता लेकिन एक समय जरूर ऐसा था जैसा कि अभी कुछ पहले कहा गया है, वह बहुत सारे पन्ने पढ़ने के बाद उसे जबानी अर्धविराम, पूर्णविराम सहित सुना सकने में वाकई सक्षम थे। इस प्रकरण में नेशनल इंटर कॉलेज के समय का जिक्र करें : उन दिनों बोर्ड परीक्षाएँ उस कॉलेज में नहीं हो पाती थीं जिसमें छात्र वर्ष भर पढ़ाई कर रहा होता था, परीक्षा केंद्र नजदीक के दूसरे विद्यालय में हुआ करते थे। नेशनल इंटर कॉलेज के बोर्ड के विद्यार्थियों का परीक्षा केंद्र कादीपुर से छह मील दूर के क़स्बे सूरापुर में पड़ा था। परीक्षा के एक दिन पहले त्रिपाठी जी मेरे घर पर आ जाते थे। एकाध और भी होते। रात छत पर मेरे भाई सहित दूसरे लोग लोग अगले रोज के इम्तिहान के तनाव में रहते; रात भर पढ़ते, रट्टा मारते, भगवान् से दुआएं करते वहीं त्रिपाठी जी सिगरेट फूँकते और सो जाते। अगले दिन एक इक्के पर बैठकर सारे छात्र सूरापुर के लिए रवाना होते। मेरे भाई बताते कि त्रिपाठी जी जो साल भर पढ़ते नहीं देखे जाते थे इक्के पर रास्ते भर अध्ययन करते पाए जाते। और वही बात कि सारा कुछ उनके दिमाग में छप जाता था जिसे वह प्रश्नपत्र के अनुसार कॉपी में छाप देते थे। नतीजा हमेशा की तरह रहता : देवी प्रसाद त्रिपाठी पूरे कॉलेज में अव्वल आते। जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं इन सब चीजों का महत्त्व उतना नहीं समझता था जितना मुझको समझना चाहिए था। हाँ, त्रिपाठी जी का महत्त्व और आकर्षण मेरे लिए दूसरे कारणों से जरूर था। सबसे पहली बात यह थी कि वह सन् 68—69 का समय

था और तब त्रिपाठी जी के अलावा पूरे कादीपुर में अन्य कोई माई का लाल विद्यार्थी नहीं था जो हर वक्त क्लास में नहीं चाय की दूकान पर मिलता था और चाय तो चाय, लगातार सिगरेट भी खुलेआम पीता रहता था। त्रिपाठी जी की एक बड़ी ख़राब आदत थी जिसकी वजह से मैं उनके पास नहीं फटकता था बल्कि उनकी सोहबत से भागा-भागा फिरता था। वह आदत यह थी कि खुद भले साल भर नहीं पढ़ते थे लेकिन मुझे देखते ही मुझसे मेरी पढ़ाई के बाबत पूछने लगते, जबकि इस इलाके में मैं उनके सरीखे मेधावी के सम्मुख एकदम पिद्दी था। मैं कितना भी उनसे कन्नी काटता था पर उन पर गर्व भी करता था; इस वजह से भी कि यह अनोखा प्रतिभाशाली शख्स मेरे गाँव का था। मेरे गर्व की मात्रा 15 अगस्त, 26 जनवरी, और महात्मा गांधी के जन्मदिवस 2 अक्टूबर को कई गुना अधिक हो जाती थी। उन दिनों प्राइमरी स्कूल हो या इंटर कॉलेज, सभी विद्यालयों के पास खेल का मैदान हुआ करता था। उपर्युक्त राष्ट्रीय पर्वों के अवसर पर मेरी प्राइमरी पाठशाला में भी आयोजन होता लेकिन वह प्रभातफेरी, भाषण, खेल और लड्डू वितरण तक सीमित था जबकि नेशनल इंटर कॉलेज की फील्ड में भव्य सांस्कृतिक आयोजन होते जिसमें वहाँ के विद्यार्थी अपनी प्रतिभा का परिचय देते। हमारी पाठशाला के बहुतेरे बच्चे जिनमें जाहिर है मै सम्मिलित था, लड्डू-वड्डू पाकर बतौर दर्शक वहाँ पहुँच जाते और मंच पर पर्दा हटने का इंतजार करते। जाहिर है, सभी कार्यक्रम देशभक्ति पर आधारित होते थे लेकिन जो प्रस्तुति सबसे अधिक पसंद की जाती वह एक नाटिका थी, जिसमें तब के युवा, पतले सीकिया देवी प्रसाद त्रिपाठी महात्मा गांधी बनकर मंच पर आते थे। उनका अभिनय कैसा होता था आज मुझको याद नहीं है मगर यह कभी नहीं भूल सका कि गांधी जी की धज में गांधी जी की एक घड़ी त्रिपाठी जी की कमर पर लटकती रहती थी। स्वतंत्रता दिवस के मौके पर सांस्कृतिक मंच पर त्रिपाठी जी की एक अतिरिक्त प्रस्तुति भी होती जिसमें वह गायक के रूप में प्रकट होते। हमारी तरफ कजरी गायन बेहद लोकप्रिय था। यह सावन के महीने में गाया जाता है और देश की आजादी का जश्न सावन महीने में या उसके आसपास ही मनाना होता है। तो त्रिपाठी जी कजरी गाते। कजरी गीतों में वर्षा ऋतु का चित्रण और उसमें विरह का संवेदन रहता है, किन्तु त्रिपाठी जी कजरी में देशप्रेम का रसायन मिलाते थे। वह जो गीत गाते थे उसका केवल मुखड़ा मुझे याद है, जो इस प्रकार था : 'हरे रामा पंद्रह अगस्त क्यों आयो रे हरी'। गीत की आगे की पंक्तियों में यह स्पष्ट किया गया था कि हमारे देश के लिए आजादी क्यों जरूरी थी और वह हमें किन बलिदानों, संघर्षों के परिणामस्वरूप हासिल हुई। मैंने इस अनुभव को अपने एक मित्र को बताया तो वह कहने लगे, तुम्हें इतनी कम उम्र की बातें याद हैं? कहना चाहूँगा कि प्राइमरी पाठशाला के अध्येता को इतना कमतर मत आँकिये। मैं स्वयं सबूत हूँ कि प्राइमरी पाठशाला के छात्र ने इंदिरा गांधी, चौधरी चरण सिंह, बाबू जगजीवन राम की राजनीतिक सभाओं में उनके भाषण सुने थे। कादीपुर में हमारे घर के बगल में ही रामलीला वाला बाग था जहाँ इस तरह की सभाएँ हुआ करती थीं। वहाँ एक सभा लाल झंडे वाली कम्यूनिस्ट पार्टी की भी हुई थी। पूरा बाग लाल झंडों, झंडियों से सजा हुआ था। तब कम्युनिस्ट पार्टी आज की तरह जर्जर नहीं थी और कादीपुर तो इसके व्यापक प्रभावक्षेत्र वाला इलाका था। अतः बाग़ में झंडे ही नहीं इंसान भी खूब सारे थे - जोश से भरे, इन्किलाब जिंदाबाद का नारा लगाते हुए। तभी कुछ युवक एक जुलूस की शक्ल में आकर सभा को भंग करने पर अमादा हो गए। यह जुलूस राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से सम्बद्ध छात्र संगठन अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् का था और इसका नेतृत्व देवी प्रसाद त्रिपाठी कर रहे थे जो आगे चलकर वामपंथ के नेता बने, एस.एफ.आई. प्रत्याशी के रूप में चुनाव

लड़कर जे.एन.यू. छात्रसंघ के अध्यक्ष हुए।

उनका बचपन कैसा था? मैंने बहुत वर्षों बाद उनसे इसलिए पूछा कि मुझे आशंका थी कि आज के इस सफल, शक्तिशाली, नामचीन व्यक्तित्व का बचपन अपनी आँखों की समस्या की वजह से संतापों से भरा रहा होगा; और यह आशंका गलत न थी; खुद त्रिपाठी जी के शब्दों में : "मेरी बचपन की स्मृतियाँ क्रूर और कठोर हैं। जन्म से ही मेरी आँखों में यह विकार था; इसे लेकर ही मैं पैदा हुआ। मेरा साझा परिवार था। मेरे पिता पाँच भाई थे; सबकी अपनी अपनी संतानें थीं। किन्तु परिवार में किसी शुभ कार्य के अवसर पर मेरी उपस्थिति अशुभ मानी जाती। शादी ब्याह हो अथवा कोई अन्य उत्सव हो, मुझे शामिल नहीं होने दिया जाता था; जबकि मैं बच्चा था उसमें शामिल होना चाहता था। अतः रोक दिए जाने पर मैं रोता, मेरी माँ रोती। इतना ही नहीं, घर से बाहर जब मैं गाँव में निकलता तो वहाँ भी हालात प्रतिकूल रहते; लोग निर्मम और भद्दे किस्म के रिमार्क करते थे जैसे- 'काना के कोल कोल पैसा पायें गोल गोल' या 'सौ में सूर सवा में काना सवा लाख में ऐंचाताना'।" बेशक यह एक अशिक्षित, क्रूर, पिछड़े, सामंती मूल्यों से ग्रस्त समाज का परिदृश्य था लेकिन कई बार बंद अँधेरे के बीच भी रोशनी की किरण कहीं से छनकर आ जाती है। त्रिपाठी जी के लिए किरण बने लार्ड माउंटबेटन। बकौल त्रिपाठी जी, जब वह तीसरी कक्षा में थे तब गाँव घर में तो नहीं किन्तु स्कूल में उनके प्रति लोगों का व्यवहार बदलने लगा; वजह यह कि स्कूल के एक जलसे में होने वाले नाटक में माउंटबेटन का रोल उस लड़के को करना था जिसे थोड़ी बहुत अंग्रेजी आती हो और यह योग्यता समूचे स्कूल में कामचलाऊ ही सही सिर्फ त्रिपाठी जी के पास थी। इस तरह पराधीन भारत का आला हाकिम बनकर उन्होंने मंच पर जो धाक जमाई वह कमोबेश मंचन के बाद भी और मंच के पार भी कायम रही। लोगों का उनकी आँखों को लेकर फब्ती कसना बंद नहीं तो कम जरूर होने लगा। वह एकदम से ख़त्म तब जाकर हुआ जब वह पाँचवी के रिजल्ट में पूरे कादीपुर तहसील में अव्वल आये। अब मलिकपुर ही नहीं आसपास के कई गाँव में उनको इज्जत और कौतूहल से देखा जाने लगा। और शायद यहीं से उन दावों, किस्सों और वर्णनों की बुनियाद पड़ी जिनमें त्रिपाठी जी की विलक्षणताओं का इस प्रकार बखान किया जाता था जैसे उनपर देवताओं का वरदान बरस रहा हो। कहीं ऐसा तो नहीं कि एक क्रूर, संवेदनहीन समाज इस प्रकार अपनी अमानवीयता का प्रायश्चित करने का जतन कर रहा था...।

हिंदी फिल्मों में एक कहानी कई बार फिल्माई गयी है, मेले में या बड़े शहर में या भूकंप, बाढ़ के प्रकोप में अपने लोग बिछड़ जाते हैं; लेकिन जीवन में बिछड़ने के लिए इतने भीषण कारणों की जरूरत नहीं पड़ती, बेहद मामूली वजहों से लोग दूर दूर छिटक जाते हैं अथवा ऐसे भी कहें कि छिटककर दूर दूर जा गिरते हैं। कादीपुर में जब मैं पाँचवीं कक्षा में पढ़ रहा था, त्रिपाठी जी और मेरे भाई नेशनल इंटर कॉलेज में इंटर के अंतिम वर्ष के विद्यार्थी थे। बता दें कि कादीपुर में तब आगे की पढ़ाई के लिए, स्नातकोत्तर शिक्षा के लिए, एक भी कॉलेज नहीं था। मेरी माँ और पिता फ़िक्र करते कि बड़ा बेटा आगे कैसे पढ़ेगा क्योंकि बाहर भेजकर तालीम दिलाने के लिए पर्याप्त आर्थिक अधार नहीं था पास में। लेकिन संयोग की बात, ठीक उसी वर्ष मेरे पिता जी का स्थानांतरण सुल्तानपुर हो गया जहा भाई के लिए एक डिग्री कॉलेज था और मेरे लिए तीन तीन इंटर कॉलेज के विकल्प थे। हमारा परिवार सुल्तानपुर चला गया और त्रिपाठी जी ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रवेश ले लिया।

हिंदी फिल्मों में लोग बाद में दुबारा मिल जाते हैं; त्रिपाठी जी से भी करीब एक दशक बाद इलाहाबाद में मिलना हुआ। वहाँ स्टूडेंट फेडरेशन ऑफ़ इंडिया की कांफ्रेंस थी; सुल्तानपुर

से हम तीन दोस्त उसमें शामिल होने के लिए गए थे। हम अभी हाल फ़िलहाल युवा हुए थे और जोश से भरे थे। इतना अधिक जज्बा था कि इलाहाबाद वाली ट्रेन में जब टीटी ने टिकट माँगा तो हमारे बीच से एक ने चीखकर कहा- "शर्म नहीं आती टिकट माँगते हुए। इस देश में इतनी ज्यादा बेरोजगारी की जिम्मेदार ये निकम्मी सरकार नौकरी दे नहीं सकती और टिकट माँगती है। तो जनाब आपको टिकट चाहिए।" टीटी डरकर आगे बढ़कर अपना कर्तव्य निर्वहन करने लगा था। इसी यात्रा में मैंने पहली बार बेख़ौफ़ खुलेआम सिगरेट पी थी और एक दोस्त ने अपने जीवन में पहली बार मांसाहार किया था। हम दो, जो पहली बार वाले मांसाहारी नहीं थे, उनको यह ज्ञान दिया था कि बिना गोश्त खाए और बिना सिगरेट पीये मार्क्सवादी कतई नहीं बना जा सकता। इस प्रकार मार्क्सवाद में निष्णात् होकर हम तीन दोस्त इलाहाबाद कांफ्रेंस में पहुँचे। वहाँ दिनभर के कार्यक्रमों के पश्चात् हमें बताया गया कि शाम को कामरेड देवी प्रसाद त्रिपाठी हमें संबोधित करेंगे। मुझे यह जानकारी थी कि देवी प्रसाद जी जेएनयू से पढ़कर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्र विभाग में अध्यापक हो गए हैं। उनके जेएनयू में छात्रसंघ का अध्यक्ष होने और आपात्काल में गिरफ्तार होकर जेल जाने की दास्तानें हमारे पास थीं। उनकी अद्भुत वक्तृता, अध्यवसाय, स्मरणशक्ति के किस्से भी सुल्तानपुर में हमारे इर्द-गिर्द थे। हमें बताया गया था कि आपात्काल में साढ़े चार महीने अंडर ग्राउंड रहने के बाद जब वह चौदह महीने तिहाड़ जेल में रहे थे तो वहाँ अटल बिहारी वाजपेयी, चौधरी चरण सिंह, चंद्रशेखर, नाना जी देशमुख, मधुलिमये सरीखे भारतीय लोकतंत्र के अनेक दिग्गज विपक्षी नेताओं से उनका न केवल परिचय हुआ बल्कि वे लोग त्रिपाठी जी के गुणों से, उनकी विलक्षणता से चमत्कृत थे। आपात्काल में विचार एवं प्रतिरोध निषिद्ध था जबकि जेएनयू इन तत्वों का विस्फोटक मंच था और उसके छात्रसंघ का अगुआ सर्वाधिक वांछित शख्स। फिर भी त्रिपाठी जी की गिरफ्तारी में देरी हुई थी। इसमें शायद त्रिपाठी जी की जीवनशैली का भी अवदान था। पुलिस उन्हें गिरफ्तार करने हॉस्टल पर दिन में, रात में छापा मारती लेकिन वह मिलते ही नहीं थे। वह अपने कमरे में बहुत कम रहते, कभी किसी के यहाँ कभी किसी के यहाँ टिक जाते थे। पता नहीं यह कहानी कितनी हकीकत है और कितनी मनगढ़ंत कि उन्हीं दिनों में सुल्तानपुर के एक पंडित जी दिल्ली गए थे तो वह त्रिपाठी जी के कमरे में ठहर गए। सुबह ब्रह्ममुहूर्त में पुलिस ने त्रिपाठी जी के होने की आशंका में दबिश दी। दरवाजे के उस पार से पुलिस ने त्रिपाठी जी को पुकारा। इस पार के पंडित जी बेवकूफ और शेखीबाज थे; उन्होंने अकड़ के साथ दरवाजा खोलकर कर हेकड़ी के साथ कहा—"मैं हूँ देवी प्रसाद, बताइए?" जवाब में एक भारी पुलिस बल ने उनको दबोच लिया था। वह भौचक्के कुछ दूर चलने के बाद घिघियाते हुए बोले - "हुजूर मैं सुल्तानपुर का पंडित, मैं बेक़सूर हूँ, और मुझको कुल्ला लगा है।" निस्संदेह अब पुलिस बल के घिघियाने की बारी थी। सुल्तानपुर के ही घनश्याम मिश्र जेएनयू में हिंदी के छात्र थे। मुमकिन है, त्रिपाठी जी का ही प्रभाव रहा हो, उस दौर में सुल्तानपुर और उसके आसपास के जनपदों के बहुत से युवा उस विश्वविद्यालय में दाखिला पाए थे, घनश्याम मिश्र उन्हीं में एक थे। घनश्याम मिश्र की विशेषता यह थी कि वह दुरुस्त डीलडौल के कुर्ता धोती पहनने वाले ऐसे विद्यार्थी थे जो देखने में बिलकुल विद्यार्थी नहीं लगते थे। कहा जाता था कि सम्पूर्ण जेएनयू में दो ही लोग कुर्ता धोती पहनते थे; एक विख्यात आलोचक नामवर सिंह और दूसरे घनश्याम मिश्र। चर्चा थी, नवागंतुकों, अपरिचितों के सामने घनश्याम मिश्र प्रायः नामवर सिंह के रूप में स्वयं को प्रस्तुत कर देते थे। वह भी देवी प्रसाद जी के समर्थकों में थे। दरअसल देवी प्रसाद जी के विषय में उचित ही प्रचलित रहा है कि उनके परिचय मंडल का एक तबका

शंकर जी की बारात की तरह है जिसमें भाँति-भाँति के जनसमुदाय मौजूद रहते हैं। देश दुनिया भर में उनके निकटस्थों का विस्तार है जिनमें देशी-विदेशी राजनेता, पत्रकार, साहित्यकार, कलाकार, उद्योगपति, मुफलिस, रईस, सज्जन, दुर्जन तरह-तरह के लोग शामिल हैं। कई साल पहले इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्रसंघ के चुनाव में अध्यक्ष पद के एक प्रत्याशी को देवी प्रसाद जी का समर्थन प्राप्त था। विपक्षियों ने एक पोस्टर जगह-जगह चिपकाया जिसपर वह प्रत्याशी अंगुलिमाल और देवी प्रसाद जी गौतम बुद्ध के रूप में चित्रित किये गए थे; यह अलग बात है कि उसका उल्टा प्रभाव हुआ; देवी प्रसाद जी समर्थित प्रत्याशी विजयी हुआ और आज वह उ.प्र. की राजनीति में एक पार्टी के महत्त्वपूर्ण नेता हैं।

फ़िलहाल हम इलाहाबाद की कांफ्रेंस में देवी प्रसाद जी के सामने थे। मैं उनको कई साल बाद देख रहा था; अब वह नेशनल इंटर कॉलेज के दिनों जैसे नहीं थे; चेहरे पर घनी दाढ़ी मूंछ थी जिससे चेहरा थोड़ा सा भरा हुआ लग रहा था। वह कोई लम्बा सा लबादा जैसा कोट पहने हुए थे। वह रहस्यमय शख्सियत लग रहे थे और तब हमारे दिमाग में कम्युनिस्ट को लेकर रुमानी ख्याल थे इसलिए उनकी रहस्यमयता उनके आला दर्जे का कम्युनिस्ट होने के हमारे विश्वास में चार चाँद लगा रही थी। हम रोमांचित थे। फिर भी मैंने हिम्मत दिखाई, मैंने धीरे धीरे उनके करीब पहुँचकर घर गाँव का अपना परिचय दिया। जाहिर है वह बेहद खुश हुए और घर द्वार की छोटी-छोटी सामान्य सी बातें करने लगे। मुझको एक तरफ गुरूर हो रहा था कि लोगों के बीच मेरा रुतबा बढ़ रहा है लेकिन कहीं मुझे इस बात का बुरा भी लग रहा था एक पहुँचा हुआ कम्युनिस्ट भला इस तरह छोटीमोटी घरद्वार की बातें करता है। गनीमत है, उन्होंने देर तक मुझसे बातचीत नहीं की वर्ना मैं शायद उनके नंबर बहुत कम कर देता।

अगले दिन हम तीनों ने सुल्तानपुर वापसी के लिए ट्रेन पकड़ी; इस बार मैं ज्यादा ही इत्मीनान से सिगरेट का धुँआ उड़ा रहा था और प्रत्येक तीसरे चौथे वाक्य में क्रांति-क्रांति बोल रहा था।

जल्दी ही उनसे फिर मिलना हुआ। अबकी वह सुल्तानपुर में आये थे। संभवतः सन् 80 का अक्टूबर या नवंबर रहा होगा, वह लालचंद सिंह के घर पर रुके थे। लालचंद सिंह जेएनयू से हिंदी में एम. ए. करने के बाद सुल्तानपुर के महाराणा प्रताप डिग्री कॉलेज में अध्यापन कर रहे थे। उनको कष्टकारी बवासीर का रोग था और खाने-खिलाने का शौक था। उनके घर में उस शाम त्रिपाठी जी के सम्मान में भोजन था जिसमें त्रिपाठी जी के साथ काजी अफजल साहेब, जो अब उर्दू के जानेमाने नक्काद हैं, मौजूद थे; लालचंद तो थे ही, सत्येन्द्र प्रकाश थे, मैं भी था। बातचीत चल रही थी, गोश्त के मसालों की खुशबू आ रही थी, बीच बीच में ठहाके लग रहे थे... त्रिपाठी जी विषयांतर करते हुए मुझसे मुखातिब हुए - "कलकत्ता घूमने चलोगे?" मैं अचानक प्रस्तुत इस प्रस्ताव पर तुरंत कुछ बोल न सका। उन्होंने बात स्पष्ट की - "तुम्हारा आने जाने का किराया, वहाँ रहना, खाना पीना सब मेरी तरफ से रहेगा।" मैंने उसी क्षण हाँ कहा कि कहीं वह प्रस्ताव भाग न जाए। मेरी उतावली की वजह थी : मेरी बीस साल के नजदीक की उमर हो चुकी थी और मैंने इलाहाबाद के अलावा कोई दूसरा बड़ा शहर नहीं देखा था। तभी मिलीजुली आवाजें : 'मैं भी चलूँगा...मुझको भी ले चलिए... अंततः त्रिपाठी जी का फैसला था - "ठीक है, सब लोग चलिए लेकिन अखिलेश के अलावा किराया सब अपना अपना देंगे। हां बाकी इंतजाम मेरी तरफ से।" लालचंद सिंह ने पूछा - "कब चलना होगा?" तय हुआ कि 30 दिसम्बर को इलाहाबाद से कलकत्ता के लिए रवाना हुआ जायेगा।

सबका ट्रेन का आरक्षण त्रिपाठी जी करा देंगे, इलाहाबाद पहुँचने पर सभी अपने टिकट का शुल्क त्रिपाठी जी को चुका देंगे। बेशक इसमें मैं नहीं शामिल था क्योंकि मेरा किराया खुद त्रिपाठी जी को देना था।

चलते वक्त मेरी माँ ने मुझे पाँच सौ रुपये दिए, कहा, जहाँ जरूरी हो खर्च करना। कार्यक्रम के मुताबिक हम 30 दिसम्बर को सुबह की ट्रेन पकड़कर त्रिपाठी जी के जार्ज टाउन स्थित आवास पर पहुँचे और तब बज्रपात हुआ : त्रिपाठी जी ने किसी का रिजर्वेशन कराया ही नहीं था। खैर अब आ गए थे तो चलना ही था। सोचा गया कि रिजर्वेशन अब मिलेगा नहीं, कम से कम साधारण टिकट मँगा लिए जायें। सब अपने अपने हिस्से का किराया देने लगे। त्रिपाठी जी ने प्रश्न किया - "अखिलेश तुम्हारे पास कुछ धन होगा?" हाँ जवाब पर वह बोले - "तुम अपना और मेरा, दोनों का किराया का दे दो, मैं तुमको बाद में दे दूँगा।" मैंने दिया। जिज्ञासा हो सकती है, त्रिपाठी जी विश्वविद्यालय में शिक्षक की नौकरी करते थे फिर उनको समस्या क्यों? इसका खुलासा बाद में हुआ जब मैं अगले साल इलाहाबाद पढ़ने गया था। अपने खर्चों पर उनका कोई नियंत्रण नहीं था। वह बिलकुल नहीं सोचते थे कि कल परसों की जरूरतें कैसे पूरी होंगी? वेतन मिलने के हफ्ते भर के अंदर ही वे उसे खर्च कर डालते थे और किसी मित्र से कहते सुने जा सकते थे - 'देश बड़े संकट में है।' यह उनका कोड था किसी से उधार लेने का। उनके अतिव्ययी होने का आलम यह था कि वेतन मिलते ही वह दोस्तों को महँगी दावतें देने लगते, किसी परेशान या जरूरतमंद को आधी या पूरी तख्वाह दे सकते थे। एक बार उन्होंने इतवार को करीब तीस विद्यर्थियों की एक्स्ट्रा क्लास शहर के सबसे महँगे रेस्तराँ 'एल्चिको' में ली थी; वहाँ उन्होंने पूरी क्लास को बढ़िया लंच कराया था। जब उनकी दूसरी कक्षा के छात्रों ने इसे अपने साथ किया गया अन्याय बताया तो उन्होंने उनको भी लंच कराया था और साथ में बोनस स्वरूप बियर पिलाई थी।

कलकत्ता के पाँच टिकट दोपहर तक आ गए थे। रात को जब हम रेल के डिब्बे में घुसे, अपरंपार भीड़ थी, अतः फर्श पर ही हमने धूनी रमाई और पहुँच गए कलकत्ता। हावड़ा स्टेशन पर उतरने के बाद हम दो टैक्सियों में सवार होकर आगे बढ़े। गंतव्य पर आकर टैक्सी ड्राइवरों ने अपना भाड़ा बताया तो त्रिपाठी जी ने कहा - "अखिलेश दे दो।" मेरी माँ के पैसे खर्च होते जा रहे थे।

अब हम चाय की दुकान पर थे। यह चाय की दुकान त्रिपाठी जी के पिता जी चलाते थे। मैं उनसे गाँव में पहले ही मिल चुका था पर यहाँ वह ज्यादा रोबीले लग रहे थे। वह थोड़ी ऊँची बनी भट्ठी के सामने बैठे हुए बर्तन में चाय का पानी उबाल रहे थे। उन्होंने हम सबको कुछ खिलापिलाकर घर भेज दिया जो पास में ही था।

घर पर हम सब जब तरोताजा हो गए तो त्रिपाठी जी संबोधित थे - "अखिलेश तुम मेरे साथ चलोगे और बाकी लोग पार्क स्ट्रीट में नौ बजे हमें मिलेंगे।" उन्होंने किसी रेस्तराँ का नाम लिया था जो मैं अगले ही क्षण भूल चुका था। मैं त्रिपाठी जी के साथ था। बाहर आकर उन्होंने कलकत्ते के कुछ साहित्यकारो को फोन किये। सभी को उन्होंने नए साल की दावत में शामिल होने के लिए पार्क स्ट्रीट के रेस्टोरेंट में बुलाया था। इसके बाद उन्होंने टैक्सी को किसी ठिकाने पर चलने के लिए बोला जहाँ पहुँचकर सहज ही था उन्होंने मुझसे किराया चुकाने के लिए कहा। मुझे लगा मेरे भरोसे ही वह सबको दावत में बुला रहे हैं क्या...इनका क्या ठीक...मैं अत्यंत कातर भाव से बोला - "मेरे पास सिर्फ सौ रुपये बचे हैं।"

सामने बहुत बड़ा और भव्य मकान था, उसी के अनुरूप गेट था। गेट पर किन्हीं महादेव

मिश्र का नाम खुदा हुआ था। भीतर भी वैसा ही भव्य। जिंदगी में पहली बार टी.वी. मैंने यहाँ देखा था। खाना आया जिसे त्रिपाठी जी ने बिलकुल नहीं खाया जबकि उसमें भाँति-भाँति के व्यंजन थे। सब्जियाँ, दालें, मिठाइयाँ... न जानें क्या क्या। देखादेखी मैंने भी खाने से इन्कार करने का अनुकरण किया और त्रिपाठी जी के साथ बाहर निकला। जब हम टैक्सी में पार्क स्ट्रीट के लिए बैठे तो मैं पैंट की जेब में हाथ डालकर अपने शेष रुपयों को मरोड़ने लगा था जो कुछ देर में चले जाने वाले थे। ठीक उसी वक्त त्रिपाठी जी बोले - "ये लो दो हजार रुपये, खूब अच्छे से घूमना। ख़त्म हो जाये तो और लेना।" मैं हक्कबक्का था। ठीक ठीक कह नहीं सकता ये कारूँ का खजाना उनके पास कैसे यकायक आ गया था; लगता है महादेव के यहाँ कुछ घटित हुआ था। महादेव सुल्तानपुर के ही थे और उनकी रईसी के बारे में कहा जाता था कि वह जिस धोती को पहनकर नहाते थे उसे दुबारा नहीं पहनते थे। यह भी कि वह रोज-रोज नहाते थे।

कलकत्ता का पार्क स्ट्रीट नए साल के जश्न के लिए जगमग सजा हुआ था। जल्दी ही सब लोग मिल गए। पाँच सुल्तानपुरी तो थे ही, कलकत्ता के हिदी साहित्यिकों का एक बड़ा समुदाय भी त्रिपाठी जी के निमंत्रण पर आ चुका था; इसमें प्रसिद्ध कथाकार इसरायल के अलावा छेदीलाल साथी, विमल वर्मा, श्री हर्ष के नाम मुझे याद हैं। जल्दी ही एक नई प्रविष्टि हुई जिसने सभी को चौंका दिया था, उनका नाम ल्यूकस था जो हालैंड की कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े थे और त्रिपाठी जी के दोस्त थे। हम सभी रेस्टोरेंट में दाखिल हुए। मेरे लिए तो वह एक अजूबा संसार था जहाँ बहुत सारे लोग शराब पी रहे थे, खाना खा रहे थे और स्टेज पर एक नर्तकी नृत्य कर रही थी और कई वादक तेज आवाज में संगीत बजा रहे थे। हमारे बगल वाले टेबल पर एक ग्राहक नशे में धुत मेज पर सिर टिकाये नीम होश में था।

त्रिपाठी जी आज की शाम के मेजबान थे; वह सबके लिए मदिरा का आर्डर देने चले तो मैं घबराया और बोला - "मेरे लिए नहीं, मैं शराब नहीं पीता।" वह कहने लगे- "तुम्हारे लिए बियर मगाता हूँ।" मैं अड़ा - "वह भी शराब ही होगी।" उन्होंने बताया- "नहीं, बियर दरअसल शराब नहीं, जौ का सत् है जो पेशाब करते ही बाहर निकल जाता है।" उन्होंने मेरे और सत्येन्द्र प्रकाश के लिए जौ का सत् तथा बाकी के लिए शराब यानी व्हिस्की का आर्डर दिया। इस तरह जीवन में पहली बार मैं मयखाने में मदिरा का स्वाद चख रहा था।

त्रिपाठी जी को कुछ घंटों के भीतर ही मेजबान से मेहमान भी बनना था। रेस्टोरेंट से जब हम सब बाहर निकले तो नववर्ष अभी अभी पधारा था; इसलिए रात का सन्नाटा नहीं कोलाहल था। हमें कलकत्ता के साहित्यिक अग्रजों से विदा लेनी थी किन्तु इसके बजाय सभी श्रीहर्ष जी के घर चलने लगे। मेरा क्या था, अनुगामी था, जहाँ वे वहाँ हम। हर्ष जी के यहाँ पुनः पीने की महफ़िल लगी। नीचे फर्श पर बिछी दरी पर सब अपना अपना मदिरा पात्र लिए हुए बैठे थे। मुझसे भी ग्रहण करने के लिए इसरार किया जाने लगा। कहा जाने लगा कि थोड़ी देर पहले शराबी के रूप में मेरा दीक्षा संस्कार हुआ है, अतः मुझे आज इसकी झलक दिखाना ही चाहिए कि इस क्षेत्र में आगे मुकाम हासिल करने की योग्यता मुझमें है और मैंने यही साबित किया कि उन्होंने एक अयोग्य पर दाँव लगाया है। नतीजा यह कि वे पी रहे थे और मैं जायजा ले रहा था। वे ज़ोर-ज़ोर से ठहाके लगा रहे थे, बहसें कर रहे थे; समूचा घर जाग गया था मगर लगता है घर के सदस्य ऐसी बैठकबाजी के अभ्यस्त थे क्योंकि असंतोष, क्षोभ की आवाजें कतई नहीं सुनाई दे रही थीं; मैं चकित था क्योंकि मैंने देखा था कि बचऊ नाम के मेरे एक मकान मालिक जब शराब पीकर घर आते थे तो उनकी बीवी कुपित होकर

चूल्हे का जलता कुंदा लेकर उनकी तरफ यह कहती हुई दौड़ पड़ती थीं—हरामी आ गया। पर यहाँ तो सब बड़ा अच्छा व्यवहार कर रहे थे। रात के ढाई बजे के आसपास त्रिपाठी जी को क्या सूझा कि वह आलाप लेने लगे फिर दो चार शब्द गाए और दरी या कालीन जो भी था पर थाप देने लगे; तभी घर के अंदर से एक छोटी सी बच्ची अपना स्कूल ले जाने वाला टीन का बक्सा लेकर आई और उसे त्रिपाठी जी सम्मुख वाद्य के रूप में रख दिया। वह चुपचाप आई थी चुपचाप चली गयी। अब त्रिपाठी जी बाकायदा उस बक्से को तबले अथवा ढोल के रूप में बजा रहे थे और एक लोकगीत गा रहे थे, जो यूँ था :

हाय मन बहुत अलोता रहला सोझा आवे के परी
अबतक गीत जौन अनगावल तोहके गावे के परी

कलकत्ता त्रिपाठी जी का अपना नगर रहा है। उनकी स्मृतियों के पिटारे में कलकत्ता का पर्याप्त वजन होगा। उनकी बचपन की तालीम भी कुछ दिनों तक यहाँ हुई है। यूँ वह पढ़ने के पहले से यहाँ आते रहते थे। स्कूल की छुट्टियों में उन दिनों जैसे तमाम बच्चे गाँव जाते थे वैसे त्रिपाठी जी कलकत्ता पहुँचते थे। उनके पिता जी अपनी चाय की दुकान चलाते ही थे, त्रिपाठी जी के एक चाचा भी ड्राईवरी का काम करने कलकत्ता पहुँच गए थे। त्रिपाठी जी का छुट्टियों में वहाँ जाने के पीछे एक बड़ा कारण यह भी था कि उनके पिता उनको आँखों के इलाज के लिए अस्पतालों में ले जाते थे। कलकत्ता के उक्त प्रवासों से उनकी आँखों की ज्योति में कोई बेहतरी नहीं हुई किन्तु उनकी अंग्रेजी और बांग्ला जरूर बेहतर हो गयी। साथ ही एक महानगर ने गाँव के आदमी के सोचने समझने और सपनों को उन्नत किया, इसीलिए जब वह विधिवत वहाँ पढ़ने के लिए रहने लगे तो जीवनस्तर को सुधारने के इरादे से दोस्तों के साथ एक ख्वाब देखा। हाबड़ा के उस इलाके में त्रिपाठी जी के दोस्त भी उनके सरीखे आर्थिक आधार वाले परिवारों के बच्चे थे। ज्यादातर उत्तर प्रदेश के अवध क्षेत्र के लोगों के बच्चे थे। किसी के पिता लोहे के कबाड़ का धंधा करते थे, किसी के पिता ड्राइवर थे, कोई छोटामोटा व्यवसाय करता था तो कोई किसी दफ्तर में दरबान था। इन्हीं की संतानों की बाल मंडली के सदस्य त्रिपाठी जी ने तीन चार मित्रों की बैठकी में प्रस्ताव पेश किया : हमें अपना जीवन सुखमय बनाने के लिए, परिवार का बोझ कम करने के लिए कुछ कमाना चाहिए। कोई काम करना चाहिए। क्या काम करना सबसे मुफीद होगा इस पर सर्वाधिक आकर्षक मशविरा जमुना सिंह का था—हमें भीख मात्रगने का काम करना चाहिए; इसमें बेहद फायदा है। बहरहाल त्रिपाठी जी को यह कारोबार रुचिकर नहीं लगा, फलस्वरूप दूसरा बिजनेस आरम्भ हुआ, सिगरेट की डिब्बी बेचने का। कलकत्ता में तब ज्यादा ही धूम्रपान होता रहा होगा क्योंकि वह बौद्धिकों, कलाकारों, साहित्यकारों, श्रमिकों का महानगर था और ये टूटकर धूम्रपान करते थे, दूसरी बात, तब धूम्रपान के खिलाफ विज्ञापन नहीं किये जाते थे, उनकी डिब्बियों पर भयानक चित्र नहीं बने होते थे; दरअसल तब धूम्रपान कैंसर अथवा कर्क रोग का खतरा पैदा करने वाला, प्रदूषण लाने वाला, स्वस्थ्य के लिए हानिकारक नहीं माना जाता था वरन् वह विद्रोह, जोश, आधुनिकता, कलाप्रेम को दर्शाने वाला बला का लोकप्रिय एक तत्व था। अतः छठी सातवीं के बच्चों का वह धंधा चल निकला। वे प्रायः रेल की पटरियों पर डिब्बियाँ खोजते हुए निकलते और अच्छी खासी तादाद में इकट्ठी करके शाम तक कबाड़ी को बेचते। मुमकिन था कि उसी दिशा में त्रिपाठी जी की प्रतिभा निखर जाती मगर संयोग से जल्द ही उन लघु उद्यमियों के पिताओं को अपनी संततियों के इस पुरुषार्थ की जानकारी मिल गयी और एक सम्भावनापूर्ण कारोबार असमय ही ख़त्म हुआ; ऊपर से बालवृन्द के गालों पर तमाचे, पीठ पर घूँसे अलग से पड़े

और वे सभी आखिरकार पुनः पढ़ाई में लग गए थे। लेकिन जाहिर है कि त्रिपाठी जी का यह जो शिक्षाकाल और बालकाण्ड था, वह उनको विशेष मान-सम्मान दिलाने में समर्थ नहीं था जबकि उसके कई साल बाद कलकत्ता में हम उनके साथ गए थे तो देख रहे थे कि वहाँ के समाज में उनको खास रुतबा हासिल था। हमें लेकर वह महान फ़िल्मकार मृणाल सेन के घर गए थे वहाँ हमने मृणाल सेन की त्रिपाठी जी के प्रति आत्मीयता देखी। उन्होंने अपनी एक फिल्म की स्क्रिप्ट पर उनसे बात की थी। यह किसी के लिए भी खास और यादगार था। इसी तरह हम उनके साथ पश्चिम बंगाल सरकार के तत्कालीन वित्तमंत्री एवं प्रख्यात् अर्थशास्त्री अशोक मित्र के यहाँ भी गए थे। वहाँ भी उनका जोरदार स्वागत हुआ। अशोक मित्र ने उनसे लंबी मंत्रणा की थी और लिफ्ट से ग्राउंड फ्लोर तक विदा करने आये थे। इन सबसे अधिक हैरान कर देने वाली बात यह थी कि कलकत्ता सरीखे विशाल शहर में ऐसा कई बार हुआ, खास तौर पर हावड़ा इलाके में, त्रिपाठी जी को पहचानने वाले सड़क पर, गलियों में मिले। कोई उनसे नमस्कार करता, कोई उन्हें इंगित करके अपने साथी से कहता - डीपी त्रिपाठी, वो देखो डीपी त्रिपाठी। तब त्रिपाठी जी की उम्र तीस साल के करीब रही होगी; उनका राजनीतिक कद भी फ़िलहाल नहीं बना था फिर उनकी यह लोकप्रियता कैसे थी? बताते हैं कि इसका कारण पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री और दिग्गज कम्युनिस्ट नेता ज्योति बसु थे। हाबड़ा के हिन्दीभाषी समुदायों के बीच हुई ज्योति बसु की कई सभाओं में त्रिपाठी जी के भी भाषण हुए थे जिसके कारण वह आम लोगों के बीच कमोबेश जाने पहचाने हो गए थे।

(दो)

कलकत्ता से वापस आया तो मेरे पास वहाँ के रसगुल्लों का डिब्बा, एक सनील की रजाई, छिटपुट कुछ चीजें, चार सौ कम दो हजार रुपये और बहुत सारी स्मृतियाँ थीं। एक बड़े संसार से मैं पहली बार जुड़ा था और मैंने जाना था कि दुनिया मेरे क़स्बे के बाहर बहुत विशाल है।

कलकत्ता से लौटा था तब मुझे बिल्कुल अंदेशा न था कि कुछ महीनों के बाद मेरे साथ ऐसी दुर्घटना घटेगी कि त्रिपाठी जी से रोज रोज का मिलना संभव हो जायेगा।

सन् 80 था; मैं सुल्तानपुर के कमला नेहरू कॉलेज में एम.ए. (हिंदी) प्रथम वर्ष के विद्यार्थी के रूप में वार्षिक परीक्षा दे रहा था। उस साल परीक्षा के समय कमरे का दृश्य यह होता था कि अधिकतर परीक्षार्थियों की कॉपियाँ कोई अन्य, जैसे उसका कोई प्रतिभासंपन्न भाई अथवा दोस्त, लिख रहा होता था। एक दो दोस्त अनेक किताबों से उत्तर निकालकर लिखने वाले को सप्लाई करते थे और खुद परीक्षार्थी अपने इन सहयोगियों के लिए चाय नाश्ते की व्यवस्था में व्यस्त रहता था। नतीजा यह हुआ कि उस वर्ष विश्वविद्यालय ने हमारे पूरे विद्यालय का नतीजा शून्य कर दिया। अतः अपराध न करने के बावजूद मैं भी दंडयाफ्ता था। मेरी जवानी का एक साल बर्बाद हो चुका था। मुझे फिर से पूरे साल वही क्लास वही सहपाठी वही किताबें झेलना था। मगर शायद किस्मत मेरे प्रति ज्यादा निष्ठुर न थी; किसी के जरिये सूचना मिली, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में सेशन एक साल पीछे चल रहा है; इसलिए अगर वहाँ एडमीशन हो जाए तो वर्ष बच सकता है; बाधा यह थी कि एडमीशन की तारीख बीते कुछ ज्यादा नहीं बस बीस दिन गुजर चुके थे। यही वजह थी कि पूरी नाउम्मीदी के साथ मैं इलाहाबाद जाकर त्रिपाठी जी के सामने हुआ; उनके साथ एक पूरा हुजूम चल रहा था। उन्होंने छात्रसंघ के निवर्तमान अध्यक्ष अनुग्रह नारायण सिंह से मुझे मिलाया। बाकी जिम्मेदारी अनुग्रह नारायण सिंह की थी। अनुग्रह बाद में उ.प्र. की राजनीति में अहमियत रखने वाले नेता बने और शायद

दो या तीन बार विधायक हुए।

यूनिवर्सिटी में प्रवेश पा लेने की सूचना देने के लिए जब मैं त्रिपाठी जी से मिला तो उन्होंने पूछा—"हॉस्टल तो मिल नही पायेगा, रहोगे कहाँ?"

"कहीं कमरा लूँगा।"

"अभी मत लेना कमरा। दो चार दिन रुको।"

दो चार दिनों के बाद यह होना था। 3 मालवीय रोड, इलाहाबाद दरअसल एक बहुत बड़ा परिसर था जिसमें कई मकान बने हुए थे। इन सभी का मालिक राठौर, परिसर के सामने के एक अहाते में जमीन पर चादर बिछाकर सोता था और दिनभर परिसर के इर्द-गिर्द मँडराता रहता था। दरअसल राठौर के बेटे ने एक प्रभावशाली व्यक्ति से मिलकर राठौर की संपत्ति पर कब्ज़ा कर लिया था। न जाने कैसे राठौर ने अपने संघर्ष को आगे बढ़ाने की दिशा में त्रिपाठी जी से यानी कि मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी से संपर्क बना लिया और यह प्रस्ताव दिया कि अगर उसे अपनी संपत्ति पर कब्ज़ा मिल जाए तो वह परिसर के मुख्य भवन को पार्टी को ऑफिस खोलने और रिहाइश के लिए दे देगा। बाकी भवनों पर उसका अधिकार होगा और उनमें रहने वाले लोगों से मिलने वाले किराये पर भी उसी का हक़ रहेगा। और एक दिन सैकड़ों युवक क्रांति के जज्बे से लैस मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी को ऑफिस, त्रिपाठी जी को रिहाइश और राठौर को अधिकार दिलाने के लिए साहस तथा अस्त्र-शस्त्र के साथ पहुज्ञचे। फलस्वरूप आधे घंटे में वहाँ सीपीआई (एम) का दफ्तर खुल गया और एक वंचित को न्याय मिल गया। मुझको भी वहीं एक कमरे में ठिकाना हासिल हुआ। मेरी किताबों, कपड़ों के साथ एक खाट कमरे में पड़ गयी। त्रिपाठी जी जिस हिस्से में सपरिवार रहने लगे उसके क्या कहने। उसमें पहले से ही सोफे, बेड, अलमीरा वगैरह मौजूद थे। यहाँ तक कि बांग्ला की कुछ पुस्तकें भी एक आलमारी में थीं और एक आलमारी में क्राकरी थी तो एक संदूक में न जाने किस युग के कपड़े थे। यह अलग बात है कि उन्होंने इन सबका कभी उपयोग नहीं किया; उसी प्रकार जैसे राठौर ने उन अनेक मकानों पर मालिकाना हासिल हो जाने के बाद भी अपनी नींद के लिए उनका इस्तेमाल न करते हुए बदस्तूर पहले की तरह सड़क पर चादर बिछाकर सोना जारी रखा। इस पर पड़ोसियों में मत विभाजन था; एक धड़े का मानना था कि वह किराये के लोभ में खुद सड़क पर सोता है तो दूसरे धड़े का कथन था कि अनेक वर्षों से सड़क पर सोते सोते उसका सड़क पर सोने का अभ्यास हो गया है। खैर, मुख्य रूप से वह कम्युनिस्ट पार्टी का दफ्तर था, उसी के नाम का एक बोर्ड बाहर लगा हुआ था जिसके आसपास अथवा थोड़ा ऊपर-नीचे या दाएँ-बाएँ कहीं हंसिया हथौड़ा सितारा वाला लाल झंडा फहराता रहता। भीतर पार्टी के लिए एक बड़ा सा हाल कमरा और करीब वैसा ही बड़ा बरामदा था। यहाँ दिन भर कामरेड लोग बैठे रहते। वे चाय पीते, बीड़ी पीते, तेज आवाज में विचार व्यक्त करते। जब कोई कामरेड आगमन करता तो बँधी मुट्ठी वाला हाथ उठाकर लाल सलाम किया जाता। जवाब में भी लाल सलाम होता था। त्रिपाठी जी लाल सलाम, रेड सैल्यूट कम ही करते थे। वह दूसरी तरह के अभिवादनों के आदानप्रदान में भी रवां नहीं थे। इसकी एक वजह उनकी कम देख सकने की दिक्कत भी हो सकती है। वह पार्टी ऑफिस वाले कमरे में भी अधिक नहीं बैठते थे। स्टूडेंट फेडरेशन ऑफ़ इंडिया के साथियों या जनवादी लेखक संघ के दोस्तों के आने पर मैं अक्सर वहाँ जाकर फर्श पर बिछी दरी पर बैठ जाता। दरी में जगह जगह छेद थे जो उन स्थानों पर बीड़ी सिगरेट बुझाने से प्रगट हुए थे। ऐसे ही जगह-जगह धब्बे थे जो चाय-वाय गिरने के परिणाम थे।

करीब डेढ़ वर्ष बाद होली की छुट्टियों के बाद मैं सुल्तानपुर से वापस लौटा था और त्रिपाठी जी अपने परिवार के साथ अभी गाँव में ही थे। लौटने पर मैंने पाया कि मेरे कमरे सहित उस पूरे भवन की अच्छी तरह सफाई हो चुकी है। मेरी साइकिल, खाट, किताबें, बिस्तर, कपड़े, झाड़ू तक सब चोरी हो गए थे। यही हाल त्रिपाठी जी के निवास का था। उनके यहाँ का सिलबट्टा तक गायब था। यानी वहाँ हमारे रहने की कोई शिनाख्त नहीं बची थी। इस वारदात पर मत नंबर 1 यह था कि छुट्टियों में कई दिनों तक घर खाली पाकर चोर आये चोरी करके चले गए। मत नंबर 2 के मुताबिक उक्त वारदात मकान मालिक के बढ़ते जा रहे लालच का परिणाम थी। उसने हमें बाहर करने के इरादे से चोरों की सहायता ली थी या यूँ कहें कि चोरों को सहायता दी थी। सच्चाई जो रही हो, त्रिपाठी जी भी गाँव में ज्यादा दिन तक रह गए अतः मैं अपनी मुश्किल के समाधान के लिए किस से मिलता, क्या करता, मैंने उस ठिकाने को छोड़ दिया और दारागंज में आकर रहने लगा।

लेकिन 3 मालवीय रोड, इलाहाबाद महज एक पता भर नहीं था बल्कि वह दो वजहों से शहर का प्रमुख केंद्र था। एक यह कि वह मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का हृदयस्थल था और उस दौर में मार्क्सवाद और कम्युनिस्ट पार्टी की आज सरीखी दशा नहीं थी। अधिसंख्य लेखक, बुद्धिजीवी, तेजस्वी युवा छात्र मार्क्सवाद के प्रभाव में रहते थे। सब वहाँ आते थे; शायद इसलिए ज्यादा क्योंकि वहाँ दो आकर्षण थे। पार्टी के अलावा दूसरा जबरदस्त आकर्षण त्रिपाठी जी का था। उनकी विलक्षण स्मरणशक्ति, शानदार वक्तृता, प्रभावशाली आवाज और विपुल ज्ञान तथा अध्ययन के साथ साहित्य की गहन समझ बरबस लोगों के पैर, रिक्शा, साइकिल को उनके ठिकाने की तरफ खींच लाती थी। उनकी काया में आँखों की क्षीण ज्योति की जो कमी थी, बचपन में उसने निश्चय ही उन्हें बेहद दुःख अपमान दिया था मगर कालांतर में उसने भी त्रिपाठी जी के उपर्युक्त गुणों से मिलाप करके उनके करिश्माई इंसान होने के मिथक को मजबूत किया। बेशक एक अभाव के असाधारणता में बदलने की इस प्रक्रिया के पीछे त्रिपाठी जी के द्वंद्वों, जद्दोजहद और आत्मविश्वास का गहरा अवदान रहा होगा लेकिन ये नियामतें भी कोई रास्ते में पड़ी हुई नहीं मिलतीं, इनको हासिल करना पड़ता है।

उनकी लोकप्रियता लोगों को उनकी तरफ खींचती थी और वह भी लोगों की और खिंचते थे; उनमें ही उनका मन बसता था लेकिन इसका नकारात्मक प्रभाव अक्सर उनके परिवार को सहना पड़ता। त्रिपाठी जी का विवाह कम उम्र में हो गया था। उन दिनों गाँवों में ब्राह्मणों में कम उम्र में शादी का रिवाज था। दूसरी बात आँखों की समस्या थी उसके कारण पारंपरिक सोच-विचार में त्रिपाठी जी का विवाह कठिन भी था। अतः घर वालों ने येनकेन जैसे ही मौका मिला विवाह रचा दिया। नतीजतन जीवन में एक अजीब स्थिति उपस्थित हो गयी थी। उनकी पत्नी गाँव की हैं और महज अपने हस्ताक्षर कर पाना सीख पायीं हैं। दूसरी तरफ देश-विदेश की तमाम प्रमुख शख्सियतों पर अपनी मेधा की धाक जमाने वाले डी. पी. त्रिपाठी। उनके लिए यह अधिक त्रासद यूँ भी था कि मैंने उनको जितना जाना है उसके अनुसार उनमें आधुनिकता और आधुनिक जीवनशैली के प्रति, कमोबेश अभिजात्य के प्रति, खासा लगाव रहा है। बहरहाल त्रिपाठी जी भी चाहते तो अनेक बुद्धिजीवियों के नक्शेकदम पर अपनी ग्रामीण पत्नी को गाँव छोड़कर एक अन्य जीवन जी सकते थे लेकिन वह परिवार साथ में लेकर इलाहाबाद में रह रहे थे। यह एक पक्ष है; दूसरा यह है कि वह रोजमर्रा की जिम्मेदारियों से गाफिल रहते थे। घर में क्या है क्या नहीं है, इसका उनको अता-पता नहीं रहता था। अक्सर वह डिनर या लंच पर मेहमान बुला लेते थे जबकि भाभी जी को इसकी कोई खबर नहीं होती थी। और

तब वह अपना क्रोध, प्रतिरोध जाहिर करती थीं जोकि जोरदार होता था। हालाँकि अंततः उन्हें ही शिकस्त मिलती क्योंकि त्रिपाठी जी प्रत्युत्तर में शांत बने रहते थे। उनकी विशेषता थी और है कि उनको गुस्से में प्रायः नहीं देखा जाता और न किसी को सख्त बात सुनाते हुए। याद आता है कि एक बार उन्होंने उ.प्र. में सीपीएम के तत्कालीन प्रदेश सचिव कामरेड शंकर दयाल त्रिपाठी के सम्मान में अच्छेखासे प्रीतिभोज का निमंत्रण कई लोगों को दे डाला। जब सारे मेहमान घर पर आ गए तब जाकर त्रिपाठी जी भाभी जी से मुखातिब हुए—"ये सब खाना खायेंगे, क्या बना है?" ऐसी हालत में किसी भी गृहणी की जो तीव्र प्रतिक्रिया हो सकती है वही भाभी जी की हुई। पर त्रिपाठी जी अविचलित थे, बोले—"जो घर में है उसी से काम चल जायेगा।" इस प्रकार मेहमान उस रात्रि दाल भात प्याज भरता का पकवान प्रेम से ग्रहण कर रहे थे। गृहस्थी की दिक्कतें त्रिपाठी जी के मदिरापान के कारण भी थीं। उनके वेतन का एक बड़ा हिस्सा शराब सिगरेट में खर्च हो जाता था। अमूमन माह के तीसरे हफ्ते में उनकी तनख्वाह ख़त्म हो जाती थी, कभी कभी दूसरे हफ्ते में, तब वह किसी मित्र से उधार लेने के लिए कहते—"देश बड़े संकट में है।" यह अपनी आर्थिक व्यवस्था का इजहार करने के लिए उनके द्वारा तैयार की गयी एक कूटभाषा थी : उसी प्रकार जैसे उन्होंने शराब के लिए 'जनकल्याण' का कोड तैयार किया था।

शराब वह पीते ही नहीं पिलाते भी थे। इस क्षेत्र में वह अग्रज, अनुज, हमउम्र सभी को एक समान सम्मान देते थे। उनकी महफ़िल में वह, उनके गुरु, उनके शिष्य सब एक साथ मदिरापात्र को परस्पर टकराते देखे जा सकते थे। उनकी किसी बैठक में विभूति नारायण राय, प्रमोद तिवारी जैसे शासन सत्ता के ऊंचे पायदान पर आसीन दोस्तों के बीच एक दो बेरोजगार युवक अपनी गर्वीली गरीबी के साथ जमे रहते।

बीच-बीच में उन पर मद्यनिषेध का फंदा डाला जाता जिससे वह चतुर परिंदे की तरह बच निकलते थे। एक बार दिसम्बर का महीना था, ज्यादा मजबूत जाल बिछाये जाने पर वह बोले—"ठीक है छोड़ दूंगा।" तय हुआ, नए साल की शुरुआत से वह पीना त्याग देंगे लेकिन मदिरा का यह विदाई समारोह जरा धूमधाम से होगा यानि कि 31 दिसम्बर को शराब का जश्न होगा जिसमें खूब पीया जायेगा 1 जनवरी से न पीने के लिए।

जश्न में शामिल होने के लिए प्रसिद्ध कथाकार मार्कंडेय, उनके भाई और कथाकार नीलकांत, सतीश जमाली, विभूति नारायण राय, आलोचक सत्य प्रकाश मिश्र, पत्रकार मनोहर नायक ड्राइंगरूम में पधारे थे। उस बैठकखाने से बाहर मैं भी युवा दोस्तों के साथ था। गोश्त पक रहा था मदिरा ढल रही थी। जल्द ही ड्राइंगरूम और बाहर का भेद ख़त्म हो गया। भीतर से वे बाहर आने लगे; बाहर से हम भीतर जाने लगे। थोड़ा वक्त बीतने पर हमने पाया, त्रिपाठी जी मदिरा त्याग विषय पर धाराप्रवाह बोलकर अचानक शांत हो गए हैं। उनके शांत होते ही पूरे कमरे में कुछ देर ख़ामोशी बिछी रहती है जो भंग होती हैं दो काँच के गिलासों के मिलन से उत्पन्न होने वाली टनक से या जैसे घुङ्घुरुओं की झंकार हुई हो; सत्य प्रकाश जी और जमाली जी अपने अपने ग्लास लेकर उठे जिन्हें आपस में टकराया और दोनों नृत्य करने लगे। उनके नृत्य की एकाग्रता को भंग किया मार्कंडेय जी और नीलकांत जी की तेज आवाजों ने। दोनों भाई किसी मुद्दे पर उलझ गए थे जो तकरार का स्वरूप धारण करता उसके पेश्तर दोनों में से कोई एक अपनी जगह से उठा और दूसरे के पास पहुँचकर गले मिलने लगा। दोनों भाई भावुक हो चले। यह भावुकता परवान चढ़ती कि मार्कंडेय जी बैठे-बैठे सो गए। त्रिपाठी जी ने दुबारा मद्यनिषेध पर टिप्पणी प्रारंभ कर दी जिसे बगैर सुने विभूति नारायण राय, जो उस

समय इलाहाबाद के नगर पुलिस अधीक्षक थे, मुस्कराते हुए बाहर निकलकर एक मकान की दीवार की ओट में लघुशंका समाधान करने लगे। उस वक्त उन्हें कैसे पता होता कि उस मकान में महिलाएँ रहती हैं जो अगली सुबह चिल्लाते हुए कहेंगी : जब शहर कोतवाल ऐसी हरकत करेगा तो हो चुका पब्लिक का भला। फ़िलहाल यह विगत रात्रि का एक आंशिक प्रतिफल था; महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि 1 जनवरी की रात त्रिपाठी जी शराब के पूरे प्रभाव को प्रकट करते हुए घर में दाखिल हुए थे और आगामी मद्य निषेध दबे पाँव पलायन कर गया था।

लाजिमी है सवेरे उनकी आँख देर से खुल पाती थी। वह उठते ही अखबार पढ़ने बैठ जाते जो तीन चार आते थे। वह अखबार पढ़ते रहते, रीजेंट सिगरेट एक के बाद एक धौंकते रहते और चाय पर चाय पीते रहते। फिर तैयार होकर यूनिवर्सिटी के लिए निकल पड़ते। तैयार क्या होते थे जो भी कमीज कहीं दिख जाती पहन लेते। उतावली और लापरवाही और दिखने की सीमा के कारण कमीज कभी कभार उलटी धारण कर ली जाती। वह प्रायः पैंट पहनकर सोते थे अतः पैंट ढूढ़ने की जहमत कम ही उठाते थे। आईना देखते उनको कभी देखा नहीं गया था। जूता पालिश का शौक नहीं था। उनको क्लास में पढ़ाने के लिए तैयारी करते कम ही देखा जाता था : शायद अद्वितीय स्मरणशक्ति के चलते उनको इसकी जरूरत नहीं पड़ती थी। बहरहाल राजनीतिशास्त्र की कक्षा में विद्यार्थियों में उनकी लोकप्रियता बेमिसाल थी। जब उनका पीरियड होता तो वे छात्र भी क्लास में प्रकट हो जाते जिनकी प्रसिद्धि कक्षाछोड़दास के रूप में फैली रहती थी।

क्लास में उनकी व्याख्यान कला में दक्षता का मैं भी साक्षी बना। हालाँकि मैं हिंदी में एम.ए. कर रहा था। हमारा एक पेपर प्रेमचंद पर था जिसे पढ़ाने के लिए हमारे गुरु थे प्रख्यात कथाकार दूधनाथ सिंह। उन्होंने ही तय किया, किसी रोज देवी प्रसाद त्रिपाठी का, क्लास में प्रेमचंद पर स्पेशल लेक्चर होगा।

निश्चित तारीख पर त्रिपाठी जी सुबह जरा ज्यादा देर से उठे। इतना भी वक्त न था कि वह रीजेंट सिगरेट फूँकते हुए चाय पीते हुए अख़बार बाँच पाते। दूसरी दिक्कत यह सामने थी कि उनकी बेल्ट नहीं मिल रही थी जबकि उनकी पतलून बेइंतिहा ढीली थी। अंततः इस समस्या के निदान के लिए एक रसरी लेकर कमर पर पेटी की जगह बाँध ली गयी। मुझसे बोले—"आज तुम्हारे साथ यूनिवर्सिटी चलूँगा।"

वह बैठे हुए थे और मैं साइकिल खींच रहा था। उन्होंने कहा—"रामविलास जी की पुस्तक प्रेमचंद और उनका युग की अवधारणाओं के विषय में तुम्हारी क्या राय है?" इसी तरह उन्होंने कुछ अन्य सवाल किये। शायद वह इस बहाने प्रेमचंद पर अपनी पढ़ाई के पन्नों को उलटपुलट रहे थे। जो भी रहा हो, उस दिन क्लास में उनका भाषण शानदार था। विद्यार्थियों के साथ साथ हिंदी विभाग के हमारे कई गुरुजन भी थे, वे भी बहुत प्रभावित। त्रिपाठी जी जब लेक्चर दे रहे थे तो उस बड़े कमरे की छत के पास स्थित एक खिड़की पर बने चिड़िया के घोंसले से निकलकर एक तिनका उड़ता हुआ आया और त्रिपाठी जी के बालों के बीच गिर गया। व्याख्यान समाप्त हो जाने पर जब सभी अभिभूत थे तब हमारी एक गुरु, जो इतनी रूपमती थीं कि उनके सम्मुख विभाग की हमारी सुंदर साथिनें हीनताग्रंथि से ग्रस्त हो जाती थीं, धीरे-धीरे चलती हुई त्रिपाठी जी के पास आयीं और उनके बालों पर गिरा तिनका हटा दिया।

शाम को मैंने त्रिपाठी जी को उनके व्याख्यान के लिए बधाई दी लेकिन उन्होंने उसकी बिलकुल नोटिस नहीं ली बल्कि उससे हटकर एक सवाल किया—"यह जो मेरे बालों से तिनका हटाया गया उसे देखा था तुमने?"

"मैंने क्या सभी ने देखा था।"

"सभी ने।" वह खुश हुए—"तुम्हारी क्या राय है? आखिर उसका मतलब और मकसद क्या था?"

स्त्री का प्रेम पाने की आकांक्षा सभी पुरुषों में रहती है मगर त्रिपाठी जी के यहाँ शायद यह अपने व्यक्तित्व की स्वीकार्यता का एक मापक भी था। शायद इस कसौटी पर वह यह आँकते थे कि वह कमतर नहीं हैं। इसीलिए कई वर्षों के बाद, दो दशक के बाद मैंने दिल्ली में एक दिन उनको बहुत खुश देखा। उन्होंने गाड़ी में बैठते हुए मुझसे कहा—"मेरे साथ चलो।" मैंने पूछा—"कहाँ?" उनका वाक्य था—"चलो तुम्हें अपनी गर्लफ्रैंड से आज मिलाता हूँ।" मिला उनसे उनके घर पर, और बाद में कई बार यहाँ-वहाँ। पहली बार जब त्रिपाठी जी के साथ उस रोज मिला तो त्रिपाठी जी दिन के ग्यारह बजे उनसे स्कॉच की मांग करने लगे और वह मना करती रहीं। तब त्रिपाठी जी ने कहा - "अरे मैं अपने लिए नहीं कह रहा हूँ, यह अखिलेश आया है, इसका सम्मान करना चाहिये।" यह सुनकर वह शिथिल हुईं, मुझसे पूछा—"आप क्या लेंगे?" मैंने बताया—"पानी और चाय।" त्रिपाठी जी ने मुझको गहरी निराशा से देखा कि मैंने ये क्या कह दिया जबकि उनकी मित्र को घोर आश्चर्य हो रहा था कि त्रिपाठी जी के साथ का कोई शख्स शराब से इन्कार कर सकता है। ऐसा नहीं कि वह शराब को कुफ्र समझने वाली कोई दकियानूसी कही जायेगी, वरन वह एक आधुनिक और आत्मविश्वास से लबरेज उच्चवर्गीय स्त्री मानी जाएँगी जिनको संभवतः स्वयं भी कभी कभार के स्तर पर इन्कार नहीं रहा होगा लेकिन साथ में उनमें त्रिपाठी जी की मयनोशी को नियंत्रण में रखने की, उनके स्वास्थ्य को बेहतर रखने की मंशा थी। परिणामस्वरूप त्रिपाठी जी मदिरा न मिलने पर परेशान होते थे, खीजते थे किन्तु मेरा कयास है कि उन्हें यह कठोरता कहीं आत्मीय भी लगती थी कि कोई है जो उनकी परवाह करता है। लेकिन उन्हें केवल इतने भर से ही मतलब था। ऐसा नहीं कि वह परवाह करने वाले की बात को मान लेते रहे हों। वह अपनी धुन के पक्के हैं और अपनी ही राह पर चलते हैं। जब उनपर किसी का बिलकुल नियंत्रण नहीं रहता था, जोकि प्रायः नहीं रहता था, तब वह मन के बादशाह बन जाते थे (हैं) और सुबह शाम का फर्क मिटा देते थे (हैं)। कुछ साल हुए मैं दिल्ली गया, उनसे मिलने के लिए फोन किया, वह बोले तुरंत चले आओ। सुबह नौ बजे मैं उनके बसंत कुंज स्थित आवास पर पहुँच गया। उनके सामने एक प्लेट में कुछ उबले अंडे थे और हाथ में मदिरा का भरा ग्लास था। मुझे भी वही नाश्ता करने का आदेश हुआ। मैं पहले ही इस अनोखी सुबह को देखकर भौचक्का था, अब इस पेशकश ने मेरे होश उड़ा दिए। मैं कातर स्वर में बोला—"अभी सुबह है।"

"इससे क्या फर्क पड़ता है, सब समय एक होता है।" उन्होंने गिलास से घूँट भरते हुए कहा—"फर्क बस इतना कि सुबह कम लेनी चाहिए।"

"देखिये मैं दिल्ली आया हूँ और दिन में मुझको कई लोगों से मिलना है, इसलिए मैं शराब नहीं पी सकता।"

"अरे तुम एकदम नादानों वाली बात करते हो। अच्छा चलो तुमको कई जगह जाना है तो तुमको कैंपारी पिलाता हूँ।"

"ये कैंपारी क्या है?" मैंने पूछा मगर तुरंत याद आ गया कि निर्मल वर्मा की कहानियों में कहीं कहीं पर कैंपारी पीने का जिक्र है और निश्चय ही यह शराब है—"अरे ये भी तो शराब है।"

"शराब है तो क्या हो गया।" उन्होंने विस्तार किया - "यह कुनैन मिलाकर बनायी जाती

है। एक बार इटली फ़ौज युद्ध पर गयी; वहाँ सैनिकों को मच्छर बुरी तरह सताने लगे। उनसे हिफाजत के लिए ये शराब बनायी गयी। इसको पीने से मुँह नहीं महकता। जानते हो हिंदुस्तान में इसे पीने वालों में उद्योगपति टाटा भी शामिल हैं।"

"ठीक है, अब मैं भी टाटा की महान बिरादरी में शामिल हो जाता हूँ।" मैंने शान से कहा।

त्रिपाठी जी ने आवाज दी। उनका नौकर आया; आदेश सुनकर उसने मेरे भी सामने एक गिलास रखा और त्रिपाठी जी की कुर्सी के थोड़ा पीछे बनी एक आलमारी को खोला। वहाँ बड़े करीने से रखी बोतलें ही बोतलें दिख रही थीं। नौकर बोतलों के बीच से एक बोतल निकालकर त्रिपाठी जी के पास ले आया। त्रिपाठी जी, जैसे वह पढ़ते हैं, बोतल को आंखों से सटाकर देखा और झटक दिया—"हुँह ये माल्ट व्हिस्की है; ये नहीं कैंपारी लाओ।" नौकर पुनः आलमारी के सामने था। दरअसल वह अनाड़ी था, पढ़ सकने में भी शायद तंग था, वह इस बार जो बोतल ले आया उसका भी वही हस्र हुआ—"यह टकीला है।" उसकी क्षमता से त्रिपाठी जी निश्चय ही परिचित थे तभी वह बिना आपा खोये अनेक बार 'नहीं यह वाइन है', 'यह कोन्याक', 'यह स्कॉच' करते रहे। आखिकार हाथ लगी कैंपारी—"हाँ अब मिली।"

घूँट भरते हुए मैंने कहा—"आप बहुत तरह की शराब रखे हैं।"

"इंसान अगर रख सके तो रखना चाहिए। तुम भी रखना। सलीका यह है कि तुम्हारे यहाँ किसी मेहमान के आने पर उससे पूछो, वह ड्रिंक्स में क्या लेना पसंद करेगा। मान लो वह कहता है हार्ड ड्रिंक तो जानो, हार्ड ड्रिंक में क्या? वह बताता है, व्हिस्की, तब उससे प्रश्न करो, व्हिस्की में क्या? माल्ट व्हिस्की या सिंगल माल्ट? इस बार उसका जो जवाब हो उसको वह चीज पेश करो।" उनका यह आतिथ्यपाठ अत्यंत महँगा और बवालेजान था लेकिन खासा आकर्षक था। यह दीगर बात है, उस पर अमल करने में मैं कभी सक्षम न हुआ।

मुझको लगता है कि यूनिवर्सिटी में स्पेशल क्लास में मैम के तिनका हटाने का प्रकरण हो या 'गर्लफ्रेंड' का, त्रिपाठी जी में अपने लिए स्त्री की स्वीकार्यता को लेकर, उनके प्रति उसकी प्रतिक्रिया को लेकर जो औत्सुक्य और आकांक्षाएँ थीं उसके पीछे कहीं न कहीं उनके मन की गहरी उथलपुथल थी। स्त्री ही क्यों, बल्कि उनमें सभी से स्वीकार्यता की इच्छा मौजूद रही है जिसकी वजह संभवतः उनकी आँखों की खराबी है।

शायद जन्म से ही उनकी आँखों की जो समस्या थी और उसकी वजह से उन्हें जो अपमान, उपहास, यातना झेलनी पड़ी थी, जिसका देश विदेश में इलाज नहीं था उसने बचपन में ही यह सबक सिखा दिया था कि यह जो दुःख है उससे छुटकारा दैन्य और कमतर होने से नहीं मिलेगा, बल्कि तब अधिक सताए जाओगे। मुक्ति का एक ही रास्ता है कि अपने ज्ञान से, अपने व्यवहार से, अपनी सत्ता से, अपनी शक्ति से, अपनी समृद्धि से लोगों को हतप्रभ कर दो। उन्होंने यही डगर पकड़ी। शुरुआत में जब उनका ज्यादा वश नहीं था, अपनी पढ़ाई और परीक्षाफलों से अपने आसपास को चौंकाया। अपनी स्मरणशक्ति, अपने अध्ययन, अपने भाषाज्ञान, अपनी व्याख्यानकला, उनके तरकश में एक से बढ़कर एक तीर इकट्ठा हो गए जिनके बूते वह सामने वाले के लिए एक अचम्भे में रूपांतरित हो जाते। नतीजतन उनको लेकर अनेक कहानियाँ तैयार हो गयीं। बेशक उनमें कुछ हकीकत और कुछ गप्प थीं लेकिन दोनों तरह के किस्से उनकी ऐसी मूर्ति गढ़ते थे जिसमें बहुत ज्यादा असाधारणता थी। इसी कड़ी में यह भी कि ठेठ देशी, ग्रामीण पृष्ठभूमि का होने का बावजूद कुलीन जीवनशैली के लिए कशिश के पीछे आधुनिकता से लगाव तो था ही, यह पैसा आ जाने पर अपनी पिछली गरीबी के

प्रति एक विद्रोह भी हो सकता है किन्तु धन को वह जिस बेरहमी से खर्च अथवा बर्बाद करते है, उसके मूल में कहीं न कहीं अपने को अभिनव साबित करने, सब पर छाप छोड़ देने की इच्छा भी कारक होगी। मुमकिन है कि काफी समय तक यह सब सायास रहा हो, प्रयत्न से किया जाता रहा हो और बाद में लगातार होते होते सब कुछ आभ्यन्तरीकृत हो चला हो, उनके सहज स्वभाव का हिस्सा बन गया हो।

उनके अनवरत बढ़ते हुए आभामंडल के कारण उनसे लोग अपेक्षाएँ करने लगे; समाज के शक्तिशाली, महत्त्वपूर्ण समुदाय के बीच उनका जो रसूख था उसको देखते हुए यह स्वाभाविक था लेकिन इस सन्दर्भ में खास बात यह है कि त्रिपाठी जी भी मिलने वाले में अपने कथन से प्रत्याशायें जगा देते थे। वह ऐसी उम्मीद जगाते, ऐसे सपने देते कि उसे लगता, त्रिपाठी जी के जरिये उसकी जिंदगी अब बदलने ही वाली है। त्रिपाठी जी की इस कार्यशैली के पीछे निश्चय ही आत्मीयों की मदद करने की भावना रहती है लेकिन एक स्तर पर अपने महत्त्व को स्वीकार कराने की ग्रंथि भी सक्रिय रहती है। प्रतिफल यह है कि देश भर में अनगिनत ऐसे लोग हैं जिनकी जिंदगी में त्रिपाठी जी के सौजन्य से बेहतरी आई है। न जाने कितनों को नौकरियाँ मिलीं, कितनों के तबादले हुए या टले, इलाज हुए, आर्थिक कष्ट कम हुए, व्यवसाय फलेफूले लेकिन ऐसे लोग भी भारी तादाद में हैं जिनको त्रिपाठी जी ने बड़े सपने दिखाए लेकिन बहुत दिनों बाद भी वे जहाँ थे वहीं रह गए। इसकी एक व्याख्या यह हो सकती है कि त्रिपाठी जी में अपने लोगों के काम आने, उनका काम करने कराने की सदिच्छा बुनियादी रूप से रहती है मगर वह इतने ज्यादा बयाने ले लेते हैं कि सबको निभाना असंभव हो जाता है। मुझे याद आता है, इलाहाबाद में 3 मालवीय रोड वाले मकान में डाकिया डाक दे जाता जिसे प्रायः मैं ही लेता था। उसमें अपनी चिट्ठियाँ अलग करने के बाद त्रिपाठी जी के नाम वाली डाक मैं सुबह चाय के वक्त उन्हें दे देता था। अजीब बात थी, उनमें से ज्यादातर लिफाफे कभी खोले ही नहीं जाते थे। वे वैसे ही बंदमुँह अपने उजागर होने के इंतजार में धीरे धीरे मलिन पड़ जाते थे। एक बार मैंने सवाल किया—"आप ये चिट्ठियां खोलते क्यों नहीं? इन्हें किसी ने लिखा है। कोई जरूरी बात हो सकती है।"

"मुझे मालूम रहता है कि इनका मजमून क्या है...इनमें किसी न किसी काम की फरमाइश रहती है, वह भी चालाक और निरर्थक भावुकता से भरी हुई।"

दूसरी तरफ माहौल यह था कि इलाहाबाद में हमेशा वह अपने चाहने वालों से घिरे रहते थे जिनमें अधिकतर उनके पास मदद के लिए आये हुए होते थे। ऐसा नहीं कि कोई बड़ी मदद हो, छोटी-छोटी चीजों की खातिर भी वहाँ बहुत सारे पहुँचते। उदाहरण के लिए छात्र बड़ी संख्या में आते। किसी को एडमिशन चाहिए किसी को हॉस्टल की दरकार। कोई फीस माफी चाहता है कोई सबजेक्ट बदलवाना चाहता है। त्रिपाठी जी सीपीएम से सम्बद्ध होने के नाते स्टूडेंट फेडरेशन को समर्थन देते थे लेकिन उनके यहाँ अन्य संगठनों के छात्र नेता आशीर्वाद लेने आते रहते। मेरे इलाहाबाद पहुँचने के आगे पीछे छात्रसंघ के चार अध्यक्ष हुए थे; अनुग्रह नारायण सिंह, रामाधीन सिंह, सुभाष त्रिपाठी, अखिलेन्द्र प्रताप सिंह, इन सभी की त्रिपाठी जी से नजदीकी थी। कहते हैं त्रिपाठी जी ने इनके चुनावों में नारे गढ़े थे जिसमें एक नारा हम लोग लगाते थे जो स्टडी एंड स्ट्रगल का अनुवाद था—पढ़ाई लड़ाई साथ साथ। यह बहुत सारपूर्ण और आग की तरह फ़ैल जाने वाला नारा था। परन्तु एक बेहद अजीब और थोथा सा नारा भी था लेकिन उससे भी अजीब यह कि वह भी चुनावजिताऊ और लोकप्रिय बन गया था। यह नारा 3 दिसम्बर को होने वाले छात्रसंघ के चुनाव में अध्यक्ष पद के उम्मीदवार रामाधीन

सिंह के लिए था जो यूं था—दिसम्बर तीन दिसम्बर तीन...रामाधीन रामाधीन। याद आता है, त्रिपाठी जी अपने भाषणों में कुछ शब्दों का इस्तेमाल अक्सर करते थे जो बाद में इतने लोकप्रिय हो जाते थे कि विश्वविद्यालय के हम राजनीतिक साहित्यिक छात्र भी अपनी बतकही और व्याख्यानों में उनका बार बार उच्चारण करते। उनमें दो शब्द तो फ़िल्मी गीतों की भाँति हमारी जबान पर चढ़ गए थे, वे शब्द थे—चिरकुट और लम्पट। हम सुनते और बोलते—इस लम्पट राजनीति ने...चिरकुट मानसिकता...।

देखा जाय तो त्रिपाठी जी के व्यक्तित्व की मूल संरचना कम्युनिस्ट पार्टी के कठोर अनुशासन वाले संगठन में समाहित होने वाली नहीं थी लेकिन दूसरी और भी एक सच्चाई थी कि जल्द ही वह इलाहाबाद की कम्युनिस्ट पार्टी के सचिव बना दिए गए थे और कम्युनिस्ट पार्टी के बहुत सारे अनुयायिओं और समर्थन देने वालों की यह राय भी व्यक्त की जाती थी कि पार्टी डीपी त्रिपाठी के महत्त्व को न समझकर गलती कर रही है, उनमें ऐसी विशेषताएं हैं कि कम्युनिस्ट पार्टी उन्हें आगे बढ़ाकर हिंदी पट्टी में जबरदस्त विस्तार कर सकती है। अब पार्टी गलत थी या देवी प्रसाद जी, या दोनों गलत थे, या दोनों अपने अपने स्थान पर अचूक थे, ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता लेकिन इतना कहना अनुचित नहीं होगा कि दोनों ही शायद एक दूसरे के लिए नहीं बने थे। फ़िलहाल अभी दोनों के परस्पर सम्बन्ध बने और बचे हुए थे। दोनों के मध्य जो तनाव थे, कम से कम मेरे जैसे पार्टी से बाहरी को कतई नहीं पता था। अतः उन दिनों हम जैसे इलाहाबाद के वामपंथी रुझान के छात्र, युवा और लेखक कवि टाइप नौजवान देवी प्रसाद त्रिपाठी से अभिभूत थे और उनमें कम्युनिस्ट हीरो की छवि देखा करते थे। नौजवान ही नहीं, इलाहाबाद के साहित्यिक दिग्गजों के भी वह बेहद प्रिय थे; अमृत राय जी, अमरकांत जी, मार्कंडेय जी, दूधनाथ जी, सत्यप्रकाश जी आदि के वह खास प्रिय थे। रवीन्द्र कालिया, ममता जी से तब तक उनकी विशेष निकटता न थी जबकि मैं आये दिन, जैसे ही मौका मिलता, उनके यहाँ पहुँच जाता था। एक रोज मैं वहाँ के लिए निकल रहा था कि त्रिपाठी जी ने रोका - "किधर जा रहे हो?"

"कालिया जी के घर।" हालाँकि उन्होंने पूछा नहीं था मगर मैंने शेखी बघारने की नीयत से कहा—"मैंने एक कहानी लिखी है उसी का पाठ करना है वहाँ।"

"ठीक है, मैं भी चलता हूँ, मैं भी सुनूँगा तुम्हारी कहानी।"

इस तरह त्रिपाठी जी और कालिया जी की मित्रता उस रोज शुरू हुई जो जल्द ही घनिष्ठता में बदल गयी जिसका लिखापढ़ी का सबूत है कालिया जी की चर्चित कृति 'ग़ालिब छुटी शराब' में लिखा गया देवी प्रसाद जी पर संस्मरण।

त्रिपाठी जी को जानने, चाहने, उनसे हतप्रभ होने वालों का दायरा काफी विस्तृत था, दिलचस्प यह था कि इसके बावजूद वह विस्तार रुकने का नाम नहीं ले रहा था। महान शायर फैज अहमद फैज पाकिस्तान से इलाहाबाद आये अथवा फहमीदा रियाज, दोनों के सबसे खास देवी प्रसाद त्रिपाठी। उनके सारे कार्यक्रम, मुलाकातें वाया त्रिपाठी जी ही मुमकिन था। यह बात केवल लेखक शायर तक महदूद न थी, मधुलिमये जैसे प्रबुद्ध नेता आते तो उनके भी बगलगीर त्रिपाठी जी ही रहते। कुछ बाद के वर्ष की बात है, पाकिस्तान में बेनजीर भुट्टो का जब जरदारी से निकाह हुआ तो जोरदार चर्चा थी कि हिंदुस्तान से महज दो लोगों को गैर राजनयिक निमंत्रण था जिसमें प्रसिद्ध अभिनेता सुनील दत्त के अलावा दूसरी शख्सियत देवी प्रसाद त्रिपाठी थे। वैसे इसे बहुत प्रामाणिक तरीके से नहीं बताया जा रहा है क्योंकि त्रिपाठी जी की ऐसी अद्वितीयता के किस्से उनके चाहने वाले भी प्रायः फैला दिया करते थे और कुछ

का कहना है कि ऐसे अफसानों के रचयिता कभी-कभी त्रिपाठी जी स्वयं बनते। लेकिन अधिकतर वाकये नैसर्गिक और यथार्थपूर्ण तरीके से चर्चा में आते थे। जैसे कवि-आलोचक अशोक वाजपेयी का प्रकरण, जिसका चश्मदीद मैं खुद भी था। इलाहाबाद में केशव चन्द्र वर्मा ने संदीपन नाम से एक संस्था बनायी थी। उसके तत्वावधान में आयोजित एक गोष्ठी में दिल्ली से अशोक वाजपेयी इलाहाबाद आये थे। हिंदुस्तानी अकादमी में हुए इस कार्यक्रम में समकालीन कविता पर चर्चा थी। इस मौके पर त्रिपाठी जी ने जो व्याख्यान दिया उसका अशोक वाजपेयी पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वह बाद में त्रिपाठी जी को तलाश रहे थे। उस रोज दोनों के बीच जो सम्बन्ध बना वह बदस्तूर कायम है। एक दफा मुझको इसको आजमाने का मौका भी मिला। तब मैं बेरोजगार था। यह सन् 1984 की बात होगी, उन दिनों माया पत्रिका में चार महीने नौकरी करने के बाद भाग खड़ा हुआ था और पुनः एक बेरोजगार था। ऐसा बेरोजगार जो नौकरियों के न आवेदन करता था न उसे पाने के लिए तैयारी। मेरी दशा देख समझकर मेरे अग्रज शुभचिंतक समझ गए कि इसके अपने बूते का कुछ नहीं, इसलिए उनको ही कुछ करना पड़ेगा। जाहिर है त्रिपाठी जी उन शुभचिंतकों में शरीक थे। उन्होंने मुझसे कहा—"भोपाल चले जाओ, मैं तुम्हारी नौकरी के लिए अशोक बाजपेयी से कह सकता हूँ।" मैंने सोचा, नेकी और पूछ पूछ। उन्होंने तय किया—"ठीक है आज शाम को सचिन तिवारी के यहाँ आकर अशोक जी के नाम चिट्ठी ले लेना।" कहने की जरूरत नहीं, वह समय चिट्ठियों का था; फोन, मोबाइल, तार, ट्रंककॉल प्रायः बीमारी और इंतकाल की खबर देने के लिए साधारण जन के बीच इस्तेमाल किये जाते थे। ऐसा भी होता था, पड़ोसी जब बताता था कि आप के लिए कंकाल है तो आदमी घबरा उठता था और किसी-किसी घर में तो रोना पीटना शुरू हो जाता था।

मैं सिफारिशी पत्र लेने शाम को जब सचिन तिवारी सर के यहाँ पहुँचा तो त्रिपाठी जी और सचिन सचिन सर पी रहे रहे थे। सचिन सर विश्वविद्यालय में अंग्रेजी पढ़ाते थे और इलाहाबाद के रंगमंच की बड़ी शख्सियत थे। इसके अतिरिक्त हम उनके इस गुण से भी वाकिफ थे कि मयनोशी में वह त्रिपाठी जी के टक्कर में थे। इस फील्ड के दो दिग्गजों को एक साथ समान उद्देश्य की बैठकी में देखना विरल अनुभव था। आखिरकार वह क्षण आया जब त्रिपाठी जी को चिट्ठी मुझे देने की फुर्सत मिली। पत्र देकर उन्होंने प्रश्न किया—"कब जा रहे हो भोपाल?"

"दो तीन दिनों के अंदर चला जाऊंगा।"

"कैसे जाओगे?"

"ट्रेन से।" मेरे मुँह से निकला।

मेरे पूछने का यह आशय नहीं था।" उन्होंने कहा—"मतलब कि सफ़र के लिए धन है?"

"कर लूँगा इंतजाम।''

"जब इंतजाम ही करना है तो अभी ही कर लो।" उन्होंने जेब में हाथ डाला; उसे बाहर निकाला तो उसमें बहुत सारे रुपये थे—"रख लो।"

"मैं इतना महँगा सफ़र नहीं करता हूँ।" कुछ रुपये रखकर और कुछ उनको वापस करके मैंने कहा—"जैसा होगा, सूचित करूँगा।"

भोपाल में अशोक जी से मिलकर मैंने त्रिपाठी जी का पत्र सिपुर्द किया। निःसंदेह उस ख़त का प्रबल प्रभाव पड़ा था क्योंकि दो दिनों के भीतर भोपाल में जो भी लेखक मुझसे मिलता, खुशी जाहिर करता कि अब मुझे भोपाल में ही रहना होगा और रोज-रोज का मिलना बैठना हो जाएगा। वह संभव इसलिए नहीं हो पाया क्योंकि अशोक जी के प्रभाव से संभवतः ग्रंथ अकादमी में मेरी नौकरी की बात चल ही रही थी कि उ. प्र. हिंदी संस्थान से बुलावा आ

गया और मेरे यहाँ के मित्रों ने ज़ोर मारा कि वहाँ कहाँ जाओगे।

यह बात होगी करीब 1986 की; लेकिन थोड़ा पीछे जाना होगा...1983 के इर्द-गिर्द...।

खबर फैली कि त्रिपाठी जी का कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बन्ध ख़त्म हो गया। इस तरह के मामलों में जैसा कि होता है, त्रिपाठी जी का कहना था, उन्होंने इस्तीफ़ा दे दिया है जबकि पार्टी का कहना था, वह निकाल दिए गए हैं। पार्टी के कामरेड वे आरोप भी बताते जिनके कारण त्रिपाठी जी के खिलाफ करवाई हुई थी।

त्रिपाठी जी अब मालवीय रोड से दूर चैथम लाइन्स इलाके के एक बंग्लो में रहने लगे जो फलों फूलों से लदे बहुत सारे वृक्षों, पौधों वाले बगीचे के मध्य में बना हुआ खूबसूरत घर था। मुझे याद नहीं किन्तु सच ही होगा कि उसके ड्राइंगरूम में सुंदर कालीन बिछा हुआ था क्योंकि एक दिन प्रतिरोधी तबियत का एक युवा दोस्त बेहद खुश खुश मिला। मैंने सवाल किया—"क्या बात है, काफी चहक रहे हो?"

"हाँ कामरेड, आज मैंने पूँजीवाद को गहरी चोट पहुँचाई।" वह चुप हो गया ताकि मैं उससे आगे बोलने के लिए कहूँ।

मैंने पूछा—"कैसे चोट पहुँचाई?"

उसने उत्साह से बताया—"आज मैं कीचड़ से सने जूते पहनकर डीपी त्रिपाठी के घर गया और उनके पूँजीवादी कालीन पर सारा कीचड़ रगड़ दिया।" वह हँसा—"लौटते समय उनकी यह पूँजीवादी सिगरेट की डिब्बी भी चुरा लाया।" उसने सिगरेट का पैकेट मेरे सामने किया। मैंने भी पैकेट की एक पूँजीवादी सिगरेट सुलगा ली।

हमारे बीच उत्सुकता थी कि त्रिपाठी जी आगे क्या करेंगे? वह अब पार्टी राजनीति को छोड़कर बौद्धिक इलाके में व्यस्त हो जायेंगे अथवा किसी नए दल में शामिल होंगे? नए दल में शामिल होंगे तो वह कौन सी पार्टी होगी? एक चर्चा यह भी थी, वह इंतजार करेंगे दुबारा सीपीएम में स्वीकार किये जाने का। एक दो बार मैंने उनसे इस बारे में संकोच करते, सहमते हुए पूछा लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ क्योंकि जब उन्हें किसी बात का जवाब नहीं देना रहता था तो वह कुछ बोलने के बजाय आपकी बात को अनसुना करते हुए चुपचाप अपनी दाढ़ी पर हथेली फेरने लगते थे और इस समय वह यही क्रिया कर रहे थे।

अचानक एक दिन जानकारी मिली, वह चंद्रशेखर के साथ चले गए हैं। तब चंद्रशेखर भारत के प्रधानमंत्री नहीं हुए थे; सन् 83 में वह दक्षिण भारत के कन्याकुमारी से दिल्ली के राजघाट तक की एक पदयात्रा भारतयात्रा के नाम से कर रहे थे; त्रिपाठी जी उसमें साथ हो लिए। बताते हैं कि इसकी पृष्ठभूमि में उनका चन्द्रशेखर से पहले से वाकिफ होना था। लेकिन वहाँ शायद कुछ हुआ जिससे बात नहीं बन सकी। इसी को ऐसे भी कहा गया कि बात बिगड़ गयी। जो भी सही हो, नतीजा एक ही था, त्रिपाठी जी इलाहाबाद में चैथम लाइन्स, विश्वविद्यालय, यत्र-तत्र, फिर से देखे जाने लगे।

उनका चैथम लाइन्स वाला आवास शहर से काफी दूरी पर था। इसका अंदाजा एक प्रकरण से लगाया जा सकता है; हुआ यह था कि मैं त्रिपाठी जी के यहाँ जा रहा था; उनके घर से कुछ दूर पर स्थित एक घनेरे पेड़ की छाँव में कृष्णमणि सुस्ताते मिले। वह त्रिपाठी जी के साथ ही रहते थे। हमारे गाँव मलिकपुर के थे और रिश्ते में त्रिपाठी जी के भतीजे या छोटे भाई लगते थे। मैंने रुककर प्रश्न किया—"कृष्णमणि यहाँ कहाँ बैठे हो?" जवाब था कि त्रिपाठी जी ने उनको शहर की ओर किसी से कोई किताब लाने के लिए भेजा था। मेरा सवाल

था—"हो आये।" उनका जवाब था—"कौन जाए उतनी दूर। यहाँ कुछ देर बिताने के बाद जाकर कह दूंगा कि वह मिले ही नहीं घर पर।" मैं कृष्णमणि के चातुर्य को सम्मान देकर आगे बढ़ गया था। गेट से दाखिल होकर तमाम पेड़ पल्लवों से गुजरते हुए अंततः त्रिपाठी जी के बंगले तक का फासला भी पर्याप्त था; और उन दिनों जहाँ मैं रह रहा था वहाँ से तो काफी दूर था। एक बात यह भी थी कि मेरी साइकिल मालवीय रोड के मकान से जब से चोरी हुई थी, मैंने नई साइकिल खरीदी नहीं जबकि रिक्शा से जाना आना बहुत खर्चीला था, अतः मेरा त्रिपाठी जी के ही नहीं, किसी के घर जाना कभी कभार का रह गया था। निष्क्रियता की वजह साइकिलविहीनता के संग मेरी बेरोजगारी भी थी जिसने मेरे मिलने जुलने के उत्साह को मंद करना शुरू कर दिया था, चाहे वह देवी प्रसाद त्रिपाठी से मिलना क्यों न हो।

वक्त धीरे-धीरे बीत रहा था, मैं अपने में और भी सिमटने लगा था। अंततः एक दिन इलाहाबाद छोड़कर मैं अपने माँ पिता के पास सुल्तानपुर चला गया। हालांकि वहाँ नौकरी न मिलने का संताप माँ पिता की संगत के कवच के बावजूद अधिक बेधक हो गया था। ऐसा लगने लगा कि इलाहाबाद का बीता हुआ विगत एक सपना था जो अभासी था; यथार्थ नहीं। या वह ही वास्तविक था और यह, बेरोजगारी का जीवन, एक लंबा दुःस्वप्न है महज।

यह सन् 1984 के आखिरी महीने थे और प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की उनके अंगरक्षकों द्वारा हत्या होने ही वाली थी और घटित होने वाला था भारतीय लोकतंत्र की धर्मनिरपेक्षता पर घातक प्रहार जिसे इतिहास में सिख समुदाय के नरसंहार के रूप में याद किया जायेगा। इसके बाद लोकसभा के आम चुनावों में राजीव गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस पार्टी की ऐतिहासिक बहुमत से विजय होनी थी... उन्हें प्रधानमंत्री बनना था... पर यहाँ थोड़ी देर ठहरना होगा... वह जानना दिलचस्प रहेगा जो करीब दो वर्षों के भीतर घट रहा था लेकिन हम लोगों को उसके बारे में ज्यादा मालुम नहीं था। पता चला कि त्रिपाठी जी कांग्रेस पार्टी में चले गये हैं और वहाँ उनकी स्थिति काफी महत्त्वपूर्ण है। ढाई साल पहले रवीन्द्र कालिया जी ने बताया था, त्रिपाठी जी कांग्रेस में जाना चाहते हैं। दरअसल, उन दिनों मेरे सुल्तानपुर जनपद के अमेठी लोकसभा क्षेत्र से राजीव गांधी सांसद थे इस नाते वहाँ के कथित राजा रणंजय सिंह के बेटे संजय सिंह राजनीतिक रूप से बेहद शक्तिशाली थे। वजह मुझे नहीं मालुम पर उनकी रवीन्द्र कालिया जी से अचानक गहरी दोस्ती हो गयी थी। वह कभी-कभी कालिया जी के रानीमंडी वाले घर पर भी आते थे। कालिया जी ने कहा, देवी प्रसाद जी संजय सिंह से मुलाकात करना चाहते हैं। यह मुलाकात कालिया जी के माध्यम से हुई तो, लेकिन फलप्रद नहीं रही क्योंकि बकौल कालिया जी, संजय सिंह ने त्रिपाठी जी को लेकर अपेक्षित रुचि और गंभीरता नहीं दिखाई बल्कि शायद खास तवज्जो भी नहीं दी। यह सब सुनकर मुझे खुशी हुई क्योंकि मैं और त्रिपाठी जी से जुड़े अनेक युवा वामपंथी थे; हमारे लिए त्रिपाठी जी के कांग्रेस गमन को स्वीकार कर पाना उन दिनों बहुत मुश्किल था। मेरी हालत अधिक नाजुक थी; मैं उनके गाँव का, छोटे भाई के रूप में जाना जाता था, मेरे मन में वाकई त्रिपाठी जी के लिए गहरा सम्मान, लगाव, भावुकता थी। अतः इस मसले पर मैं दोस्तों से बहसों में त्रिपाठी जी के खिलाफ कुछ सुनना नहीं चाहता था किन्तु मैं उनके पक्ष में भी नहीं खड़ा हो पाता था। मैं क्या उनके सभी चाहने वाले, मित्र, शुभचिंतक, समर्थक उन्हें वामपंथ में आगे बढ़ते देखना चाहते थे। लेकिन त्रिपाठी जी का अपनी वामपंथी पार्टी से रिश्ता टूट चुका था। और उस पार्टी में पुनः वापसी इतना आसान नहीं था। उनकी स्थिति कमोबेस सुल्तानपुर के ही एक समय के कम्युनिस्ट नेता

बाबू केदारनाथ सिंह की तरह थी। वह भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे और बाद में कांग्रेस में चले गए थे, कांग्रेस से ही सांसद और मंत्री बने थे। मैंने बचपन में उनको अपनी तहसील कादीपुर में एक राजनीतिक सभा में, जो मेरे घर के पड़ोस में स्थित रामलीला वाली बाग़ में हुई थी, दलित नेता बाबू जगजीवन राम के पांव छूते देखा था; वह दृश्य मेरी राजनीतिक स्मृति में अमर है। तो वही बाबू केदारनाथ सिंह जरिया बने त्रिपाठी जी को कांगेस के करीब ले जाने में...।

संजय गांधी की आकस्मिक मृत्यु के बाद उनके बड़े भाई राजीव गांधी अनिच्छा से ही सही, राजनीति में अपनी माँ प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की मदद करने के लिए आये थे मगर एक तरह से वह अगले प्रधानमंत्री के लिए तैयार किये जा रहे थे; अतः स्वाभाविक था कि प्रधानमंत्री के बाद वह सबसे बड़े सत्ताकेंद्र बन गए थे और उनके जो करीबी लोग थे, सलाहकार थे वे भी बहुत ताकतवर थे। इनमें दो लोग जिनका स्थान सबसे ऊपर था, वे थे : अरुण नेहरू और अरुण सिंह। इन दोनों में अपने को दूसरे से ज्यादा महत्त्वपूर्ण साबित करने की, दूसरे का पत्ता काट देने के लिए चालें चली जाने की, चर्चा हवा में तैरती रहती थी। अरुण सिंह राजीव गांधी के लोकसभा क्षेत्र अमेठी के प्रभारी भी थे, कहते हैं कि केदारनाथ सिंह ने अरुण सिंह से त्रिपाठी जी की मुलाकात कराने के पहले उनकी योग्यताओं, विलक्षणताओं का विधिवत बखान किया था। हालाँकि एक कहानी यह भी सुनी जाती थी कि अरुण सिंह के करीब त्रिपाठी जी को लाने वाले शख्स का नाम संजीव चोपड़ा था। संजीव जवाहरलाल नेहरू वि.वि. में एक वक्त त्रिपाठी जी के करीबी थे और उन्होंने एस.एफ.आई. के समानांतर आर.एस.एफ.आई. बनायी थी जिसको लेकर त्रिपाठी जी के विरोधी कहते कि उसका गठन त्रिपाठी जी के ही इशारे पर हुआ था। सच्चाई जो भी हो, इतना मैंने देखा था की संजीव चोपड़ा साल में एक दो बार मालवीय रोड वाले मकान पर त्रिपाठी जी के पास आया करते थे। संजीव चोपड़ा का कपूरथला के राजपरिवार से सम्बन्ध था और वह अरुण सिंह के भतीजे थे। केदारनाथ सिंह अथवा संजीव चोपड़ा जिसके भी मार्फ़त त्रिपाठी जी पहुँचे हों, पर यह वास्तविकता थी कि वह बहुत जल्दी अरुण सिंह के और थोड़े दिनों में राजीव गांधी के भी, अत्यंत नजदीकी हो गए। उनके बारे में तरह तरह की अफवाहें और अफसाने सामने आने लगे। कोई बताता, अरुण सिंह उनको प्रोफेसर साहब कहते हैं और उनके साथ शराब पीते हैं। कोई खबर लाता कि राजीव गांधी के आवास में त्रिपाठी जी का सीधा प्रवेश है। यहाँ तक कि वहाँ के हाजिरी रजिस्टर में उनको इंट्री भी नहीं करनी पड़ती। एक अखबार में छपा : देवी प्रसाद त्रिपाठी सोनिया गांधी के हिंदी गुरु हैं; सोनिया गांधी हफ्ते में तीन दिन उनसे हिंदी सीखती हैं। ऐसा कई लोगों ने बयान किया कि त्रिपाठी जी जब किसी महानगर में जाते हैं तो उनके लिए एकाधिक पाँच सितारा होटलों में सूट बुक रहते हैं। इन सब बातों में सच्चाई हो सकती है और आधी सच्चाई भी हो सकती है और अतिरंजना का तत्व भी हो सकता है, इनमें से किसी भी संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता लेकिन इसके तो अनेक प्रत्यक्षदर्शी थे कि किसी रेस्टोरेंट या होटल में भुगतान के साथ वह वेटर को अप्रयाशित धन सप्रेम भेंट कर देते थे। इस धन की गिनती नहीं की जाती थी, उनकी जेब से उनका हाथ जितना भी रुपया निकाल लेता, वह वेटर का हो जाता था और यह बिल के भुगतान में बचे चिल्लर रुपयों के अलावा होता था। कभी-कभी तीन हजार के भोजन के भुगतान पर तीन हजार की बख्शीश पाकर वेटर को यकीन नहीं आता था कि यह सच है या सपना?

(तीन)

मेरी स्थिति अभी भी वैसी की वैसी थी। कोई काम धंधा नहीं था मेरे पास। मैं सुल्तानपुर में ही था। लोग मुझसे कहते कि तुम्हें फिक्र करने की क्या जरूरत, त्रिपाठी जी के लिए तुमको नौकरी दिलाना चुटकी बजाने का काम है। यह कहते हुए कुछ लोग चुटकी बजाते भी थे। मैं भी सोचता हाँ यह बात तो है पर उन दिनों त्रिपाठी जी से मिल पाना आसान नहीं था। वह कब यहाँ हैं कब वहाँ हैं कब कहाँ हैं कुछ निश्चित नहीं रहता था। तब फोन वगैरह का कम से कम मेरे परिवेश में रिवाज नहीं था और उनको चिट्ठी लिखने की मेरी हिम्मत नहीं होती थी क्योंकि मालवीय रोड के घर में देख चुका था, वह पत्रों को खोलते तक नहीं थे, खुले पोस्टकार्डों को भी नहीं पढ़ते थे; मेरे द्वारा एक बार पूछने पर उन्होंने कहा ही था कि अरे इनमे वही नौकरी वगैरह के बारे में लिखा गया होगा। हकीकत यही थी, मुझे जो पत्र लिखना था उसमें भी नौकरी की गुजारिश करनी थी। अतः मैंने पत्र नहीं लिखा या शायद एक बार लिखा था; जाहिर है उसका भी वही हस्र हुआ होगा जैसा उन्हें अतीत में गाँववालों और रिश्तेदारों द्वारा लिखे गए तमाम पत्रों का हो चुका था। वैसे यह भी सच था कि त्रिपाठी जी के माध्यम से तमाम सारे लोगों के काम बने थे लेकिन यह तभी संभव होता था जब उनसे अपने सामने पैरवी करा ली जाए। मुश्किल यह थी कि उनसे मिल पाना अब मुश्किल हो गया था। खैर तभी पता चला, त्रिपाठी जी इलाहाबाद आ रहे है और कुछ दिन वहाँ रहेंगे।

इस बार उनके इलाहाबाद आने का कारण अलग किस्म का था और काफी नाटकीय था। इंदिरा गांधी की हत्या से लोग स्तब्ध और बेहद दुःखी थे। दूरदर्शन पर इंदिरा जी के अंतिम संस्कार के दृश्यों ने इस दुःख को अधिक सान्द्र कर दिया था। कितने तो फूट-फूटकर रोने लगे थे। कांग्रेस ने शायद इस गहन सहानुभूति लहर का राजनीतिक लाभ उठाने के इरादे से लोकसभा चुनाव थोड़ा पहले ही घोषित कर दिया। राजीव गांधी अमेठी से प्रत्याशी थे, वहाँ त्रिपाठी जी को चुनाव की अहम् जिम्मेदारियां मिली हुई थीं। त्रिपाठी जी के मित्र और अग्रज डा. रमेश दीक्षित भी वहाँ थे। डा. दीक्षित जे.एन.यू. में त्रिपाठी जी के सीनियर थे और देश के प्रमुख मार्क्सवादियों, समाजवादियों से उनकी गहरी मैत्री आज भी है। प्रकाश करात और सीताराम येचुरी से मेरा मिलना दीक्षित जी के ही आवास पर हुआ है। दीक्षित जी का त्रिपाठी जी भी बहुत सम्मान करते हैं। ऐसा विश्वास प्रकट किया जाता है कि त्रिपाठी जी रमेश जी की हर बात मान लेंगे सिवाय शराब से तौबा करने के; और ऐसा करने के लिए रमेश जी जीवन में कभी कह नहीं सकते क्योंकि शराब से आशिकी के मामले में रमेश जी अपने अनुज से कतई उन्नीस नहीं हैं। तो त्रिपाठी जी और रमेश जी अमेठी में जब सक्रिय थे तो अचानक एक दिन राजीव गांधी ने त्रिपाठी जी से कहा—"आप कुछ दिनों के लिए इलाहाबाद जाकर अमिताभ बच्चन के चुनाव को सँभालिये, वहाँ आप जगदीश राजन से संपर्क करेंगे तो वह बाकी बातें बता देंगे।" इस किस्से को मैंने डॉ. रमेश दीक्षित से सुना था। दीक्षित जी के अनुसार उन दोनों ने इलाहाबाद पहुँचकर उस समय के वहाँ के सबसे अच्छे होटल यात्रिक में डेरा डालकर जगदीश राजन से संपर्क किया। जगदीश राजन बाँदा के रहने वाले थे और प्रसिद्ध कवि हरिवंश राय बच्चन की पहली पत्नी के भाई थे लेकिन उनके रिश्ते तेजी जी और उनके दोनों बच्चों से भी बहुत आत्मीय थे। स्वयं हरिवंश राय बच्चन, जब तक स्वास्थ्य ठीक रहा, वर्ष में एक बार बाँदा जगदीश राजन के घर जाकर करीब महीना भर रहते थे। जगदीश राजन की पत्नी इंदिरा राजन प्रिंसिपल थीं, उनकी सूरत इंदिरा गांधी से काफी मिलती जुलती थी। जब वह कांगेस की सभाओं में भाषण देती थीं तो भ्रम होता था कि श्रीमती गांधी बोल रही हैं। बहरहाल

त्रिपाठी जी ने जब राजीव गांधी का सन्दर्भ देकर जगदीश राजन से आगे के लिए जानना चाहा तो उनका जवाब था, उनके पास इस विषय में अभी तक कुछ भी सूचना नहीं आई है। मगर रात को होटल की घंटी बजी, अमिताभ बच्चन के छोटे भाई अजिताभ बच्चन आये थे। उन्होंने बताया कि राजीव गांधी का सन्देश आ चुका है और वे दोनों सुबह अमिताभ बच्चन के साथ चाय पर आमंत्रित है। यह विवरण लम्बा है; मुख़्तसर में यह कि अगले ही रोज से अमिताभ बच्चन के पूरे चुनाव की बागडोर त्रिपाठी जी के पास थी और इस चुनाव में उनका दोनों बच्चन बंधुओं से सघन मित्रता का सम्बन्ध बन गया जो कई वर्ष तक गर्मजोशी के साथ चला। जहाँ तक मेरे जैसे लोगों का मत था तो हम अमिताभ बच्चन के खिलाफ लड़ रहे हेमवती नंदन बहुगुणा को जीतते हुए देखना चाहते थे; अतः कोई इक्का-दुक्का बहुगुणा जी का समर्थक मिल जाता तो हम आश्वस्त हो जाते कि कोई अंडर करंट चल रहा है। हालाँकि मेरा इलाहाबाद के उस चुनाव से कोई वास्ता नहीं था मैं महज दो तीन दिनों के लिए इस उद्देश्य के साथ गया हुआ था कि त्रिपाठी जी से मिलकर उनसे अपनी बेरोजगारी की समस्या के बारे में चर्चा करूँ। लेकिन उनसे मिलना ही नहीं हो पा रहा था। मैं यात्रिक होटल पहुँचता, पता चलता वह चुनाव के काम से बाहर निकले हुए है। मैंने निश्चय किया, सुबेरे सुबेरे होटल पहुँच जाऊँ। अगली सुबह आठ बजे मैं यात्रिक में था। वहाँ भीड़ लगी हुई थी। लगभग पचास लोग त्रिपाठी जी का इंतजार कर रहे थे, उनमें कुछ से मेरी जान पहचान थी मगर अधिकतर अजनबी थे। मुझे याद है कि वहाँ प्रदेश के तत्कालीन सिंचाई मंत्री श्याम सूरत उपाध्याय भी थे। वह बार बार आग्रह कर रहे थे कि जब त्रिपाठी जी सोकर उठें, सबसे पहले उनकी मुलाकात करा दी जाये; अपना यह आग्रह वह बहुत जल्दी जल्दी दोहरा दे रहे थे। त्रिपाठी जी के बाहर आने पर तमाम लोगों ने उन्हें घेर लिया था लेकिन मुझको उन्होंने देखा या किसी परिचित ने मेरे बारे में उनको बता दिया, वहीं से उन्होंने आवाज देकर मुझे पास बुलाया और हालचाल पूछा। तब तक एक और रेला आकर उनको अपना चेहरा दिखाने लगा। मैं रेले के धक्के से थोड़ा दूर आ गया। इस माहौल में त्रिपाठी जी से मैं अपनी मुसीबत क्या और क्यों बताता और वह क्या, क्यों सुनते। अतः अपनी कोई बात किये बगैर मैं सुल्तानपुर लौट आया था।

सुल्तानपुर में भी चुनाव की गर्मी थी। यहाँ से सीपीएम से कामरेड रामसुमेर यादव लोकसभा का चुनाव लड़ रहे थे। मैं उनके समर्थन में सक्रिय हो गया। अब लाल रंग का झंडा था हमारा और हँसिया हथौड़ा सितारा चुनाव चिह्न था हमारा। हम अपनी कॉलोनी में, रिश्तेदारों परिचितों गाँव में कहते कि बाकी पार्टियाँ पूँजीवादी हैं, जनता की पार्टी कम्युनिस्ट पार्टी है, उसको ही वोट दें। हमें समर्थन का वादा मिलता लेकिन पता चला, पीठ पीछे हम पर लोग मुस्कराते थे, हमारे ओझल होते ही हम पर हँसने लगते थे। जब चुनाव परिणाम आया तो हम दहल गए थे, सुल्तानपुर में कामरेड रामसुमेर यादव की करारी हार हुई कोई बात नहीं पर देश में ये क्या हुआ, ऐसा कभी नहीं हुआ था। आठवीं लोकसभा के चुनाव में कुल 533 सीटों में राजीव गांधी के नेतृत्व में कांगेस पार्टी को 404 सीटों पर जीत मिली थी। हमें इतना गुस्सा आया, हम इतने क्षुब्ध हुए कि हम तीन चार दोस्त अगले रोज सुल्तानपुर की सब्जीमंडी के सामने मूर्खतापूर्ण ढंग से जनता को ही गाली देने लगे थे जिसने कांग्रेस को इतना प्रचंड बहुमत दे दिया था।

इधर मेरा बेरोजगार जीवन आगे बढ़ता जा रहा था और उधर आयेदिन त्रिपाठी जी के शक्तिसंपन्न होने की नई नई कथाएं सुनाई पड़ती थीं। अपनी स्थिति के लिए मैं पूँजीवाद, सामंतवाद, राजीव गांधी की आर्थिक नीति, कंप्यूटर प्रेम आदि को कसूरवार ठहराता था किन्तु

मैं स्वयं भी कम जिम्मेदार नहीं था। मैं नौकरी के लिए कहीं आवेदन नहीं करता था लेकिन चाहता था बढ़िया नौकरी। मैं स्वप्न देखता कि अपने आप नौकरी मेरी झोली में आ गिरी है और मैं बहुत महत्त्वपूर्ण आदमी हो गया हूँ। किसी भी स्वप्न का जीवन अनंतकाल तो होता नहीं है, उसे एक दिन टूटना ही रहता है। मैं भी करीब एक साल बाद जगा और दिल्ली भागा। दिल्ली को लेकर योजना यह थी कि वहाँ अख़बारों पत्रिकाओं में नौकरी पाने की कोशिश करूँगा और वह जब तक नहीं मिलती, लिखकर कुछ कमाऊँगा। एक सहूलियत यह थी कि मेरे एक दोस्त गोपाल कृष्ण अग्रवाल वहाँ व्यवसाय के सिलसिले में तीन कमरों का मकान शालीमार बाग़ में लेकर अकेले रहते थे। गोपाल बस्ती जनपद के हैं किंतु उन्होंने सुल्तानपुर के केएनआई से इंजीनियरिंग की पढ़ाई की थी और उसी दौर में हम दोनों एसएफआई से जुड़े थे, तभी से हमारी मैत्री है।

दिल्ली में एक रोज हमने तय किया, कल देवी प्रसाद त्रिपाठी से मिला जाए। गोपाल त्रिपाठी जी से एसएफआई के दिनों से परिचित थे। पूर्वार्द्ध में इलाहाबाद में हुई एसएफआई कांफ्रेंस में सुल्तानपुर से जिन तीन दोस्तों के शामिल होने की चर्चा है उनमें से एक गोपाल थे। याद आ रहा है, इतवार का दिन था। हम करीब नौ बजे दिन में त्रिपाठी जी के यहाँ पहुँचे। पर वहाँ जो दृश्य था उसे देखकर हमें पसीना आ गया। गोपाल ने कहा, लौट लिया जाये। दृश्य यह था : एक बड़े ड्राइंगरूम में बहुत सारे लोग त्रिपाठी जी से मिलने के लिए अपनी बारी आने का इंतजार कर रहे थे। भीतर के कमरे से एक आदमी पर्ची लेकर आता, धीरे से नाम पुकारता, तब सम्बंधित व्यक्ति अंदर मिलने जा पाता। हमें कुछ समझ में नहीं आया, हम वहीं सोफा पर बैठ गए और उजबक की तरह इधर उधर देखने लगे। गोपाल ने इशारा करके दिखाया, मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री मोतीलाल बोरा और बिहार के मुख्यमंत्री विन्देश्वरी प्रसाद दुबे भी अपनी बारी के इंतजार में बैठे हुए थे। मैंने अपनी हताशा व्यक्त की—"गोपाल अब यहाँ बैठने से कोई फायदा नहीं है।" मुमकिन है हमारी हरकतें कुछ संदिग्ध दिखी हों या वहाँ का तरीका रहा हो, वह पर्ची वाला आदमी हमारे पास आकर पूछने लगा कि हम लोग कौन हैं? मेरे द्वारा परिचय और प्रयोजन बताने पर उसने पर्ची मांगी। आश्चर्यजनक खुशी की बात हुई कि जब वह हमारी पर्ची कमरे में देकर बाहर आया तो अप्रत्याशित रूप से हमारा नाम पुकारने लगा। हम शायद थोड़ा अकड़ते हुए कमरे में गए। त्रिपाठी जी मिलकर खुश हुए मगर मैं कोई बात उनसे कर पाता, उसके पहले ही उन्होंने कहा—"तुम लोग तो घर के हो, भीतर जाकर चायवाय पियो, मैं खाली होकर आराम से मिलता हूँ।" वह पर्ची वाला आदमी हमें भीतर भाभी जी के पास पहुँचा गया। बहुत दिनों के बाद उनसे मिलना हो रहा था। इस बीच त्रिपाठी जी के साथ साथ उनकी भी दुनिया बदल गयी रही होगी। जैसा कि बताया ही है, वह खाँटी गाँव की घरेलू महिला हैं और इलाहाबाद में उनकी गृहस्थी पति के पास अच्छी खासी नौकरी होने के बावजूद आर्थिक अव्यवस्था में चल पा रही थी। मेरे मन में कहीं यह जानने की उत्कंठा भी थी कि नए शहर नए माहौल को उनने कैसे ग्रहण किया हैं? वह अब खुश, नाराज, उदासीन में क्या हैं? त्रिपाठी जी की सत्ता की राजनीति के विषय में उनके क्या ख्याल हैं? मैंने पाया, अब उनमें संतोष और अपेक्षाकृत अधिक आत्मविश्वास आ गया था। वह खुश भी दिखाई दे रही थीं लेकिन इस राजनीतिक गहमागहमी और त्रिपाठी जी के जीवन के अचानक बदल जाने से वह थोड़ा सहमी और घबरायी हुई भी थीं; शायद इस वजह से अथवा शिक्षा की कमी के कारण वह परिवर्तित परिवेश को अपने सहजबोध से ही जितना समझ सकती थीं समझ पा रही थीं; बाकी उसके विस्तार एवं गहराई में जा पाना उनके लिए

दुरूह था। ऐसी बातों के लिए उनमें महज मासूमियत थी। चाय पीते और कुछ खाते हुए मैंने उनसे अवधी में बातचीत शुरू की—"त्रिपाठी जी राजनीति में आये हैं तो उन्हें क्या बनना हैं?" वह नहीं बता रही थीं; मैंने बात को आगे बढ़ाया—"सांसद बनना है?"

उनका उत्तर हुआ—"नहीं?"

"मंत्री?"

उन्होंने इन्कार में सिर हिलाया।

"तब क्या मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री?"

"अरे नहीं, ये सब तो बन ही जायेंगे।"

"तब क्या?"

वह शरमाते हुए बोलीं—"उनको गवर्नर बनना है।"

इसी तरह गाँव घर के बारे में हमारी वार्त्ता होने लगी, बाल बच्चों के बारे में चर्चा हुई; इन प्रसंगों की बातचीत में वह ज्यादा बेफिक्र तथा उत्साहित दिख रही थीं। तभी त्रिपाठी जी ने बुलावा भेजा। मैं गोपाल के साथ उनके कमरे में आया। हमें देखते ही वह बोले—"तुम लोग मेरे साथ टैक्सी में चलो, वहीं रास्ते में बात करेंगे।"

टैक्सी सड़क पर अपना काम कर रही थी। मुझे यह नहीं मालुम था कि हम कहाँ जा रहे हैं? त्रिपाठी जी ने कहा था, रास्ते में बात करेंगे लेकिन वह कुछ विशेष बात नहीं कर रहे थे। बीच बीच में मैं अपना मंतव्य पटरी पर लाने की गर्ज से कोई चर्चा करता तो हूँ हाँ करके अवांतर में चले जाते। अब तो उन्होंने ज्यादा दमदार रक्षाकवच धारण कर लिया है। पिछले दिनों उनके साथ यात्रा पर था। अपने बोलने की बारी आने पर वह प्रायः सो जाते थे और थोड़ी देर में अचानक जग जाते थे। उन दिनों वह नींद में जाने के बजाय चुप लगा लेते थे। लगभग आधे घंटे बाद उन्होंने टैक्सी रोका और मुझसे कहा—"तुम लोग टैक्सी में ही इंतजार करो, मैं अभी थोड़ी देर में लौटता हूँ।" ड्राइवर से भी रुकने के लिए बोलकर वह आगे बढ़ गए। उनके जाते ही ड्राइवर ने हमें सामने दिखाकर बताया, वह अमिताभ बच्चन का बंगला है। त्रिपाठी जी उसी दिशा में जा रहे थे। बंगले के प्रवेश स्थान पर एक बहुत बड़ा सा लोहे का फाटक था जिसके इस पार सैकड़ों आदमी अमिताभ बच्चन की झलक पाने के लिए धींगामुश्ती कर रहे थे। त्रिपाठी जी के वहाँ पहुँचते ही सिक्योरिटी के जवान मुस्तैद हो गए। फाटक पल भर के लिए खुला; त्रिपाठी जी भीतर, भीड़ पुनः पहले की तरह बाहर ही।

टैक्सी में इंतज़ार करते हुए जब देर होने लगी तो मेरी घबराहट शुरू हुई। टैक्सी का किराया बढ़ता जा रहा था और मुझे फिक्र हो रही थी कि अगर त्रिपाठी जी उधर से कहीं निकल लिए या ड्राइवर बीच में ही जाने का तय करके भाड़ा माँगने लगा तो पता नहीं मेरी जेब में उतने पैसे होंगे भी या नहीं। बताता चलूँ, वह मेरा सम्पूर्ण बेरोजगारी का दौर था; दिल्ली में पदयात्रा और बसयात्रा तक ही मेरी व्याप्ति थी; वजह वही कि आर्थिक दशा डावाँडोल थी। मैं मन ही मन भुनभुनाया, कुछ साल पहले कलकत्ते में भी टैक्सी भाड़ा के चक्कर में इन्होंने मुझको परेशानी में डाला था और अब यहाँ भी। इत्मीनान के लिए मैंने गोपाल से प्रश्न किया—"अपने पास कुछ धन धान्य रखे हो?" उसने अपनी पैंट की पॉकेट ठोंककर कहा, काफी है। फ़िलहाल इस सब की नौबत नहीं आई, एक आदमी आकर कोई गाड़ी नंबर बताते हुए हमसे बोला—"अभी बंगले से वह गाड़ी निकलेगी, त्रिपाठी जी उसमें होंगे। आप अपनी टैक्सी उस कार के पीछे-पीछे लाइए।" वह चला गया; मैंने सोचा, ये तो जासूसी नावेल वाली बात हो रही है। त्रिपाठी जी जिस गाड़ी में बैठे थे, उसके बारे में ड्राईवर ने हमारा ज्ञानवर्द्धन किया,

साहब के बगल में बैठे जो साहब कार चला रहे हैं वह अमिताभ बच्चन के छोटे भाई अजिताभ हैं।" मैं पूरी तरह समझ चुका था कि इस बार त्रिपाठी जी से कायदे की मुलाकात और संवाद मुमकिन नहीं है; अतः हमारा सारा ज़ोर मात्र इस पर रह गया था कि मुझे या गोपाल को टैक्सी का किराया न देना पड़े; हम सकुशल अपने ठीहे शालीमार गार्डन पहुँच जाएँ।

आखिर हमारे सामने वाली कार एक बंगले के सामने रुकी और त्रिपाठी जी उसमें से उतरे। देखादेखी हमारी टैक्सी भी रुकी और हम उतरे। त्रिपाठी जी ने टैक्सी का भुगतान किया और हमें साथ लेकर आगे इंतजार कर रहे अजिताभ बच्चन के पास तक आकर बिना रुके चलते रहे; अब अजिताभ बच्चन भी साथ में चल रहे थे, हम बंगले में दाखिल हो रहे थे।

2—ए मोतीलाल नेहरू रोड, नई दिल्ली। यह उस बंगले का पता था जो उस समय भारतीय राजनीति में बहुत बड़े शक्तिकेंद्र के रूप में विख्यात था। यहीं पर अरुण सिंह का ऑफिस भी था। बंगले में बाहर एक विशाल लॉन था जिसकी जमीन घास बिछी होने के नाते हरी हरी दिख रही थी। वहाँ हजार लोग डेरा जमाये हुए बैठे, खड़े, लेटे थे। लगभग सभी कुर्ता पायजामा, कुर्ता धोती अथवा सफारी सूट पहने हुए थे। नेताओं के साथ उनके समर्थक भी थे। ये मूलतः टिकटार्थी एवं उनके अनुयायी, सहयोगी थे। टिकटार्थी शब्द हमारे सुल्तानपुर में चुनाव में टिकट पाने की आकांक्षा रखने वाले के लिए प्रयुक्त किया जाता था। दरअसल उत्तर प्रदेश और बिहार की विधानसभाओं के आम चुनाव होने वाले थे। मैंने गौर किया, मेरे अपने सुल्तानपुर से भी अनेक टिकटार्थी दलबल के संग वहाँ मौजूद थे। मैंने सोचा, त्रिपाठी जी दो मिनट के लिए अकेले मिलें तो रुखसत लूँ; टैक्सी का भी भुगतान चुका ही दिया गया था। त्रिपाठी जी दो मिनट के लिए रुके जरूर; एक तरफ अकेले भी ले गए लेकिन मैं कुछ कह पाता उसके पहले ही उन्होंने आदेश सुना दिया—"यहीं रुको, जाना बिल्कुल नहीं, जल्दी आता हूँ।" यह बोलकर वह सीधे अरुण सिंह के कमरे में चले गए और एक नई मुसीबत का सामना करने के लिए मुझे छोड़ गए। उनके जाते ही घास के मैदान से अनेक लोगों ने आकर मुझे घेर लिया था। हालांकि मैं वीआईपी नहीं था, मेरे साथ एक भी सुरक्षाकर्मी न था। मैंने मामूली कीमत का शर्ट पैंट पहना था, चप्पल मेरी बस हवाई चप्पल से थोड़ी बेहतर थी। मैं चेहरे से भी बेरोजगार था, फिर क्यों ये सब याचक की तरह मुझे घेरे हैं? गिड़गिड़ा क्यों रहे हैं? अरे ये अपने अपने कागज मुझे क्यों देना चाहते हैं? वे सभी मुझको अपना अपना बायोडेटा पकड़ा रहे थे कि मैं उनकी त्रिपाठी जी से पैरवी करूँ। भला मैं उनसे कैसे बताता कि भाइयो और मित्रो मैं खुद ही त्रिपाठी जी से अपनी पैरवी के चक्कर में हूँ फ़िलहाल अभी तक विफल हूँ। मैं उनके बायोडेटा का बण्डल लिए हुए किसी प्रकार पीछा छुड़ाते दूसरी तरफ गया तो वहाँ भी वही हालत। वहाँ मेरे सुल्तानपुर के भी कुछ नेता थे जिन्होंने मुझे बेटा, भईया कहकर बुलाना शुरू कर दिया। मैं भाग रहा था, रास्ता बदल रहा था लेकिन उस हास्यास्पद और निरर्थक रुतबे से निजात नहीं पा रहा था। यह सब काफी देर तक चलता रहा। आख़िरकार त्रिपाठी जी बाहर निकले और हमें लेकर एक कार में बैठ गए। कार में हम तीन और ड्राईवर के अलावा एक अन्य सज्जन थे, कार शायद उनकी ही थी। त्रिपाठी जी ने कार्यक्रम बताया कि वह एयरपोर्ट जा रहे हैं, उन्हें बाहर जाना है। अतः बाकी बातें अगली मुलाकात में होंगी जिसे बहुत जल्द होनी चाहिए। उन्होंने कार वाले सज्जन को निर्देश दिया कि वह एयरपोर्ट से लौटते समय हम दोनों को हमारे गंतव्य तक छोड़ दें। वह तत्कालीन बिहार सरकार में सूचना मंत्री थे। उनका वक्त संभवतः इन दिनों ठीक नहीं चल रहा था, वह बुझे बुझे से थे। वापसी पर वह हमारी खुशामद इस गुजारिश के साथ करने लगे कि हम त्रिपाठी जी से उनकी सिफारिश

करें। मुझे लग रहा था, न जाने किस लोक में आ गया हूँ, यह यथार्थ है या मायाजाल? मैं इसकी तरफ आकर्षित हो रहा था और मैं इससे डर रहा था। यह लुभावना और खतरनाक दोनों लग रहा था।

(चार)

त्रिपाठी जी से दिल्ली में मिलना आगे भी जारी रहा लेकिन यह न मिलने सरीखा होता था। वह हमेशा लोगों से घिरे रहते थे। इतना जरूर था कि वह चाहे जितने विशिष्ट जन के बीच हों मुझे देखते ही बड़े प्रेम से बुलाते और कुशल क्षेम पूछते। एकदम आत्मीय, घर के सदस्य की तरह लगाव दिखाते। यह दस्तूर आज तक बरक़रार है। इसीलिए तब भी और आज भी मेरे अनेक मित्रों को लगा कि मेरे कहने पर त्रिपाठी जी अपने रसूख से उनकी किसी समस्या का समाधान करा सकते हैं। मेरी सिफारिश रामबाण साबित होगी। त्रिपाठी जी ने मेरे कहने पर कई बार लोगों की मदद की है किन्तु ज्यादातर बार नहीं की है। इसलिए मुझे कोई गुमान नहीं है। हां वह सार्वजनिक रूप से भी मेरे प्रति जो अपनापा दिखाते हैं उससे सही या मिथ्या, लोगों को जरूर महसूस होने लगता है कि उनका काम अब तो होकर रहेगा। त्रिपाठी जी की गलती यह है कि वह इन्कार कभी नहीं करते हैं; सामने वाले की उम्मीद बढ़ाते रहते हैं। हो सकता है वह सदाशयता के कारण इन्कार न कर पाते हों या हर बात में हाँ-हाँ कह देना उनके स्वभाव का हिस्सा हो। इस बारे में यदि उनका पक्ष लेना हो तो इस तरह भी सोचा जा सकता है कि त्रिपाठी जी के बुनियादी रूप से जो अपने लोग रहे हैं, जो गाँववाले, रिश्तेदार, पट्टीदार, सहपाठी, लेखक, कवि, अध्यापक, आलोचक, रंगकर्मी, श्रमिक, कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य आदि रहे हैं, अधिसंख्यतः ये सब निम्नवर्ग या निम्न मध्यवर्ग या बमुश्किल मध्यवर्ग से ताल्लुक रखते हैं जो प्रायः परेशान, दुखियारा, संघर्षरत और सत्ताहीन होता है। अतः इनके पास समस्याएँ ही समस्याएँ होती हैं और निदान के रूप में त्रिपाठी जी नजर आते हैं। आखिर एक अनार इतने बीमारों की सेहत कैसे दुरुस्त रख सकता है। वैसे इस प्रसंग में वह कभी कभार अपने पराये का भेद मिटाते हुए नजर आते हैं। अतः ऐसा भी घटित हुआ है कि कम नजदीकी और मुफलिस इंसान का पेचीदा काम उनके सौजन्य से हो गया है पर खासमखास दोस्त या नातेदार से उन्होंने ऐसे ही टालमटोल कर दिया। अनेक ऐसे मिलेंगे जो कहेंगे कि त्रिपाठी जी ने उनकी जिंदगी संवार दी। अनेक ऐसे मिलेंगे जो कहेंगे कि त्रिपाठी जी ने उन्हें बहुत दिनों तक भ्रम में रखा, झुलाये रखा और कोई मदद नहीं की। त्रिपाठी जी के व्यक्तित्व का यह ऐसा रहस्यमय पक्ष है जिसे भेद पाना नामुमकिन नहीं तो बेहद कठिन अवश्य है।

ऐसे ही यह भी अनसुलझा है कि देवी प्रसाद त्रिपाठी राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी में क्यों और कैसे जुड़े हैं? न केवल उस पार्टी में हैं बल्कि उसके मुख्य प्रवक्ता, महासचिव और उसकी तरफ से राज्यसभा का सदस्य भी बन चुके हैं। महत्त्व के नजरिये से पार्टी में राष्ट्रीय अध्यक्ष शरद पवार के बाद के दो तीन नेताओं में उनकी जगह है। सवाल है, आखिर धुर महाराष्ट्र के राजनीतिक दल में एक खाँटी यूपी के आदमी को इतनी अहमियत क्यों? मुझे लगता है कि : भारतीय राजनीति में शरद पवार करीब दो दशक से ऐसे क्षत्रप के रूप में जाने जाते हैं जो खंडित जनमत की स्थिति में देश का प्रधानमंत्री बनने की सम्भावना रखते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को कभी छुपाया नहीं बल्कि हवा दी। एक क्षेत्रीय नेता यदि ऐसी ख्वाहिश रखता है तो उसके लिए अपरिहार्य आवश्यकता होती है सत्ता के शीर्ष नगर दिल्ली में रहने वाली एक ऐसी शख्सियत की जो राजनीतिक बिसात के खेल में निपुण हो,

उसके मीडिया से बढ़िया रिश्ते हों, हिंदी अंग्रेजी दोनों भाषाओं में दमदार वक्तृता हो, सभी राजनीतिक दलों के नेताओं से घनिष्ठ रिश्ते हों। जाहिर है त्रिपाठी जी इन कसौटियों पर एकदम सटीक हैं। पहली तीन खासियतों के साथ साथ वह चौथी में भी उतने ही कामयाब हैं; निश्चय ही करीब करीब सभी पार्टियों में कई प्रमुख नेताओं से उनके अच्छे व्यक्तिगत सम्बन्ध हैं। वामपंथी नेताओं प्रकाश करात, सीताराम येचुरी, अतुल अंजान से उनकी दोस्ती है तो दक्षिणपंथी भाजपा के अरुण जेटली भी उनके दोस्त। इसके अतिरिक्त अहमद पटेल, मुलायम सिंह यादव, लालू यादव, नितीश कुमार, दिग्विजय सिंह, शशि थरूर, हरिकिशन सिंह सुरजीत, मोतीलाल बोरा, अटल बिहारी वाजपेयी, मुरली मनोहर जोशी... न जाने कितने नेताओं से उनकी घनिष्ठता रही है। यह सब वजहें हो सकती हैं कि शरद पवार को त्रिपाठी जी अपने लिए उपयुक्त लगे मगर प्रश्न यह भी है, त्रिपाठी जी क्यों एनसीपी से सम्बद्ध हुए? वह एक राष्ट्रीय पार्टी कांग्रेस में थे जिसमें सत्ता की भी गुंजाइश ज्यादा थी; फिर ऐसा क्या हुआ कि जब शरद पवार ने सोनिया गांधी के विदेशी मूल के मुद्दे पर कांग्रेस छोड़कर 1999 में एनसीपी बनायी तो वह भी साथ में आ गए? ऐसा लगता है कांग्रेस में रहते हुए शरद पवार को त्रिपाठी जी की अपने लिए उपयोगिता दिखी होगी और त्रिपाठी जी भी कांग्रेस में पहले जैसी आभा के साथ नहीं उपस्थित थे। इसका कारण यह रहा होगा कि उनका कांग्रेस में जो स्थान बना था वह कार्यकर्त्ता से नेता बनने की प्रक्रिया से नहीं निर्मित हुआ था, वह सीधे उतरकर अचानक महत्त्वपूर्ण हो गए थे। उनके पीछे जनसमूह की, वोट बैंक की अपेक्षित ताकत नहीं थी, उनका अपना कोई विशेष जनाधार भी न था; उनकी शक्ति का आधार था, उनकी अपनी विलक्षण योग्यता और राजीव गांधी से निकटता। राजीव गांधी की हत्या के बाद जाहिर है उनकी जगह पूर्ववत् नहीं रह गयी थी। अतः नया अवसर सामने आने पर उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया होगा। यहाँ उन्हें जितना भी अधिकतम संभव है उतना सम्मान, शक्ति, अधिकार मिलता रहा है मगर यह सच है कि सत्ता, राजनीतिक शक्ति के अर्थ में सन 1984 से 1989 की अवधि उनके लिए स्वर्णकाल था। मुझे ठीक ठीक याद नहीं आ रहा है, शायद 1987 रहा हो या 1988, अख़बारों में एक खबर छपी थी : कांग्रेस हाई कमान ने पार्टी में एक नया विंग स्थापित किया है जिसे रॉ के नाम से जाना जाएगा, इसके निदेशक होंगे देवी प्रसाद त्रिपाठी। जाहिर है इसके नामकरण के पीछे भारत सरकार के खुफ़िया संगठन रॉ के नाम की प्रेरणा थी। खबर में बताया गया था कि कांग्रेस का यह रिसर्च एंड एनालिसिस विंग यानी रॉ देश के कांग्रेसी मंत्रियों और मुख्यमंत्रियों के कामकाज की गुप्त तौर पर निगरानी करेगा और उसके विषय में अपनी रिपोर्ट सीधे प्रधानमंत्री राजीव गांधी को देगा। यह एक अजीब सी परिस्थिति थी जिसकी वजह से केंद्र एवं राज्य सरकारों के नुमाइंदे मंत्रियों मुख्यमंत्रियों की जान सांसत में पड़ गयी थी। वैसे इस समाचार और कथित पोलिटिकल रॉ की विश्वसनीयता प्रामाणिक नहीं थी। हाई कमान ने इस खबर का न अनुमोदन किया था न खंडन। लेकिन इस प्रकार के सच्चे झूठे किस्से जरूर चल पड़े थे कि त्रिपाठी जी को देखते ही अच्छे अच्छे मुख्यमंत्रियों तक को पसीना आ जाता है कि वह पता नहीं किस कारनामे की क्या रिपोर्ट राजीव गांधी को दे दें। किस्सों में किसी मुख्यमंत्री ने त्रिपाठी जी के आगमन पर लाल गलीचा बिछा दिया था तो कोई मंत्री राजधानी छोड़कर भाग जाता था। बहरहाल ये किस्से थे और ये कितने सत्य थे कितने मनगढ़ंत यह इस पर टिका था कि रॉ के गठन वाला समाचार सत्य था अथवा गढ़ंत था। जो भी हो इतना निश्चयात्मक था कि त्रिपाठी जी का राजीव गांधी की सरकार में जो रसूख था वह अच्छे अच्छों को नहीं हासिल था। मगर उनका एक सेवक था जिसका नाम बलूनी था उसको जैसे त्रिपाठी जी की

इतनी क्षमता से संतोष न रहा हो, वह त्रिपाठी जी के महात्म्य को अधिक बढ़ाने के लिए ऐसे ऐसे झूठ ऐसी ऐसी लंतरानियां इतने आत्मविश्वास से हाँकता कि उच्चकोटि के कल्पनाप्रवीण कथाकार फ़ीके लगें। उसी दौर के अनुभव हैं : दिल्ली में त्रिपाठी जी के घर में त्रिपाठी जी के साथ मैं बैठा हूँ, दो चार लोग और भी हैं; फोन की घंटी बजी, फोन बलूनी ने उठाया

"हेलो।"

"त्रिपाठी जी हैं।"

"फॉरेन गए हैं।"

"कब तक लौटेंगे।"

"अभी पेरिस में हैं, वहाँ से मास्को होते हुए सात तारीख को आ जायेंगे।" यात्रा किसी भी देश की हो सकती थी; जब जबानी जमाखर्च था तो अमेरिका, इंग्लैंड, आस्ट्रेलिया, जापान, जर्मनी किसी भी देश की सैर त्रिपाठी जी को बलूनी महोदय करा सकते थे। बलूनी इस तरह भी संवाद करते—"त्रिपाठी जी, वह तो प्रधानमंत्री जी के यहाँ गए हैं।" उधर से कहा जाता कि उसे त्रिपाठी जी ने मिलने के लिए टाइम दिया था। बलूनी का जवाब रहता—"जी मालूम है मुझे पर प्रधानमंत्री जी के यहाँ से कॉल आ गयी, कोई अर्जेंट डिस्कशन करना था राजीव जी को, फ़ौरन आने को कह दिया।" इसके बाद वह बगल के कमरे में या ड्राइंगरूम में बैठे त्रिपाठी जी को अपने संवाद का ब्यौरा देता, तो त्रिपाठी जी उस पर भड़क जाते, डाँट लगाते लेकिन यह भी हकीकत है कि कभी कभी वह सुनकर अनसुना कर देते थे।

त्रिपाठी जी में बहुत सारी खूबियाँ हैं तो कुछ खामियाँ भी हैं; जोकि मनुष्य होने के नाते स्वाभाविक हैं। हो सकता है कि एक राजनीतिज्ञ के रूप में वह सफलता की सीढ़ियां चढ़ने और अपने हासिल को बचाने, बढ़ाने के लिए कूटनीति, रणनीति, प्रबंधन आदि का सहारा लेते रहे हों या संभव है इस काजल की कोठरी में वह तमाम अन्य की तुलना में अपने को बेहतर बनाये रख सके हों, किंतु इतना जरूर कहना चाहूँगा कि हमारे समूचे भारतीय लोकतंत्र के किसी भी राजनीतिक दल में हिंदी पट्टी का कोई दूसरा ऐसा नेता नहीं है जिसमें साहित्य संस्कृति समाजविज्ञान के लिए ऐसा गहरा और विस्तृत लगाव, तैयारी, अध्ययन और अर्जन है जैसा कि त्रिपाठी जी में है। हिंदी साहित्य से सम्बद्ध होने के नाते मैं यह तथ्य जरा अधिक खुशी और उत्साह से कहना चाहता हूँ। हालांकि त्रिपाठी जी पढ़ेंगे तो जरूर टोकेंगे कि 'ज़रा' और 'अधिक' दोनों शब्द एक साथ नहीं रखना चाहिए। इस तरह उन्होंने मुझे कई बार परिष्कृत किया है। इलाहाबाद के शिक्षाकाल के दिनों में एक आवेदनपत्र के आखिरी में मैंने परंपरागत ढंग से लिखा महोदय मुझे अनुमति प्रदान करने की कृपा करें। त्रिपाठी जी ने 'कृपा' शब्द को काटने के लिए कहा। मैंने तुरंत स्थानापन्न शब्द दिया - कष्ट करें लिख दूँ। वह बोले, किसी को कष्ट क्यों देना चाहते हो... इसके स्थान पर 'अनुग्रह' लिखना चाहिए। इलाहाबाद के जिक्र से याद आया कि सन् 87—88 रहा होगा, प्रख्यात कथाकार अमरकांत ज्यादा अस्वस्थ हो गए थे और उनकी आर्थिक स्थिति अनुकूल नहीं थी, तब त्रिपाठी जी अपने प्रभाव का इस्तेमाल करते हुए उस समय के उ.प्र. के मुख्यमंत्री वीरबहादुर सिंह को लेकर अमरकांत जी के घर आये थे और अमरकांत जी के इलाज के लिए वीर बहादुर सिंह से समुचित व्यवस्था किये जाने की घोषणा करायी थी। इसी प्रकार त्रिपाठी जी के साथ दिल्ली की मुख्यमंत्री शीला दीक्षित प्रसिद्ध आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा से मुलाकात करने गयी थीं। जब दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी तत्वों ने नरेन्द्र दाभोलकर की हत्या कर दी तब सदन एकमत से उस हत्या के खिलाफ निंदा प्रस्ताव पारित करे, इसके लिए त्रिपाठी जी ने कड़ी कोशिश की थी और कामयाब

हुए थे। उन्होंने सदन में अपना कार्यकाल ऐसे सांसद के रूप में बिताया जिसे अपने व्याख्यान में कालिदास, तुलसीदास, जफ़र और स्वीडन के कवि टॉमस ट्रांसटोमर सरीखे लोगों का जिक्र प्रिय था।

साहित्य के अतिरिक्त जिन चीजों से त्रिपाठी जी को इश्क है उनमें सर्वोपरि स्थान पर है शराब। हम सभी ने देखा होगा, आर्थिक सुरक्षा आ जाने पर लोग अपने भव्य आवासों, शानदार फार्म हाउस, महँगी कारों, कीमती स्मार्टफोन, विदेश के कपड़ों जूतों, क्राकरी, फर्नीचर पर इतराते है शान दिखाते हैं। त्रिपाठी जी भी अपनी संपदा पर इतराते हैं। चाहते हैं कि उसे देखने वाला प्रभावित हो किन्तु उनके वैभवलोक में उपर्युक्त चीजों का आदर नहीं हैं; वहाँ त्रिपाठी जी की प्रदर्शनप्रिय कमाई हैं दुनिया भर की बेहतरीन किताबें और बढ़ियां से बढ़ियां शराबें। सुल्तानपुर जिले के कादीपुर क़स्बे से लेकर अब तक के तजुर्बे के आधार पर कह सकता हूँ कि उपरोक्त दोनों के साथ दूसरी भी चीजों से त्रिपाठी जी का लगाव का नाता था। महसूस होता था, इनके बगैर वह रह नहीं सकते लेकिन वक्त के साथ साथ उन्होंने उनके संग बेवफाई की। वह चाय के प्रबल पियक्कड़ थे; जब देखो चाय पीते रहते थे, अचानक एक रोज उसका साथ छोड़ दिया। वह हर वक्त सिगरेट फूँकते रहते थे। चेन स्मोकर थे, सिगरेट की ज्योति से ज्योति जलाते थे पर एक झटके में उसे भी त्याग दिया। दरअसल वह जीवन शैली में मध्यम मार्ग पर नहीं चलते हैं। घनघोर राग अथवा वैराग्य, यही उनका जीने का तरीका है। राग वाली फेहरिश्त में शराब दमकती रहती है।

2019 की जनवरी थी। सूचना मिली वह फरीदाबाद के एक अस्पताल में भर्ती हैं। उनमें गले का कैंसर कन्फर्म हो गया है, उसी का इलाज चल रहा है। कैंसर की गिरफ्त में वह दूसरी बार आ गए थे। मैं दिल्ली पहुँचकर उनसे मिलने के लिए अस्पताल गया तो मेरे साथ राजकमल प्रकाशन समूह के प्रबंध निदेशक, मित्र अशोक महेश्वरी भी थे। त्रिपाठी जी के कमरे में पत्रकार राघवेन्द्र दुबे पहले से बैठे थे। राघवेन्द्र दुबे एक समय लखनऊ में पत्रकारिता करते थे और अपनी मयनोशी के चलते भी जाने जाते थे। त्रिपाठी जी ने हमेशा की तरह बुलंद आवाज में स्वागत किया। हम उनका हालचाल पूछते उसके पहले वह हमारा कुशलक्षेम जानने लगे। मैंने मौका हाथ आते ही सवाल किया—"स्वास्थ्य कैसा है? डॉक्टर क्या बता रहे हैं?" जैसे मैंने कोई नगण्य, अप्रासंगिक बात छेड़ दी हो; उन्होंने उपेक्षाभाव से कहा—"अरे कुछ खास नहीं सब ठीक हो जायेगा। मैंने डॉक्टर से परमिशन मांगी है कि मुझे रोज थोड़ी देर के लिए बाहर निकलने की अनुमति दें ताकि जरूरी मीटिंगें कर सकूँ।" मैं डरा, लगता है मीटिंग वीटिंग कुछ नहीं, मदिरापान के लिए युक्ति बना रहे हैं। मेरी यह आशंका कई लोगों को निर्मम लग सकती है क्योंकि कैंसर के मरीज इतने दहशत में आ जाते हैं कि शराब ही नहीं अपनी हर बुरी और हानिकारक लत अपने आप त्याग देते हैं; पर मैं जानता था कि देवी प्रसाद त्रिपाठी अलग धातु के बने हैं। पिछली बार जब वह कई कीमोथेरेपी और विधिवत पूरी चिकित्सा के बाद स्वस्थ हुए थे तो हम सभी को बड़ी राहत का एहसास हुआ था मगर एक डर भी लग रहा था कि त्रिपाठी जी फिर से न पीना आरम्भ कर दें। जबकि ऐसा माना जाता है, मदिरा इसके मरीज के लिए नुकसानदेह है। खैर वही हुआ जिसका भय था। अपने पीने को लेकर उन्होंने अजीबोगरीब दलील निर्मित कर ली। जब उन्हें रोकने के लिए तर्क दिया जाता—"डॉक्टरों ने मना किया है तो क्यों पीते हैं, न पियें।" उनका जवाब—"डॉक्टर कब कहते हैं कि पियो। वह तो सभी को मना करते रहते हैं।" उस रोज जब फरीदाबाद के अस्पताल में मैं और अशोक महेश्वरी थे तो दो तिहाई वक्त त्रिपाठी जी और राघवेन्द्र दुबे तरह-तरह के ज्ञान, तर्क, दृष्टान्त

से यही बार बार सिद्ध करते रहे कि मद्यपान किसी भी सूरत में नुकसानदेह नहीं है। फ़िलहाल मैंने उनसे, उनके करीबी तीमारदारों से जो जानकारी इकट्ठा की उसके मुताबिक पूरी उम्मीद थी कि त्रिपाठी जी ठीक हो जायेंगे। अतः अस्पताल से लौटते समय एक तसल्ली अनुभव कर रहा था किन्तु न जाने क्यों एक आशंका भी हो रही थी : त्रिपाठी जी प्राइवेट रूम में कमरा बंद करके अपने राघवेन्द्र दुबे जैसे मद्य समर्थकों के मार्फ़त पीते न हों।

त्रिपाठी जी के दोस्त और कवि दिनेश कुमार शुक्ल ने शुरुआत में ही बीमारी की चर्चा करते हुए कहा था—"देवी प्रसाद बहुत बड़े योद्धा हैं, किसी को भी हरा सकते हैं, इस बीमारी को भी।" त्रिपाठी जी इस बार भी ठीक होकर अस्पताल से निकले। न केवल निकले बल्कि सक्रिय हो गए सुरापान और सामाजिक राजनीतिक सभी मोर्चों पर। अस्पताल से निकले अभी हफ्ता भर हुआ होगा, टेलीविजन से पता चला वह बिहार में हैं राजनीतिक गतिविधि के तहत। वह कन्हैया कुमार के चुनावी क्षेत्र बेगूसराय भी गए। वहाँ से लौटे तो लखनऊ आये; रमेश दीक्षित, प्रदीप कपूर और मेरे समेत कई दोस्तों के साथ वह अमेठी गए, वहाँ से हम अपने गाँव मलिकपुर पहुँचे। मलिकपुर नोनरा भी उन चुनिंदा चीजों में शुमार है जो हमेशा त्रिपाठी जी के साथ है। वहाँ के लोग, वहाँ के खेत खलिहान, वहाँ के लोकगीत, वहाँ की बचपन की भयानक यादें, वहाँ की जगहें, बाग़ बगीचे, कथाएँ, प्रपंच, गप्पें सब उनके अंदर निवास करते हैं। इसीलिए वह बार बार वहाँ जाते हैं। मुझसे अक्सर कहते हैं कि मैं मलिकपुर नोनरा, जो उनका और मेरा दोनों का ही गाँव है, पर एक वृहद् उपन्यास लिखूँ जिसमें वहाँ का दीर्घकालीन जीवन प्रकट हो।

पिछली यात्रा में जब हम मलिकपुर में दाखिल हो रहे थे तो रास्ते में 'मलिकाना' पड़ा। मलिकाना त्रिपाठी जी क्या मेरे बचपन में भी गाँव का सबसे सुंदर स्थान था। एक तरफ खूब बड़ा सा तलाब था जिसमें बहुत सारा जल था, जल में मछलियाँ और कोइयाँ के फूल खिले रहते थे। दूसरी ओर जहाँ तक आँख डालो, बाँस के वृक्ष ही वृक्ष नजर आते थे। उन वृक्षों के झुरमुट से परिंदों की और स्वयं वृक्षों की ध्वनियां आतीं जो अद्भुत संगीत का दर्जा रखती थीं। दिन में हम देखते, वहाँ मोर निकलकर नाचने लगते थे और रात में, अगर वह चांदनी हुई तो, आसमान में चाँद नाचने लगता था। पृथ्वी पर हम और आसमान में सितारे उस नृत्य को देख रहे होते थे। लेकिन अब मलिकाना पहले की तरह सुंदर नहीं रह गया, यह मैं सोच ही रहा था कि त्रिपाठी जी बोल पड़े—"पहले मलिकाना कितना सुंदर था। यहाँ मुझे उनके द्वारा संसद के उच्च सदन में दिए गए विदा व्याख्यान का यह अंश याद आ रहा है : आज जाते-जाते मैं जो आखिरी बात करना चाहता हूँ वो सुन्दरता के बारे में है। मेरे दिमाग में सुन्दरता के बारे में सोचते हुए दो चीजें याद आ रही हैं इस वक्त। एक है तुलसीदास की रामचरितमानस से, जब राम पहली बार सीता को देखते हैं तब वो क्या सोचते हैं? इसे तुलसीदास ने ऐसे लिखा है—**'सुन्दरता कह सुंदर करई, छविगृह दीपशिखा जिमि बरई।'** माने वह सुन्दरता को और सुंदर बना रही है जैसे खूबसूरत चित्रकारी से भरे एक कमरे में दीया जला दिया जाए। और आखिरी चीज, ये संस्कृत में लिखी गयी है—**क्षणे क्षणे यन नमतामुपयति, तदैव रूपम् रमणीयताया।** वह चीज जो हर समय नई बनती जाए वह खूबसूरती है। इस कसौटी पर हमारा यह संसार, यह जीवन भी अंततः सुंदर है; यह नित्य नया होता रहता है। असंख्य दृश्य, उनके रंग, उनकी गतियां अपने नए पुराने स्वरूप के संयोग से संसार को सुंदर बनाती हैं। इस सुन्दरता का साक्षात्कार करने के लिए त्रिपाठी जी को आंखों को अपेक्षित रोशनी नहीं मिली; इसके

बावजूद वह छककर जिंदगी की खूबसूरती से गुजरे हैं, उसका भरपूर लुत्फ़ उठाते रहे हैं। इस प्रक्रिया में वह स्वयं भी आये दिन पुनर्नवा हो जाते हैं।

पुनश्च :

लेकिन जीवन के रंग और गतियों से बिल्कुल जुदा हैं मृत्यु के रंग और गतियाँ। मृत्यु को जीवन की खुशियाँ, चहलपहल, गतिविधियाँ बर्दाश्त नहीं होती हैं। वह क्रूर होकर घात लगाता है, उस वक्त, जब जिंदगी उम्मीद और आत्मविश्वास से भरी हुयी होती है। त्रिपाठी जी भी करीब करीब आश्वस्त थे कि वह नीरोग हो चुके हैं। उनको मैंने फोन पर बताया कि आप पर मैंने कुछ लिखा है। उधर से उनका जवाब था—"दिल्ली आ जाओ, सीधे घर पर। यहीं पाठ करो, सुनते हैं।" वह ऐसे कह रहे थे गोया दिल्ली मेरे लखनऊ का कोई मोहल्ला हो जहाँ के लिए तुरंत रवाना हो जाऊँगा। मैंने कहा—"आने की क्या जरूरत। मैं मेल कर देता हूँ। हार्ड कॉपी भी डाक से भिजवाता हूँ।"

"अरे भाई तुम समझते नहीं हो, और भी कुछ जरूरी मसलों पर तुमसे बात करनी है। ऐसा है मैं फ्लाइट का टिकट भेज रहा हूँ।" यह उनका दबाव बनाने का तरीका था। आखिर मैंने ट्रेन का टिकट कराया। इसलिए भी कि मुझको स्मरण हुआ कि इधर उनको पढ़ने में ज्यादा दिक्कत होने लगी थी। सुबह का अखबार भी पढ़ने में शायद उनकी आँखों को कष्ट होता था, जब कोई आगंतुक घर पर आता तो उससे पढ़कर सुनाने के लिए कहते।

कुछ दिनों बाद मैं एक सुबह उनके घर पर था। मेरे संस्मरण को पूरा सुनने के बाद वह खुश हुए। वह इस बात पर ज्यादा खुश थे कि इसमें उनकी खिंचाई भी है।

जब हम नाश्ते पर बैठे तो मैं चुहल के इरादे से बोला—"आप कुछ जरूरी मसलों पर बात करने वाले थे।" मुझे पक्का यकीन था कि हर बार की तरह अबकी भी कोई मसला नहीं होगा। लेकिन एकदम इस तरह भी नहीं था। यह शायद जुलाई 19 की कोई तिथि थी, उन्होंने बताया कि आने वाली 6 जनवरी को उनका जन्मदिन है और इस रोज वह जीवन के सत्तर वर्ष पूरे कर रहे हैं। अपनी जिंदगी की सत्तरवीं वर्षगाँठ वह काफी धूमधाम से मनाना चाहते थे। उस मौके के लिए कई तरह की योजनाएं थीं उनके पास। उन्होंने बताया—"एक और योजना बन गयी है।" योजना यह थी कि उनके जन्मदिन के अवसर पर उन पर लिखे गए संस्मरणों की पुस्तक भी छपे। वह कहने लगे—"तुम्हारा लेख उस पुस्तक का आकर्षण होगा।"

वह अपने इस बार के जन्मदिन को खूब धूमधाम से, समारोहपूर्वक मनाना चाहते थे। दिल्ली, लखनऊ, सुल्तानपुर, मलिकपुर कई जगहों पर आयोजन को लेकर परिकल्पनाएं थीं। भव्य खानपान, लोकार्पण, फिल्म का प्रदर्शन, व्याख्यान आदि आदि। संभवतः इसी के समानांतर मृत्यु ने जाल बिछाना शुरू किया था।

दिसंबर तक उनकी तबियत काफी बिगड़ गयी थी। अबकी कैंसर ने ब्रेन की कोशिकाओं पर नाखून गड़ाया। हालत बिगड़ने लगी। इसी बीच वह घर में ही गिर गए और हाथ का फ्रैक्चर हो गया। जब मैं दिल्ली उनके घर पहुँचा तो दिसंबर का आखिरी सप्ताह था। 2020 विदा होने की तैयारी कर रहा था और शायद देवी प्रसाद त्रिपाठी भी। वह बहुत कमजोर हो गए थे; डॉक्टरों ने भी इशारा कर दिया था; उनके आत्मीय जन दुःख, आशंका से विचलित हो रहे थे लेकिन खुद देवी प्रसाद जी नामालूम भ्रमित थे अथवा अन्य को भ्रमित करने का

खेल कर रहे थे; फोन पर उनसे स्वास्थ्य के बारे में सवाल करता, वह बेख़ौफ़ सूचना देते—"बहुत मामूली से एरिया में है। कुछ रोज की बात है, सब ठीक हो जायेगा।"

2 जनवरी की सुबह ग्यारह बजे के करीब खबर मिली—डीपीटी नहीं रहे।

6 जनवरी को उनका जन्मदिन मनाया जाना था; 6 जनवरी को उन्हें श्रद्धांजलि दी जा रही थी। दिल्ली के एक बड़े सभागार में बहुत सारे बुद्धिजीवी, लेखक, पत्रकार, परिवार के लोग, विभिन्न पार्टियों के नेतागण इकठ्ठा थे; पर उनके जन्मदिन पर बधाइयों के बजाय उन्हें विदा दी जा रही थी।

संपर्क : 18/201, इंदिरानगर, लखनऊ–226016 (उ.प्र.) मो. 9415159243

वे हमसे दोस्ताना रिश्ता पसंद करते हैं

बलिराज पाण्डेय

वर्ष सन् 1967 ईस्वी। विराट हिन्दी आंदोलन की लम्बी अनिश्चितकालीन बन्दी के बाद शायद नवंबर के अन्तिम सप्ताह में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय खुला था। प्राध्यापक, छात्र, कर्मचारी सबके चेहरे पर एक नयी स्फूर्ति, नया उत्साह झलक रहा था। बी.ए. भाग-2 की कक्षा तलाशते-तलाशते कला संकाय के कमरा नम्बर- 44 से सटे बरामदे में एक वाक्य सुनकर मैं रुक गया- 'जयशंकर प्रसाद के चन्द्रगुप्त नाटक का नायक यदि चन्द्रगुप्त है तो चाणक्य हीरो।' सभी विद्यार्थी मंत्रमुग्ध, एकटक अपने प्राध्यापक को देख रहे थे। काशीनाथ सिंह पढ़ा रहे थे। अलका और सिंहरण की प्रशंसा में उन्होंने कहा कि प्यार करने के लिए आँखों की बहुत बड़ी भूमिका होती है। लड़कियाँ संन्यासी और सैनिक को ज्यादा पसंद करती हैं।

30 वर्ष के काशीनाथ सिंह—यानी एक लम्बी और उन्मुक्त-पुष्ट काया, करीने से कटी हल्की मूँछें, शेव की हुई दाढ़ी, सिर पर घने सँवराये बालों में बायीं ओर आधा-पौन इंच मोटी, लहराती सफेद बालों की तिर्यक्रेखा, चश्मे के भीतर से अपने अभीष्ट को तलाशतीं चंचल-चपल बड़ी-बड़ी आँखें, चेतन-अर्द्धचेतन हर किसी को निहारने के लिए अपनी ओर आमंत्रित करतीं। उनके बदन पर मटमैले या बहुत हल्के सफेद रंग की बुश्शर्ट तथा भूरे या बादामी रंग की चुस्त-दुरुस्त पैंट को देखकर कोई भी फैशनपरस्त तुरन्त अंदाज़ा लगा सकता था कि यह शख़्स अपनी वेश-भूषा के प्रति कितना सतर्क और सावधान है। कहा जाता था कि बंबई की फिल्मी दुनिया में जिस दिन जो पहनावा 'हीरो' के बदन पर पहली बार सार्वजनिक होता था, अगले दिन उसे लोग बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी प्राध्यापक काशीनाथ सिंह के बदन पर सजते देख सकते थे। अपने कपड़े जब तक वे खुद नहीं धो लेते, तब तक उन्हें संतोष नहीं होता था। इंजीनियरिंग के विद्यार्थी तो उनकी नकल कर अपनी वेश-भूषा की आधुनिकता का परीक्षण करते।

जैसा कि बिरला छात्रावास के विद्यार्थियों में मेरा अनुभव है, सन् 1967-68 तक काशीनाथ सिंह नामवर सिंह के भाई के रूप में ज्यादा चर्चित नहीं थे। एक कहानीकार के रूप में लोग

उन्हें ज़रूर जानने लगे थे। बी.ए. की पढ़ाई के दौरान 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में छपी उनकी कहानियाँ 'दलदल' और 'हस्तक्षेप' मैंने भी पढ़ी थीं। तभी कहानी की नयी भाव-भंगिमा से मैं परिचित हुआ था। एम.ए. में वे हमें 'असाध्य वीणा', 'त्यागपत्र' और 'गोदान' पढ़ाते थे। 'असाध्य वीणा' पढ़ाने के लिए क्लास में प्रवेश करते ही कुछ विद्यार्थियों के मुँह से अनायास निकल जाता था- 'आ गये प्रियंवद।' 'असाध्य वीणा' पढ़ाते हुए लगता था, जैसे वे खुद उसे साधने में लगे हैं। उन्हीं दिनों हिन्दी विभाग में एक बार अज्ञेयजी आये थे और कार्यक्रम बना कि विद्यार्थी अज्ञेयजी से सवाल करेंगे और उन्हीं का वे जवाब देंगे। कोई भाषण नहीं होगा। मैंने काशीनाथ जी से सवाल जानना चाहा। उन्होंने कहा- 'यही पूछिए कि ''अभी भी क्या आप राहों के अन्वेषी हैं?'' अज्ञेय जी को पहली बार देखने और सुनने का हमें मौका मिला था। 'गोदान' पढ़ते हुए हमने उनसे रामविलास शर्मा और नामवर सिंह की आलोचना का संकेत-सूत्र जाना था। उनका यह वाक्य हमें चकित और चमत्कृत करने वाला था- 'होरी मरा नहीं, उसे मारा गया है।' 'त्याग पत्र' पढ़ते हुए हमने प्रेमचन्द और जैनेन्द्र की उपन्यास कला का अंतर समझा था। उन दिनों काशीनाथ सिंह ख़ूब मेहनत और लगन से पढ़ाते थे पढ़ाते वक्त उनकी ज़बान कम, आँखें ज्यादा बोलती थीं। एक अजीब बात यह थी कि उनका शोध-कार्य हिन्दी की सहायक क्रियाओं पर था, लेकिन भाषा या भाषाविज्ञान कभी उन्होंने नहीं पढ़ाया।

काशीनाथ सिंह से पन्द्रह-बीस मिनट का निजी परिचय मेरा तब हुआ, जब उनकी पत्नी कुसुम सिंह सर सुन्दरलाल अस्पताल में भर्ती थीं। एम.ए. के छात्र के रूप में मैं स्टुडेंट वार्ड में भर्ती था। उस समय अस्पताल की बड़ी बिल्डिंग नहीं बनी थी। शिष्टाचार वश मैंने उनसे भेंट की और अपने लायक कोई काम पूछा तो उन्होंने बस इतना कहा कि यह मोसम्मी रखी हुई है और स्टुडेंट वार्ड से रस निकलवाकर दिन में एक गिलास इन्हें देना है। मुश्किल से तीन दिन ही यह काम मुझे करना पड़ा था, लेकिन इस अल्पकालिक आत्मीयता से मेरा मन आह्लादित था।

सन् 1971 ई.। एम.ए. अंतिम वर्ष का परीक्षा परिणाम आया। मुझे शोध में प्रवेश लेना था, लेकिन अपने बागी बलिया जिले के दोआ क्षेत्र में गंगा और सरयू नदी ने ऐसी बगावत की, ऐसी बगावत की कि सारा सरकारी तंत्र फेल मार गया ओर लोगों का अपने घर से दो कदम बाहर निकलना भी पहाड़ हो गया। मेरी चिंता थी कि शोध में प्रवेश के लिए फार्म भरने की अंतिम तारीख निकल गई तो? मैंने अपने गाँव के बाबू दिवाकर सिंह को ख़बर दी कि वे शोध-कार्य के लिए काशीनाथ सिंह से बात करें। उन्होंने बात की भी। फिर, तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष से बात कर फ़ॉर्म भरने की अंतिम तारीख़ निकल जाने के बावजूद काशीनाथ सिंह ने शोध में मेरा प्रवेश दिलाया।

एक शोध छात्र को अपने शोध-निर्देशक के घर जाना ही चाहिए, सो मैं भी काशीनाथ सिंह के लोलार्क कुंड स्थित आवास पर जाने लगा। आवास के बाहर नक्शा मारती लाल रंग की साइकिल यदि खड़ी है, इसका मतलब कि वे घर पर हैं। जहाँ तक मुझे याद है, लोलार्क कुंड स्थित घर का दरवाज़ा मुझे कभी खुलवाना नहीं पड़ा था क्योंकि निचले हिस्से में काशीनाथ सिंह का राज्य था। ऊपरी हिस्से में परिवार का क़ब्ज़ा था। घर के अंदर प्रवेश करते ही तीन-चार चीज़ें बरबस अपना ध्यान खींचती थीं। ये थीं- दीवाल पर टँगी टॉल्स्टाय, रवीन्द्रनाथ टैगोर और शायद चेखव की तस्वीरें, आल्मारियों में सजीं सैकड़ों अंग्रेजी की पुस्तकें, 4 × 8 बित्ते का बाथरूम, जिसका नल सरकार ही खोलती और बंद करती थी और इनके साथ ही बहुत कम ऊँचाई की छत, जिसे साखू की लकड़ी के घुन लगे शहतीर वैसे ही थामे हुए थे, जैसे बड़े-बुजुर्ग संयुक्त परिवार को टूटने से बचाये रखते हैं। लोलार्क कुंड के इसी घर में मैंने नामवर सिंह, विद्यानिवास

मिश्र, केदारनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, परमानन्द श्रीवास्तव, ज्ञानेन्द्रपति, धूमिल आदि कई साहित्यकारों को देखा था। एक बार काशीनाथ सिंह के मँझले भाई बाबू रामजी सिंह ने परमानन्द श्रीवास्तव से पूछ दिया कि आप क्या लिखते हैं? परमानन्द जी ने जवाब दिया कि कविता-कहानी की आलोचना। रामजी सिंह तड़ से बोले- ''जवन भइया लिख देले बाड़े, ओहसे आगे तूँ का लिखब?'' परमानन्द जी के चेहरे पर पराजित हँसी देखने लायक थी। लोलार्क कुंड वाले आवास पर उस समय उत्सव जैसा दृश्य होता, जब नामवर सिंह जोधपुर या दिल्ली से बनारस आते। माता-पिता के साथ तीनों भाइयों की पत्नियों और बच्चों का भरा-पूरा खिलखिलाता हुआ संयुक्त परिवार मानों सिर्फ़ नामवर सिंह से मिलने और कुछ बोलने-बतियाने के लिए कई महीनों से प्रतीक्षा कर रहा हो। परेशानी यदि कहीं दिखती थी, तो काशीनाथ सिंह और कुसुम सिंह के चेहरे पर चाय-नाश्ता, खान-पान, स्नान-ध्यान इत्यादि में कोई कमी न रह जाय या घर में रहने, कहीं आने-जाने में किसी को कोई असुविधा न हो या भैया से मिलने वाले लोगों की ख़ातिरदारी में कोई कमी न रह जाय, इसकी चिंता पति-पत्नी दोनों समान रूप से करते।

काशीनाथ सिंह की पत्नी यानी श्रीमती कुसुम सिंह अपनी तीन बेटियों की शादी को लेकर बहुत चिंतित रहा करती थीं, जबकि काशीनाथ सिंह बेफ़िक्र थे। तीनों बेटियाँ अभी दर्ज़ा 6-7 में ही पढ़ रही थीं। एक बार अपने बेटियों-बेटों वाले परिवार से अउँजाकर उनके मुँह से निकल पड़ा- ''मुझसे यह जंजाल अब नहीं सँभल रहा। मैं सबसे तंग आ चुकी हूँ। रोज सुबह उठो तो सबको जगाओ। नहला-धुलाकर स्कूल के लिए तैयार करो, बिना प्रेस किये कोई स्कूल ड्रेस नहीं पहनता। सबके लिए नाश्ता तैयार करो। टिफिन बाक्स में पूड़ी-पराठा-सब्जी रखे बिना अपना ही मन नहीं मानता। ऊपर से सबकी कोई-न-कोई शिकायत लगी ही रहती है। सुबह शाम घर का खाना-नाश्ता बनाते-बनाते मैं थक जाती हूँ। पलभर के लिए चैन नहीं। यह भी कोई ज़िंदगी है? इससे अच्छा तो मैं मर जाती।'' इतने पर काशीनाथ जी कहाँ चूकने वाले थे। अपने खिलन्दड़े अंदाज में वे तपाक् से बोल पड़े ''अरे कुसुम जी, यह आप क्या कह रही हैं? इतनी सुन्दर-सुन्दर आपकी तीन बेटियाँ, चित्त प्रसन्न कर देने वाले दो बेटे और मैं भी भले सुन्दर नहीं तो कोई उतना ख़राब भी नहीं हूँ देखने में, जवान तो हूँ ही, नौकरी भी ठीक-ठाक है, भला आपके मुँह से ऐसी बात क्यों निकल रही है, ऐं?'' इतना सुनना था कि कुसुम जी अपनी हँसी न रोक सकीं। कहने का मतलब कि परिवार को तनाव मुक्त और हँसमुख कैसे रखा जा सकता है इसे काशीनाथ सिंह भली-भाँति जानते थे। यह संयुक्त परिवार की ही संस्कृति थी कि बड़े भाई नामवर सिंह की बेटी गीता यानी समीक्षा और मँझले भाई रामजी सिंह की बेटी चम्पा की स्कूली शिक्षा कुछ वर्षों तक लोलार्क कुंड वाले मकान से ही हुई। कुसुम सिंह का इसमें सबसे बड़ा योगदान था। मेरा ख़ुद का अनुभव है कि अस्पताल में भर्ती मेरी पत्नी को जब पराठा खाने की इच्छा हुई, कुसुमजी ने तुरंत कहा कि मैं पराठा बना दूँगी और तीन-चार टाइम उन्होंने बनाकर दिया भी। स्पष्ट है कि प्रायः हर शोध छात्र अपने शोध निर्देशक के परिवार का सदस्य होता है। एक बार मेरी चौड़ी मोहरी का पैंट देखकर काशीनाथ सिंह ने मुझे टोका- ''यह चलन के बाहर हो गया है। दर्ज़ी को देकर इसे ठीक कराइए।'' वे हमसे दोस्ताना रिश्ता पसंद करते हैं। हम कभी गुरु-शिष्य की तरह नहीं रहे। चरण-स्पर्श से उन्हें सख़्त नफ़रत है। घर पर बैठकर शोध-कार्य के विषय में हमने कभी बात नहीं की। काशीनाथ सिंह कहते थे कि मैं अपने छात्रों से शाम के वक्त प्रायः टहलते हुए शोध विषय पर चर्चा करता हूँ। ऐसे ही टहलते और बात करते हुए एक शाम को हम अस्सी घाट पर थे। अस्सी घाट पर टहलते हुए कुछ क्षण के लिए वे रूक गये। चलते-चलते अचानक गंभीर

होकर हनुमान मंदिर और पीपल के पेड़ से लगभग बीस गज पीछे घाट के किसी एक स्थान पर उनका रुकना मुझे अजीब लगा। कारण पूछने पर उन्होंने बताया कि यही वह जगह है, जहाँ मैंने पहली बार प्यार किया था। बाक़ी बातें उनके चेहरे की उदासी कह रही थी।

काशीनाथ सिंह ने मेरे शोध के लिए विषय सुझाया था- स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी। शोध-विषय की शब्दावली क्या हो, इसके लिए वे मुझे बच्चन सिंह के घर लिवा गये। बच्चन जी ने कहा 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी आंदोलन' ठीक रहेगा। कुछ देर तक माथापच्ची के बाद उन्होंने कहा कि 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में कहानी आंदोलन।' उन्होंने अपने से ही सवाल किया कि 'कहानी आंदोलन क्या? बात कुछ जम नहीं रही।' पन्द्रह-बीस मिनट की बातचीत के बाद काशीनाथ सिंह ने हस्तक्षेप किया ''ऐसा है डॉक्टर साहब, 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में कहानी आंदोलनों की रचनात्मक भूमिका' यदि कर दिया जाय तो कैसा रहेगा?'' बच्चन जी मुस्कराने लगे और कहा कि बहुत सही शब्दावली तुमने दी है। इस प्रकार मेरा शोध विषय तय हुआ। बतौर रूपरेखा, बच्चन सिंह ने इसे नौ अध्यायों में बाँटा। कहानी के नाम पर मैंने 'उसने कहा था', 'हार की जीत', प्रेमचन्द की श्रेष्ठ कहानियाँ और जैनेन्द्र की 'अपना-अपना भाग्य' को ही ठीक से जाना-समझा था। यह नयी कहानी, साठोत्तरी कहानी उस समय मेरे लिए पहाड़ की चढ़ाई जैसी थी आज भी अपनी वही स्थिति बनी हुई है।

शोध के दौरान बहुत मज़ेदार होता था काशीनाथ सिंह के घर गर्मी की छुट्टियों में कापी जाँचना। हिन्दी विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय की बी.ए. की कापियाँ हम यानी मैं, अजीत सिंह, धर्मचन्द जैन जाँचते थे और एम.ए. की कापियाँ ख़ुद काशीनाथ सिंह। कापी जाँचना हम शुरू करते कि आधा घंटे के भीतर ही दो-ढाई किलो भुना हुआ लाई-चना हमारे सामने होता। काशीनाथ जी कहते, ''हाँ, तो दाना बहुत दयनीय दृष्टि से हमारा इंतज़ार कर रहा है। कापियाँ जँचती रहेंगी।'' हम कापियाँ कम जाँचते, दान ज्यादा खाते। दाने के साथ धनिया, मिर्च, अदरक और लहसुन की पिसी हुई चटनी में नमक और नीबू के रस का जो स्वाद श्रीमती कुसुम सिंह के हाथों निर्मित होता, वाह! उसका क्या कहना। उसके सामने मेरे लिए छप्पनों व्यंजन का भोग फीका पड़ जाय। अंकुरित चना, गुड़ और हरा मिर्चा तथा नमक उनकी मेज पर चौबीसों घंटे लोगों की सेवा में हाज़िर रहते। लोलार्क कुंड पर पड़ोस में रहने वाले चौथीराम यादव आते तो सुर्ती खाने-खिलाने, लेकिन इसके पहले चने का दो-चार-दस दाना अपने मुँह में डाल लेते।

लोलार्क कुंड पर रहते हुए 35-40 की उम्र में ही काशीनाथ सिंह युवा मन के आकर्षण का केन्द्र बन गये थे। साहित्य, समाज, कला और संस्कृति में रुचि रखने वाले हिन्दी के अलावा दूसरे विभागों के छात्र और छात्राएँ उनके यहाँ आते रहते। मैंने महसूस किया कि काशीनाथ सिंह के साथ होना यानी ज़िन्दगी जीने का ढंग पाना, काशीनाथ सिंह के साथ होना यानी साहित्यिक भाषा और बोली का संस्कार पाना, काशीनाथ सिंह के साथ होना यानी आधुनिक होने का बोध पाना, काशीनाथ सिंह के साथ होना यानी आदमी को पहचानने की दृष्टि पाना। काशीनाथ सिंह के साथ होना यानी प्रेम और सौंदर्य के समुद्र में छलांग लगाकर ऊँची उठती लहरों के साथ खेलने का हौसला पाना। पूरब का होने के कारण मैं जोजना बोलता था, काशीनाथ सिंह ने कहा योजना बोलिये। दो वाक्यों को जोड़ने के लिए मैं किन्तु बोलता था, काशीनाथ सिंह ने कहा- 'लेकिन' बोलिए। यदि कोई छात्र उनके घर पढ़ने आता, वे कहते बगल में चौथीरामजी हैं, वे मुझसे अच्छा पढ़ायेंगे। आप वहीं चले जाइये। एक बार कोई लड़की निराला की कविता 'स्नेह निर्झर बह गया है' का अर्थ समझने आई। काशीनाथ जी ने टरकाते

हुए कहा, ''पांडेजी, इन्हें 'स्नेह निर्झर बह गया है' का अर्थ समझा दीजिए। आपसे बात करते-करते यदि वे एक कमरे से दूसरे कमरे में आने-जाने लगें, इसका मतलब कि अब आप यहाँ से प्रस्थान करें। यदि अपनी बात ख़त्म कर दस-पन्द्रह मिनट भी कोई रुका रहे, तो वे यह नहीं कहेंगे कि चाय पीजिएगा? वे कहेंगे कि चाय पीने का उत्साह है? लोलार्क कुंड पर घर में चाय हम कम पीते। एक तो कुसुम सिंह की अति व्यस्तता के कारण काशीनाथजी चाय बनवाने का अतिरिक्त कष्ट उन्हें नहीं देना चाहते थे और दूसरे कि चाय बन भी जाय तो सँकरी सीढ़ियों से चाय की ट्रे लेकर उतरना वैसा ही दुष्कर था, जैसे खजूर के पेड़ से हाथ में फल लेकर सकुशल वापस आना। इसलिए हम चाय पीने मुख्य सड़क के उस पार मुकुन्द की दुकान पर आते। वहाँ बगल में ही सीता सरदार की शुद्ध खोवे की बर्फ़ी मिलती, जो एक बार किसी के मुँह लग जाय तो फिर पूरे बनारस में किसी नामी-गिरामी दुकान की बर्फ़ी की ओर वह देखे भी न। किसी शाम को मुकुंद ने गिलास में बहुत कम चाय दी। महँगाई के कारण उसने चाय का दाम बढ़ाने के बजाय चाय की मात्रा ही कम कर दी थी। काशीनाथ जी ने व्यंग्य किया कि 'मुकुंद! कल से हम लोगों को तुम गिलास में नहीं, चम्मच में चाय दिया करो।' मुकुंद की चाय कभी अच्छी नहीं बनी। इस पर वे कहा करते थे कि हम अभिशप्त हैं इनकी चाय पीने के लिए। वहीं सटे एक पान की दुकान थी। वह बुढ़िया की पान की दुकान कहलाती थी। काशीनाथ सिंह को उस दुकान का पान बहुत भाता था।

लोलार्क कुंड वाले आवास पर आते-जाते मैंने काशीनाथ जी की फ़िल्मों के बारे में क्या रुचि है, इसे नज़दीक से जाना। वे 'श्री 420', 'अन्ना कारेनिना', 'सिंडलर्स लिस्ट' को बहुत पसंद करते थे। हमें तब के भारती सिनेमा हाल में उन्होंने ये फ़िल्में दिखाई भी थीं। राजकपूर, उत्पल दत्त उनके प्रिय अभिनेता रहे हैं। 'श्री 420' का गीत- रमैया वस्ता वैय्या....मैंने दिल तुझको दिया' वे बहुत पसंद करते। 'पाकीज़ा' फिल्म के गीतों की जब धूम मची हुई थी, एक शाम दुर्गाकुंड पर घूमते हुए जैसे ही रेडियो से आवाज आयी- 'यूँ ही कोई मिल गया था सरेराह चलते-चलते' काशीनाथ सिंह ने कहा- 'यदि लता मंगेशकर कहीं मिल जातीं, तो मैं उनके पैर छू लेता।' एक गीत का नशा तो न जाने कितने महीनों तक उनके दिल-दिमाग़ पर छाया रहा 'आँचल में सजा लेना कलियाँ, ज़ुल्फ़ों में सितारे भर लेना, ऐसे ही कभी जब शाम ढले, तब याद हमें भी कर लेना।' इस गीत को कभी एम.ए. अंतिम वर्ष की छात्रा सावित्री तिवारी ने अपने विदाई समारोह में बहुत मन से गाया था। फ़िल्मों में फ़ोटोग्राफ़ी, संवाद और प्रकृति पर उनकी पैनी नज़र रहती। जब कभी उन्हें मांसाहारी फ़िल्मों को देखने का मन करता, बाबू अशोक सिंह के साथ वे शिल्पी सिनेमा हाल चले जाते। कभी-कभार कुमार पंकज भी उनका साथ देते।

मेरे रजिस्ट्रेशन के ठीक एक साल बाद सन् 1972 में जब बिरला छात्रावास में महेश्वर से मेरा परिचय हुआ और मैंने बताया कि काशीनाथ सिंह के निर्देशन में मैं शोध-कार्य कर रहा हूँ, तो महेश्वर ने मुझसे काशीनाथ सिंह के व्यवहार आदि के बारे में पूछा। कुछ दिनों बाद जब मालूम हुआ कि महेश्वर ने काशीनाथ सिंह के निर्देशन में रजिस्ट्रेशन कराया है, तो मुझे अपार ख़ुशी हुई। महेश्वर जब एम.ए. प्रथम वर्ष में हिन्दी विभाग में आये थे, तभी से उनकी प्रतिभा, क्षमता और योग्यता की चर्चा होने लगी थी। काशीनाथ सिंह के लोलार्क कुंड वाले घर पर आते-जाते हमारी आत्मीयता बढ़ने लगी। बहुत बाद में उन्होंने बताया कि वे शिवप्रसाद सिंह के यहाँ रिसर्च के लिए गये थे। शिवप्रसाद जी ने उन्हें दो पुस्तकें भी दी थीं, लेकिन अंत में उन्होंने काशीनाथ सिंह के निर्देशन में शोध करने का निर्णय लिया।

महेश्वर का काशीनाथ सिंह के निर्देशन में शोध के लिए आना मेरे लिए एक सुखद

घटना थी। लोलार्क कुंड का माहौल अब पहले की अपेक्षा ज़्यादा जीवंत हो उठा। काशीनाथ सिंह और महेश्वर में प्रायः बाल्ज़ाक, टॉल्स्टॉय, मैक्सीम गोर्की, चेखव, काफ़्का, तुर्गनेव, निकोलाई, आस्त्रोवस्की, ज्याँ पाल सार्त्र आदि की रचनाओं पर घंटों बहस होती। स्वस्थ सहमति और असहमति के साथ होने वाली बहसों में मैं सिर्फ श्रोता के रूप में भाग लेता। इसके अलावा मेरी कोई औकात नहीं थी। ये बहसें कमरे में बैठकर नहीं, टहलते हुए या चाय की दुकान में होतीं। हमारे साथ एक और व्यक्ति होते- श्री रमेशचन्द्र पांडेय। वे इतिहास के शोध छात्र थे, लेकिन दोस्त महेश्वर के थे। उनका काम महेश्वर को अपनी साइकिल पर बैठाकर जहाँ-तहाँ ले आना, ले जाना था। उन्हीं दिनों विश्वविद्यालय की ओर से 'परिवेश' पत्रिका निकालने की जिम्मेदारी काशीनाथ सिंह को मिली। पत्रिका में उन्होंने विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं की रचनाओं और विचारों को भरपूर जगह दी। पत्रिका के पहले अंक का जो सम्पादकीय काशीनाथ सिंह ने लिखा, वह इतना विचार सम्पन्न और प्रभावपूर्ण था कि नामवर सिंह ने प्रशंसा में लिखा, ''काशी, तुम्हारे सम्पादकीय को पढ़कर मुझे सुखद ईर्ष्या हो रही है।' एक नयी भाव-भंगिमा से लिखे हुए संपादकीय को मैंने खुद बीसों बार पढ़ा और दूसरों को पढ़वाया है।'' 'परिवेश' पत्रिका में सम्पादक के नाम के साथ शायद पहली बार संपादकीय कार्यालय से जुड़े हर कर्मचारी का नाम छपा। पत्रिका निकालने में काशीनाथ सिंह ने महेश्वर का ख़ूब सहयोग लिया। उनसे उन्होंने कई लेख लिखवाये, कुछ लोगों के इंटरव्यू करवाये और इस प्रकार पत्रिका को एक वामपंथी रूप दिया। कुछ दिनों बाद 'मानस चतुश्शती समारोह' की एक रिपोर्टिंग को लेकर भक्तों ने पत्रिका पर सवाल उठाये और अंततः पत्रिका बंद हो गई। पत्रिका में काशीनाथ सिंह कुमार संभव नाम से लिखते थे। यही 'परिवेश' और कुमार संभव नाम लेकर महेश्वर के दोस्त रमेशचन्द्र पांडेय चंदौसी गये और मूलचन्द गौतम के साथ मिलकर काशीनाथ सिंह के संरक्षकत्व में हिन्दी साहित्य की एक 'चौकी' स्थापित की। अस्सी पर चाय पीते हुए रमेशजी की अनुपस्थिति में काशीनाथ जी ने महेश्वर और मुझसे सवाल किया था कि क्या रमेशजी भी लेखक बन सकते हैं? हम दोनों उनके इस सवाल पर मुस्कराकर रह गये थे। 'परिवेश' में काशीनाथजी ने मुझसे एक लेख लिखवाया था। तीन बार 'रीटेक' के बाद 'एक मुलाकात' शीर्षक से वह लेख छपा। मेरे शुभचिन्तकों ने उसे कहानी मानकर पढ़ा। गोरख पांडेय और महेश्वर की उस पर प्रतिक्रिया थी कि 'पांडेजी, आप लिखिए। आप लिख सकते हैं।' मैंने उनकी बातों पर कान नहीं दिया। मुझे सिर्फ यही चिंता थी कि कैसे कोई नौकरी प्राप्त कर अपने घर-परिवार की आर्थिक स्थिति सुधारी जाय।

हिन्दी साहित्य सन् 1970 और बाद के कई वर्षों तक नक्सलबाड़ी आंदोलन के प्रभाव में रहा। हम लोगों के बीच भी नक्सलबाड़ी और उसके प्रभाव में लिखी गई कविताओं पर ख़ूब बहसें होती थी। काशीनाथ सिंह के कहानी संग्रह 'लोग विस्तरों पर' और उपन्यास 'अपना मोर्चा' के बाद 'सूचना' और 'सुधीर घोषाल' कहानियों पर उक्त आंदोलन का प्रभाव देखा जा सकता है। उनका दूसरा कहानी संग्रह 'सुबह का डर' इसी बीच छपकर आया। उन्होंने महेश्वर को वह संग्रह दिया। पढ़ने के बाद महेश्वर ने 'चोट' कहानी की खूब तारीफ की। महेश्वर अपने एक मित्र भरत प्रसाद के साथ 'बातचीत' पत्रिका निकालते थे। 'बातचीत' पत्रिका की भाषा को लेकर महेश्वर के कुछ विरोधियों ने विश्वविद्यालय के कुलपति से लिखित शिकायत की। महेश्वर के साथ घटी इस घटना को काशीनाथ सिंह ने अपने ऊपर 'हमला' माना और वे खुलकर महेश्वर के पक्ष में खड़े हो गये। उन्होंने कुलपति कालूलाल श्रीमाली से मिलकर महेश्वर का पक्ष रखा और अंततः कुलपति द्वारा बनाई गई जाँच कमेटी ने महेश्वर के पक्ष

में अपना निर्णय दिया। मुझे ऐसा लगा कि यदि महेश्वर के साथ काशीनाथ सिंह न होते, तो महेश्वर का शोध कार्य पूरा न हो पाता। यह किसी को अविश्वसनीय लग सकता है, लेकिन देश में इमरजेंसी जब लागू हुई, तो विरोध स्वरूप 'न्यू ब्लड्स फ़ोरम' के बैनर तले काशीनाथ सिंह ने किसी रात को महेश्वर के साथ चेतगंज थाने की दीवालों पर नारे लिखे थे। दोनों लोगों के बीच खटास तब आयी, जब धूमिल की पुण्यतिथि पर आयोजित एक कार्यक्रम में महेश्वर ने अपने संबोधन में वहाँ उपस्थित लोगों को 'कूपमंडूकों' शब्द का प्रयोग कर दिया था। तुलसी पुस्तकालय की यह गोष्ठी बहुत हंगामेदार थी। इसी गोष्ठी में काशीनाथ सिंह ने धूमिल पर एक लम्बा लेख पढ़ा था, जो बाद में 'विपक्ष का कवि धूमिल' शीर्षक से शायद 'आलोचना' में छपा। गोष्ठी में गोरख पांडे और महेश्वर ने धूमिल की कविता पर कई सवाल खड़े किये थे। गोष्ठी ख़त्म होने के बाद काशीनाथ सिंह ने मुझसे कहा कि महेश्वर को बोलिए कि वे अपना शोध निर्देशक बदल लें। उधर महेश्वर की ज़िद थी कि वे पी-एच.डी. करेंगे तो काशीनाथ सिंह के निर्देशन में ही, नहीं तो कहीं नहीं। काफ़ी बहस के बाद काशीनाथ सिंह को हमने मना लिया और बात आयी गई हो गई।

हमारे लिए इमरजेंसी के दौरान संकट तब आया, जब काशीनाथ सिंह और उनके पूरे परिवार से परिचित उत्तर प्रदेश की सी.आई.डी. में कार्यरत एक व्यक्ति ने सूचना दी कि काशीनाथ सिंह, महेश्वर और मुझ पर पुलिस नज़र रख रही है। यह सूचना उसने अपनी बहन आरती श्रीवास्तव को दी थी, जो मेरी पत्नी की रूम पार्टनर थी। हमने बहुत-सा ऐसा साहित्य नष्ट कर दिया था, जिस पर सरकार को आपत्ति हो सकती थी। हमने अपनी सुरक्षा के लिए अतिरिक्त सावधानी बरती और आपस में मिलना-जुलना बहुत कम कर दिया। खैर, इमरजेंसी हटी और हम निश्चिंत हुए। बाद में महेश्वर को पीएच.डी. की डिग्री मिली और एक डिग्री कॉलेज में नियुक्ति पाकर वे पटना चले गये।

इमरजेंसी में आम जनता के मौलिक अधिकारों का किस प्रकार हनन होता है और ऐसी स्थिति में जनता को क्या करना चाहिए, इसे आधार बनाकर काशीनाथ सिंह की लिखी हुई दो कहानियाँ- 'जंगल जातकम्' और 'मीसा जातकम्' ख़ूब चर्चित हुई। इन कहानियों का प्रतीकार्थ आसानी से समझा जा सकता है। वैसे, मुझे लगता है कि इमरजेंसी का संकेत हमें काशीनाथ सिंह के पहले उपन्यास 'अपना मोर्चा' में ही मिल जाता है, जहाँ वे कहते हैं कि पूरा विश्वविद्यालय पुलिस छावनी में बदल गया है और चारों ओर पुलिस के बूट दिखाई दे रहे हैं। 'मनुष्य की हँसी क्यों ग़ायब हो रही है' यह सवाल भी इसी उपन्यास में उठाया गया है।

सन् 1976 में पीएच.डी. की डिग्री लेकर नौकरी की तलाश में मैं बलिया चला गया। सालभर बिना नौकरी के रहने के बाद बलिया के ही सतीशचन्द्र कॉलेज में मेरी नियुक्ति हुई। इसके लिए काशीनाथ सिंह ने अपने एक मित्र को सिफ़ारिशी चिट्ठी लिखी थी, जिसका पहला वाक्य मुझे कभी भूलता नहीं 'प्रिय ब्रह्मचारी जी, आख़िर आप काम आ ही गये।' पत्र पढ़कर उनके मित्र मुस्कराने लगे। बलिया से सन् 1981 या '82 में होने वाले एक इंटरव्यू के लिए मैं बनारस आया। हिन्दी विभाग में उस इंटरव्यू के द्वारा 6-7 नियुक्तियाँ हुईं। जब उसमें अवधेश प्रधान भी कट गये थे, तो मेरी कोई बात ही नहीं थी। लेकिन उस समय मुझे काशीनाथ सिंह और डॉ. अशोक सिंह की घनिष्ठता का एहसास जरूर हुआ। किसी के लिए भी यह अंदाजा लगाना मुश्किल था कि अशोक सिंह काशीनाथ सिंह के दीवाने थे या काशीनाथ सिंह अशोक सिंह के। सन् 1983 में मैं फिर हिन्दी विभाग के लिए इंटरव्यू देने आया। शिवप्रसादजी विभागाध्यक्ष थे। वी.सी. लॉज में इंटरव्यू का खेल देखने काशीनाथ जी भी आये थे। मैं उनके साथ हो लिया।

गेट पर हमें अवधेश प्रधान दिखे। काशीनाथजी ने उन्हें बधाई दी। शिवप्रसादजी के चलते सबको उनकी नियुक्ति तय मानी जा रही थी। काशीनाथ सिंह चौथीराम यादव के एक शोध छात्र डॉ. नकछेदी यादव को भी एक मज़बूत दावेदार बता रहे थे। वे इंटरव्यू वाले कक्ष के दरवाज़े तक मेरे साथ थे और इंटरव्यू में पूछे जाने वाले संभावित प्रश्नों की चर्चा कर रहे थे। वहाँ कुछ ही मिनटों में अपने पति के साथ वह लड़की भी इंटरव्यू के लिए अपनी बारी की प्रतीक्षा में उपस्थित हो गई, जिसने कभी गाया था, '...ऐसे में कभी जब शाम ढले, कुछ याद मुझे भी कर लेना।' लड़की ने मुझसे कहा—आपको कहीं देखा है। मैंने जवाब दिया लोलार्क कुंड पर। खैर, मेरा इंटरव्यू हुआ और ठीक-ठाक ही हुआ। सन् 1984 की शायद 5 फरवरी को काशीनाथ सिंह का मुझे टेलीग्राम मिला—'एप्वाइंटेड, कम, ज्वाइन।' अब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्थायी नियुक्ति के सुख का अंदाज़ा आप लगा सकते हैं।

कुछ ऐसा संयोग घटित हुआ कि अस्सी पर ही किराये पर रहने के लिए दो कमरों का एक मकान मुझे मिल गया। काशीनाथजी विश्वविद्यालय स्थित अरविन्द कॉलोनी वाले आवास में वार्डेन फ्लैट से शिफ़्ट कर गये थे। प्रायः हर शाम या रात आठ बजे मारवाड़ी सेवासंघ, अस्सी स्थित दीक्षित जी की पत्रिका की दुकान पर हमारी मुलाक़ात तय थी। कारण कि मैं इवनिंग कॉलेज, कमच्छा से पढ़ाकर सीधे दुकान पर ही पहुँचता। वहाँ चौथीराम जी अनिवार्य रूप से काशीनाथ सिंह के साथ होते। कभी-कभी उनके साथ कुमार पंकज दिखते। साल-छह महीने पर अशोक सिंह भी आ जाते। हमारे इस ग्रुप को बाबू गया सिंह मुस्कराते हुए चेहरे के साथ अपनी क्रुद्ध आँखों से घूरते, मानों कह रहे हों कि ''घूमो, ख़ूब घूमो, लेकिन अंततः काशी गुरु मेरे घेरे में ही रहेंगे।'' उन दिनों काशीनाथ सिंह की गया सिंह से बोलचाल बंद थी, जबकि गया सिंह का दावा था कि जब काशीनाथ सिंह ने अपनी लाल रंग की साइकिल को तीन तलाक़ बोल दिया, तो मैंने ही उन्हें लम्ब्रेटा स्कूटर चलाना सिखाया था। ख़ैर, अस्सी की हमारी मुलाक़ातों में चर्चा देश-दुनिया की राजनीति से होती हुई विभाग की राजनीति पर ठहर जाती। इस चर्चा के दौरान दाना-पानी भी चलता रहता। दाना काशीनाथ सिंह का होता, पानी दुकानदार का, चाय मेरी होती और साथ चौथीराम जी यादव का।

अस्सी पर एक दिन देवेन्द्र से मुलाकात हुई। यह मुलाकात पहले परिचय में, परिचय आत्मीयता में और आत्मीयता प्रगाढ़ता में बदल गई। देवेन्द्र से मुलाक़ात के साथ ही ओमप्रकाश द्विवेदी और श्रीकांत पांडेय से भी परिचय बढ़ा। उन दिनों ये लोग रिसर्च में थे और रामनारायण शुक्ल के साथ राष्ट्रीय जनवादी सांस्कृतिक मोर्चा के माध्यम से बनारस में अलख जगा रहे थे। देवेन्द्र और मेरी घनिष्ठता को देखकर काशीनाथ जी ने टिप्पणी की- ''आम तौर पर एक शोध निर्देशक के साथ काम करने वाले शोध छात्रों में पटती नहीं, लेकिन आप लोगों की घनिष्ठता देखकर मेरा चित्त प्रसन्न है।'' मेरे लिए उनकी टिप्पणी मूल्यवान थी। सन् 1984 की अप्रैल में काशीनाथजी हमें संकट मोचन संगीत समारोह में लिवा गये। यह मेरे लिए बड़ी उपलब्धि थी। संकट मोचन संगीत समारोह में उन्होंने पंडित जसराज, कंकणा बनर्जी और सुनन्दा पटनायक को सुनने पर ज़्यादा जोर दिया। आते-जाते रास्ते में वे किशन महाराज, पंडित सामता प्रसाद, लच्छू महाराज के तबला वादन की बारीकियों की चर्चा करते, लेकिन सबसे ज़्यादा तारीफ़ वे रामजी मिश्र के तबला-वादन की करते, जो पं. अनोखेलाल मिश्र के पुत्र थे। एक तरह से मैं कहूँ कि शास्त्रीय संगीत के सुख का संस्कार मुझे काशीनाथ जी से मिला तो अतिशयोक्ति न होगी। इसके बाद तो हर साल अकेले या दूसरे लोगों के साथ मैं संकट मोचन संगीत समारोह देखने-सुनने जाने लगा। मैं गीत-संगीत की चर्चा में जब भी कंकणा बनर्जी के साथ सुनन्दा

बनर्जी बोलता, वे तुरन्त मुझे करेक्ट करते, ''पांडेजी! सुनन्दा बनर्जी नहीं, सुनन्दा पटनायक।''

हिन्दी विभाग में सबसे बड़ा बखेड़ा तब शुरू हुआ, जब शिवप्रसाद सिंह को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने देश के सभी विश्वविद्यालयों के लिए हिन्दी का एक पाठ्यक्रम तैयार करने की ज़िम्मेदारी दी। इसके लिए बनी कमेटी के सदस्यों के मनोनयन को लेकर विभाग में जबर्दस्त गुटबंदी हुई। शिवप्रसाद जी ने अवधेश प्रधान से मेरे बारे में संदेह व्यक्त किया, 'पांडेजी तो काशीनाथ सिंह के साथ रहेंगे?' मैंने प्रधानजी से कहा कि यदि शिवप्रसाद जी को संदेह है, तो सतीशचन्द्र कॉलेज, बलिया से मैं छुट्टी पर हूँ। मैं इस्तीफ़ा देकर वापस बलिया चला जाऊँगा। हालाँकि उस कमेटी से मेरा कुछ लेना-देना नहीं था, लेकिन अखबारबाजी, आरोप-प्रत्यारोप इतना अधिक हुआ कि हिन्दी विभाग के समूचे क्रियाकलाप पर एक जाँच आयोग बैठा। जाँच आयोग की रिपोर्ट आयी और अंततः उसे डस्टबिन में डाल देना ही उचित समझा गया।

संभवतः सन् 1989 में प्रगतिशील लेखक संघ, वाराणसी ने राष्ट्रीय स्तर का एक कार्यक्रम अपने हाथ में लिया, जिसमें नामवर सिंह का सम्मान होना था और हिन्दी आलोचना पर एक संगोष्ठी का प्रस्ताव था। कार्यक्रम के लिए काशीनाथ सिंह, चौथीराम यादव और मैंने विश्वविद्यालय और शहर में चंदा माँगने के उद्देश्य से ख़ूब मेहनत की। कार्यक्रम को शानदार बनाने के लिए काशीनाथ सिंह ने कुछ भी उठा न रखा। नामवर सिंह के व्यक्तित्व और काशीनाथ सिंह की मेहनत से सचमुच वह यादगार आयोजन हुआ। नागार्जुन, त्रिलोचन, विद्यानिवास मिश्र के साथ कई बुजुर्ग और युवा रचनाकारों-आलोचकों की इसमें उल्लेखनीय उपस्थिति हुई। दिन में सम्मान और संगोष्ठी के सफल आयोजन के बाद शाम को हरिद्वार पांडेय के सौजन्य से ठंडई, गंगा विहार और अस्सी पर हुए नागार्जुन, त्रिलोचन के काव्य पाठ से उपस्थित साहित्य प्रेमी जब अत्यंत संतुष्ट दिखे, तब जाकर काशीनाथ सिंह ने चैन की साँस ली। इसी समारोह में मेरी गहरी रुचि का परिणाम था कि उन्होंने मुझे प्रगतिशील लेखक संघ, वाराणसी का महासचिव बना दिया।

सन् 1989 का ही वह दौर था, जब विश्वनाथ प्रताप सिंह ने राजीव गाँधी के विरूद्ध एक बड़ा अभियान चलाया था। काशीनाथ सिंह, चौथीराम यादव वी.पी. सिंह के अभियान से बहुत प्रभावित थे। यादव जी के शोध छात्र और काशीनाथ जी के 'एडाप्टेड शिष्य' दिनेश कुशवाहा ने तो वी.पी. सिंह को भारत का लेनिन तक कह डाला था। मैं इन लोगों से सहमत नहीं था, लेकिन मेरी असहमति चुप और शांत थी। मुझे लगता था कि वी.पी. सिंह भ्रष्टाचार दूर करने नहीं, प्रधानमंत्री बनने के लिए अभियान छेड़े हुए हैं। ख़ैर, वी.पी. सिंह की सरकार बनी, आरक्षण लागू हुआ, 'हंस' में राजेन्द्र यादव ने ज़ोरदार ढंग से आरक्षण के समर्थन में संपादकीय लिखे और कुछ ऐसा संयोग घटित हुआ कि किसी अन्य कार्यक्रम में बनारस पधारे राजेन्द्र यादव को अपने आवास पर काशीनाथ सिंह ने आमंत्रित कर लिया। वहाँ मुश्किल से हम सात-आठ आदमी आमंत्रित थे। राजेन्द्र यादव से सुरेश प्रताप, हरिद्वार पांडेय, बृज इन्क्लेव से आये एक डॉक्टर यादव और अवधेश प्रधान ने ऐसे सवाल किये कि वे निरुत्तर थे। काशीनाथ सिंह ने राजेन्द्र यादव से कई बार आग्रह किया कि वे कुछ बोलें लेकिन राजेन्द्र यादव नहीं बोले तो नहीं ही बोले। उधर वी.पी. सिंह की सरकार गिरी और कुछ ही दिनों बाद 'हंस' में काशीनाथ सिंह का संस्मरण या रिपोर्ताज छपा- 'देख तमाशा लकड़ी का।' इसकी भाषा को लेकर अस्सी पर जो हड़कम्प मचा, उसे देखकर ऐसा लगता था, मानो साहित्य के योद्धा उस संस्मरण के समर्थन और विरोध में आमने-सामने होकर कभी भी दो-दो हाथ कर सकते हैं। मुझे ऐसा लगा कि उस संस्मरण में ज़बर्दस्त मोह-भंग की अभिव्यक्ति है। उसके बाद तो अस्सी

को केन्द्र में रखकर काशीनाथ सिंह ने देश-दुनिया की ज्वलन्त समस्याओं को इतने प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया कि उनके जीवन की सर्वाधिक चर्चित और लोकप्रिय रचना सामने आयी— 'काशी का अस्सी।' बनारस के नागरी नाटक मंडली में 'काशीनामा' शीर्षक से उषा गांगुली ने उसकी जो नाट्य प्रस्तुति दी, उसे देखकर नामवर सिंह भी अत्यंत भावुक हो गये थे।

शायद वह वर्ष सन् 1990 था, जब काशीनाथ सिंह रीडर से प्रोफेसर बने। उसी चयन समिति में रीडर के इंटरव्यू में अवधेश प्रधान सहित हम कई लोग कट गये थे। काशीनाथ सिंह, चौथीराम यादव और शुकदेव सिंह के साथ अस्सी पर मुझे खोजते हुए आये। भेंट होने पर मैंने उनसे अपनी नाराज़गी ज़ाहिर की। मुझे शुकदेव सिंह के साथ उनका दिखना बहुत अटपटा लग रहा था, क्योंकि उनसे उनके घर पर ही मेरा जमकर झगड़ा हुआ था। शुकदेव जी मेरे और अवधेश प्रधान के आदि विरोधी थे। उस इंटरव्यू में कटने का सुपरिणाम यह हुआ कि विभागीय राजनीति का गुणा-भाग पूरी तरह मेरी समझ में आ गया और मन ही मन मैंने निर्णय लिया कि रीडर-प्रोफ़ेसर का मोह छोड़कर मुझे अपने अध्यापन पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। काशीनाथ सिंह अपनी प्रोफ़ेसरी से ख़ूब खुश थे। उन्होंने कहा भी कि अध्यक्षी मुझे मिले या न मिले, इसकी मुझे परवाह नहीं। प्रोफ़ेसरी मिल गयी, यह काफ़ी है। दिसंबर सन् 1991 में वे हिन्दी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। अध्यक्ष की कुर्सी पर बैठने के बाद अपने संक्षिप्त वक्तव्य में उन्होंने कहा कि ''देखिए भाई, मेरे अध्यक्ष होने का मतलब आप सभी अध्यक्ष हैं। मेरी ओर से किसी को कोई नोटिस नहीं। हाँ, लिखंत-पढ़न्त कुछ नहीं। कुछ लौंडे क्लास न चलने की शिकायत लेकर आ सकते हैं, लेकिन मुझे आप लोगों की नैतिकता पर पूरा भरोसा है। क्लास तो आप लोग लेते ही हैं। आगे भी लेंगे। आप लोगों के हित में मुझसे जो होगा, वह सब करूँगा...।''

असंतोष उन प्राध्यापकों में था, जो प्रोफ़ेसरी और रीडरी से वंचित हो गये थे। उस असंतोष को दूर करना उनकी प्राथमिकता में था। इसके लिए विभाग में उपयुक्त माहौल बनाना जरूरी था। दिल्ली की किसी शैक्षिक संस्था के आर्थिक सहयोग से हिन्दी विभाग में उन्होंने 'प्रेमचन्द कार्यशाला' का आयोजन किया। इसका महत्त्व इसी से समझा जा सकता है कि इसमें नामवर सिंह, निर्मला जैन, शेखर जोशी, दूधनाथ सिंह की उल्लेखनीय उपस्थिति थी। विभाग से काशीनाथ सिंह ने मुझे, अवधेश प्रधान और विजय बहादुर सिंह को कार्यशाला में भाग लेने हेतु नामित किया था। इस मनोनयन की खबर के बाद विभाग में जब कुमार पंकज से मेरी मुलाकात हुई, तो अपनी हमलावर आँखों से मानो उन्होंने टिप्पणी की, ''प्रेमचन्द के कुल गोत्र का मैं, कथा साहित्य के राष्ट्रीय स्तर का अध्येता मैं और कार्यशाला करें आप लोग?'' इसी कार्यशाला में जब दूधनाथ सिंह ने टिप्पणी की कि प्रेमचन्द पशुओं से बहुत प्रेम करते हैं, तो नामवर सिंह ने नहले पर दहला मारते हुए कहा कि ''हाँ दूधनाथ जी, प्रेमचन्द पशुओं से तो बहुत प्रेम करते हैं, लेकिन आप और आपकी पीढ़ी की तरह पशुवत् प्रेम नहीं करते।'' इस पर दूधनाथ जी की क्या हालत हुई होगी, इसका आप ख़ुद अंदाज़ा लगा सकते हैं।

काशीनाथ सिंह ने विभाग में एक बार एक विदेशी कथा समीक्षक दानूता स्ताशिक का व्याख्यान कराया। दानूता ने अज्ञेय से लेकर ज्ञानरंजन तक की कहानियों का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया, वह हमें चकित करने वाला था। मैंने अपनी पहल पर प्रगतिशील लेखक संघ के बैनर से 'लोकतंत्र की चुनौतियाँ' विषय पर एक बड़ी गोष्ठी कराई, जिसकी अध्यक्षता प्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रो. हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव ने की थी। कई विरोधों के बावजूद डॉ. कामेश्वर प्रसाद सिंह और शैलेन्द्र ने इस गोष्ठी को सफल बनाने में मेरी बड़ी मदद की थी। मंच पर बैठे-बैठे

काशीनाथ सिंह ने इस आयोजन के बारे में मुझसे विस्तृत जानकारी ली। इस गोष्ठी में विश्वविद्यालय छात्रसंघ के पूर्व अध्यक्ष एन. पी. सिन्हा, डॉ. दीपक मलिक, डॉ. एम. पी. सिंह, मोहन प्रकाश, हरिद्वार पांडेय, अशोक पांडेय ने बहुत चौंकाने वाले और प्रभावशाली वक्तव्य दिये। इस समूचे आयोजन से काशीनाथ सिंह इतने प्रसन्न हुए कि चाय-नाश्ते के लिए उन्होंने मुझे कुछ रुपये दिये और अवधेश प्रधान तथा मुझे अपने घर चाय पर आमंत्रित किया।

काशीनाथ सिंह की अध्यक्षता में विभाग के सभाकक्ष में चन्द्रकला त्रिपाठी और दिनेश कुशवाहा का काव्य पाठ हुआ। चंद्रकला त्रिपाठी की कविताओं पर काशीनाथ जी ने रमेशचन्द्र पांडेय, मूलचंद गौतम और राही के सवालों का बहुत बढ़िया तरीके से जवाब दिया और समझाया कि किसी कविता की समीक्षा के लिए लेखक को किन बिन्दुओं पर फोकस करना चाहिए। इस प्रकार हमारी चाहत थी कि काशीनाथ जी के कार्यकाल में उनके व्यक्तित्व के अनुरूप एक शैक्षिक माहौल बने और इसके लिए उन्होंने हमें ख़ूब प्रोत्साहित किया। वे अपने कार्यकाल में विभाग की नयी रचनाशीलता को अधिक से अधिक जगह देने के लिए हमेशा तत्पर रहते। एक बार डॉ. बच्चन सिंह ने काशीनाथ सिंह को सौ रुपये का नोट देते हुए कहा कि यदि चौथीराम जी से किसी विषय पर एक लेख लिखवा लो तो रुपया रख लेना, ऐसा न हो सके तो लौटा देना। काशीनाथ जी ने यादव जी को प्रोत्साहित किया और मीरा पर उन्होंने बहुत गंभीर, शोधपरक लेख लिखा। बच्चन जी की अध्यक्षता और अवधेश प्रधान के संचालन में उस लेख का पाठ भी हुआ। यह पहला मौका था, जब चौथीराम यादव की एक अच्छे अध्यापक के साथ एक अच्छे आलोचक की छवि निर्मित हुई। काशीनाथ जी की टिप्पणी थी कि चौथीराम जी भी लिख सकते हैं।

हिन्दी विभाग में उन दिनों दो चपरासी थे—सुद्धू और रामखेलावन। ये हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय से विभाग की सेवा में थे। इनकी सेवा जीवन पर्यन्त थी क्योंकि इनकी कोई प्रामाणिक जन्म तिथि विश्वविद्यालय के पास नहीं थी। काशीनाथ जी विभाग में जहाँ देखते, पहले ही तेज़ आवाज़ में 'नमस्ते' कहते, कारण कि दोनों थोड़ा ऊँचा सुनते थे। विभागाध्यक्ष के रूप में उन्होंने सुद्धू और रामखेलावन के सम्मान में एक गरिमामय आयोजन कर डाला और शाल, माला आदि से सम्मानित किया। बिरला छात्रावास के प्रशासनिक संरक्षक के रूप में उन्होंने सभी कर्मचारियों के लिए एक दिन की साप्ताहिक छुट्टी का नियम लागू कराया था। कर्मचारियों, ख़ासकर चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों के प्रति इनके लगाव का इससे अंदाज़ा लगाया जा सकता है। अवधेश प्रधान ने रामजी के बेटे दीना से कभी पूछा था कि तुमने तो कई विभागाध्यक्षों को देखा है, तुम्हें सबसे ज़्यादा कौन अच्छे लगे? दीना ने बेहिचक जवाब दिया— काशीनाथ सिंह। जब खाड़ी युद्ध शुरू हुआ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वामपंथी और समाजवादी विचारधारा से जुड़े छात्र-छात्राओं ने विश्वनाथ मंदिर से गोदौलिया तक अमेरिकी साम्राज्यवाद के विरोध में जुलूस निकाला। जुलूस जब हिन्दी विभाग के सामने आया, कुछ छात्र काशीनाथ सिंह से मिले और जुलूस में भाग लेने का आग्रह किया। उन्होंने आव देखा न ताव, तेज़ कदमों से चलते हुए जुलूस में सबसे आगे आकर लम्बे-चौड़े बैनर का एक डंडा पकड़ लिया। इस जुलूस में चौथीराम यादव और अवधेश प्रधान के साथ मैं भी शामिल हुआ था। इसी तरह दीपा मेहता की 'वाटर' फिल्म के विरोध में जहाँ कुछ लोग शोर मचाये हुए थे, काशीनाथ सिंह और ज्ञानेन्द्रपति की अगुआई में हमने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्य शोध संस्थान के प्रांगण में साम्प्रदायिक शक्तियों के विरूद्ध अपनी आवाज़ उठाई। इस तरह के कई उदाहरण हैं कि जब-जब सरकारों ने मानवाधिकारों का हनन किया, उसके विरोध में काशीनाथ जी ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया।

हिन्दी विभाग में काशीनाथ सिंह के लिए चुनौती थी- अध्यापकों की प्रोन्नति से संबंधित असंतोष को दूर करना। इसके लिए उन्होंने अपनी प्रशासनिक क्षमता के साथ व्यवहार-कुशलता से काम लिया और जल्दी ही एक चयन समिति द्वारा साक्षात्कार सम्पन्न कराने में वे सफल हो गये। उस साक्षात्कार में मुझे भी प्रोन्नति के लिए शामिल होना था। अध्यक्ष के कहने के बावजूद अवधेश प्रधान प्रोन्नति हेतु फ़ार्म नहीं भर पाये थे। इंटरव्यू को लेकर अपेक्षाकृत मैं कम परेशान था। इंटरव्यू के एक दिन पहले शाम के वक़्त जल्दी ही मैं अस्सी आ गया था। देर रात क़रीब नौ बजे जयप्रकाश पोई की चाय की दुकान में मैं अकेले बैठा था कि सामने सड़क पर चौथीराम जी के साथ काशीनाथ सिंह दिखे। बाहर आकर मैंने दोनों को नमस्कार किया। फिर क्या था, काशीनाथ सिंह का आधिकारिक गुस्सा बोल पड़ा, ''कल इंटरव्यू है। आपको इसकी चिंता तो है नहीं। चिंता तो मुझे ही करनी पड़ेगी। आप एक वाक्य कह भी नहीं सकते कि इंटरव्यू के लिए क्या तैयारी करनी होगी। आप निश्चिंत हो चाय की दुकान में बैठें और काशीनाथ सिंह आपको खोजते फिरें।'' मैं चुप, शान्त। वे हमें पप्पू की चाय की दुकान तक लिवा गये, चाय पिलाई और विदा होते वक्त कहा- ''नमिता सिंह की कुछ कहानियाँ पढ़ लीजिएगा। कुँवरपाल सिंह आ रहे हैं। जाईए और प्रसन्न रहिए।'' मेरे लिए यह एक विशिष्ट आत्मीय अनुभूति थी कि काशीनाथ सिंह गुस्सा कर रहे हैं और मैं उनके गुस्से का मज़ा ले रहा हूँ। एक प्राध्यापक के लिए उन्होंने कहा कि आप उन्हें आश्वस्त कीजिए कि भोजपुरी में ही सही, वे कुछ भी बोलेंगे तो मैं संभाल लूँगा। चयन समिति में इभा गुप्ता पहले ही प्रश्न पर भड़क गईं, ''रीडर बनाना हो तो बनाइए, न बनाना हो तो मत बनाइए। इंटरव्यू देते-देते मैं थक गई हूँ। मैं जा रही हूँ।'' पता चला कि चयन समिति के कक्ष में चन्द्रकला त्रिपाठी, कुमुद प्रभा आदि ने बहुत चिरौरी करके उन्हें भेजा था। काशीनाथ सिंह के चलते इभा गुप्ता का भी प्रमोशन हुआ, कुलपति और डीन की नाराज़गी के बावजूद। काशीनाथ जी ने कुँवरपाल सिंह के कान में धीरे से कहा था कि ये प्रकाशचन्द्र गुप्त की बेटी है। ज्ञातव्य है कि हिन्दी के प्रगतिशील आलोचकों में प्रकाशचन्द्र गुप्त का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। वे कुँवर पाल सिंह के मित्र थे।

इस चयन समिति में हम सभी का प्रमोशन हुआ। विभाग में असंतोष की आग पर पानी पड़ चुका था। मुक्तिबोध के विशेषज्ञ और लोकप्रिय प्राध्यापक रामनारायण शुक्ल से कुछ मज़ाकिया अंदाज़ में मैंने कहा कि डॉक्टर साहब, विभाग का माहौल तो अब ठीक हो गया है? सुकुलजी ने पलटवार किया, ''विभाग में जो राजनीति करते थे, वे अब ख़ुद कुर्सी पर बैठे हैं, तो माहौल ठीक होगा ही।''

उस समय हम सभी सकते में आ गये, जब विभागीय समिति में सभी प्राध्यापकों के बीच काशीनाथ सिंह ने अध्यक्ष पद से अपने इस्तीफ़े की घोषणा की। उन्होंने कहा कि कला संकाय प्रमुख को मैं अपना इस्तीफ़ा दे आया हूँ। इस्तीफ़े की वजह क्या है, यह जानने के लिए हम कुछ परेशान थे। अगले होने वाले अध्यक्ष डॉ. शंभुनाथ पांडेय ने इस्तीफ़ा अस्वीकार करने का प्रस्ताव रखा और इस पर सर्वसम्मति सहमति बनी। अवधेश प्रधान ने कहा कि यह हम सबके लिए अपमानजनक होगा। लोग कहेंगे कि हिन्दी विभाग के लोगों ने एक प्रसिद्ध कथाकार को अध्यक्ष के रूप में काम नहीं करने दिया। मैंने घोषणा की कि जब तक इस्तीफ़ा वापस नहीं होगा, तब तक हम यहीं धरने पर बैठेंगे। तय कार्यक्रम के अनुसार हम कला संकाय प्रमुख प्रो. लल्लनजी गोपाल के पास गये और अपने मन्तव्य से उन्हें अवगत कराया। अंततः काशीनाथ सिंह का इस्तीफ़ा वापस कराने में हम सफल हुए।

साहित्य अकादमी के सहयोग से काशीनाथ सिंह चाहते थे कि हिन्दी के ख्यातिलब्ध विद्वानों और रचनाकारों को समय-समय पर आमंत्रित कर विद्यार्थियों का ज्ञानवर्द्धन कराया जाय। इसके लिए अवधेश प्रधान से उन्होंने कई कार्यक्रमों की पूरी रूपरेखा भी तैयार करायी थी, लेकिन उस पर बात आगे नहीं बढ़ी। हमारे यहाँ सबसे बड़ी दिक़्क़त यह होती है कि शैक्षिक वातावरण का निर्माण करने की दिशा में जैसे आप आगे कदम बढ़ाते हैं, दुष्ट ग्रह आपके पीछे पड़ जाते हैं। विवाद तो इसके लिए भी होता है कि कौन संचालन करेगा और कौन धन्यवाद ज्ञापन।

हिन्दी विभाग में शिवप्रसाद सिंह और काशीनाथ सिंह के मतभेद स्पष्ट थे। इसके बावजूद शोध के दौरान उन्होंने मुझसे कहा था कि कहानियों पर आपका शोध कार्य है। आपको शिवप्रसाद जी से हमेशा मिलते रहना चाहिए। हमारी ख़ुशी का उस समय ठिकाना न रहा, जब 19 अगस्त, 1992 यानी शिवप्रसादजी के जन्मदिन पर विभागाध्यक्ष के रूप में काशीनाथ जी उनके घर गये और उनको नीले फूलों की माला पहनाते हुए कहा-''नीला चाँद के रचनाकार को नीले फूलों की माला।'' शिवप्रसाद जी ने अपनी स्वाभाविक हँसी हँसते हुए कहा, ''जानते हो इसका नाम क्या है? इस नीले फूल का नाम है कृष्णा अपराजिता।'' इस अवसर पर बच्चन सिंह, शुकदेव सिंह, चौथीराम यादव और अवधेश प्रधान भी मौजूद थे।

ऐसे ही एक शाम को चौथीराम जी के साथ अस्सी पर धूमते हुए काशीनाथजी ने कहा कि पांडेजी, आज मैं आपको मधु बहार में रसमलाई खिलाऊँगा। मैं भौंचक्। रोज पूरब की ओर उगने वाले सूर्यदेव आज पच्छिम क्यों उग आये? दाना-पानी की जगह रसमलाई ने कैसे ले ली? मैं जानता था कि वजह ख़ुद वे बताएंगे। हम तीनों मधुर बहार गये। रसमलाई का आनंद लिया। उन्होंने पूछा, आप जानते हैं कि रसमलाई आपको मैंने क्यों खिलाई? मैं चुप। उन्होंने कहा कि रसमलाई आपको मैंने इसलिए खिलाई है, क्योंकि आज कहानी पढ़ाते हुए आपने विद्यार्थियों के समक्ष एक रचनाकार के रूप में मेरी अच्छी छवि प्रस्तुत की है। असल में हुआ यह था कि इवनिंग कॉलेज से हिन्दी विभाग में आने के बाद एम.ए. प्रथम वर्ष के 'ए' सेक्शन में कहानी की मेरी पहली कक्षा थी। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी पढ़ाते हुए मैंने काशीनाथ सिंह की 'सुख' और 'आखिरी रात' की स्वाभाविक तौर पर चर्चा की थी। क्लास छूटने के बाद मधुमिता गुहा नाम की लड़की दौड़ती हुई काशीनाथजी के चैम्बर में गई और सवाल दाग दिया, ''सर, आप कहानियाँ लिखते हैं?'' उन्होंने पूछा, ''तुम्हें कैसे मालूम?'' मधुमिता ने कहा, ''पांडेय सर ने बताया है कि आप कहानियाँ लिखते हैं। 'सुख' और 'आखिरी रात' आपकी कहानियाँ हैं। 'लोग बिस्तरों पर' आपका कहानी संग्रह है। 'अपना मोर्चा' आपका उपन्यास है। 'सुबह का डर' भी आप ही का कहानी संग्रह है। मैं आपकी रचनाएँ पढ़ना चाहूँगी।'' लड़की के ऐसे धमाकेदार सवाल-जवाब पर काशीनाथ सिंह 'अच्छा-अच्छा' कहते हुए मुस्कराकर रह गये थे। आगे चलकर मधुमिता ने उनके निर्देशन में भीष्म साहनी के कथा साहित्य पर अच्छा शोध प्रबंध लिखा।

बनारस में काशीनाथ सिंह के 'फिलॉसफर' और 'गाइड' डॉ. बच्चन सिंह थे। वे प्रगतिशील लेखक संघ के संरक्षक थे। काशीनाथ सिंह अध्यक्ष और चौथीराम यादव उपाध्यक्ष पद पर थे। महासचिव पद पर मेरे बाद सियाराम यादव मनोनीत हुए। काशीनाथ सिंह ने अपनी पहल पर बच्चन सिंह का सम्मान समारोह आयोजित कराया। विद्वानों की उपस्थिति की दृष्टि से यह बड़ा आयोजन था, लेकिन नामवर सिंह ने अपने वक्तव्य में बच्चन जी पर जो व्यंग्य-बाण छोड़े, उससे बच्चन जी ही नहीं, उनके सभी शुभचिन्तक लहू-लुहान हुए। किसी ने काशीनाथ जी से पूछा कि ऐसा क्यों हुआ, तो उनका जवाब था कि मैं भैया को इस आयोजन में आमंत्रित

करने के पक्ष में नहीं था। बच्चन जी की ज़िद थी कि नामवर सिंह आएँ।

1 जनवरी, 1999 की शाम 5 बजे। हिन्दी विभाग में अवधेश प्रधान से मैंने कहा कि आज काशीनाथ सिंह का जन्म दिन है। अस्सी चलिए, वहीं आयोजन करते हैं। प्रधानजी तुरन्त तैयार हो गये। वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी ने कहा कि यदि सचमुच आयोजन आप लोग करेंगे, तो मैं भी चलूँगा। हम लोग अस्सी पर पप्पू की चाय की दुकान में आये। वहाँ चितरंजन सिंह, रामवचन पांडेय, डॉ. गया सिंह, सरोज यादव, वीरेन्द्र श्रीवास्तव, अशोक पांडेय, देवव्रत चौबे सहित कई लोग मिल गये। मैंने सबको काशीनाथजी के जन्म दिन की जानकारी दी। चितरंजन सिंह ने कहा कि 5 मिनट पहले ही तो वे यहाँ से गये हैं। रहिए, बाहर मैं देखता हूँ। काशीनाथ सिंह को अस्सी चौमुहानी से थोड़ा आगे जाकर चितरंजनजी ने आवाज़ दी। वे जहाँ थे, वहीं रुके और चितरंजन भाई ने उनका हाथ पकड़कर कहा कि आज आपका जन्म दिन है। पप्पू की चाय की दुकान में अवधेश और पांडेजी सेलीब्रेट करने आये हैं। काशीनाथ सिंह चाय की दुकान में वापस लौटे। मैं लोलार्क कुंड से गेंदे की दो माला लाया। चितरंजन जी और प्रधानजी ने उन्हें माला पहनाई और सबने काशीनाथ जी के व्यक्तित्व के साथ उनकी रचनाओं पर अपने-अपने विचार संक्षेप में रखे। शुरू-शुरू में बाबू गया सिंह समझ रहे थे कि हम लोग मजाक कर रहे हैं, लेकिन लोगों के जानदार वक्तव्य से उन्हें लगा कि आयोजन के प्रति हम गंभीर हैं। सबसे अंत में अपना वक्तव्य देते हुए काशीनाथ सिंह ने कहा कि ''मेरे जन्म दिन पर दूसरी जगहों में कई आयोजन हुए हैं, लेकिन चाय की दुकान में अपने उपन्यास, कहानी के पात्रों के बीच जन्म दिन मनाते हुए मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि इससे शानदार जन्मदिन समारोह पहले कभी नहीं आयोजित हुआ। एक कप चाय के साथ जन्मदिन मनाने की कल्पना शायद किसी ने न की हो। बिना किसी ताम-झाम, भीड़-भड़क्का के, अपने ख़ास लोगों के बीच इस आयोजन से मैं अभिभूत हूँ।''

सन् 1999 के बाद हर पहली जनवरी का आयोजन डॉ. गया सिंह ने अपने हाथ में ले लिया और यह सिलसिला आगे कई वर्षों तक चलता रहा। इस आयोजन की रूपरेखा और जगह भी बदल गई। अस्सी चौमुहानी स्थित जयप्रकाश पोई की चाय की दुकान में गुब्बारा-माइक आदि लगवाकर गया सिंह ने अपने मुताबिक आयोजन को 'गरिमामय' बनाया। काशीनाथ सिंह के अस्सी पर जन्मदिन मनाने का सिलसिला तब टूटा, जब उन्होंने एक बार शामिल होने से इन्कार कर दिया। उनकी बीच वाली बेटी नीना को ब्लड कैंसर होने की सूचना से वे अत्यंत दुःखी थे। यह उनके जीवन का कठिनतम समय था। पूरे परिवार को राहत तब महसूस हुई, जब नीना रोगमुक्त होकर पुनः अपने सामान्य जीवन में वापस लौटी।

काशीनाथ सिंह के सम्मान में एक बड़ा समारोह प्राचीन इतिहास विभाग के एक बड़े सभागार में प्रगतिशील लेखक संघ द्वारा आयोजित हुआ। उसके संयोजक हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो. चौथीराम यादव थे, जो प्रगतिशील लेखक संघ, वाराणसी के शाश्वत उपाध्यक्ष भी हैं। इस आयोजन के मुख्य वक्ता नामवर सिंह थे, जिन्होंने अपने वक्तव्य में कहा कि हमारे गाँव का नाम जीयनपुर है। वहाँ काफ़ी संख्या में नागफनी मिलती है, जिसमें फूल नहीं, फल लगते हैं। फलों को काटने पर सुर्ख लाल रंग का रस निकलता है। उसी लाल रंग की तरह मैं कम्युनिस्ट हूँ और मेरे भाई काशीनाथ जी भी कम्युनिस्ट हैं। चौथीराम जी ने मुझे काशीनाथ सिंह की किसी एक कहानी पर बोलने के लिए कहा था। मैंने 'सूचना' कहानी के माध्यम से बातें रखीं। इस आयोजन में दूधनाथ सिंह, कमला प्रसाद, देवेन्द्र सहित कई लेखक शामिल हुए थे।

काशीनाथ सिंह ने अपने बहुचर्वित उपन्यास 'काशी का अस्सी' के बाद 'महुआ चरित',

'रेहन पर रग्घू', 'उपसंहार' सहित कई महत्त्वपूर्ण रचनाओं के द्वारा हिन्दी कथा साहित्य को समृद्ध किया। किसी भी लेखक को प्रासंगिक बनाए रखने के लिए उसके लेखन में नैरन्तर्य आवश्यक होता है। इसे काशीनाथ सिंह बखूबी जानते हैं। हिन्दी में जितने विमर्श चले, उन्होंने अपने को उनसे अलग रखा और देश-दुनिया की मुख्य समस्याओं को अपने लेखन के केन्द्र में रखा। शायद यही वजह है कि लेखकों की कई पीढ़ियों के साथ उनकी जीवन्तता बनी हुई है।

1 जनवरी सन् 2013 को हिन्दी विभाग की ओर से राधाकृष्णन् सभागार में हमने काशीनाथ सिंह के सम्मान में एक बड़ा आयोजन किया था। इसमें उनके पूरे परिवार की उपस्थिति उल्लेखनीय रही। इसी आयोजन में उनके बड़े बेटे पुरुषार्थ उर्फ़ मुन्ना ने कहा था कि हम पाँच भाई-बहनों को पापा ने कभी डाँट-फटकार लगाई हो, यह मुझे याद नहीं, जबकि अक्सर हमसे छोटी-बड़ी कई गलतियाँ हो जाया करती थीं। अवधेश प्रधान ने बहुत भावुक होकर इस आयोजन में काशीनाथ सिंह की उपलब्धियों पर चर्चा की थी।

काशीनाथ सिंह के कथा साहित्य पर कई शोध प्रबन्ध लिखे गये हैं। अपनी कथा-भाषा को लेकर वे काफी चर्चित हैं। कहानी, उपन्यास के अलावा नामवर सिंह पर केन्द्रित उनकी पुस्तक 'घर का जोगी जोगड़ा' को भी लोगों ने ख़ूब सराहा है। 'याद हो कि न याद हो' उनके संस्मरणों की पुस्तक है। नामवर सिंह पर बहुत पहले लिखा हुआ उनका संस्मरण 'गरबीली गरीबी वह' 'पहल' में छपने के बाद खूब चर्चित हुआ था। राजेन्द्र यादव ने उनके 'घोआस' नाटक की प्रशंसा में एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखी थी। काशीनाथ सिंह को उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और बिहार प्रांत के कई साहित्यिक पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं, इनमें भारत-भारती और साहित्य अकादमी पुरस्कार शामिल हैं। ज्ञातव्य है कि देश में बढ़ती असहिष्णुता की भयावह घटनाओं के विरोध में काशीनाथ सिंह ने साहित्य अकादमी पुरस्कार लौटाने की घोषणा की थी।

लोलार्क कुंड से लेकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अरविन्द कालोनी स्थित आवास और अंततः बृज इन्क्लेव वाले मकान में काशीनाथ सिंह और उनके परिवार को मैंने बहुत नज़दीक से देखा है। साहित्यिक समाज में जब भी लोगों के परिवार की चर्चा चलती है, सभी काशीनाथ सिंह के परिवार की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं। अपने बेटे-बेटियों को उन्होंने वही पढ़ने दिया, जो उन्होंने चाहा। उन्हें अपना जीवन जीने की भरपूर स्वतंत्रता काशीनाथ सिंह ने दी। अपने माता-पिता को लेकर किसी के चेहरे पर कोई तनाव आज तक मैंने नहीं देखा। अपनी क्षमताभर उन्होंने सबको वांछित सुविधाएँ दीं। सभी बेटे-बेटियों के शादी-विवाह में वे शान-शौकत, ताम-झाम, चाक-चिक्य और फिजूलख़र्ची से बहुत दूर रहे। जब एक अपेक्षाकृत अच्छे मकान की जरूरत महसूस हुई, उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि अपने से मकान बनवाने की झंझट मैं नहीं पाल सकता। उन्होंने बृज इन्क्लेव में एक बना-बनाया मकान खरीदा। मकान में प्रवेश करते समय काशीनाथ सिंह और कुसुम सिंह के साथ संयोगवश मैं भी मौजूद था। उनके हाथ में एक किलो लड्डू का पैकेट था। उन्होंने मुझसे कहा कि आपको संस्कृत का कोई श्लोक याद हो तो बोल दीजिए। मैंने 'गजाननम् भूत गणादि सेवितम्...' पढ़ा। हम तीनों घर के अंदर आ गये और काशीनाथ सिंह के मुँह से निकला- 'हमारा गृह-प्रवेश हो गया।'

काशीनाथ सिंह को बृज इन्क्लेव में कई वर्षों तक शुकदेव जी की संगति मिली। सबसे अच्छी बात यह कि वर्षों-वर्षों के उनके मित्र प्रो. चौथीराम यादव का मकान भी उनके बिल्कुल पास में है। अवकाश ग्रहण करने के बाद मन माफिक एक मित्र भी साथ में हो, तो ज़िन्दगी आसान बन जाती है। इस दृष्टि से दोनों लोगों का एक-दूसरे के आस-पास रहना सबको अच्छा लगता है।

अस्वस्थता से उबर चुके काशीनाथ सिंह के घर इस कोरोना काल में 12 अक्टूबर, 2020

को अवधेश प्रधान के साथ मेरा भी जाना हुआ। साथ में प्रभात कुमार मिश्र, पारिजात प्रधान भी थे।

काशीनाथ जी बड़े प्रेम से मिले। लगभग एक घंटा बैठकर इत्मीनान से बात करते रहे। पहली बार मन की गाँठ खोली उन्होंने। बहुत भावुक होकर बोले- लिखना चाहता था 'घर का जोगी जोगड़ा' का परिशिष्ट- 'नामवर नामवर कैसे हुए।' भैया सागर से आ गए थे। साल भर हो गया था। 1961 की बात। 34 साल उम्र थी उनकी। पता नहीं, कौन थी उनकी नज़र में। मुझसे बोले—मैं शादी करना चाहता हूँ। मैंने समर्थन किया। माँ साथ थीं। उन्हें पता चला तो एकदम सन्न रह गईं। भैया का नज़रिया बहुत साफ़ था—मेरी घर की सारी संपत्ति 'देवता' के लिए रहेगी। उनके भर-पोषण में कमी न आने दूँगा। यह सब था लेकिन माँ एकदम से अवाक्। उन्होंने किसी से ख़बर भिजवा कर पिताजी को बुलवा लिया। पिताजी भी सन्न। मँझले भैया फिरन्ट। केवल मैं भैया के समर्थन में। क्योंकि मैं तो 1953 से उनको देख रहा था, भाभी (देवता) से उनका कोई संबंध न था। 1948 में विजय का जन्म। फिर 1967 में गीता (समीक्षा) आई। तीन दिन तक घर में न खाना बना, न किसी ने खाया। भैया घर से बाहर ही न निकले। कुछ पढ़ते-लिखते रहते थे। चौथे दिन निकले। माँ से बोले- कोई बात नहीं, आप लोग खाएँ पिएँ, मैं अभी आता हूँ। एक घंटे बाद आए। खाना खाया। फिर उस पर कभी कोई बात न की। अगर उन्होंने शादी कर ली होती तो घर-संसार में पड़ जाते। फिर कुछ न कर पाते। यही विचार कुसुम जी का भी था...।

बहरहाल, काशीनाथ जी कहते हैं कि अपने जीवन में मैंने पंडित करुणापति त्रिपाठी जैसा मनुष्य नहीं देखा। जब हजारीप्रसाद द्विवेदी चंडीगढ़ जाने लगे तो मुझे भी रिसर्च के लिए उनके साथ ही जाना था लेकिन द्विवेदीजी ने मना कर दिया, यह कहते हुए कि तुम बनारस रहोगे तो माता-पिता की भी देख-भाल कर सकोगे। यहाँ हिन्दी विभाग में कई बड़े लोगों के यहाँ रिसर्च के लिए मैं गया, लेकिन सबने इन्कार कर दिया। करुणापतिजी ने शोध छात्र के रूप में मुझे स्वीकार किया। जब उनके भाई के विरोध में चुनाव लड़ रहे नामवर सिंह का मैं चुनाव-प्रचार कर रहा था, तो एक जगह मुझे देखकर उन्होंने अपनी जीप रोक दी। गर्मी का मौसम था। उन्होंने मुझसे पूछा कि कुछ खाया-पीया है या नहीं। उन्होंने मुझे कुछ सेब और संतरे दिये, फिर चुनाव-प्रचार के लिए आगे बढ़े।

काशीनाथ सिंह घूमते, बात करते हुए आज भी अक्सर यह शेर कहते हैं—

"मुद्दतें गुज़र गयीं किसी दोस्त के बगैर
अब तुम भी मुझे छोड़ने को कह रहे हो, ख़ैर।"

'अपना मोर्चा' उपन्यास में काशीनाथ सिंह ने अपभ्रंश के एक दोहे का हिन्दी अनुवाद उद्धृत किया है- "यह जिन्दगी अकारथ गई। घोड़े की सवारी नहीं की। बैरी के सिर पर तलवार नहीं मारी। किसी गोरी के गले नहीं लगा।"

उपन्यास में काशीनाथ सिंह शायद अपने बारे में ये बातें कह रहे थे, जबकि हक़ीक़त यह है कि हर दृष्टि से उन्होंने अपनी ज़िन्दगी को सकारथ किया है। उनके बारे में कुसुम जी से जब भी कुछ पूछा जाता है, वे मुस्कुराते हुए कहती हैं—

"तो-तो बहरहाल...।"

संपर्क : एन-1/65, ई-48, शिव प्रसाद गुप्त कॉलोनी, सामने घाट, वाराणसी-221005 (उ.प्र.) मो. : 9473663348

अरे इन दोहुन राह न पाई[1]

कुमार पंकज

''ऐसी दुनिया और ऐसे समाज पर मैं हज़ार बार लानत भेजता हूँ, जहाँ ऐसी प्रथा है कि मरने के बाद हर व्यक्ति का चरित्र और व्यक्तित्व लॉन्ड्री में भेजा जाए, जहाँ से धुल कर, साफ़-सुथरा हो कर बाहर आए और उसे फ़रिश्ते की कतार में खूँटी पर टाँग दिया जाए।''

–सआदत हसन मन्टो

हिन्दी में कथेतर साहित्य के अन्तर्गत यदि 'जीवनी' विधा पर नज़र डालें तो स्थिति बहुत संतोषप्रद नहीं कही जा सकती। इसलिए विजयबहादुर सिंह की नंददुलारे वाजपेयी पर लिखी गयी जीवनी 'आलोचक का स्वदेश' (2008) और विश्वनाथ त्रिपाठी की हजारीप्रसाद द्विवेदी पर लिखी गयी जीवनी 'व्योमकेश दरवेश' (2011) जब प्रकाश में आईं तो उन पर दृष्टि जानी ही थी। आख़िर नंददुलारे वाजपेयी और हजारी प्रसाद द्विवेदी–दोनों ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्र रह चुके थे, नंददुलारे वाजपेयी तो बाकायदा रामचन्द्र शुक्ल के शिष्य रह चुके थे, दोनों ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्यापक रह चुके थे (नंददुलारे वाजपेयी लेक्चरर के रूप में–रामचन्द्र शुक्ल के आकस्मिक देहावसान से रिक्त हुए पद पर–और हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रोफेसर-अध्यक्ष के रूप में), दोनों के ही आपसी संबंध ठीक-ठाक थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रामचन्द्र शुक्ल की जीवनी उनके अनुज हरिश्चन्द्र शुक्ल के पुत्र चन्द्रशेखर शुक्ल ने लिखी थी जो 'रामचन्द्र शुक्ल' शीर्षक से 1960 में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के प्रकाशन-गृह 'वाणी वितान' से प्रकाशित हुई थी (बेढब बनारसी ने आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के भवन 'वाणी वितान' का नाम 'वनिता उतान' रखा था और कुछ लोग उसे 'वाणी विनाश' भी कहते थे) और इधर इस जीवनी का नया संस्करण 2009 में आया है विष्णुचन्द्र शर्मा की अटपटी/भ्रामक/तथ्यहीन भूमिका के साथ; (विष्णुचन्द्र शर्मा ने लिखा है–''आज तक शुक्ल

जी को 'ब्राह्मणवादी' कहने वाले व्यक्तियों में पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. नामवर सिंह और डॉ. बच्चन सिंह मुख्य हैं''[2] यह वाक्य ही विष्णुचन्द्र शर्मा की ज्ञान-परिधि को जानने के लिए पर्याप्त है। चन्द्रशेखर शुक्ल द्वारा लिखित यह जीवनी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग और तत्कालीन वातावरण की पृष्ठभूमि को जानने में एक बड़ी सीमा तक सहायक है, जहाँ बाद में नंददुलारे वाजपेयी और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अध्यापक के रूप में कार्य किया था। बहरहाल, पहले विजयबहादुर सिंह की पुस्तक 'आलोचक का स्वदेश' को देखें। इसमें विजयबहादुर सिंह ने नंददुलारे वाजपेयी के जीवन पर रोशनी डालने के साथ-साथ उनके आलोचना-कर्म पर भी विचार किया है। इस जीवनी को लेकर 'लेखक' विजयबहादुर सिंह और 'स्तम्भ लेखक' भारत भारद्वाज के बीच रंजक वाद-विवाद 'पाखी' पत्रिका में भी हुआ है। विजयबहादुर सिंह ने भारत भारद्वाज को 'सूचना दूह'[3] की उपमा दी है। विजयबहादुर सिंह को इस बात का भी अफसोस है कि ''जेएनयू के आचार्यों में से कई और अधिकांश छात्र जानते ही नहीं कि शुक्लोत्तर आलोचना में नंददुलारे वाजपेयी जैसों की भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण है।''[4] ठीक भी है, नामवर सिंह तो नंददुलारे वाजपेयी से खता खाए हुए थे, सागर विश्वविद्यालय उन्हें छोड़ना पड़ा था; तो उनसे तो कोई उम्मीद की ही नहीं जा सकती थी, हिन्दी के 'अजातशत्रु' केदारनाथ सिंह को फिजूल के पचड़ों में पड़ने का वक्त ही कहाँ था लेकिन 'जसम' के आचार्यश्री भी नंददुलारे वाजपेयी के प्रति अन्याय करने पर उतारू हैं। वे रामचन्द्र शुक्ल के बाद नंददुलारे वाजपेयी का नाम ही नहीं लेते, हजारीप्रसाद द्विवेदी और रामविलास शर्मा का नाम लेते हें। इधर भारत भारद्वाज हैं कि विजयबहादुर सिंह के घाव पर बार-बार नमक छिड़क रहे हैं—''...नंददुलारे वाजपेयी की हिन्दी आलोचना में नगण्य उपस्थिति है। वह नहीं भी होते तो हिन्दी आलोचना का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।''[5] विजयबहादुर सिंह द्वारा लिखी अपने गुरुदेव की जीवनी वस्तुतः झूठ का पुलिन्दा है जिसे इत्र और गुलाबजल छिड़क कर उन्होंने चमकाया है।''[6] क्या 'आलोचक का स्वदेश' पुस्तक वैसी ही है जैसी भारत भारद्वाज बता रहे हैं?

'आलोचक का स्वदेश' में वर्णित नंददुलारे वाजपेयी के जीवन, मानसिकता और कृतित्व को परत-दर-परत देखने की जरूरत है। पुसतक की भूमिका में ही विजयबहादुर सिंह ने लिख दिया है—''एक युगान्तकारी आलोचक इस सृजन-समय से अपना असाधारण संवाद किस रूप में स्थापित करता है, उसे प्रत्यक्ष करना मेरे इस लेखन का अभिप्रेत है।''[7] इस जीवनी में 28 अध्याय हैं और लगभग सभी अध्यायों में यह घोषणा की गयी है कि नंददुलारे वाजपेयी युगान्तकारी/प्रखर/सूर्य सदृश देदीप्यमान आलोचक हैं। जैसे 'अखंड रामायण' के समयबद्ध पाठ के बीच-बीच में 'मंगल भवन अमंगल हारी' का सम्पुट दोहराया जाता है वैसा ही हाल उपर्युक्त विशेषणों का है। यथास्थान इसका उल्लेख आगे किया जाता रहेगा।

पहले अध्याय का शीर्षक है—'बैसवाड़े का ताप'। इसमें शुरुआत में ही पाठकों को बता दिया गया है—''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद 20वीं सदी की हिन्दी-आलोचना के दूसरे आधार-स्तम्भ नंददुलारे वाजपेयी...।''[8] तीसरे अध्याय में सम्पुट है—''ये सब नंददुलारे वाजपेयी में एक महान आलोचक के अंकुरण का संकेत देते हैं।''[9] इस अध्याय में नंददुलारे बाजपेयी के एक पत्र का उल्लेख है जो उन्होंने 12 नवम्बर 1927 को 'निराला' को लिखा था—'पंत और पल्लव' की आपकी आलोचना को मैं ध्यानपूर्वक पढ़ रहा हूँ। मैं उसे अधिकांश में तथ्यपूर्ण और विद्वतापूर्ण मानता हूँ।''[10] 'पंत और पल्लव' पुस्तक तथ्यपूर्ण और विद्वतापूर्ण दीख पड़ती है। इस अध्याय से यह भी ज्ञात होता है कि नंददुलारे वाजपेयी को मिश्रबन्धुओं से अनुशंसा-पत्र पाने की कितनी लालसा/जल्दी है और यही चीज महामना मदनमोहन मालवीय से मिल जाने

की पूरी संभावना है। नंददुलारे वाजपेयी 31 अक्टूर 1928 को 'निराला' को पत्र लिखते हैं—''पं. श्यामबिहारी मिश्र (मिश्रबन्धुओं में से एक) का स्वभाव कैसा है? माकूल हो तो ज़रा मुझे इन्ट्रोड्यूस करा दीजिएगा। उनसे और महावीरप्रसाद द्विवेदी जी से एक-एक सर्टीफिकेट लेना है एम.ए. पास कर लेने पर क्योंकि हिन्दी-संसार में इनका इस समय बोलबाला है।''[11] 'स्वाभिमानी' नंददुलारे वाजपेयी 1942 में छपी अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य : 20वीं शताब्दी' इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति अमरनाथ झा को समर्पित करते हैं; 1950 में प्रकाशित पुस्तक 'आधुनिक साहित्य' लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति आचार्य नरेन्द्र देव को समर्पित करते हैं एवं 1955 में प्रकाशित पुस्तक 'नया साहित्य : नए प्रश्न' देश के राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को अर्पित करते हैं। और हाँ, 1963 में प्रकाशित पुस्तक 'महाकवि सूरदास' द्वारिकाप्रसाद मिश्र को (जो बाद में सागर विश्वविद्यालय के कुलपति बने और कालान्तर में मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री पद पर भी आरूढ़ हुए) इन शब्दों में समर्पित की—''भारतीय साहित्य, संस्कृति और राजनीति के मनस्वी साधक श्री द्वारिकाप्रसाद जी मिश्र को जिन्होंने राष्ट्रीय जीवन-दर्शन और जीवन-चर्या के साथ विश्व-समाजवाद की आधुनिक कल्पना को आश्रय दिया है।''[12] सागर विश्वविद्यालय में बकौल प्रेमशंकर (तेवाड़ी) नंददुलारे वाजपेयी की नियुक्ति के पीछे द्वारिकाप्रसाद मिश्र की भी प्रेरणा थी अतः इस 'प्रेरणा-पुरुष' का ऋण भी नंददुलारे वाजपेयी ने तुरन्त चुकाया—द्वारिकाप्रसाद मिश्र के महाकाव्य 'कृष्णायन' को एम.ए. के पाठ्यक्रम में लगा कर। इस 'प्रेरणा-पुरुष' के कुलपतित्व काल में ही नंददुलारे वाजपेयी जुलाई 1956 में प्रोफेसर हुए और कहना न होगा कि आज से लगभग 65 वर्ष पहले हिन्दी में प्रोफेसर पद पाना 'आकाश कुसुम' था। इस 'आकाश कुसुम' को नंददुलारे वाजपेयी सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ रामप्रसाद त्रिपाठी के कुलपति रहते प्राप्त नहीं कर पाये थे, हालाँकि सागर विश्वविद्यालय में नंददुलारे वाजपेयी के 'प्रशंसक समूह' ने छात्रसंघ के तत्कालीन अध्यक्ष शिवकुमार श्रीवास्तव (कवि-कथाकार और जो बाद में स्वयं भी सागर विश्वविद्यालय के कुलपति बने) का एकल शिष्ट मंडल कुलपति रामप्रसाद त्रिपाठी के पास इस आशय से भेजा (और इस में नंददुलारे वाजपेयी की पूर्ण सहमति थी) कि वे नंददुलारे वाजपेयी को प्रोफेसर बनाने की कुलपति से जोरदार सिफारिश करें। रामप्रसाद त्रिपाठी ने जो उत्तर दिया, वह कांतिकुमार जैने के शब्दों में इस प्रकार है—''रामप्रसाद त्रिपाठी ने उत्तर में एक शे'र कहा—

''तुम्हें चाहूँ, तुम्हारे चाहने वाले को चाहूँ,
मेरा दिल फेर दो मुझको, यह सौदा हो नहीं सकता।''

शिवकुमार जी के मुखमंडल पर थोड़ी सी विषण्णता आई। इस विषण्णता को कम करने के लिए त्रिपाठी जी ने शिवकुमार जी के कन्धे पर हाथ रखा, बोले—''शिवकुमार, तुम अभी लौंडे हो—तुम नहीं जानते कि यूनिवर्सिटी-प्रोफेसर क्या चीज होती है? वाजपेयी जी समीक्षक हैं, पत्रकार हैं—यह तो ठीक है पर उनका 'रिसर्च कन्ट्रीब्यूशन' क्या है? न स्वयं पी-एच.डी. हैं, न कोई रिसर्च आर्टिकल्स ही उन्होंने लिखे हैं। यूनिवर्सिटी-प्रोफेसर को रिसर्च के क्षेत्र में प्रतिष्ठित होना चाहिए। उन्होंने जो समीक्षाएँ लिखी हैं, वे सभी जीवित व्यक्तियों पर हैं। उनमें भी पक्षपात कम नहीं किया है। प्रेमचंद पर, भगवतीप्रसाद वाजपेयी पर, जैनेन्द्र पर, 'अंचल' पर उनके जो मंतव्य हैं उन पर काल की मुहर लगनी अभी बाकी है।'' फिर बोले—''उनको प्रोफेसर बनाने के पहले मुझे 'रसाल' को प्रोफेसर बनाना पड़ेगा। 'रसाल' जी 1937 के डी. लिट्. हैं—इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी के पहले डी.लिट्.।'' शिवकुमार जी ने लौट कर जब मित्रों को डॉ. त्रिपाठी के मंतत्व की सूचना दी तो सभी दुःखी हुए, निरुत्तर भी। वाजपेयी

जी ने टिप्पणी की—'यदि किसी सड़ी गली पोथी को निकालकर लाना ही शोध है तो मैं इसे कबाड़ियों का काम मानता हूँ।'[13] नंददुलारे वाजपेयी यह भूल गए कि उनके समधी उमाशंकर शुक्ल जो इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापक थे, ने 'कवित्त रत्नाकर' की सड़ी-गली पोथी का—पाठालोचन के सिद्धान्तों के आधार पर संपादन कर—इसके रचयिता सेनापति का उद्धार किया था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि 'राज्याश्रय' को दृढ़तर करने के लिए नंददुलारे वाजपेयी ने मध्य प्रदेश सरकार के तत्कालीन मंत्री दुर्गाशंकर मेहता का उपन्यास 'अनबुझी प्यास' एम.ए. के पाठ्यक्रम में 'गोदान' और 'त्यागपत्र' के साथ रखवा दिया था (बहुत बाद में विद्यानिवास मिश्र ने एक संस्था के पाठ्यक्रम में प्रेमचंद के 'निर्मला' उपन्यास के साथ साहित्य-क्षेत्र में अज्ञात कुलशील किन्हीं मृदुला सिन्हा का उपन्यास 'ज्यौं मेहंदी के रंग' रखवा दिया था। इस दृष्टि से नंददुलारे वाजपेयी अपने समय के विद्यानिवास मिश्र थे)। यहाँ धीरेन्द्र वर्मा याद आते हैं। जब तक वे अध्यक्ष रहे, रामकुमार वर्मा का 'एकलव्य' काव्य उन्होंने इलाहाबाद विशविद्यालय के एम.ए. पाठ्यक्रम में लगने नहीं दिया। रामकुमार वर्मा के अध्यक्ष बनते ही यह पाठ्यक्रम लग गया और उनके सेवानिवृत्त होते ही हटा भी दिया गया। 'कृष्णायन' और 'एकलव्य' में ज्यादा निकृष्ट कौन सा महाकाव्य (?) था, इसका निर्णय गुरु बृहस्पति भी नहीं कर सकते। अब ज़रा नंददुलारे वाजपेयी के बरक्स रामविलास शर्म को देखिए। लखनऊ विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष ने जब रामविलास शर्मा को विभाग में स्थायी नहीं होने दिया तब रामविलास शर्म किसी मंत्री/नेता/कुलपति के दरवाजे नहीं गए, न किसी की स्तुति/वंदना/अभ्यर्थना की, पूरे शांत भाव से आगरा के एक महाविद्यालय में ज़िन्दगी काट दी और निरन्तर अपनी 'सारस्वत-साधना' में रत रहे। अंतिम समय में अवश्य क.मा. मुंशी संस्थान के निदेशक पद को सुशोभित किया और कहने की ज़रूरत नहीं कि यह पद उन्हें 'आफ़र' किया गया था।

चौथे अध्याय में दो सम्पुट हैं—''इस ऐतिहासिक समीक्षा में तेईस साला युवक समीक्षक की काव्य-विदग्धता, तर्क-प्रखरता, आत्मविश्वास, विवेचन-क्षमता और अंतदृष्टि-सम्पन्न काव्य-विवेक का सौन्दर्य देखते ही बनता है।[14]...नंददुलारे वाजपेयी एक ऐसे युगान्तकारी आलोचक के रूप में उभर रहे हैं... ।''[15] इस अध्याय से यह भी ज्ञात होता है कि नंददुलारे वाजपेयी के एम. ए. की परीक्षा के परचे अच्छे नहीं हुए। 25 फरवरी 1929 को वे 'निराला' को पत्र में लिखते हैं—''परीक्षा तो समाप्त हुई। परचे अच्छे नहीं हुए। वाहियात, बेढंगे सवाल आए थे। साहित्य के परीक्षक साहित्यिक होने चाहिए—परिमार्जित साहित्यिक—पर यहाँ तो ऐसे ऐसे विकट महारथी लज्जाशंकर झा, ध्रुव साहब, डॉ. राम प्रसाद त्रिपाठी, विधुशेखर भट्टाचार्य—इन सबको भगवान ने विद्वान तो बनाया है, पर संस्कार में कसर रख दी है।''[16] उपर्युक्त वाहियात, बेढंग सवालों के परचे बनवाने वाली कमेटी के सदस्य कौन-कौन थे? श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल और केशव प्रसाद मिश्र। इन तीनों के पास यदि विवेक होता तो वे परीक्षार्थी नंददुलारे वाजपेयी से पूछ कर परीक्षक नियुक्त करते। बहरहाल, नंददुलारे वाजपेयी को सेकेन्ड डिवीजन मिली। 19 अक्तूबर 1929 को वे 'निराला' को पत्र में लिखते हैं—''...मुझे 14 नम्बरों से फ़र्स्ट क्लास नहीं मिला, इसमें कुछ रहस्य भी है जो कुछ बाहरी लोगों को मालूम हो चुका है, मुझे उन्हीं से मालूम हुआ।''[17] उपर्युक्त सारे परीक्षक नंददुलारे वाजपेयी को जानते तक नहीं थे अतः व्यक्तिगत राग-द्वेष का तो प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन इस 'युगान्तकारी आलोचक' को नम्बर कम क्यों मिले, इस रहस्य का उद्घाटन विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अनजाने में ही कर दिया है। विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने कृष्णबिहारी मिश्र को बताया—''मेरी पढ़ाई कई व्यावहारिक व्यवधान

के चलते ज़रा पिछड़कर चल रही थी। एम.ए. की कक्षा में विद्यार्थी के रूप में जब मैं पहुँचा तब वाजपेयी जी को अध्यक्ष श्यामसुन्दरदास ने कुछ कक्षाएँ दे रखी थीं। समवयस्क होते हुए भी उनकी कक्षा में विद्यार्थी के रूप में बैठता था।...काव्यशास्त्र विषयक वाजपेयी जी की एक चूक पर मेरे संस्कृतज्ञ सहपाठी तैलंग जी ने कक्षा में ही प्रश्न खड़ा कर दिया था और नंददुलारे जी को सटीक समाधान जब नहीं सूझा तो मेरी ओर मुखातिब हुए। पर शास्त्रीय च्तुति का समर्थन मैं कैसे करता? सहज संकोच में चुप ही रहा। एम.ए. परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वाजपेयी जी ने यद्यपि संस्कृत का अध्ययन किया था पर काव्य-शास्त्र वाला उनका पक्ष उतना पुष्ट नहीं था।''[18] लेकिन नंददुलारे वाजपेयी के परीक्षकों का पक्ष तो अपुष्ट नहीं था अतः नम्बर कम ही मिलने थे। अपुष्ट पक्ष रखने वाले नंददुलारे वाजपेयी इसलिए काशी से संस्कृत राममूर्ति त्रिपाठी को अपने साथ सागर/विक्रम ले गये थे। नंददुलारे वाजपेयी के शिष्य (?) विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने ऐसे ही परीक्षकों के रहते प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त किया था और वह भी तब जब महामना मदनमोहन मालवीय के आदेश से उन्होंने परीक्षा से कुछ ही महीने पहले परीक्षा-फ़ार्म भरा था और परीक्षा की तैयारी की थी।[19] इस सन्दर्भ में नगेन्द्र की याद बरबस आ जाती है। उन्हें भी एम.ए. की परीक्षा में सेकेन्ड डिवीज़न मिली थी। उन्होंने बड़ी ईमानदारी से लिखा है—''मुझे अंततः अंग्रेजी एम.ए. में तृतीय श्रेणी ही प्राप्त हुई। ...एम.ए. हिन्दी में. ..इस बार भी परीक्षा-भीरुता फिर आड़े आई और सेकेन्ड डिवीज़न ही मिली। ...इस प्रकार अपने अनेकों दोषों के कारण—जिनमें मुख्य थे—प्रत्येक उत्तर को सर्वथा परिपूर्ण बनाने की स्पृहा, मंथर लेखन-शैली और सबसे अधिक थी चित्त की सहज उद्विग्नता।''[20] इस पूरे प्रसंग में नंददुलारे वाजपेयी की हालत देख कर 'नाच न आवै आँगन टेढ़ा' उक्ति यदि याद आ जाए तो किया ही क्या जा सकता है। किसी को भी न बख़्शने वाले रामशंकर 'रसाल' ने नंददुलारे वाजपेयी पर जो मारक टिप्पणी की थी, वह इस सन्दर्भ में बड़ी मौजू है। रामशंकर 'रसाल' उवाच—''मैं नंददुलारे वाजपेयी को तब से जानता हूँ जब वे बनारस में कम-पोज़ीशन वाले थे।''[21] नंददुलारे वाजपेयी की सेकेन्ड डिवीज़न और हिन्दी कम्पोज़ीशन पढ़ाने—दोनों का सन्दर्भ रामशंकर शुक्ल 'रसाल' की टिप्पणी में है।

पाँचवे अध्याय में सम्पुट है—''भविष्य के अत्यन्त प्रखर और आक्रामक आलोचक नंददुलारे वाजपेयी... ।''[22] छठवें अध्याय में सम्पुटों की बाढ़ आई हुई है—'' 'भारत' के सम्पादक के रूप में वाजपेयी जी की नियुक्ति का प्रमुख आधार था उनका साहित्यिक व्यक्तित्व और प्रखर प्रतिभा।''[23] ''इन सवा दो वर्षों में पत्रकार नंददुलारे वाजपेयी ने हिन्दी पत्रकारिता का जो स्वरूप खड़ा किया है, वह उन्हें एक बहुदर्शी अथवा चक्रवर्ती पत्रकार के रूप में सामने लाता है।''[24] '' 'भारत' के ही पृष्ठों पर वे पहली बार एक युगांतकारी हिन्दी आलोचक के रूप में लोक के समक्ष आते और अपनी प्रतिष्ठा को एक अमिट ऐतिहासिक घटना के रूप में दर्ज करते हैं।''[25] ''...नंददुलारे वाजपेयी वहाँ कवि-मित्र 'निराला' और आदरणीय कवि-मित्र जयशंकर 'प्रसाद' के साथ एक तेजस्वी आलोचक के रूप में कंधे से कंधा मिला कर खड़े हैं।''[26] ''इन दोनों महान आलोचकों (रामचन्द्र शुक्ल और नंददुलारे वाजपेयी)... ।''[27] '' 'भारत' के दिनों के ये वाजपेयी जैसे साहित्य के कुरुक्षेत्र में खड़े अकेले अर्जुन और सामने खुद द्रोणाचार्य के रूप में उनके गुरु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं।''[28] ''नंददुलारे वाजपेयी की भाषा में आग ही नहीं, जला कर राख कर देने वाली प्रचंडता है। इस शर-संधान में कौन घायल होता है, कौन मरता है, वाजपेयी शायद ही इसकी परवा कर रहे हों।''[29] ''नंददुलारे वाजपेयी...अकेले आलोचक हैं जिनके पास एक समीक्षक की युगान्तकारी अंतर्दृष्टि, तलस्पर्शी वैचारिकता और उत्कृष्ट

ऐतिहासिक साहित्य-विवेक है। वह सूक्ष्म निर्णायक क्षमता भी जो समकालीनों में प्रायः बहुतों के पास आज भी दुर्लभ है।''[30] इतनी विरुदावली के बाद विजयबहादुर सिंह घोर अशिष्टता का परिचय देते हुए रामचन्द्र शुक्ल को 'बेईमान' का ख़िताब अता फ़रमाते हुए लिखते हैं—''आज कोई रामचन्द्र शुक्ल से यह पूछने के लिए क्यों नहीं आगे आता कि 1937-38 के बाद आने वाले नगेन्द्र, काल के विराट में लुप्त हो जाने वाले भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' का नामोल्लेख तो आप 'इतिहास' में करते हैं किन्तु नंददुलारे वाजपेयी जैसी प्रखर प्रतिभा को लेकर इतनी बेईमानी क्यों और कैसे कर जाते हैं।''[31] रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'इतिहास' में नगेन्द्र की पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत (1938) का उल्लेख ठीक ठिकाने की पुस्तक कह कर किया है जबकि नंददुलारे वाजपेयी की पुस्तक 'जयशंकर प्रसाद' (1938) का उल्लेख अपने 'इतिहास' में नहीं किया है। क्या इसका कारण यह था कि सुमित्रानंदन पंत रामचन्द्र शुक्ल के भी पसंदीदा कवि थे, जयशंकर प्रसाद उनकी व्यक्तिगत रुचि पर खरे नहीं उतरते थे अथवा साहित्यिक मतभेदों के चलते नंददुलारे वाजपेयी से व्यक्तिगत खिन्नता थी उनकी। रामचन्द्र शुक्ल जैसा समर्थ और पारदर्शी आलोचक ऐसा कर ही नहीं सकता था। नंददुलारे वाजपेयी की पुस्तक का उल्लेख न करने का एकमात्र कारण यह है कि आलोचना में जिस सुव्यवस्था/क्रमबद्धता के रामचन्द्र शुक्ल हिमायती हैं, वह सुथरापन 'जयशंकर प्रसाद' पुस्तक में ढूँढे नहीं मिलता। वास्तव में यह पुस्तक समय-समय पर लिखे गए निबन्धों का संग्रह मात्र है। स्वयं नंददुलारे वाजपेयी ने इस पुस्तक की भूमिका में लिखा है—''पुस्तक रूप में ये निबन्ध अपूर्ण भी मालूम हों तो आश्चर्य नहीं।''[32] अब इस किताब में जयशंकर प्रसाद के गीति-काव्य के सौन्दर्य का विश्लेषण नहीं के बराबर है। न तो उनकी कहानियों पर विचार किया गया है और न ही 'तितली' पर, जबकि नंददुलारे वाजपेयी के मुताबिक 'कंकाल' की अपेक्षा 'तितली' अधिक कलात्मक कृति है।[33] इस पुस्तक में जयशंकर प्रसाद के कवि-रूप का विश्लेषण प्रमुखतः 'कामायनी' के आधार पर ही किया गया है। विडम्बना यह है कि 'कामायनी' विषयक नंददुलारे वाजपेयी का विश्लेषण विशुद्ध अध्यापकीय हो गया है—'कामायनी' का महाकाव्यत्व, वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, नियतिवाद आदि। इस दृष्टि से उनके विवेचन और नगेन्द्र की पुस्तक 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' में बहुत समानता है। नंददुलारे वाजपेयी उन प्रश्नों और आक्षेपों का कोई उत्तर/समाधान नहीं देते जब यह कहा गया कि 'कामायनी' अपाठ्य है अथवा जयशंकर प्रसाद विश्वविद्यलायों के कवि हैं। रीति-युग में मनसा-वाचा-कर्मणा रहने वाले रामशंकर शुक्ल 'रसाल' के लिए कवि-रूप में जयशंकर प्रसाद उतने ही हेय हैं जितने नाटककार-रूप में लक्ष्मीनारायण मिश्र के लिए त्याज्य। सच तो यह है कि जयशंकर प्रसाद और उनकी 'कामायनी' के बारे में नंददुलारे वाजपेयी का चिंतन इतना अपर्याप्त है कि यदि बाद में 'मुक्तिबोध' की 'कामायनी : एक पुनर्विचार', जानकीवल्लभ शास्त्री की 'त्रयी (प्रसाद, निराला, पंत), रामधारी सिंह 'दिनकर' की 'पंत', 'प्रसाद' और मैथिलीशरण' एवं रामस्वरूप चतुर्वेदी की 'कामायनी का पुनर्मूल्यांकन' जैसी पुस्तकें प्रकाशित न हुई होतीं तो हिन्दी-संसार रमेश कुन्तल 'मेघ' की 'मिथक और स्वप्न : कामायनी की मनस्सौन्दर्य सामाजिक भूमिका' जैसी पोथी पढ़ कर हिन्दी-आलोचना की भाषा और 'कामायनी' को म्यूज़ियम की चीज़ समझता। ऊपर कहा जा चुका है कि नंददुलारे वाजपेयी 'कंकाल' की तुलना में 'तितली' को अधिक कलात्मक मानते थे। इस मंतव्य को शायद ही कोई स्वीकार करे। आकस्मिक घटनाओं, संयोग तत्त्व, विशुद्ध काल्पनिकता, नाटकीयता और ग्रामीण परिवेश का सतही चित्रण—इन सब के कारण 'तितली' एक साधारण कोटि का उपन्यास बन कर रह गया है जबकि 'कंकाल' के प्रकाशित होने पर स्वयं प्रेमचंद ने जयशंकर प्रसाद को बधाई देते हुए लिखा था—''मेरी

पहली शिकायत ('चन्द्रगुप्त' की आलोचना करते हुए प्रेमचंद ने लिख दिया था कि जयशंकर प्रसाद गड़े मुर्दे उखाड़ने में लगे रहते हैं—'माधुरी', जून 1924, पृ. 21) पर कुछ लोगों ने मुझे खूब आड़े हाथों लिया था, पर अब मुझे वह कठोर बातें बहुत प्रिय लग रही हैं। अगर ऐसी ही दस-पाँच लताड़ों के बाद 'कंकाल' जैसी सुन्दर कृति निकल आए तो मैं आज भी उनका सहन करने को तैयार हूँ।''[35] जयशंकर प्रसाद के नाटकों पर विचार करते हुए नंददुलारे वाजपेयी ने एक विचित्र मान्यता प्रस्तुत की है। उनके अनुसार जयशंकर प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक हैं और ऐतिहासिक नाटककार विशुद्ध नाट्य-रचयिता की कोटि में नहीं आ सकता।[36] नंददुलारे वाजपेयी के इस निर्णय को यदि मान लिया जाए तो 'कोणार्क', 'अंधा युग', 'आषाढ़ का एक दिन' और 'यमगाथा' आदि की 'रचनात्मकता' पर ही प्रश्नचिह्न लग जाएगा। सच तो यह है कि नंददुलारे वाजपेयी की यह पुस्तक 'जयशंकर प्रसाद' गठन और विषय-प्रतिपान की दृष्टि से इतनी अपूर्ण और अव्यवस्थित है कि रामचन्द्र शुक्ल के कड़े पैमानों पर कहीं ठहरती नहीं और जब ठहरती नहीं तो उनके 'इतिहास' में इसके उल्लेख का सवाल ही नहीं उठता।

नवें अध्याय में फिर सम्पुटों की बहार है—'' 'भारत' के संपादक नंददुलारे वाजपेयी अपने नियुक्ति काल से ही कइयों को खटकने लगे थे...अपनी प्रखरता और उग्रता के कारण।''[37] ''...वाजपेयी जी की संहारक शैली का अनुभव कीजिए।''[38] ''...वाजपेयी जी कभी-कभी तो दावानल बन जाया करते।''[39] ''अपनी इसी आग के चलते वाजपेयी जी... ।''[40] अच्छा, नंददुलारे वाजपेयी की 'संहारक शैली' क्या है? वैदुष्य की साक्षात प्रतिमूर्ति पद्मसिंह शर्मा के बारे में नंददुलारे वाजपेयी अत्यन्त अशिष्ट शब्दावली में कहते हैं—''पद्मसिंह शर्मा को उनकी उच्छृंखलता के लिए क्षमा नहीं किया जा सकता।''[41] अब सुधी पाठक स्वयं निर्णय कर लें कि उच्छृंखल कौन है? मेधा/प्रतिभा के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा के सामने नंददुलारे वाजपेयी क्या कहीं ठहरते हैं?

दसवें अध्याय में दो सम्पुट हैं—''नंददुलारे वाजपेयी की अतिक्रामक प्रतिभा को श्यामसुन्दरदास पहचान पा रहे थे। वे उनकी क्षमताओं और बहुविषयस्पर्शी मेधाविता से प्रभावित भी खूब थे।''[42] ''और नंददुलारे वाजपेयी शालीनता और आभिजात्य में आपादमस्तक ढले हुए। सोने सा दमकता रूप-रंग, गुरुता से मंडित चाल-ढाल, सारस्वत वैदुष्य की प्रतिमूर्ति। वैसी ही पवित्र और शुद्ध खादी की वेश-भूषा।''[43] नंददुलारे वाजपेयी के इस स्तवन के बाद विजयबहादुर सिंह बताते हैं—''...शुक्ल जी जैसे प्रौढ़ आचार्य आलोचक की भाषा भी असंतुलित हो गई है।''[44] रामचन्द्र शुक्ल की भाषा के सम्बन्ध में विजयबहादुर सिंह की इस 'रिसर्च' पर वितृष्णा के अतिरिक्त और कौन सा भाव व्यक्त किया जा सकता है?

ग्यारहवें अध्याय में दो सम्पुट हैं—''...नंददुलारे वाजपेयी ने 'पुरुष' और 'पुरुषवृत्ति' को प्रसाद और निराला से ग्रहण किया था।''[45] ''वाजपेयी तो 'भारत' काल से ही अपनी प्रतिभा की आक्रामक खुशबू बिखेर रहे थे।''[46] बारहवें अध्याय में तीन सम्पुट हैं—''...अति प्रखर समीक्षक नंददुलारे वाजपेयी।''[47] ''...अपनी प्रखर और प्रातिभ उपस्थिति से साहित्यिक भूचाल सा खड़ा कर देने वाले नंददुलारे वाजपेयी... ।''[48] ''...वाजपेयी जैसे प्रखर बौद्धिक और तेजस्वी आलोचक अगर न आते तो स्वयं हिन्दी आलोचना का चेहरा क्या होता?''[49] इस आकुल प्रश्न का अत्यन्त स्पष्ट उत्तर है—नंददुलारे वाजपेयी के बगैर हिन्दी आलोचना का कुछ न बिगड़ता—लाला भगवानदीन 'दीन', पद्मसिंह शर्मा, रामचन्द्र शुक्ल, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, चन्द्रबली पांडेय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, शांतिप्रिय द्विवेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी, रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, देवराज, नामवर सिंह, विजयदेवनारायण साही, रघुवंश, रामस्वरूप चतुर्वेदी, नलिन विलोचन शर्मा, देवेन्द्रनाथ शर्मा, बच्चन सिंह, गुलाबराय, मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, निर्मला जैन,

सुरेन्द्र चौधरी, देवीशंकर अवस्थी, इन्द्रनाथ मदान, नवलकिशोर, मलयज, विजयमोहन सिंह, धनंजय वर्मा और अशोक वाजपेयी आदि सहृदय समीक्षकों का सान्निध्य उसे मिलना ही था।

तेरहवें अध्याय में विजयबहादुर सिंह ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग की सुदीर्घ वैदुष्यपूर्ण परंपरा का थोड़ा सा भी ज्ञान न रखने के बावजूद नंददुलारे वाजपेयी की अभ्यर्थना में विभाग के सेवारत अध्यापकों के विरुद्ध 'स्वीपिंग रिमार्क्स' पास किए हैं—''नंददुलारे वाजपेयी के विभाग में अध्यापक होकर आने से उन अध्यापकों के लिए तो परेशानी जैसी जरूर उठ खड़ी हुई जो ज्ञान की साधना तो कम जुगाली कुछ ज्यादा ही किया करते थे।''[50] ''केशवप्रसाद मिश्र जी के अलावा अध्यापकों का जो समुदाय हिन्दू विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग, जिस नवोन्मेषकारी और सृजनशील आचार्यत्व की आकांक्षाओं से भरा था, उसकी प्रतिपूर्ति में तत्कालीन अध्यापकों की शायद ही रुचि रही हो। वे कक्षाओं को अध्यापकों और परीक्षोपयोगी जानकारियों के अखाड़ों में बदल स्वयं उसके उस्ताद तो होना चाहते थे पर इसके लिए निष्ठापूर्ण विद्या-साधना की ज़रूरत पड़त है, विरले ही तैयार थे। अध्ययन-अध्यापन की ओर कम ध्यान दे कर अधिकतर वैयक्तिक स्वार्थों और स्पर्धा-भावनाओं से आक्रान्त हो उठने के कारण व्यवस्थित और वस्तूनमुखी अध्यापन दुर्लभ सा होता जा रहा था। इस वातावरण में विद्यार्थियों को घंटे भर ध्यानस्थ रखने का सामर्थ्य तब कैसे पैदा हो पाता। निश्चय ही वाजपेयी इसके अपवाद थे या फिर विभागाध्यक्ष आचार्य केशवप्रसाद मिश्र।''[52] 1941 में जब हिन्दी विभाग में नंददुलारे वाजपेयी की नियुक्ति हुई, तब विभाग में अध्यापक थे—केशवप्रसार मिश्र (अध्यक्ष), जगन्नाथप्रसाद शर्मा, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, श्रीकृष्णलाल और पद्मनारायण आचार्य। केशवप्रसाद मिश्र को तो विजयहादुर सिंह ने अत्यन्त कृपापूर्वक बख्श दिया है तो जुगाली करने वाले, राजनीति करने वाले, अध्ययन-अध्यापन से विरुचि रखने वाले अध्यापक कौन थे? क्या जगन्नाथप्रसाद शर्मा जिनकी रचनाएँ 'हिन्दी की गद्य शैली का विकास', 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', 'कहानी का रचना-विधान' मानक ग्रन्था में में शुमार हो चुके थे। क्या विश्वनाथप्रसाद मिश्र जो विद्वता में अपना सानी नहीं रखते थे और जिनकी अध्यापन कला की नामवर सिंह (ख़ुद भी बेहद लोकप्रिय अध्यापक) भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे एवं जिनके सहपाठी तैलंग जी के प्रश्न का उत्तर न दे पाने के कारण नंददुलारे वाजपेयी को विश्वनाथप्रसाद मिश्र का मुँह ताकना पड़ा था।[53] क्या श्रीकृष्णलाल जिनका शोध-प्रबन्ध 'आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास' हिन्दी के सर्वोत्तम शोध-प्रबन्धों में से एक है। क्या पद्मनारायण आचार्य जो अपने नाम में लगे 'आचार्य' शब्द को सार्थक करते थे। इनमें से कौन नंददुलारे वाजपेयी से वैदुष्य में भय खाता और क्यों खाता?

चौदहवें अध्याय में सम्पुट है—''...हिन्दी आलोचना की युगान्तकारी कृति 'हिन्दी-साहित्य : 20वीं शताब्दी' है जिसके निबंधों ने अपने प्रकाशन-काल में ही भूचाल सा ला दिया था।''[54] ''नंददुलारे वाजपेयी के उद्योगों से लगता है जैसे वे कह रहे हों—''हे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल! अब तुम्हारा युग अवसान पर है और हिन्दी आलोचना का रथ आगे बढ़ चुका है।''[55] ''इस युगान्तकारी समीक्षा-पुस्तक...।''[56] ''बनारस का यह काल नंददुलारे वाजपेयी के इसी दिगविजयी आचार्यत्व का काल कहा जा सकता है।''[57] बकौल विजयबहादुर सिंह हिन्दी-समीक्षा में भूचाल लाने वाली नंददुलारे वाजपेयी की किताब 'हिन्दी-साहित्य : 20वीं शताब्दी' का ज़रा सिंहावलोकन करें। इस किताब के शीर्षक से भान होता है कि इसमें कम से कम 20वीं शताब्दी के हिन्दी-साहित्य की प्रतिनिधि रचनाओं की व्याख्या होगी, जबकि ऐसा कुछ नहीं है। स्वयं नंददुलारे वाजपेयी ने इस पुस्तक की भूमिका में लिखा है—''महत्त्वाकांक्षावश मैंने इसका नाम 'हिन्दी-साहित्य : 20वीं शताब्दी' रख दिया है।''[58] इस किताब में नंददुलारे वाजपेयी ने रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

को 'नवीन' हिन्दी-काव्य का क्रांतिदूत' एवं 'क्रान्तिस्रष्टा' बता दिया है।[59] नंददुलारे वाजपेयी के इन 'क्रांतिदूत' की कविता के दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(i) 'मेरा वश चलता मैं बन जाता कौमार्य तुम्हारा।'

(ii) 'चाँदनी में आज केवल चाँद की बातें करो।'

पूरा लेख पढ़ने के बाद भी यह स्पष्ट नहीं होता कि आधुनिक हिन्दी कविता में 'अंचल' ने कौन सी क्रांति की है। यदि नंददुलारे वाजपेयी ने रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के 'उल्का' अथवा 'नई इमारत' उपन्यासों का उल्लेख किया होता और उन्हें 'नवीन हिन्दी-साहित्य का क्रांतिस्रष्टा' बताया होता, तो भी एक बात थी। लगता है कि अपने प्रिय साहित्यकारों को क्रांति का आवाहनकर्ता घोषित करना नंददुलारे वाजपेयी का पसंदीदा शगल था। उनके निर्देशन में एम. ए. परीक्षा के लिए लिखे गये बच्चन सिंह के 'डिज़र्टेशन' का विषय भी क्रांति से अछूता नहीं रह पाया है, बच्चन सिंह की इस कितबा का नाम है—'क्रांतिकारी कवि निराला'। 'हिन्दी-साहित्य : 20वीं शताब्दी' के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि छायावादोत्तर-काव्य का विवेचन भी नंददुलारे वाजपेयी ने आधा-अधूरा किया है। मसलन, नंददुलारे वाजपेयी यह नहीं बताते कि जो भगवतीचरण वर्मा निम्नलिखित पंक्तियाँ लिख रहे थे—

हम दीवानों की क्या हस्ती है
आज यहाँ, कल वहाँ चले
मस्ती का आलम साथ चला
हम धूल उड़ाते जहाँ चले।

वह निम्नलिखित पंक्तियाँ कैसे लिखने लगे—

'चरमर चरमर चूँ चरर मरर
जा रही चली भैंसा गाड़ी।

नंददुलारे वाजपेयी यह भी स्पष्ट नहीं करते कि आधुनिक हिन्दी काव्य के विकास-क्रम में हरिवंशराय 'बच्चन' और रामधारी सिंह 'दिनकर' का महत्त्व क्या है? बहुत बाद में नामवर सिंह ने 08 अगस्त 1983 को 'बच्चन'—रचनावली' के लोकार्पण के अवसर पर 'बच्चन' पर दिये गए अपने भाषण में उपर्युक्त 'महत्त्व' को अत्यन्त लालित्यपूर्ण ढंग से स्पष्ट किया था। सुमित्रानंदन पंत के मूल्यांकन में तो नंददुलारे वाजपेयी ने और भी गड़बड़ की है। इस किताब में नंददुलारे वाजपेयी लिखते हैं—'' 'शेखर : एक जीवनी' में लेखक का व्यक्तिगत, उसकी आकांक्षाएँ और विरिक्तयाँ जिस तीव्रता और सफ़ाई के साथ व्यक्त हुई हैं, 'ग्राम्या' में यह बात नहीं है।''[60] यही नंददुलारे वाजपेयी बाद में 'ग्राम्या' के बारे में लिखते हैं—'' 'ग्राम्या' में एक ओर ग्राम्य की रूढ़ियाँ हैं, विवशताए. हैं, विपन्नता है, अंधकार है, पुरुष और नारी का अवसाद है तो दूसरी ओर लोकजीवन की स्वाभाविकता है, पुरुष और नारी के सीधे संबंध हैं, वधू की लज्जा, माँ के प्रति ममता, धोबियों और कहारों के उल्लासपूर्ण नृत्य, प्रकृति का रमणीय प्रसार—ये और ऐसे अनेक सशक्त पक्ष भी हैं। इस द्विधात्मक काव्य-निर्माण में अन्तर्व्याप्त धारा यद्यपि वैचारिक है, तो भी अदृश्य है और यही काव्य के लिए अभीष्ट भी है।''[61] सुमित्रानंदन पंत की एक ही रचना के बारे में नंददुलारे वाजपेयी के इस दोहरे मूल्यांकन पर क्या टिप्पणी की जाए? इसी किताब में नंददुलारे वाजपेयी ने भगवतीप्रसाद वाजपेयी के कथा-साहित्य को जैनेन्द्र के कथा-साहित्य की तुलना में अधिक विवादास्पद बता दिया है।[62] अब ऐसी किताब से हिन्दी-आलोचना में भूचाल तो क्या आता, स्पंदन तक नहीं हुआ।

17वें अध्याय में सम्पुट है—''दो महान कवियों (प्रसाद, निराला) और एक युगान्तकारी

आलोचक (नंददुलारे वाजपेयी) का त्रिभुवन।''[63] 19वें अध्याय में सम्पुट है—''यहीं उन्होंने शास्त्र-शिक्षा ग्रहण की, यहीं के आचार्यों और कवियों पर उसका धारदार प्रयोग भी किया। यहीं अखाड़ा खोला, उस्तादी सीखी, उस्तादी का चरम प्रदर्शन भी यहीं किया।''[64] 20वें अध्याय में सम्पुट है—''तेजस्वी पत्रकार और सद्भावनाशील आलोचक नंददुलारे वाजपेयी...।''[65] ''फिर उन दिनों (1946-47) के हिसाब से तो वे पारस्परिक साहित्य—शास्त्र—पूर्व और पश्चिम-के साहित्य-चिंतन के अधिकारी पंडित और नये साहित्य-सृजन के ऐसे महत्त्वपूर्ण आलोचक थे जिनकी प्रखरता और तेजस्विता में अद्भुत आकर्षण था।''[66] ''नंददुलारे वाजपेयी जैसे आचार्य इसी इतिहास के सबसे प्रखर और तेजस्वी नक्षत्र थे।''[67] ''...वे वाजपेयी जिन्हें एक साहित्यालोचक के रूप में सर्वतोभद्र प्रतिष्ठा मिल चुकी थी, वे जो 'प्रसाद' और 'निराला' जैसे कवियों के मित्र थे, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसों की साहित्य-सीमाओं को उभरती जवानी में इंगित करने वाले... वाजपेयी।''[68] ''...आचार्य नंददुलारे वाजपेयी नई साहित्यिक दृष्टि और अभिनव चेतना के प्रवर्तक आलोचक। अपनी इस दृष्टि और चेतना के पक्ष में वे न केवल पद्मसिंह शर्मा बल्कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे मनीषी साहित्य-चिंतकों से चालीस के दशक में ही निर्णायक संघर्ष कर दिग्विजयी घोषित हो चुके थे। हिन्दी आलोचना के महारथियों में उनका निर्द्वंद्व और अप्रतिम स्थान अब तक बन चुका था। ...पद्मसिंह शर्मा को परास्त कर वाजपेयी का दिग्विजयी रथ अपने ढेरों समर्थ समर्थकों के साथ काफी दूर और आगे निकल आया था।''[69] अद्यावधि हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक रामचन्द्र शुक्ल एवं 'सतसई संहार' जैसी कालजयी कृति रचने वाले पद्मसिंह शर्मा को शास्त्र का अपुष्ट/आधा अधूरा ज्ञान रखने वाले नंददुलारे वाजपेयी पराजित कर देते हैं—ऐसा दिवास्वप्न विजयबहादुर सिंह यदि देखते हैं तो उन्हें कौन रोक सकता है। हिन्दी में शेखचिल्लियों की कमी थोड़े ही है।

21वें अध्याय में सम्पुट है—''अपनी मौलिक, प्रखर और तेजस्वी प्रतिभा की धाक तो नंददुलारे वाजपेयी विश्वविद्यालय में आचार्य रूप में प्रवेश करने से पहले ही स्थापित कर चुके थे।''[70] ''बावजूद इसके नंददुलारे वाजपेयी की जो परम पहचान थी, वह एक असाधारण साहित्यिक और तेजस्वी आलोचक की थी।''[71] ''कक्षा में नंददुलारे वाजपेयी किसी समाधिस्थ योगी से कम नहीं होते। मंजरियों से लदे हुए रसाल या फिर फूलों से लदबद हरसिंगार या फिर जल से भरे मेघ की तरह। विचारों का यह दुर्लभ वैभव लिए हुए वे मेघ की तरह धाराशार बरसते या फिर महकते होते।''[72] इस अध्याय में प्रमुखतः दो पुस्तकों का उल्लेख है—'आधुनिक साहित्य' और 'प्रेमचंद : साहित्यिक विवेचन'। इन्हें क्रमशः देखते हैं। 'आधुनिक साहित्य' में सुमित्रानंदन पंत पर विचार करते हुए नंददुलारे वाजपेयी को यह शिकायत है कि उनकी रचनाओं की कील जल्दी-जल्दी घूम जाती है।[73] नंददुलारे वाजपेयी के इस कथन से तो ऐसा लगने लगता है कि सुमित्रानंद पंत को 'पल्लव' काल की 'टी-वी-टी- टुट-टुट' से आगे ही नहीं बढ़ना चाहिए था। नंददुलारे वाजपेयी सुमित्रानंदन पंत की परवर्ती रचनाओं के बारे में विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—''पंत जी की कुछ नवीन रचनाओं की, केवल कम्युनिस्ट छाप के कारण, सराहना की जा रही है।''[74] यानी 'ग्राम्या' की प्रशंसा नंददुलारे वाजपेयी करें तो ठीक, रामविलास शर्मा करें तो घोर साहित्यिक अनाचार। अपने मार्क्सवाद-विरोध में नंददुलारे वाजपेयी यहाँ तक लिख जाते हैं—''प्रगतिशील लेखक संघ की सदस्यता हिन्दी में मुँह माँगे मिल रही थी, इसलिए बहुत से अयाचित और अनाकांक्षित व्यक्ति इसमें आरंभ से ही सम्मिलित हो गए। जिन्हें साहित्य के राजद्वार से मार्ग नहीं मिला, वे इस रास्ते घुस आए। फिर संभवतः इस संघ को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से इसमें श्री सुमित्रानंदन पंत जैसे भिन्न रुचि रखने वाले व्यक्ति को प्रवेश

कराया गया और उन्हें प्रगति का सूत्र सौंपा गया।''[75] यहाँ यह उल्लेख करना मनोरंजक होगा कि उपर्युक्त पंक्तियाँ लिखने वाले नंददुलारे वाजपेयी बनारस में कई वर्षों तक 'प्रगतिशील लेखक संघ' की शाखा के अध्यक्ष रहे और बाद में मोहभंग होने पर 'सांस्कृतिक संघ' बना कर वैसे ही उसमें चले गए जैसे 'विपथगा' कहानी के लेखक 'अज्ञेय' 'जय-जानकी-यात्रा' करने लगे एवं 'लंदन की एक रात' कहानी के लेखक निर्मल वर्मा प्रयाग के कुम्भ मेले में त्राण पाने लगे। इसी पुस्तक में नंददुलारे वाजपेयी ने नए हिन्दी काव्य के प्रति जैसी झल्लाहट व्यक्त की है, वैसी तो रामचन्द्र शुक्ल ने भी छायावादी काव्य के प्रति नहीं की। नंददुलारे वाजपेयी ने लिखा—''अज्ञेय के अनुसार उनके एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के ही नहीं हैं, किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं, राही नहीं, राहों के अन्वेषी। —कहीं यह भ्रम न हो जाए कि ऊपर की पंक्तियों में किसी स्कूल के कुछ राह भूले हुए विद्यार्थियों का ज़िक्र किया गया है, यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यहाँ 'अज्ञेय' जी राह भूले हुए विद्यार्थियों की नहीं, विशुद्ध प्रयोगवादी कवियों की चर्चा कर रहे हैं।''[76] ऐसा लगता है कि उपर्युक्त पंक्तियों में नंददुलारे वाजपेयी स्वयं स्कूली बच्चों की तरह झगड़ा कर रहे हैं। इस पुस्तक में जैनेन्द्र के उपन्यास 'सुनीता' (1935) का मूल्यांकन करते हुए नंददुलारे वाजपेयी दिग्भ्रमित हो कर कहते हैं—'' 'सुनीता' उपन्यास की समस्या है—परदारहित परिवार में पर पुरुष के प्रवेश की समस्या।''[77] नंददुलारे वाजपेयी का यह कथन वैसा ही है जैसे कि कोई यह कहे कि यशपाल की 'परदा' कहानी में परदा कैसे लटकाया जाता है, इसका वर्णन किया गया है। इसी प्रकार चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की कहानी 'उसने कहा था' (1915) को नंददुलारे वाजपेयी बोझिल बता देते हैं।[78]

जहाँ तक 'प्रेमचंद : साहित्यिक विवेचन' पुस्तक का प्रश्न है—यह किताब यदि नंददुलारे वाजपेयी प्रकाशित न कराते तो उनके सम्मान की रक्षा ही होती। सातवें अध्याय में विजयबहादुर सिंह बताते हैं कि 1932 में ही नंददुलारे वाजपेयी ने प्रेमचंद के महत्त्व को मुक्त कंठ से स्वीकार कर लिया था लेकिन फिर क्या हो जाता है कि 1953 तक आते-आते नंददुलारे वाजपेयी को प्रेमचंद में खोट ही खोट नजर आने लगती है। उनके प्रेमचंद के कथा-साहित्य के मूल्यांकन को देख कर तो यही कहने का मन होता है—'दे और दिल उनको जो न मुझको दे जुबां और।' नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार—''प्रेमचंद के साहित्य का सांगोपांग अध्ययन करने पर उन्हें आदर्शवादी लेखक कहना ही उचित होगा।''[79] 'निर्मला', 'गोदान', 'मंगलसूत्र', 'कफन', 'पूस की रात', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'नशा', 'ठाकुर का कुआँ', 'मनोवृत्ति', 'बड़े भाई साहब', 'लॉटरी', 'दूध का दाम', 'सद्गति', 'सवा सेर गेहूँ', 'मंदिर और मसजिद', 'नया विवाह' एवं 'मुक्ति मार्ग' जैसी रचनाएँ किस कोण से आदर्शवादी हैं, नंददुलारे वाजपेयी यह नहीं बताते। वह अपनी इस धारणा का भी कोई संतोषजनक प्रमाण नहीं दे पाते कि क्यों 'गोदान' 'इपिक नॉवेल' नहीं है। 'निर्मला' उपन्यास के बारे में वह लिखते हैं—''...निर्मला...आदि सभी विधवाएँ जीवन का भार ढोती रहती हैं।[80] अब निर्मला कब विधवा हुई, यह नंददुलारे वाजपेयी ही बता सकते हैं। उनके अनुसार निर्मला विधवाओं के जीवन की करुण कहानी है।[81] यह वाक्य ही बता देता है कि 'निर्मला' उपरूज्ञस के बारे में नंददुलारे वाजपेयी की समझ कितनी भ्रांतिपूर्ण है। 'रंगभूमि' के बारे में नंददुलारे वाजपेयी लिखते हैं—'' 'रंगभूमि' जैसे उपन्यास में प्रेमचंद सूरदास के ज़मीन न बेचने के हठ का कोई वास्तविक कारण नहीं बता सके हैं जिससे उपन्यास की बौद्धिक भूमिका दुर्बल ही रह गयी है।'' जिस ज़मीन को सूरदास बाप-दादाओं की निशानी मानता है, जहाँ उसका धर्मभीरु मन कुआँ आदि बनवाने का है, जहाँ गाँव भर की गायें चरती हैं और

बाद में यह लड़ाई औद्योगीकरण को रोकने की बनते-बनते एक जातीय स्वाभिमान का रूप ले लेती है, उस ज़मीन को सूरदास क्यों नहीं बेचना चाहता, यह नंददुलारे वाजपेयी क्यों नहीं समझ पाते, यह समझ में नहीं आता। प्रेमचंद की कहानियों को नंददुलारे वाजपेयी 'भावात्मक' मानते हैं।[82] ऊपर उल्लिखित कहानियों में कौन सी 'भावात्मकता' है, नंददुलारे वाजपेयी यह नहीं बताते। 'मुक्तिमार्ग' प्रेमचंद की उन कहानियों में से है जिसका अर्थ बहुत दूर तक जाता है। सारी लाग-डाँट और भौतिक तामझाम की समाप्ति के बाद जीवन कितना निर्द्वन्द्व हो जाता है, बुद्धू और झींगुर 'न ऊधो का लेना, न माधो का देना' वाली हालत पर पहुँच कर कैसे निस्पृह हो कर 'अतीत को देखते हुए 'कन्फेशन' करते हैं और दोनों के घात-प्रतिघात कैसे कथानक की अंदरूनी सतह पर चलते रहते हैं—प्रेमचंद का यह समस्त कौशल इस कहानी में दर्शनीय है लेकिन नंददुलारे वाजपेयी इस कहानी की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि वैमनस्य का फल बुद्धू और झींगुर को कैसे एकदम विपन्न बना देता है, इसकी कहानी है 'मुक्तिमार्ग'।[83] यहीं नंददुलारे वाजपेयी की पुस्तक 'महाकवि सूरदास' (1953) का ज़िक्र भी कर लिया जाए। इस पुस्तक के शुरुआती तीन अध्यायों का लेखन तो नंददुलारे वाजपेयी के एक छात्र मधुसूदन बाखले ने किया है। शेष अध्याय नंददुलारे वाजपेयी ने लिखे हैं जिनके बारे में विजयबहादुर सिंह का कहना है कि इन अध्यायों में सूर के काव्य की तलस्पर्शी समीक्षा है।[84] क्या सच में तलस्पर्शी समीक्षा है? वास्तविकता यह है कि 'सूरदास' (रामचन्द्र शुक्ल), 'भक्तशिरोमणि महाकवि सूरदास' (नलिनीमोहन सान्याल), 'सूर-सौरभ' (मुंशीराम शर्मा 'सोम'), 'सूरदास' (ब्रजमोहन वर्मा), 'सूर दर्शन' (कृष्णलाल 'हंस'), 'सूर साहित्य' (हजारीप्रसाद द्विवेदी), 'सूर और उनका साहित्य' (हरवंशलाल शर्मा) एवं 'सूर की काव्य-कला' (मनमोहन गौतम) जैसे सूरदास विषयक मानक ग्रन्थों के मुकाबले यह तलस्पर्शी समीक्षा वली किताब कहीं नहीं ठहरती।

इसी अध्याय में शोध-निर्देशक के रूप में नंददुलारे वाजपेयी की प्रशंसा करते हुए विजयबहादुर सिंह ने लिखा है—''नंददुलारे वाजपेयी निर्देशित शोध-ग्रन्थ भारत के समस्त हिन्दी विभागों के लिए आवश्यक सन्दर्भ-स्रोत सामग्री के रूप में पढ़ाये जाते रहे, यह किसी से छिपा नहीं है।''[85] इस सन्दर्भ में पहले यह देखा जाए कि नंददुलारे वाजपेयी के समकालीनों में कौन-कौन से आचार्यों की शोध-उपाधियाँ 'कालजयी महत्त्व' की हैं। वरिष्ठतम आचार्य धीरेन्द्र वर्मा (1946 में प्रोफेसर हुए) का शोध-प्रबन्ध 'हिंदी भाषा का इतिहास' (पेरिस विश्वविद्यालय से), प्रो. ज़्यूल ब्लॉख़ के निर्देशन में लिखा गया था; दीनदयालु गुप्त (1948 में प्रोफेसर हुए) का शोध-प्रबन्ध 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' (इलाहाबाद विश्वविद्यालय से) धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन में लिखा गया था; हजारीप्रसाद द्विवेदी (1950 में प्रोफेसर हुए) के ग्रन्थ 'कबीर' या 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' किसी भी शोध-प्रबन्ध से महत्तर हैं, नगेन्द्र (1955 में प्रोफेसर हुए) का शोध प्रबन्ध 'रीति-काव्य के सन्दर्भ में देव की कविता का अध्ययन' (आगरा विश्वविद्यालय से) (डी.लिट्. की उपाधि के कारण नगेन्द्र का कोई शोध-निर्देशक नहीं था); नंददुलारे वाजपेयी (1956 में प्रोफेसर हुए) श्यामसुन्दरदास के निर्देशन में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में 'थीम ऑफ़ लव इन हिन्दी-पोयट्री' विषय पर शोध-उपाधि के लिए पंजीकृत तो हुए थे लेकिन सच यह है कि उन्होंने कभी विषय की रूपरेखा तक नहीं बनाई, शोध-प्रबन्ध पूरा करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। विजयबहादुर सिंह नंददुलारे वाजपेयी निर्देशित उन शोध-ग्रन्थों में से एक का भी नाम उल्लिखित नहीं करते जो उनके मुताबिक भारत के समस्त हिन्दी विभागों के लिए आवश्यक सन्दर्भ-स्रोत सामग्री के रूप में पढ़ाए जाते थे/हैं। इसके बरक्स नंददुलारे वाजपेयी के समकालीनों को देखें[86]—

धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन में–

(i) 'तुलसीदास' (माताप्रसाद गुप्त)
(ii) 'सूरदास' (ब्रजेश्वर वर्मा)
(iii) 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' एवं 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' (लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय)
(iv) 'हिंदी भाषा का उद्‌गम और विकास' (उदय नारायण तिवारी)
(v) 'प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव' (रामसिंह तोमर)
(vi) 'सिद्ध साहित्य' (धर्मवीर भारती)
(vii) 'प्रकृति और काव्य' (रघुवंश)
(viii) 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' (दीनदयाल गुप्त)
(ix) 'आगरा के ज़िले की बोली' (रामस्वरूप चतुर्वेदी)
(x) 'गुजराती और ब्रजभाषा काव्य का तुलनात्मक अध्ययन' (जगदीश गुप्त)

दीनदयालु गुप्त के निर्देशन में–

(i) 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' (भगीरथ मिश्र)
(ii) 'आचार्य केशवदास' (हीरालाल दीक्षित)

हजारीप्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में–

(i) 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' (नामवर सिंह)
(ii) 'सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' (शिवप्रसाद सिंह)
(iii) 'आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब-विधान' (केदारनाथ सिंह)
(iv) 'रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना' (बच्चन सिंह)

नगेन्द्र के निर्देशन में–नगेन्द्र के नेतृत्व में तो दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग ने शोध/अनुसंधान की जो महनीय परंपरा विकसित की, वह बाद में सावित्री सिन्हा, विजयेन्द्र स्नातक, उदयभानु सिंह और निर्मला जैन के निर्देशन में अबाध गति से चलती रही।

और नंददुलारे वाजपेयी के निर्देशन में (?)–नंददुलारे वाजपेयी के निर्देशित शोध प्रबन्धों की हालत क्या थी, इसे डॉ. रामविलास शर्मा की निम्नलिखित पंक्तियों से समझा जा सकता है–''एक हिन्दी का थीसिस सागर विश्वविद्यालय से मेरे पास आया था। नंददुलारे वाजपेयी वहाँ हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे। उन्होंने मुझे उसका परीक्षक नियुक्त किया। उन्हीं दिनों उनका पत्र आया कि मैं सागर आऊँ और वहाँ दो-चार व्याख्यान दूँ। मैंने वहाँ जाना स्वीकार किया, साथ में थीसिस भी लेता गया। शोध-छात्र ने कुछ अध्यायों की पुनरावृत्ति की थी। जैसे दूसरा अध्याय है, उसकी सभी सामग्री चौथे अध्याय में ज्यों की त्यों दे दी। अन्तर केवल यह था कि शुरू का पैराग्राफ और आखिरी पैराग्राफ बदल दिये गये थे। मैंने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि वह थीसिस पी-एच.डी. की उपाधि के योग्य नहीं है। मैंने वाजपेयी जी को थीसिस के साथ अपनी रिपोर्ट दे दी। रिपोर्ट पढ़ने के बाद वह बहुत दुःखी हुए। उन्होंने कहा–ये लड़के समय से काम नहीं करते, अधिक समय हो जाता है तो मुझे परेशान करते हैं, कहते हैं–अब आप थीसिस फॉरवर्ड कर दीजिए। मुझे फॉरवर्ड करना ही पड़ता है। मैंने कहा–ये बाहर वालों को तो धोखा देते ही हैं, आपको भी धोखा देते हैं। उनके कमरे में दीवार के सहारे ज़मीन पर थीसिसों की एक बहुत बड़ी कतार थी। ये सारे थीसिस उनके पास जाँचने के लिए आए थे। मैं सोच न सकता था, कैसे एक आदमी जो पढ़ाता भी है, इतने थीसिस देखेगा। वहाँ

दंडवत् का चलन बहुत था। लोग कहते थे, वाजपेयी जी को दंडवत् कर के प्रसन्न कर लो, पी-एच.डी. तो मिल ही जाएगी। परीक्षक उनके परिचित होते हैं। सोचते हैं, वाजपेयी जी ने थीसिस अग्रसारित की है तो अच्छा होगा ही।''[87]

रामविलास शर्मा की उपर्युक्त पंक्तियों को क्या किसी 'भाष्य' की ज़रूरत है?

22वें अध्याय में सम्पुट हैं—''पं. नंददुलारे वाजपेयी जब सागर पहुँचे तो सागर, जबलपुर तथा आसपास के इलाकों में जैसे साहित्यिक नवजागरण सा आ गया।''[88] ''स्वच्छंदतावादी आलोचक के रूप में बहुख्यात और बहुप्रतिष्ठित पं. नंददुलारे वाजपेयी...।''[89] ''नंददुलारे वाजपेयी तो अपनी गहरी अंतर्दृष्टि और क्रांतिकारी चिंतन में...।''[90] ''...आलोचना में नंदुदलारे वाजपेयी अप्रतिम हैं।''[91] इस अध्याय में विजयबहादुर सिंह ने आह्लादकारी स्वर में बताया है—''अज्ञेय ने आहत और क्षुब्ध होकर जिस किसी एक आलोचक को नाम लेकर याद किया है, वे नंददुलारे वाजपेयी ही हैं।''[92] 'अज्ञेय' ने याद नहीं किया है, केवल एक पंक्ति में नंददुलारे वाजपेयी को निबटा दिया है—''नंददुलारे वाजपेयी का 'प्रयोगवादी रचनाएँ शीर्षक निबंध तर्क-विकृति का आश्चर्यजनक उदाहरण है।''[93] विजयबहादुर सिंह की यह खुशी तब ग़म में तब्दील हो गयी होगी जब रमेशदत्त दुबे की ये पंक्तियाँ उन्होंने पढ़ी होंगी—''छात्र संघ के उद्घाटन के बाद रात्रि में 'अज्ञेय' की जो 'रचना' में भाषण देना था। उन्होंने अपना लिखित आलेख पढ़ा था जो उनके 'आत्मनेपद' में संग्रहीत है। इस गोष्ठी में हिन्दी विभाग का एक भी प्राध्यापक नहीं आया था—कहते हैं और कहते क्या हैं वर्षों बाद स्वयं 'अज्ञेय' जी ने रमेशचन्द्र शाह के भोपाल-निवास पर बताया था कि नंददुलारे वाजपेयी ने न केवल हिन्दी विभाग के सारे छात्रों-प्राध्यापकों को उपस्थित होने से मना कर दिया था बल्कि स्वयं भी अनशन ठान कर बैठ गए थे कि जब तक 'अज्ञेय' विश्वविद्यालय के परिसर में हैं अन्नजल ग्रहण नहीं करेंगे।''[94] कुलपति द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने उपर्युक्त घटना की अशोक वाजपेयी से पहले तो ताईद की और फिर 'अज्ञेय' के प्रति ऐसा निंदनीय आचरण दिखाने के लिए विभागाध्यक्ष नंददुलारे वाजपेयी को बहुत डाँटा। यह समाचार परम प्रतापी उपकुलसचिव परमानंद वाजपेयी ने अपने पुत्र युवा कवि-आलोचक अशोक वाजपेयी को स्वयं दिया था।

तेईसवें अध्याय में सम्पुट हैं—''...नंददुलारे वाजपेयी की युगान्तकारी समीक्षा-पुस्तक 'हिन्दी साहित्य : 20वीं शताब्दी'।''[95] ''अपनी इस अति मह वपूर्ण कृति 'नया साहित्य : 'नये प्रश्न' में...।''[96] ''समूचे काल कपर नंददुलारे वाजपेयी की सृजनशील आलोचना का तेज छाया हुआ है।''[97] ''...नंददुलारे वाजपेयी हिन्दी आलोचना के आकाश में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बावजूद एक उदित होते हुए नये सूर्य की तरह छा गए।''[98] उपर्युक्त पंक्तियों में विजयबहादुर सिंह ने 'नया साहित्य : नये प्रश्न' को अति महत्त्वपूर्ण कृति बताया है। इस 'अति महत्त्वपूर्ण कृति' का हाल यह है कि रांगेय राघव की कृति 'घरौंदे' को न केवल नंददुलारे वाजपेयी ने कहानी संग्रह बता दिया है बल्कि इसी रूप में उसका विवेचन भी कर दिया है।[99] जबकि 'घरौंदे' रांगेय राघव का सुप्रसिद्ध उपन्यास है। इसी अध्याय में विजयबहादुर सिंह ने द्वारिकाप्रसाद मिश्र के 'कृष्णायन' का उल्लेख करते हुए बताया है कि 'आज तो उसका कोई नामलेवा भी नहीं है।'[100] विजयबहादुर सिंह के श्रद्धापुरुष नंददुलारे वाजपेयी पहले तो सर हरिसिंह गौर को यह सूचित करते हैं कि 'कृष्णायन' पर वे आलेख लिख चुके हैं और पचमढ़ी में मिलने पर उन्हें दिखा देंगे।[101] आलेख में नंददुलारे वाजपेयी द्वारिकाप्रसाद मिश्र के भाव पक्ष और कला पक्ष की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—'' 'कृष्णायन' के ...बौद्धिक, दार्शनिक और सैद्धान्तिक उपकरणों के साथ उसका काव्य-पक्ष भी कम परिपुष्ट नहीं है।''[102] द्वारिकाप्रसाद मिश्र की अभ्यर्थना में

वे आगे लिखते हैं—'' 'कृष्णायन' के आरोहण-कांड की तुलना 'श्रीरामचरितमानस' के उत्तरकांड से की जा सकती है।''[103] गृहमंत्री/कुलपति/मुख्यमंत्री के महाकाव्य (?) की तुलना तुलसी के 'श्रीरामचरिमानस' से न की जाएगी तो क्या 'छायावाद के 5वें सवार' रामकुमार वर्मा के 'एकलव्य' महाकाव्य (?) से की जाएगी। 'चारण-वृत्ति' और किसे कहते हैं!

24वें अध्याय में सम्पुट है—''नंददुलारे वाजपेयी की गद्य शैली अत्यन्त प्रखर, आक्रामक और प्रायः व्यंग्यपूर्ण है।''[104] इस अध्याय में 'आलोचना' (त्रैमासिक) के संपादक के रूप में नंददुलारे वाजपेयी के अवदान की चर्चा है। यहाँ सिर्फ इतना कहना काफी होगा कि शिवदान सिंह चौहान के संपादकत्व वाली 'आलोचना', धर्मवीर भारती व अन्य के संपादकत्व वाली 'आलोचना' एवं नामवर सिंह के संपादकत्व वाली 'आलोचना' के बरक्स नंददुलारे वाजपेयी के संपादकत्व वाली 'आलोचना' कुछ कुछ वैसी ही है जैसे बिहारीलाल के सामने दुलारेलाल। नंददुलारे ने 'आलोचना' को किसी महाविद्यालय की पत्रिका बना दिया था।

28वें अध्याय (अंतिम) में सम्पुट है—''देखने वालों ने देखा कि उनकी चमत्कृत कर डालने वाली मेधा का सारस्वत पराक्रम कैसा था।''[105] ''याद नहीं कि वाजपेयी जी ने रीतिकाव्य-पंडितों का कितना मार्गदर्शन किया या कर पाए, किन्तु यह तो भूलता ही नहीं कि 'फिर चिरागों में रोशनी न रही।''[106] ''...जब तक नंददुलारे वाजपेयी मंच पर बेठे तमाम विद्वान आलोचकों के बीच माइक पर रहे जैसे कोई साक्षात् प्रतिभा अपना सारस्वत आलोक बिखेर रही हो।''[107] ''हिन्दी आलोचना का एक और युग-प्रवर्तक आचार्य...।''[108] ''उपस्थित प्रबुद्ध समुदाय ने लक्ष्य किया कि आचार्य वाजपेयी अत्यन्त विनम्रता से मंच की ओर कुछ ऐसे बढ़ रहे थे जैसे कवि 'अज्ञेय' की कविता में 'असाध्य वीणा' की ओर केशकंबली।''[109] इसे ही दुर्घटना कहते हैं। इतना अत्याचार नंददुलारे वाजपेयी पर विजयबहादुर सिंह कैसे कर पाए? जो नंददुलारे वाजपेयी सागर विश्वविद्यालय में 'अज्ञेय' का बायकाट कर रहे थे, उन्हीं नंददुलारे वाजपेयी की तुलना 'अज्ञेय' के एक चरित्र से। विजयबहादुर सिंह को औचित्य का क्या बिल्कुल भी ख़याल नहीं? इसी अध्याय में विजयबहादुर सिंह लिखते हैं—''एकाध जाने-माने हिन्दी कवि, जो अपना सम्बन्ध 'निराला' से भी जोड़ते और इसी नाते कुलपति वाजपेयी को जब-तब प्रणाम निवेदित करने भी बंगले पर आया करते। पर बंगले से बाहर षड्यंत्रकारियों की मदद किया करते और उनकी योजनाओं को हवा देते।''[110] विजयबहादुर सिंह इन 'जाने-माने' हिन्दी कवि का वैसे ही नाम नहीं लेते जैसे भारतीय कुलवधू पति का नाम नहीं लेती। विजयबहादुर सिंह को शिवमंगल सिंह 'सुमन' का नाम लेने में शर्म आती है।

नंददुलारे वाजपेयी की समीक्षा की हालत क्या है? अपनी पुस्तक 'कवि निराला' में 'कुकुरमुत्ता' के बारे में नंददुलारे वाजपेयी की धारणा है—'' 'कुकुरमुत्ता' को रस की दृष्टि से हास्य-रस की रचना कहा जाएगा।''[111] एक अन्य स्थल पर नंददुलारे वाजपेयी लिखते हैं—'' 'कुकुरमुत्ता' मीठी रचना है किन्तु ओजस्विता और महान निर्माण की प्रेरणा से बहुत कुछ रिक्त।''[112] अब प्रश्न यह उठता है कि क्या रस-छन्द-अलंकार वाली शास्त्रीय दृष्टि से 'कुकुरमुत्ता' का विवेचन किया जा सकता है? और क्या 'कुकुरमुत्ता' मीठी रचना है? और क्या वह महत्तर रचना नहीं है? सुमित्रानंदन पंत और सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पर नंददुलारे वाजपेयी की टिप्पणी देखिए—''तुलसी और सूर, देव और बिहारी के बाद 'निराला' और पंत की जोड़ी हिन्दी में प्रसिद्ध हुई। मेरी अपनी अटकल यह है कि तुलसी और देव के प्रेमी 'निराला' की ओर तथा सूर और बिहारी के प्रेमी पंत की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं।''[113] 'तुलनात्मक आलोचना' को सर्वथा निकृष्ट मानने वाले नंददुलारे वाजपेयी, लगता है कि मिश्रबन्धु के 'हिन्दी-नवरत्न'

की तर्ज पर 'नया हिन्दी-नवरत्न' लिखने के उपक्रम में थे। मुक्तिबोध पर नंददुलारे वाजपेयी की टिप्पणी है—''मुक्तिबोध की काव्य-भाषा में लय और संगीत की अपेक्षा चिल्लाहट का अधिक प्रत्यय है।''[114] नरेश मेहता पर उनकी टिप्पणी है—''...आरंभ में नरेश मेहता पंत-शैली के सौन्दर्यवादी लेखक थे परन्तु पंत की प्रौढ़ता और परिमार्जन से रहित। चित्रकला की ओर भी कुछ झुकाव था और पान की ओर भी। कभी-कभी कक्षा में भी पान-सेवन करते थे।''[115] क्या इन टिप्पणियों पर किसी 'भाष्य' की ज़रूरत है? पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के बारे में नंददुलारे वाजपेयी बड़ी उग्रता से लिखते हैं—'' 'उग्र' 'आवारा तरुणों' के लेखक थे। 'निराला' को एक पत्र में लिखा—''मैं 'उग्र' को कुछ नहीं—सचमुच कुछ नहीं समझता। अधिक से अधिक वे मेरी दृष्टि में एक पेट-पोषक औपन्यासिक हैं। थर्ड रेट वाला—इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।''[116] मज़े की बात यह है कि स्वयं नंददुलारे वाजपेयी 'अश्लीलता' पर लिखते हुए कहते हैं—''अश्लीलता क्या है? किसी उपन्यास में अश्लीलता कहाँ से आरम्भ होती है, श्लील वर्णन कहाँ समाप्त होता है, अश्लीलता स्वयं साध्य बनी हुई है या साधन बन कर किसी अन्य लक्षण की ओर हमें ले जाती है, इन बातों की ओर ध्यान देने का किसी को अवसर ही नहीं था। इसके अतिरिक्त, जैसा कि डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी कहा करते हैं कि हिन्दी के शृंगार-काल के अनेक सुन्दर संकेतात्मक पद्यों की रस-धारा में डॉ. ग्रियर्सन की आज्ञा से लोग कलुष ही देखने के अभ्यस्त हो गये हैं। यही हाल कुछ भिन्नता के साथ आधुनिक हिन्दी के कथा-साहित्य का भी हो रहा था।''[117] काश 'उग्र' पर अपना फैसला सुनाते हुए नंददुलारे वाजपेयी ने अपनी उपर्युक्त पंक्तियों को याद कर लिया होता। इसी प्रकार 'यथार्थवाद' पर नंददुलारे वाजपेयी की धरणा क्या है? वे लिखते हैं—''प्रसाद जी के 'कंकाल' उपन्यास पर लिखते समय मैं पहली बार किसी 'यथार्थवादी' कृति पर प्रशंसा के शब्द लिख सका था। इसके पूर्व 'यथार्थवाद' मेरे लिए साहित्य से सर्वथा बहिष्कृत वस्तु थी और मैं उसके स्वागत की कल्पना भी नहीं कर सकता था।''[118] सच बात तो यह है कि नंददुलारे वाजपेयी 'यथार्थवाद' का स्वागत जीवन-भर नहीं कर पाए, उनकी कृतियाँ इस तथ्य की प्रमाण हैं। एक ही उदाहरण पर्याप्त है—यशपाल के श्रेष्ठतम उपन्यासों में से एक 'दिव्या' (1945) को नंददुलारे वाजपेयी जयशंकर 'प्रसाद' के अधूरे उपन्यास 'इरावती (1940) की तुलना में ख़ारिज कर देते हैं।[119] अपने लेखों में जहाँ कहीं उन्होंने यशपाल का ज़िक्र किया है, जैसे तलवार खींच ली है। 'यथार्थवादी विरोधी' समीक्षक की हालत यह है कि वह हिन्दी उपन्यासकारों का परिचय देते हुए गुरुदत्त का भी नाम ले लेता है।[120] गनीमत है कि कुशवाहा कान्त, प्यारेलाल 'आवारा' एवं गुलशन नन्दा का नाम नहीं लेता। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' (1934) को हल्की कलम से लिखी गयी रचना घोषित कर देता है।[121] रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' को कथा-साहित्य का विशेषज्ञ-समीक्षक बता देता है।[122]

विजयबहादुर सिंह ने इस जीवनी में नंददुलारे वाजपेयी की 'छात्र-वत्सलता' का ज़िक्र बार-बार किया है, लेकिन इसका ज़िक्र नहीं किया कि यह 'छात्र-वत्सलता' Selected क्यों थी? अगर Selected न होती तो धनंजय वर्मा एवं कांतिकुमार जैन (नंददुलारे वाजपेयी के दो अत्यन्त प्रतिभाशाली शिष्य) को यह न लिखना पड़ता। धनंजय वर्मा—''आचार्य नंददुलारे वाजपेयी वर्षों तक जिसकी नज़ीर देते रहे, ऐसे अकादेमिक कैरियर के बावजूद, सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में, ब्राह्मणवाद में भी कान्यकुब्जवाद के चलते, मुझे हिन्दी की मुदर्रिसी नसीब नहीं हुई। वहाँ हमेशा ही लिए गए—पांडेय और त्रिपाठी, शुक्ल और दुबे, मिश्र और तिवारी।''[123] हिन्दी विभाग में व्याख्याता पद पर नियुक्ति के लिए उन्हीं दिनों एक विज्ञापन भी निकला था। मैं शाम को पंडित जी के घर गया। जब वे लगभग अकेले हो गए तो मैंने विज्ञापन के संदर्भ

में पूछा किया क्या मैं उस पद के लिए आवेदन दूँ? हाँ, ज़रूर दो। तुम्हारा अकादेमिक कैरियर तो उत्तम है ही। फिर... बोले—'लेकिन यहाँ पूर्व विद्यार्थी को वरीयता देने की परंपरा है।'' ...आवेदन देने का कोई आधार ही नहीं था। जिस पूर्व विद्यार्थी की उस पद पर नियुक्ति हुई—वे हैं डॉ. शिवकुमार मिश्र। मैं सोचता ही रह गया कि पूर्व विद्यार्थी तो मैं भी था। पंडित जी के अनुसार मेरा अकादेमिक कैरियर भी उत्तम था, फिर मुझमें क्या कमी थी?''[124] ''नंददुलारे वाजपेयी ने रामलाल सिंह से कहा—''...आप शासन साहित्य परिषद की पुरस्कार योजना के परीक्षक हैं। बलभद्र तिवारी की पुस्तक आई है ना, ज़रा उसका ख़याल रखिए...।'' मैंने पंडित जी से कहा—'धनंजय वर्मा की भी पुस्तक आई है, मुझे वह सर्वश्रेष्ठ लगी है।' पंडित जी ने किंचित अमर्ष से कहा—'हमें जो कहना है, कह चुके...।' मैं उन्हें रुष्ट नहीं कर सकता था, इसलिए बलभद्र तिवारी की पुस्तक को ही पुरस्कार के लिए संस्तुत करना पड़ा। इसकी ग्लानि मुझे आज भी है' और वे उदास हो गए।''[125] कांतिकुमार जैन—''पंडित जी ने भी अपने चारों तरफ एक से एक नमूनों को जमा कर रखा है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की यह परंपरा है कि वहाँ के मैरिट होल्डर विद्यार्थी, वहीं नियुक्ति पा जाते रहे हैं लेकिन हमारे विश्वविद्यालय के महान हिन्दी विभाग के सारे मैरिट होल्डर—कांतिकुमार जैन से ले कर मनोहर वर्मा, धनंजय वर्मा, नरेंद्र देव वर्मा—सब बाहर हैं। विभाग में लिए कौन गए हैं—डॉ. प्रेमशंकर (तेवाड़ी), डॉ. शिवकुमार (मिश्र), डॉ. भानुदेव (शुक्ल), डॉ. बलभद्र (तिवारी)—सब बाभन, वह भी कनौजिया. ..पूरा विभाग कान्यकुब्जवाद का गढ़ बना हुआ है। बाबू से लेकर चपरासी और चौकीदार, यहाँ तक कि घंटा बजाने वाला भी बैसवाड़े से लाया गया है...।''[126] इस संदर्भ में सुप्रसिद्ध कहानीकार जितेन्द्र की कहानी 'हंस' के मई 1991 अंक में 'नंद के लाल' शीर्षक से प्रकाशित उल्लेखनीय है। यह कहानी नहीं, 'सत्यकथा' है और नंददुलारे वाजपेयी की मानसिकता को पूरी तरह अनावृत्त कर देती है।'' ''असल में वाजपेयी जी जैसे उदात्त व्यक्ति द्वारा प्रवंचित होने के बाद देवताओं पर से मेरा विश्वास उठ गया। ...वे विद्वान थे, मेरे गुरु थे पर अत्यन्त चाटुप्रेमी दुर्बल व्यक्ति थे।''[127] कांतिकुमार जैन ने नंददुलारे वाजपेयी के व्यक्तिगत आचरण के बारे में लिखा है—''कुलपति डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी ने हिन्दी विभागाध्यक्ष, छायावाद के प्रतिष्ठापक, प्रखर समीक्षक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी को उनके अपने ही विश्वविद्यालय में तीन वर्षों के लिए परीक्षा कार्य में पक्षपात करने के लिए छात्रों से बदले की कार्यवाही करने के लिए ब्लैक लिस्ट कर दिया।''[128] यह थी नंददुलारे वाजपेयी की 'छात्रवत्सलता' (?)।

विजयबहादुर सिंह की सबसे बड़ी समस्या यह थी कि वे अपने गुरु नंददुलारे वाजपेयी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ समीक्षक और व्यक्ति के रूप में, ऋषि/देवता सिद्ध करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने 'आदर्श' के रूप में 'गोयबल्स' को चुना। गोयबल्स का बहुप्रचारित कथन था—'झूठ को 100 बार बोलो, सच हो जाएगा।'। विजयबहादुर सिंह ने इस जीवनी में यही किया है लेकिन वे यह भूल गए कि साहित्यिक-दुनिया, प्रबुद्धों की बिरादरी है जहाँ झूठ बहुत दूर तक नहीं चलता। उन्हें यह शेर तो ख़ूब याद होगा—

जो चुप रहे ज़बाने-खंज़र
लहू पुकारेगा आस्तीं का।

विजयबहादुर सिंह ने नंददुलारे वाजपेयी के दुर्बल पक्षों को दूर से सलाम करते हुए अपने श्रद्धा-सुमन उन्हें समर्पित किए हैं। उन्हें यह याद ही नहीं रहा कि वे जीवनी लिख रहे हैं जहाँ पहली शर्त तटस्थता है। लेकिन वे तो चारण चंदबरदाई की परंपरा के वाहक निकले। मज़े की बात यह है कि वे ख़ुद भी अपने 'झूठ' को समझते थे। कांतिकुमार जैन को एक पत्र

में उन्होंने लिखा था—''आदरणीय भाई, नमस्कार। पंडित जी (वाजपेयी जी) के बारे में आपने जो लिखा है, वह ग़लत नहीं है।''[129] यहाँ नंददुलारे वाजपेयी के एक और श्रद्धालु राममूर्ति त्रिपाठी याद आते हैं। उन्होंने भी नंददुलारे वाजपेयी पर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी है'' 'आलोचक : आचार्य नंददुलारे वाजपेयी।' उन्होंने बिना किसी दुविधा के लिखा है—''...छायावादोत्तर आलोचना में इक्के-दुक्कों को छोड़कर कोई उनका नामलेवा नहीं।''[130] ''सागर में पंडित जी के संबंध में एक उक्ति प्रचलित थी और वह यह थी—''Teacher among Politician and Politician among Teachers''[131] ''प्रपत्ति पंडित जी को प्रिय थी। प्रपन्न रहो, फिर कुछ भी करो—कोई बात नहीं—लेकिन तन के रहो—तब नहीं चलेगा।''[132] नामवर जी ने यही ग़लती की। तन कर चले/रहे सागर विश्वविद्यालय में। काशीनाथ सिंह ने बिल्कुल सही लिखा है—''दशहरे की छुट्टियों में भैया आए तो उन्होंने अपने अध्यक्ष आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के बारे में जो ख़बरें दीं, वे भैया को देखते हुए चिंता पैदा करने वाली थीं। भैया को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के संसर्ग में जो संस्कार मिले थे, वे वाजपेयी जी को रास नहीं आ रहे थे। बड़ी छोटी-छोटी बातें थीं जिनका संबंध 'आचार्यत्व' से कम, 'नौकरशाही' से ज़्यादा था। मसलन, वाजपेयी जी को पसंद नहीं था कि उनका कोई अध्यापक उनके आने पर बैठा रहे या उनकी अनुमति के बिना उनके आगे बैठे, उनके सामने पान खाए, शहर से विश्वविद्यालय उन्हीं की तरह अकेले तांगे से आए, सभाओं और गोष्ठियों में खुलेआम असहमति ज़ाहिर करे, उनके विचारों की अवहेलना करे। वाजपेयी जी आयोजनों में अपने समर्थकों की पूरी पलटन के साथ जाते थे और नामवर से भी एक सिपहसालार होने की उम्मीद रखते थे।''[133] यह सच है कि सागर विश्वविद्यालय से नामवर जी के निकाले जाने का कारण कोई और था ('यह रहस्य जाने कोऊ कोऊ') लेकिन यह भी सच है कि जब यह 'कारण' मिला तो नंददुलारे वाजपेयी ने इसे फ़ौरन लपक लिया और नेपथ्य में प्रेमशंकर (तेवाड़ी) की महनीय (?) भूमिका तो इसमें थी ही। राममूर्ति त्रिपाठी की 'प्रपन्न रहो...' वाली टिप्पणी के संदर्भ में एक प्रसंग का उल्लेख मौजूँ है—''कलकत्ता विश्वविद्यालय में 'हिन्दी परिषद्' का वार्षिक अधिवेशन था। अधिवेशन में एक संध्या हिन्दी साहित्य और समीक्षा की हालत (या ऐसे ही किसी विषय) पर एक संगोष्ठी थी। मंच पर डॉ. नगेन्द्र थे, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी थे और भाषण में वाजपेयी जी ने प्रगतिशील आलोचना के विरुद्ध बहुत कुछ कहा। नयी कविता का भी विरोध किया, 'अज्ञेय' के 'राहों के अन्वेषी' होने का उपहास किया, मुक्तिबोध को भी कोई दर्जा नहीं दिया। प्रगतिशील खेमे के श्रोताओं में बेचैनी थी पर उन्हें अपने रहनुमा पर भरोसा था—वे जानते थे कि नामवर जी अपने वक्तव्य में वाजपेयी जी की सारी बातों का तुर्की बतुर्की जवाब देंगे। अतः उन्होंने वाजपेयी जी के भाषण के दौरान पूरी शालीनता का परिचय दिया, न कोई आवाज़, न कोई फ़िकरा। ताली तक नहीं बजाई। नामवर जी आए, माइक सँभाला और वाजपेयी जी की छायावादी आलोचना-दृष्टि, नयी कविता के प्रति उनके विरोध भाव, समय का साथ न दे सकने की उनकी सीमाओं का बखान किया। छायावाद का स्वागत करने वाला आलोचक कैसे समय का साथ दे सकने में असमर्थ हो गया है आदि आदि आदि। वाजपेयी जी ने बीच में प्रतिवाद करना चाहा। उनका गौर मुखमंडल तमतमा गया। वे कुर्सी से उठे पर नगेन्द्र जी ने उन्हें रोक दिया। आप अपनी बात कह चुके, अब नामवर जी को बोलने दीजिए।... नामवर जी के बोल चुकने पर नगेन्द्र जी अध्यक्षीय भाषण के लिए खड़े हुए। उनका पहला ही वाक्य था कि ''अभी मंच पर रक्तहीन क्रांति होते-होते रह गयी। यदि आज यहाँ रक्तपात हो जाता तो हिन्दी समीक्षा का बड़ा अनर्थ हो जाता।'[134] इस पूरे प्रसंग में नगेन्द्र कितने आनंदित हुए होंगे और नंददुलारे वाजपेयी कितने

कुपित/क्षुब्ध—आज इसकी मात्र कल्पना ही की जा सकती है। यह नहीं कि नगेन्द्र को नामवर सिंह बहुत प्रिय थे, बिल्कुल भी प्रिय नहीं थे लेकिन प्रज्ञा-पुरुष वक्त पड़ने पर 'दुश्मन' के 'दुश्मन' को दोस्त बना लेते हैं। नगेन्द्र ने वही किया। दरअसल नगेन्द्र और नंददुलारे वाजपेयी में 36 का आँकड़ा रहता था। नंददुलारे वाजपेयी को नगेन्द्र नंगाइच' कहते थे। यों भी हिन्दी-जगत में मध्यान्ह के सूर्य की तरह तप रहे नगेन्द्र के लिए 'नंददुलारे वाजपेयी कुछ भी न थे। आखिर उनकी किताब 'सुमित्रानंदन पंत' का उल्लेख हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ समीक्षक रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'इतिहास' में प्रशंसात्मक स्वर में किया था जबकि नंददुलारे वाजपेयी इस गौरव से वंचित रहे थे।

विजयबहादुर सिंह ने मुहम्मद हारुन रशीद ख़ान को दिये अपने एक साक्षात्कार में कहा था—''मैं एक आधा-अधूरा आलोचक हूँ।''[135] इसी तर्ज पर कहना होगा कि 'आलोचक का स्वदेश' एक आधी-अधूरी जीवनी है। जीवनी में एक स्थान पर विजयबहादुर सिंह ने लिखा है—''आज़ादी के बाद हिन्दी आलोचना अगर अपने 'स्वदेश' में रह सकी तो सिर्फ़ आलोचक नंददुलारे वाजपेयी के कारण।''[136] सच तो यह है कि यह जीवनी न 'स्वदेश' है, न 'परदेश', बस 'भदेस' बन कर रह गयी है।

(दो)

अब विश्वनाथ त्रिपाठी की पुस्तक 'व्योमकेश दरवेश' को देखा-परखा जाए। किताब का शीर्षक है—'व्योमकेश दरवेश' और कोष्ठक में लिखा है—'आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का पुण्य स्मरण'। यह उपशीर्षक हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'सिख गुरुओं का पुण्य स्मरण' की याद दिला देता है। इसे 'पुण्य स्मरण' होना ही था। पुस्तक में अभिव्यक्त विश्वनाथ त्रिपाठी के कथनों पर ध्यान दीजिए—''...काशी विश्वविद्यालय में द्विवेदी जी का शिष्य बनने की संभावना इतनी मोहक थी कि मानो जादू-लोक में चल रहा था।''[137] ''आपकी शरण में आया हूँ। असहाय हूँ। आपके चरणों का आश्रय पा कर मेरा जीवन बन जाएगा।''[138] ''आप हिन्दी के सूर्य हैं।''[139] पुस्तक की विधा का परिचय देते हुए लिखा गया है—'Biography by Vishwanath Tripathi'।[140] विश्वनाथ त्रिपाठी को चाहिए था कि वे 'जीवनी' की जगह लिखवाते—संस्मरण—'Memoirs by Vishwanath Tripathi'।[141] किसने रोका था। बहरहाल, इस जीवनी की हालत यह है कि एक तो स्थान-स्थान पर अपने गुरु के प्रति श्रद्धा-सुमन अर्पित करने में विश्वनाथ त्रिपाठी इतना 'घिघियाए' हैं कि सूरदास से कही गयी वल्लभाचार्य की पंक्तियाँ याद आ जाती हैं—

सूर ह्वै कै ऐसो घिघियात काहे को हौ
कछु भगवतलीला वर्णन करौ।

दूसरी इस श्रद्धा की हालत यह है कि हजारीप्रसाद द्विवेदी को 'डिफेन्ड' करने और उन्हें 'हिन्दी का सूर्य' सिद्ध करने के चक्कर में विश्वनाथ त्रिपाठी 'औचित्य' का ध्यान रखना बिल्कुल भूल गए हैं इस 'विकलांग श्रद्धा का दौर' का उल्लेख आगे यथास्थान आता रहेगा।

विश्वनाथ त्रिपाठी ने 'मातृ-संस्था का निमन्त्रण : मन का बंधन' शीर्षक अध्याय में काशी विश्वविद्यालय के प्रो-वाइस चांसलर इकबाल नारायण गुर्टू द्वारा पं. बनारसीदास चतुर्वेदी को 10 मई 1941 को लिखे पत्र का उल्लेख किया है जिसमें रामचन्द्र शुक्ल की मृत्यु के बाद काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष-पद रिक्त होने की बात कही गयी थी। इसमें हिन्दी के तीन-चार सुयोग्य विद्वानों की सूची भेजने का बनारसीदास चतुर्वेदी से अनुरोध किया

गया था। रामचन्द्र शुक्ल की मृत्यु के बाद वरिष्ठतम अध्यापक केशवप्रसाद मिश्र थे जो रीडर पर पर कार्यरत थे। इस अध्याय से कहीं भी यह मालूम नहीं होता कि हजारीप्रसाद द्विवेदी को इस बात की लेशमात्र भी चिंता थी कि काशी विश्वविद्यालय में उनके जाने से केशवप्रसाद मिश्र की क्या हालत होगी। केशवप्रसाद मिश्र की विद्वता/अध्यापन शैली निर्विवाद थी, वे स्वयं में 'विश्वकोश' थे। किसी भी पद की स्पृहा उनमें न थी। सहज संकोची केशवप्रसाद मिश्र कैसे अध्यक्ष हुए, इसका खुलासा पं. रामनारायण मिश्र की इन पंक्तियों से होता है—''जब हिन्दी विभाग में अध्यक्ष का चुनाव हो रहा था तब पं. इकबाल नारायण गुर्टू विश्वविद्यालय के प्रो-वाइस चांसलर थे। केशव जी का एक अंग्रेज़ी लेख लेकर मैं गुर्टू जी के पास पहुँचा। उन्होंने उसे रख लिया। जब नियुक्ति का समय आया तो उन्होंने समिति में केशवजी की बड़ी प्रशंसा की। गुर्टू जी हिन्दी-साहित्य के पंडित नहीं थे और यही उनकी कठिनाई थी पर उस लेख से केशव जी की विद्वता विदित हो गयी और केशव जी अध्यक्ष चुन लिए गए।''[141] इसी अध्याय में विश्वनाथ त्रिपाठी ने तत्कालीन कुलपति गोविन्द मालवीय (महामना पं. मदनमोहन मालवीय के पुत्र) के उस पत्र का उल्लेख किया है जो उन्होंने 05.06.1950 को हजारीप्रसाद द्विवेदी को लिखा था—''पारसाल आपको कुछ लोगों ने सन्देह में डाल दिया था किन्तु डॉ. जगन्नाथप्रसाद शर्मा और डॉ. विश्वनाथप्रसाद मिश्र—दोनों को प्रोफेसर का स्थान दे दिया जाएगा। इससे वे दोनों सन्तुष्ट होकर आपके साथ सहयोग से कार्य करेंगे।''[142] जबकि इसी घटना को छैलबिहारी गुप्त 'राकेश' (जिन्हें हजारीप्रसाद द्विवेदी का समर्थक होने के कारण विश्वनाथप्रसाद मिश्र छैला कहते थे) ने अपनी आत्मकथा में यूँ व्यक्त किया है—''...कुलपति पं. गोविन्द मालवीय हिन्दी के किसी ख्यात और मान्य विद्वान को हिन्दी विभाग के अध्यक्ष-पद पर लाना चाहते थे। उनकी दृष्टि सहज ही आचार्य द्विवेदी पर पड़ी और उन्होंने उन्हें विभागाध्यक्ष नियुक्त कर दिया। विभाग के दो वरिष्ठ प्राध्यापकों को कोई कष्ट अथवा आपत्ति न हो, इस उद्देश्य से उन्होंने डॉ. जगन्नाथप्रसाद शर्मा तथा पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र को भी पदोन्नत कर के रीडर बना दिया।''[143] छैलबिहारी गुप्त का कथन 100% तर्कसंगत प्रतीत होता है क्योंकि 1950 में विश्वविद्यलयों के हिन्दी विभागों में एक साथ प्रोफ़ेसरों के तीन-तीन पद सृजित नहीं हो सकते थे। इसी अध्याय में विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है—''हिन्दी विभाग के बनारसी लोग डॉ. श्रीकृष्णलाल (जिन्हें लोग हजारीप्रसाद द्विवेदी का समर्थक होने के कारण विश्वनाथप्रसाद मिश्र लैला कहते थे) को हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'मीर मुंशी' कहते थे।''[144] दरअसल यह नामकरण भी विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने किया था। विश्वनाथप्रसाद मिश्र पहले कहते थे—'बलि जाऊँ लला इन बोलनि पै।' फिर आवृत्ति करते थे—'बलि जाऊँ ललाइन बोलनि पै।' श्रीकृष्णलाल कायस्थ थे और पूर्वी उत्तर प्रदेश में कायस्थों को लाला भी कहा जाता है। श्रीकृष्णलाल भुनभुनाते थे लेकिन विश्वनाथप्रसाद मिश्र जब हजारीप्रसाद द्विवेदी को नहीं छोड़ते थे, तब श्रीकृष्णलाल को क्या सेंटते। हजारीप्रसाद द्विवेदी जब काशी हिन्दी विश्वविद्यालय के रेक्टर हुए तो उन्हें बधाई देते हुए विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा—''रेक्टर पद-प्राप्ति की बधाई, ईश्वर से प्रार्थना है कि शीघ्र ही आपको कुलपतिता की प्राप्ति हो।'' कभी-कभी विश्वनाथप्रसाद मिश्र दोनों (हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं श्रीकृष्णलाल) को लपेटते थे—'यह बानक मो मन बस्यौ, सदा हजारी लाल।' ऐसा नहीं था कि विश्वनाथप्रसाद मिश्र का नज़ला दूसरों पर नहीं गिरता था। एक बार शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने अपनी 'दरबारी शैली' में विश्वनाथप्रसाद मिश्र की अभ्यर्थना में कहा—''गुरुवर मिश्र जी ''लास्ट रोमन' हैं।'' विश्वनाथप्रसाद मिश्र जब वक्तव्य देने के लिए उठे तो उनका पहला वाक्य था—'सुमन' जैसे कलियुगी शिष्यों से भगवान बचाए। गुरु को 'रो मन' बता दिया

और स्वयं 'सु मन' बने बैठे हैं।'' क्या यह लिखने की ज़रूरत है कि शिवमंगल सिंह 'सुमन' यह सुन कर अपने सारे लटके-झटके भूल गए। विश्वनाथप्रसाद मिश्र की सत्संगति का ही यह असर था कि जगन्नाथप्रसाद शर्मा भी इस 'शब्द क्रीड़ा' में शामिल हो कर कह बैठे थे—''वाह भाई नगेन्दर! तुमने भी हजारीप्रसाद के शिष्य को किरोड़ीमल (कॉलेज) में रखवाया है।''[145] इसी अध्याय में विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है—''डॉ. जगन्नाथप्रसाद शर्मा बाबू श्यामसुन्दरदास के प्रिय और उनके द्वारा नियुक्त थे।''[146] यह बात सिरे से ग़लत है। श्यामसुन्दरदास ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—''दो विद्यार्थियों में से चुनाव होने वाला था—एक थे नंददुलारे वाजपेयी और दूसरे थे जगन्नाथप्रसाद शर्मा। मैं वाजपेयी जी को हृदय से चाहता था पर मालवीय जी ने यह कह कर जगन्नाथप्रसाद को नियुक्त किया कि वह देश के लिए जेल हो आया है।''[147] जहाँ तक श्यामसुन्दरदास के 'प्रिय' होने का सवाल है, वहाँ श्यामसुन्दरदास के ये कथन विश्वनाथ त्रिपाठी की उपर्युक्त पंक्तियों को बिल्कुल नकार देते हैं—''यूनिवर्सिटी में काम करते हुए मुझे अनेक प्रकार के विद्यार्थियों से काम पड़ा। कुछ विद्यार्थी तो बड़े सात्त्विक स्वभाव के अत्यन्त श्रद्धालु तथा विद्याव्यसनी थे। इनमें मुख्यतः चार नाम मेरे सामने आते हैं—एक पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, दूसरे नंददुलारे वाजपेयी, तीसरे हरिहरनाथ टंडन और चौथे श्रीधर सिंह। इन चारों के स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। वे अब तक मुझे उसी दृष्टि से देखते हैं जिस दृष्टि से वे अपने पठनकाल में देखते थे। इन चारों की मेरे प्रति अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति है।. ..मैं इतना और कह देना चाहता हूँ कि इनके प्रति मेरे भाव भी अत्यन्त स्नेहमय हैं।''[148] ''अपने जिन शिष्यों से मेरी अधिक घनिष्ठता थी, उनमें हरिहरनाथ टंडन, श्रीधर सिंह, सत्यजीवन वर्मा, रमापति शुक्ल, रमेशदत्त पाठक, कृष्णशंकर शुक्ल, बलराम उपाध्याय, पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव आदि थे। उनकी भक्ति एवं श्रद्धा पूर्ववत बनी हुई है। उनसे मेरा परम स्नेह है।''[149] दोनों कथनों में दी गयी सूची में जगन्नाथप्रसाद शर्मा का नाम नहीं है। तो जगन्नाथप्रसाद शर्मा आख़िर किसके 'प्रिय' थे? वे एक बड़ी सीमा तक रामचन्द्र शुक्ल के 'प्रिय' थे। उनकी पुस्तक 'हिन्दी की गद्य शैली का विकास' की नोक-पलक को रामचन्द्र शुक्ल ने सँवारा था, प्यार से वे जगन्नाथप्रसाद शर्मा को 'पनडिब्बा'[150] कहते थे। जगन्नाथप्रसाद शर्मा की नियुक्ति की सूचना अपने घरवालों को रामचन्द्र शुक्ल ने इन शब्दों में दी थी—डिब्बा विश्वविद्यालय में पहुँच गया। अब पान मिला करेगा।''[151]

'काशी विश्वविद्यालय : देखी तुम्हरी कासी' शीर्षक खंड में सुधाकर पांडेय और उनकी पुस्तक 'स्मृति गंगा' (इस पुस्तक में संग्रहीत संस्मरण ही 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में समय-समय पर प्रकाशित हुए थे जिनका हवाला विश्वनाथ त्रिपाठी ने दिया है) का ज़िक्र कर विश्वनाथ त्रिपाठी ने कुछ बातें/टिप्पणियाँ की हैं। पहली बात तो यह कि ये वही सुधाकर पांडेय है जिन पर ठाकुरप्रसार सिंह ने एक अति रोचक आख्यान 'हसन का पाजामा और पाण्डेय बन्धु' लिखाा था जो 'दिनमान' में प्रकाशित हुआ था। विश्वनाथ त्रिपाठी ने सुधाकर पांडेय के हवाले से लिखा है—''हिन्दी विभाग की अध्यक्षता जब जगन्नाथप्रसाद शर्मा को नहीं मिली तो वे कमलापति जी से खिंच गये थे।''[152] यह बात सोलहों आने ग़लत है। कमलापति त्रिपाठी, जगन्नाथप्रसाद शर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' स्कूली दिनों से दोस्त थे। जगन्नाथप्रसाद शर्मा कमला कह कर कमलापति त्रिपाठी को संबोधित करते थे। ऐसी अन्तरंगता थी आपस में। जब हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अध्यक्ष पद का कार्यभार ग्रहण कर लिया—हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में, तब कमलापति त्रिपाठी क्या कर सकते थे? वे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश थे अथवा राष्ट्रपति। इस संबंध में एक घटना के उल्लेख से बात और स्पष्ट हो

जाएगी। 1980 में बनारस लोक सभा सीट से कांग्रेसी उम्मीदवार थे—कमलापति त्रिपाठी एवं विरोध में थे राजनारायण। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में परीक्षा चल रही थी और मैं भी एक कक्ष में निरीक्षण कार्य कर रहा था (मुझे विश्वविद्यालय में कार्य करते हुए 6 वर्ष हो चुके थे)। परीक्षा समाप्त होने के बाद उत्तर पुस्तिकाएँ जमा करने जब हम सभी अध्यापक कन्ट्रोल रूप में पहुँचे तो देखा कि जगन्नाथप्रसाद शर्मा वहाँ करुणापति त्रिपाठी (करुणापति त्रिपाठी हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापक रह चुके थे और बाद में सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति रहे) के साथ बैठे थे और हम सभी अध्यापकों/बुद्धिजीवियों से कमलापति त्रिपाठी के लिए वोट माँगने आए थे। जगन्नाथप्रसाद शर्मा अतिशय वृद्ध हो चुके थे और अब किसी भौतिक वस्तु के तलबगार न थे। जगन्नाथप्रसाद शर्मा को कमलापति त्रिपाठी क्या देते और जगन्नाथप्रसाद शर्मा क्या लेते। वो उम्र तो गुज़र चुकी थी। सिर्फ़ स्कूली दिनों से चली आ रही 'दोस्ती' का तकाज़ा था जिसे जगन्नाथप्रसाद शर्मा बखुशी पूरा कर रहे थे। 'जाने कहाँ गए वे दोस्त...।'

जगन्नाथप्रसाद शर्मा कितने शिष्य-वत्सल थे और कितने उदार इसे दो घटनाओं से समझा जा सकता है। 1965 में अध्यक्ष रहते जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने खुले खजाने काशीनाथ सिंह की नियुक्ति की थी जो नामवर सिंह के भाई थे एवं हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रिय शिष्यों/सलाहकारों में शीर्ष पर थे। और नामवर सिंह—बकौल विश्वनाथ त्रिपाठी—''जगन्नाथप्रसाद शर्मा की चाल की एक्टिंग नामवर जी बहुत अच्छी करते''[153] के बारे में जब जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने एक अभिनंदन समारोह (यह समारोह त्रिभुवन सिंह ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्यक्ष बनने पर 1987 में जगन्नाथप्रसाद शर्मा के अभिनंदन के लिए आयोजित किया था) में काशीनाथ सिंह से बड़े मार्मिक स्वर में पूछा था—''काशी, नामवर जब बनारस आता है तो कभी मिलने नहीं आता, मैंने तो उसका कभी कुछ नहीं बिगाड़ा''—और काशीनाथ सिंह निःशब्द रह गए थे।

'सतीर्थ मंडल वाले अध्याय में विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है—''शुकदेव सिंह की और मेरी पटती थी।''[154] यह वाक्य सफेद झूठ है। यदि पटरी बैठती तो बार-बार केदारनाथ सिंह को दोनों में समझौता न कराना पड़ता। इस बारे में मैंने एक बार जब शुकदेव सिंह से पूछा था तो उनका दिया गया उत्तर अलिखनीय है। विश्वनाथ त्रिपाठी ने इसी अध्याय में यह लिखा है कि ''नामवर जी के प्रिय ग्राम-कथाकार मार्कन्डेय थे, शिवप्रसाद जी नहीं।''[155] यह वाक्य भी प्रमाणसंगत नहीं है। नामवर सिंह ने जो महत्ता निर्मल वर्मा और उषा प्रियंवदा को दी है, उसका एक मामूली हिस्सा भी मार्कण्डेय के खाते में नहीं आया है।

'बना रहे बनारस' वाले ध्याय में विश्वनाथ त्रिपाठी ने हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास' का उल्लेख मात्र किया है। यह नहीं बताया कि इसमें कितनी भयंकर भूलें हैं। आख़िर गुरु-श्रद्धा का सवाल है।

'साहित्य अकादेमी' वाला अध्याय 'व्योमकेश दरवेश' पुस्तक का दुर्बलतम अंश है। विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है—''यशपाल के संबंध में विवाद हुआ। कहते हैं कि 'दिनकर' ने आपत्ति दर्ज की कि 'झूठा सच' के लेखक ने किताब में जवाहरलाल नेहरू के लिए अपशब्दों का प्रयोग किया है। ...द्विवेदी जी पर 'दिनकर' जी की धमकी का असर पड़ा होगा।...और 'मेरे नगपति मेरे विशाल' के गायक को क्या कहा जाए जो अपने समय का सूर्य होने की घोषणा करता था।''[156] यानी मुख्य अपराधी 'दिनकर'। इस सम्बन्ध में डी.एस. राव की किताब 'फाइव डिकेड्स : ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ़ साहित्य अकादेमी' में क्या कहा गया है, इसे भी देख लिया जाए—''एक्ज़ीक्यूटिव बोर्ड की मीटिंग में जवाहरलाल नेहरू ने हजारीप्रसाद द्विवेदी से

पूछा कि यशपाल के 'झूठा सच' को क्यों आप लोग पुरस्कार नहीं दे रहे हैं? इस पर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा कि इस उपन्यास में नेहरू की आलोचना की गयी है। इस पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा—यह तो पुरस्कार न देने की कोई वजह नहीं है।''[157] इसी तरह हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गजानन माधव मुक्तिबोध के काव्य संकलन 'चांद का मुँह टेढ़ा है' को साहित्य अकादेमी पुरस्कार न देकर नगेन्द्र के 'रस सिद्धांत' को पुरस्कार दिलवाया था। इन घटनाओं के बरक्स ज़रा इस वाक़ए का देखिये। साहित्य अकादेमी के निर्णायक मंडल में सुमित्रानंदन पंत एवं बालकृष्ण राव थे और दोनों ने रामविलास शर्मा की पुस्तक 'निराला' की साहित्य-साधना' को पुरस्कृत करने की सिफारिश की थी जबकि पुरस्कृत कृति में सुमित्रानंदन पंत एवं बालकृष्ण राव की ख़ासी आलोचना थी। जवाहरलाल नेहरू, सुमित्रानंदन पंत एवं बालकृष्ण राव के कद के समाने हजारीप्रसाद द्विवेदी कहाँ ठहरते हैं यह तो विश्वनाथ त्रिपाठी का दिल ही जानता होगा।

'आकाशधर्मा का विस्थापन' शीर्षक अध्याय में विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है—''कहते हैं कि बहुत दिनों तक श्यामसुन्दरदास एक रुपया महीना वेतन लेते रहे।''[158] यह बात भी पूर्णतया ग़लत है। श्यामसुन्दरदास ने एक रुपया महीना वेतन कभी नहीं लिया, सच तो यह है कि कोई वेतन तब तक नहीं लिया जब तक कि उनकी न्यायोजित माँग पूरी नहीं हो गयी। उनका कथन द्रष्टव्य है—''मैं प्रोफेसर था और मेरे भलीभांति कार्य चलाने का उपहार यह मिला कि पद प्रोफेसर का रख कर ग्रेड असिस्टेन्ट प्रोफेसर का दिया गया। मैंने इसे स्वीकार नहीं किया। अंत में जा कर 400/- वेतन मुझे दिया जाने लगा।''[159] इसी अध्याय में विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है—''संभवतः विभाग की आंतरिक राजनीति का भी हाथ है नंददुलारे वाजपेयी के सागर चले जाने में।''[160] यह बात भी आधारहीन है। प्रबल महत्त्वाकांक्षी नंददुलारे वाजपेयी को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अपना कोई भविष्य नज़र नहीं आता था। सागर में रीडर-अध्यक्ष पद मिला, प्रोफेसर होने की आशा फलीभूत होती नज़र आई क्योंकि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जगन्नाथप्रसाद शर्मा एवं विश्वनाथप्रसाद मिश्र जो नंददुलारे वाजपेयी से अध्यापन-अनुभव में वर्षों वरिष्ठ थे, के रहते नंददुलारे वाजपेयी कभी आगे नहीं बढ़ सकते थे। इसीलिए वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय छोड़ कर सागर गए। वैसे यदि नंददुलारे वाजपेयी सागर न जाते, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में ही बने रहते, हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रोफेसर-अध्यक्ष बन कर आने के बाद भी, तो हिन्दी विभाग में क्या होता, इसकी आज मात्र कल्पना ही की जा सकती है। इसी अध्याय में विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है—''द्विवेदी जी को खदेड़ने में प्रतिबद्ध डॉ. जगन्नाथप्रसाद शर्मा...।''[161] इससे पहले 'अध्यापक मंडल' वाले अध्याय में भी विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है—''अनेक उच्च अधिकारियों, नेताओं और अनेक देशी रियासतों के राजाओं-महाराजाओं से जगन्नाथप्रसाद शर्मा की अच्छी मित्रता थी जिसका उपयोग उन्होंने पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी को काशी से हटाने में सफलतापूर्वक किया। वे विभागीय राजनीति के सिद्धहस्त और अचूक खिलाड़ी थे।''[162] एक बनारसी डॉ. जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र थे, जिन्होंने द्विवेदी जी को निकलवाकर ही दम लिया।[163] यानी मुख्य खलनायक जगन्नाथप्रसाद शर्मा थे एवं सहयोगी विश्वनाथप्रसाद मिश्र। हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ निकाले गए थे—राजबली (पांडेय), गोपाल (त्रिपाठी), रामअवध (द्विवेदी) आदि। जगन्नाथप्रसाद शर्मा की इंजीनियरिंग विभाग के गोपाल त्रिपाठी, अंग्रेजी विभाग के रामअवध द्विवेदी एवं प्राचीन इतिहास विभाग के राजबली पांडेय से कौन दुश्मनी थी? क्या जगन्नाथप्रसाद शर्मा इतने शक्तिशाली थे कि वे मुदालियर कमेटी को अपनी मर्ज़ी से 'डिक्टेट' कर सकते थे? जगन्नाथप्रसाद शर्मा कितने

'खानदानी दुश्मन' थे, इसका अन्दाज़ा इन पंक्तियों से लगाया जा सकता है—''...द्विवेदी जी विभाग से कुछ वर्षों की छुट्टी लेकर नागरी-प्रचारिणी सभा में काम करना चाहते थे।...द्विवेदी जी ने डॉ. जगन्नाथप्रसाद शर्मा से राय माँगी। डॉ. शर्मा उन दिनों द्विवेदी जी को हटा कर अध्यक्ष की कुर्सी पर बैठने के लिए पूरा ज़ोर लगा रहे थे। लेकिन उन्होंने द्विवेदी जी को राय दी—मत जाइए। और जाइए तो यह बात मन से निकाल दीजिए कि आप कुछ वर्षों बाद यहाँ लौट कर आने पाएँगे। हम आपकी अनुपस्थिति में ऐसी स्थिति पैदा कर देंगे कि आप यहाँ लौट कर नहीं आ पाएँगे।''[164] जगन्नाथप्रसाद शर्मा के ये शब्द बाबू नन्हकूसिंह की याद क्यों दिला रहे हैं?

हजारीप्रसाद द्विवेदी को विश्वनाथ त्रिपाठी ने 'आकाशधर्मा' कहा है। इन आकाश धर्मा के बारे में विश्वनाथप्रसाद मिश्र की राय क्या है, इसे भी देख लिया जाए—''विभाग में आने के बाद हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बड़ी राजनीति की। तब तक आचार्य नरेन्द्रदेव उपकुलपति के रूप में आ चुके थे। मैंने नरेन्द्रदेव से... शिकायत की। उन्होंने द्विवेदी जी से कहा कि यह व्यक्ति आपसे भी पुराना है, अतः इनकी शिकायत दूर करें।''[165] इसी घटना को और विस्तार से विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने कृष्णबिहारी मिश्र से यूँ बयान किया था—''एक बार विभागीय व्यवस्था में मुझे एम.ए. की कक्षा से वंचित कर दिया गया था। मैं सीधे कुलपति आचार्य नरेन्द्रदेव के यहाँ पहुँचा और निवेदन किया कि अपने वेतनमान के स्तर को नीचे उतारने की अर्जी ले कर आया हूँ। नरेन्द्रदेव जी मेरी बात समझ नहीं पाए तो मैंने अपना पक्ष स्पष्ट किया कि मेरा वेतनमान स्नातकोत्तर स्तर का निर्धारित हुआ है, लेकिन मेरा अध्यापन-कर्म स्नातक-स्तर तक सीमित है। ऐसी स्थिति में स्नातकोत्तर स्तर का वेतन स्वीकार करना विवेक को अनुचित लगता हे। कुलपति महोदय मेरी बात सुन कर चौंके—द्विवेदी जी के रहते ऐसी ग़लती हुई कैसे? यह तो महज आप के साथ अन्याय नहीं है, उन विद्यार्थियों के साथ अन्याय है जो आप लोगों का नाम सुन कर दक्षिण भारत तक से हिन्दी पढ़ने इस विश्वविद्यालय में आते हैं। और अपेक्षित संशोधन का निर्देश उन्होंने विभागाध्यक्ष को दिया था। एम.ए. कक्षा का द्वार तो मेरे लिए खुल गया, पर आहत स्वाभिमान का वह सटीक उपचार नहीं था। ...दंश तो मन में चुभता ही रहा। ऐसी कुटिल परिस्थिति में काम करना कितना कठिन होता है, आप समझ सकते हैं।''[166] क्या उपर्युक्त पंक्तियों को किसी 'भाष्य' की ज़रूरत है?

'गाढ़े का साथी : पंजाब' शीर्षक अध्याय में विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है—''...कालूलाल श्रीमाली की लड़की दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में छात्रा थी।''[167] यह कथन पूर्णतः असत्य है। कालूलाल श्रीमाली की पुत्री संस्कृत की छात्रा रही थी, वह भी दिल्ली विश्वविद्यालय में नहीं; उसके शोध कार्य में भोलाशंकर व्यास ने (जो हिन्दी के प्रोफेसर एवं संस्कृत के उद्भट विद्वान थे) प्रभूत मात्रा में सहायता की थी और फलस्वरूप प्रोन्नति में प्रोफसरशिप पाई थी। इसी अध्याय में विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है—''और इसके बाद दिल्ली विश्वविद्यालय की चयन-समिति में पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी बराबर बने रहे और वही करते रहे—आँख मूँद कर, जो डॉ. नगेन्द्र कहते रहे।''[168] और प्रतापी जगन्नाथप्रसाद शर्मा के पुत्र आनन्द शर्मा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलसचिव कार्यालय में मामूली क्लर्क थे। इसी अध्याय में विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है—''शेष काम डॉ. नगेन्द्र ने संभाल लिया, द्विवेदी जी के समधी (विनय मोहन शर्मा उर्फ शुकदेव तिवारी) के हित में।''[170] सौभाग्य या दुर्भाग्य से जगन्नाथप्रसाद शर्मा एवं विश्वनाथप्रसाद मिश्र का ऐसा कोई समधी नहीं था और यदि होता भी तो 'स्वाभिमानी' जगन्नाथप्रसाद शर्मा एवं विश्वनाथप्रसाद मिश्र दुनिया के आख़िरी आदमी होते जो किन्हीं नगेन्द्र से इस संबंध में कुछ कहने जाते।

'फिर बैतलवा उसी डार पर' खंड में विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है—''चयन-समिति ने द्विवेदी जी को ऑफर दिया और साथ में पैनल भी बनाया। क्यों? कोई नहीं जानता।''[171] जो विश्वनाथ त्रिपाठी के लिए अज्ञात वस्तु है वह कोई रहस्य नहीं है। चयन-समिति के सदस्य थे—हरवंशलाल शर्मा, सत्येन्द्र एवं उदयनारायण तिवारी। हरवंशलाल शर्मा जानते थे कि हजारीप्रसाद द्विवेदी की नियुक्ति हिन्दी विभागाध्यक्ष पद पर हो नहीं पाएगी क्योंकि वे 60 वर्ष की आयु छूने ही वाले थे। हरवंशलाल शर्मा ने पैनल बनाया—1. विजयपाल सिंह 2. प्रेमस्वरूप गुप्त। विजयपाल सिंह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पदारूढ़ हुए और बाद में प्रेमस्वरूप गुप्त अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में। यह पूरा खेल शतरंज के खिलाड़ी हरवंशलाल शर्मा का था जिन्होंने अपने 'पालक बालकों' को सिंहसनारूढ़ करा दिया। जगन्नाथप्रसाद शर्मा एवं विश्वनाथप्रसाद मिश्र की इस पूरे प्रकरण में न कोई भूमिका थी और हो भी नहीं सकती थी। इसी खंड में विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है—''हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के अद्वितीय प्रोफेसर कम-से-कम एक बात में रहे कि उनके पुत्र ने उन्हीं के विभाग—यानी हिन्दी में एम.ए. किया और प्रथम श्रेणी नहीं आई।''[172] 'ग़ालिब' का एक शेर याद आता है—

रेख़्ता के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो ग़ालिब
कहते हैं अगले ज़माने में कोई मीर भी था।

नहीं, ऐसा नहीं है विश्वनाथ त्रिपाठी जी, ऐसे और भी प्रोफेसर थे। इस संबंध में पहले विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कथन द्रष्टव्य है—''बाबू श्यामसुन्दरदास के पुत्र श्री गोपाललाल खन्ना भी हिन्दी एम.ए. की परीक्षा में बैठने वाले थे।... उनसे मेरी मित्रता हो गयी थी। मुझसे बोले—तुम्हारी उत्तर पुस्तिका देखकर बाबू जी गद्‌गद् हो गए। तुम्हें प्रथम श्रेणी के अंक दिए हैं।...गोपाललाल खन्ना को बाबू श्यामसुन्दरदास के परीक्षक होते हुए भी एम.ए. में द्वितीय श्रेणी ही मिली। इस पर यही कह सकता हूँ कि उस समय के ये महापुरुष देवता थे।''[173] इसी प्रसंग में कृष्णबिहारी मिश्र लिखते हैं—''आज का कौन अध्यापक विश्वास करेगा कि पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र जैसे प्रभावशाली आचार्य के ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रशेखर जी ने द्वितीय श्रेणी में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की थी।''[174]

इसी खण्ड में विश्वनाथ त्रिपाठी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के 'रेक्टर' के रूप में हजारीप्रसाद द्विवेदी की भूमिका को बड़े जोर-शोर से 'डिफेन्ड' करने की कोशिश की है। वे काशीनाथ सिंह के संस्मरण 'होल्कर हाऊस में हजारीप्रसाद द्विवेदी' से खासे रुष्ट/कुपित/क्षुब्ध दृष्टिगोचर होते हैं। जबकि काशीनाथ सिंह का यह संस्मरण पूर्णतया तथ्यपूर्ण है। विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं—''डॉ. मैनेजर पांडेय तब वहाँ विद्यार्थी थे।...पंडित जी के बारे में कभी-कभी बताते हैं। रेक्टर के रूप में उनकी आलोचना करते हैं।[175] चलिए, मान लेते हैं कि काशीनाथ सिंह नालायक शिष्य निकल गए, मैनेजर पांडेय प्रखर वामपंथी होने के कारण रेक्टर के रूप में हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना करते हैं लेकिन तुलसीराम का क्या करियेगा। वे तब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में छात्र थे जब हजारीप्रसाद द्विवेदी रेक्टर थे। तुलसीराम का हिन्दी विभाग से कुछ लेना-देना नहीं था, वे राजनीति विज्ञान के छात्र थे, उन्हें न जगन्नाथप्रसाद शर्मा और विश्वनाथप्रसाद मिश्र से कोई राग था, न हजारीप्रसाद द्विवेदी से कोई द्वेष। अपनी आत्मकथा 'मणिकर्णिका' में वे लिखते हैं—''हुआ यह था कि कुछ हिन्दुत्ववादी छात्रों ने जब बिरला हॉस्टल के अनेक छात्रों को बुरी तरह पीट दिया था तो बी.एच.यू. में हड़ताल हो गयी थी। उन दिनों हजारीप्रसाद द्विवेदी रेक्टर थे। वे हिंसा के विरोध में एक दिन के उपवास पर चले गए। अखबारों में यह ख़बर आने से हम सभी बहुत खुश हुए थे किन्तु शीघ्र ही तत्कालीन वाइस चांसलर डॉ. अमरचंद जोशी के दबाव डालने पर द्विवेदी जी ने अपना रुख बदलते हुए यह घोषणा

कर दी कि उन्होंने हिंसा के विरोध में नहीं, बल्कि 'एकादशी' का व्रत रखा था।''[176] तुलसीराम का उपर्युक्त कथन विश्वनाथ त्रिपाठी के 'आराध्य देवता' को कहाँ ले जा कर खड़ा करता है?

जहाँ तक व्याकरण-योजना के निदेशक पद को स्वीकार करने की बात है, वहाँ यह कहना होगा कि इसके लिए हजारीप्रसाद द्विवेदी को किसी ने मजबूर नहीं किया था। रेक्टर के पद पर कार्य करने के बाद व्याकरण योजना में कार्य करना सर्वथा अशोभनीय था। के.एम. मुंशी संस्थान, आगरा में न जाना—चाहे किसी भी कारण से हो—हजारीप्रसाद द्विवेदी को हर दृष्टि से बचा गया। जहाँ हिन्दी के दो 'महाबली' रामविलास शर्मा और नामवर सिंह न चल पाए, वहाँ हजारीप्रसाद द्विवेदी की क्या हालत होती, क्या इसे बताने की ज़रूरत है। उ.प्र. हिन्दी संस्थान के जिस झगड़े में हजारीप्रसाद द्विवेदी पड़ गए थे उससे छुटकारा दिलाने में त्रिभुवन सिंह ने इनकी बड़ी सहायता की थी। तत्कालीन मुख्यमंत्री रामनरेश यादव त्रिभुवन सिंह के सहपाठी रहे थे और दोनों ही हजारीप्रसाद द्विवेदी के शिष्य रह चुके थे। लेकिन फिर वही यक्ष प्रश्न—उ.प्र. हिन्दी संस्थान में जाने की किसने गुहार की थी? क्या जीवन के अंतिम समय तक किसी न किसी पद पर बने रहना अनिवार्य है?

इस जीवनी में एक और दोष भी है। विश्वनाथ त्रिपाठी किसी व्यक्ति-विशेष का नाम न देकर यह लिखते हैं कि 'हिन्दी के एक प्रोफेसर साहब को यह बात मालूम हो गयी।'[177] बाद में अगले पृष्ठों में प्रोफेसर साहब का नाम भी लिख देते हैं ''...जो हिन्दी के प्रोफेसर और... फेलोशिप के प्राप्तकर्ता थे।''[178] वैसे यह आदत विश्वनाथ त्रिपाठी की पुरानी है। हिन्दी की एक विदुषी, सम्भ्रान्त एवं कुलीन महिला प्रोफेसर के बारे में वे लिखते हैं—''मैंने कहा कि आप (डॉ. नगेन्द्र) उनसे क्यों नहीं कहते कि नामवर सिंह से दूर रहें, मुझसे क्यों कहते हैं। वो तो आपकी शिष्या भी हैं।''[179] अब पाठक इतना तो समझदार है ही कि आसानी से जान लेगा कि विश्वनाथ त्रिपाठी क्या छिपा रहे हैं।

ऐसी जीवनी की प्रशंसा करते हुए नामवर सिंह लिखते हैं—''मुकम्मल किताब पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी पर विश्वनाथ त्रिपाठी की ही है।''[180] नामवर सिंह को यह जीवनी पढ़ते हुए 'कलम का सिपाही' (अमृतराय) एवं 'निराला की साहित्य-साधना' (रामविलास शर्मा) जीवनियाँ तो याद आईं, नहीं याद आई तो 'आवारा मसीहा' (विष्णु प्रभाकर) की जो हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ जीवनी है। नामवर सिंह की 'शिष्य-वत्सलता' का यह सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

'आलोचक का स्वदेश' एवं 'व्योमकेश दरवेश' के लेखक यदि 'एक नाव के यात्री' नज़र आते हैं तो उसका बड़ा करण 'अन्ध श्रद्धा' ही है। इस 'अन्ध श्रद्धा' को देख कर नरेशचन्द्र चतुर्वेदी की एक समीक्षा याद आती है जो उन्होंने रामकमल राय की 'अज्ञेय' पर लिखी गयी जीवनी 'शिखर से सागर तक' पर लिखी थी। नरेशचन्द्र चतुर्वेदी ने 'चुनौती के शिखर पर चढ़ी और असफलता के सागर में डूबी : अज्ञेय की जीवन-यात्रा' शीर्षक आलेख में लिखा था—''रामकमल राय ने 'अज्ञेय' के प्रति श्रद्धा विगलित भक्ति के कारण तथ्यान्वेषण तथा वस्तुपरक विश्लेषण को अपनाया ही नहीं है और 'अज्ञेय' के पक्ष में संकीर्त्तन की मुद्रा अपनाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।''[181] विजयबहादुर सिंह और विश्वनाथ त्रिपाठी भी यह भूल गए कि वे 'विनय पत्रिका' का द्वितीय भाग नहीं लिख रहे हैं, जीवनी लिख रहे हैं, जहाँ केवल सच लिखना है और सच के सिवाय कुछ नहीं लिखना है। विजयबहादुर सिंह और विश्वनाथ त्रिपाठी को देखकर एक शेर याद आता है—

कभी लौट आएँ तो पूछना, नहीं देखना उन्हें ग़ौर से
जिन्हें रास्ते में ख़बर हुई कि ये रास्ता कोई और है।

सन्दर्भ

1. कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी—परिशिष्ट-02, छन्द संख्या-247, पृ. 353
2. रामचन्द्र शुक्ल—चन्द्रशेखर शुक्ल—भूमिका लेखक—विष्णुचन्द्र शर्मा, पृ. 10
3. पाखी—जुलाई 2013, पृ. 05
4. वही, पृ. 42
5. वही, पृ. 04
6. वही, पृ. 46
7. आोचक का स्वदेश—विजयबहादुर सिंह, पृ. 07
8. वही, पृ. 09
9. वही, पृ. 37
10. वही, पृ. 40
11. जो कहूँगा सच कहूँगा—कान्तिकुमार जैन, पृ. 29
12. महाकवि सूरदास—नंददुलारे वाजपेयी पृ. 03
13. जो कहूँगा सच कहूँगा—कान्तिकुमार जैन, पृ. 50-51
14. आलोचक का स्वदेश—विजयबहादुर सिंह, पृ.50
15. वही, पृ. 51
16. वही, पृ. 60
17. वही, पृ. 62
18. नेह के नाते अनेक—कृष्णबिहारी मिश्र, पृ. 33
19. सम्मेलन पत्रिका—श्यामसुन्दरदास जन्मशती विशेषांक—'बाबू श्याम सुन्दर दास : खुले-अनखुले पन्ने'—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 43
20. अर्धकथा—नगेन्द्र, पृ. 38, 39, 40
21. आलोचक का स्वदेश—विजयबहादुर सिंह, पृ. 67
22. वही, पृ. 64
23. वही, पृ. 72
24. वही, पृ. 75
25. वही, पृ. 77
26. वही, पृ. 77
27. वही, पृ. 82
28. वही, पृ. 89
29. वही, पृ. 89
30. वही, पृ. 90
31. वही, पृ. 90
32. जयशंकर प्रसाद —नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 09
33. नया साहित्य : नये प्रश्न—नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 157-158
34. वसुधा—47—अक्तूबर-दिसम्बर 1999—कांतिकुमार जैन का रामशंकर शुक्ल 'रसाल' विषयक संस्मरण
35. प्रेमचंद : कलम का सिपाही—अमृतराय, पृ. 486
36. जयशंकर प्रसाद—नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 143
37. आलोचक का स्वदेश—विजयबहादुर सिंह, पृ. 99
38. वही, पृ. 100
39. वही, पृ. 105
40. वही, पृ. 105
41. वही, पृ. 100
42. वही, पृ. 109
43. वही, पृ. 119
44. वही, पृ. 110

45. वही, पृ. 127
46. वही, पृ. 128
47. वही, पृ. 131
48. वही, पृ. 132
49. वही, पृ. 136
50. वही, पृ. 137
51. वही, पृ. 139
52. वही, पृ. 139-140
53. नेह के नाते अनेक–कृष्णबिहारी मिश्र, पृ. 33
54. आलोचक का स्वदेश–विजयबहादुर सिंह, पृ.142
55. वही, पृ. 142
56. वही, पृ. 144
57. वही, पृ. 145
58. हिन्दी साहित्य : 20वीं शताब्दी–नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 11
59. वही, पृ. 219
60. वही, पृ. 33
61. कवि सुमित्रानंदन पंत–नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 83-84
62. हिन्दी साहित्य : 20वीं शताब्दी–नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 27
63. आलोचक का स्वदेश–विजयबहादुर सिंह, पृ. 173
64. वही, पृ. 180
65. वही, पृ. 186
66. वही, पृ. 186
67. वही, पृ. 196
68. वही, पृ. 199-200
69. वही, पृ. 194
70. वही, पृ. 203
71. वही, पृ. 211
72. वही, पृ. 213
73. आधुनिक साहित्य–नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 82
74. वही, पृ. 367, 368
75. वही, पृ. 369
76. वही, पृ. 70
77. वही, पृ. 362
78. वही, पृ. 240
79. प्रेमचंद : साहित्यिक विवेचन–नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 21
80. वही, पृ. 159
81. वही, पृ. 159
82. वही, पृ. 164
83. वही, पृ. 184
84. आलोचक का स्वदेश–विजयबहादुर सिंह, पृ. 205
85. वही, पृ. 208
86. यह रैन्डम सूची है।
87. अपनी धरती अपने लोग–भाग 1 मुंडेर पर सूरज–रामविलास शर्मा, पृ. 207
88. आलोचक का स्वदेश–विजयबहादुर सिंह, पृ. 214
89. वही, पृ. 219
90. वही, पृ. 222
91. वही, पृ. 227

92. वही, पृ. 216
93. दूसरा सप्तक—भूमिका—सं.—'अज्ञेय', पृ. 08
94. अशोक वाजपेयी : पाठ-कुपाठ—सं. सुधीश पचौरी—'छुक छुक करती रेलगाड़ी का खेल'—रमेशदत्त दुबे, पृ. 56
95. आलोचक का स्वदेश—विजयबहादुर सिंह, पृ. 228
96. वही, पृ. 229
97. वही, पृ. 232
98. वही, पृ. 236
99. नया साहित्य : नये प्रश्न—नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 206
100. आलोचक का स्वदेश—विजयबहादुर सिंह, पृ. 233
101. वही, पृ. 199
102. आधुनिक साहित्य—नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 135
103. वही, पृ. 142
104. आलोचक का स्वदेश—विजयबहादुर सिंह, पृ. 241
105. वही, पृ. 275
106. वही, पृ. 276
107. वही, पृ. 276
108. वही, पृ. 287
109. वही, पृ. 276
110. वही, पृ. 287
111. कवि निराला—नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 54
112. आधुनिक साहित्य—नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 32
113. हिन्दी-साहित्य : 20वीं शताब्दी—नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 22
114. नई कविता—नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 16
115. वही, पृ. 17
116. जो कहूँगा सच कहूँगा—कान्तिकुमार जैन, पृ. 44
117. जयशंकर प्रसाद—नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 36-37
118. नया साहित्य : नये प्रश्न—नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 11
119. राष्ट्रीय साहित्य—नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 47
120. नया साहित्य : नये प्रश्न—नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 205
121. वही, पृ. 177
122. आधुनिक साहित्य—नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 332
123. साहित्य में साम्प्रदायिकता और जातिवाद—धनंजय वर्मा—'शेष', जनवरी-मार्च 2005, पृ. 34
124. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी : अविस्मरणीय प्रसंग'—धनंजय वर्मा—'साक्षात्कार'—मार्च 2006, पृ. 82
125. वही, पृ. 85
126. वही, पृ. 85
127. शब्दशिखर—06-07/2005, पृ. 136
128. जो कहूँगा सच कहूँगा—कान्तिकुमार जैन, पृ. 48
129. शब्दशिखर—04-05/2004, पृ. 58
130. आलोचक : आचार्य नंददुलारे वाजपेयी—राममूर्ति त्रिपाठी, पृ. 97
131. वही, पृ. 92
132. वही, पृ. 94
133. याद हो कि न याद हो—गरबीली ग़रीबी वह—काशीनाथ सिंह, पृ. 201
134. जो कहूँगा सच कहूँगा—कान्तिकुमार जैन, पृ. 133
135. पाखी—मार्च 2021, पृ. 38
136. आलोचक का स्वदेश—विजयबहादुर सिंह, पृ. 188
137. व्योमकेश दरवेश—विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 13
138. वही, पृ. 14

139. वही, पृ. 14
140. वही, पृ. 04
141. नगारी-प्रचारिणी पत्रिका—'केशव स्मृति अंक'—सं. कृष्णानंद, वर्ष 56, अंक 3-4, सं. 2008, पृ. 427-28
142. व्योमकेश दरवेश—विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 121
143. देखें, सत्तर शरद्-वसंत—छैलबिहारी गुप्त राकेश, पृ. 118
144. व्योमकेश दरवेश—विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 124
145. वही, पृ. 275
146. वही, पृ. 125
147. मेरी आत्मकहानी—श्यामसुन्दर दास, पृ. 215
148. वही, पृ. 219
149. वही, पृ. 222
150. रामचन्द्र शुक्ल—चन्द्रशेखर शुक्ल, पृ. 308
151. वही, पृ. 244
152. व्योमकेश दरवेश—विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 138
153. वही, पृ. 154
154. वही, पृ. 157
155. वही, पृ. 158
156. वही, पृ. 214
157. फाइव डिकेड्स (A Short History of Sahitya Academy)—डी.एस. राव, पृ. 197
158. व्योमकेश दरवेश—विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 242
159. मेरी आत्मकहानी—श्यामसुन्दर दास, पृ. 215
160. व्योमकेश दरवेश—विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 243
161. वही, पृ. 247
162. वही, पृ. 155
163. वही, पृ. 212
164. हजारीप्रसाद द्विवेदी : स्मृति ग्रन्थ—सं. मंजुरानी सिंह, पृ. 96
165. दुःख सबको माँजता है—'नेह के नाते अनेक' पुस्तक का दूसरा अध्याय—कृष्णबिहारी मिश्र, पृ. 27
166. व्योमकेश दरवेश—विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 262
167. वही, पृ. 259
168. वही, पृ. 259
169. वही, पृ. 271
170. वही, पृ. 286
171. वही, पृ. 288
172. बाबू श्यामसुन्दरदास : खुले-अनखुले पन्ने—सम्मेलन पत्रिका—श्यामसुन्दर दास जन्मशती विशेषांक, सं. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 43-44
173. दुःख सबको माँजता है—नेह के नाते अनेक पुस्तक का दूसरा अध्याय—कृष्णबिहारी मिश्र, पृ. 32
174. व्योमकेश दरवेश—विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 296
175. मणिकर्णिका—तुलसीराम, पृ. 78
176. व्योमकेश दरवेश—विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 317
177. वही, पृ. 322
178. वसुधा—99, मार्च 2017, पृ. 44
179. कथन—जुलाई-सितम्बर 2011, पृ. 91
180. हंस—फरवरी 1987, पृ. 81

संपर्क : राप्ती अपार्टमेंट, एच ब्लॉक, फ्लैट न. 904, गोमती नगर एक्सटेंशन, लखनऊ-226010 मो. : 963914715

चतुष्टयी की किसान गाथा
(दीनबन्धु मित्र, रवीन्द्रनाथ, फकीर मोहन सेनापति और प्रेमचन्द)

श्रीनारायण पाण्डेय

भारत कृषि प्रधान देश है। कृषि करने वाले को ही किसान कहते हैं। किसी जमाने में यह बड़ा ही मर्यादित कर्म रहा होगा, तभी तो कहावत प्रचलित है :

उत्तम खेती, मध्यम बान
अधम चाकरी भीख समान।

मुहावरों की जड़ें बहुत गहरे होती हैं, ये अनुभूतियों के संचित कोश हैं। आज समय बदल गया है। खेती उत्तम नहीं रह गयी है, तो क्या कहूँ मध्यम या अधम। नहीं, कोई और शब्द ढूँढ़ना होगा। आज किसान खेती से ही पलायन नहीं कर रहा है, जीवन से भी पलायन कर रहा है। एक समय था जब किसानों की तबाही के लिए अंग्रेज शासक और उनके द्वारा पालित-पोषित जमींदार, जागीरदार, राजे-महाराजे, नवाब, उनके गुमाश्ते जिम्मेदार माने जाते थे। इन्हीं के अत्याचार से किसान 'पागल' हो जाते थे। आज तो वे नहीं हैं, फिर आये दिन धरनेबाजी, लाठी चार्ज, या गोलियों की बौछार से किसानों की सिसकियाँ क्यों सुनायी पड़ती हैं?

पिछली शताब्दी में इन किसानों की सिसकियों को जिन लेखकों ने सुना था उनमें चार का उल्लेख कर रहा हूँ। एक थे दीनबन्धु मित्र, दूसरे रवीन्द्रनाथ ठाकुर तीसरे फकीर मोहन सेनापति और चौथे प्रेमचन्द। किताबें हैं : दीनबन्धु का नाटक 'नील दर्पण' (1860), रवीन्द्रनाथ की पुस्तक 'कथा व काहिनी' (दुइ बीघा जमीन) 1895, व 'गोरा', फकीर मोहन सेनापति की 'छै बीघा जमीन' (1902) व प्रेमचन्द की 'प्रेमाश्रम' (1922)। 'दुइ बीघा जमीन' (कथा व कहानी) में संकलित है। रचना काल बंगाव्द 1302 यानी सन् 1875 है। और फकीर मोहन सेन की पुस्तक (छह माण आठ गुंठ) 1902 ई. में प्रकाशित हुई थी। दोनों रचनाओं को आस पास रखकर पढ़ा जाए तो दोनों की भावनाओं में अद्‌भुत साम्य मिलेगा। यह कोई दैवी घटना नहीं है कि किसानों पर जुल्म किया जा रहा था। जब से भारत ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथों से होता हुआ ब्रिटिश सरकार के हाथों में गया, तब से कभी नीलहों के हाथों तो कभी जमीदारों

या समाज के दमदार लोगों द्वारा कभी जमीन हड़प कर, कभी लगान बढ़ा कर, कभी जमीन से बेदखल कर कभी कर्ज के जाल में फँसाकर, कभी झूठे मुकदमों में फँसाकर, कभी बेगारी न करने या देवी-देवता को चढ़ावन न देने के बहाने किसानों पर अत्याचार होता रहा। यह मैं तब की बात कर रहा हूँ, जब देश गुलाम था। आज आजाद भारत में अत्याचार के हथकंडे और हैं। मैं जिनकी चर्चा कर रहा हूँ, वे गुलाम भारत की हैं। मगर जुल्म का सिलसिला आज भी जारी है। तब भी किसान जान से मारा जाता था, आत्महत्या करता था, पागल हो जाता था, आज भी सब कुछ हो रहा है। तब इन कारनामों के समय सरकार परदेशी थी और आज देशी है।

1860 ई. में बँगला लेखक दीनबन्धु मित्र ने नीलहों द्वारा किसानों पर किये जाने वाले अत्याचार पर 'नील दर्पण' नाटक लिखा था। नीलहे किसानों पर किस प्रकार अत्याचार करते थे। फरीदपुर के मजिस्ट्रेट लात्थूर साहब ने 'नील कमीशन' के सामने दिये गये बयान में इस प्रकार बताया है कि ''नील की ऐसी कोई भी डिबिया इंग्लैंड नहीं पहुँचती जो इंसान के खून से रंगी न हो। यह बात कहने के लिये ईसाई पादरियों की निंदा की गई है, लेकिन मैं भी यह कहता हूँ कि यह बात बिल्कुल सच है। मैंने कुछ किसानों को देखा है जिनकी सभी देह बल्लमों से नाथ दी गयी थी। कुछ किसानों की लाशें मेरे सामने लायी गयीं, जिनकी हत्या निलहे साहब फोर्ड ने गोली मार कर की थी। मैं कई और किसानों की बात जानता हूँ, जिन्हें बल्लम से बुरी तरह जख्मी कर हत्या करके लाया गया था।'' उस समय इस अत्याचार के विरोध में, पादरी, ब्रिटिश पार्लियामेंट के कुछ सांसद, पत्रकार तथा कुछ सरकारी कर्मचारी सामने आये थे। दीनबन्धु मित्र ने इन्हीं नीलहों के अत्याचार को 'नील दर्पण' में दिखाया है।

बंकिम चन्द्र ने 'नील दर्पण' की तुलना हैरिएट वॉचर स्टो की पुस्तक 'अंकल टाम्ज केबिन' से की है। कहा है कि ''जैसे इसने अमरीका के नीग्रों को दास प्रथा से मुक्त किया है, उसी प्रकार 'नील दर्पण' ने भी नील दासों को मुक्त करने का काम किया है।'' इससे सबक लेना चाहिये कि साहित्यकार पक्षधर होता है। अत्याचार के विरोध में जनता की कतार में होता है। कछुआधर्मी नहीं होता। दीनबन्धु जनता के बन्धु थे। नीलहे तो चले गय, मगर किसान-उत्पीड़न बना रहा। रवीन्द्रनाथ और फकीर मोहन सेनापति, प्रेमचन्द ने भी इसी उत्पीड़न को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त किया है। सेनापति ने इस उत्पीड़न को उपन्यास में दर्शाया तो रवीन्द्र नाथ ने कविता और उपन्यास दोनों में।

रवीन्द्रनाथ की ख्याति कवि रूप में थी। वे 'कविगुरु' कहलाते थे। मगर उसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि वे कल्पना विलासी, या रहस्यवादी कवि थे। अपने जीवन के व्यवहारिक क्षेत्र में वे स्वतंत्र और समृद्ध देश के आकांक्षी तथा देशवासियों के सुख-दुःख के प्रति संवेदनशील थे। उनका 'जन गण मन अधिनायक' राष्ट्र गीत है। 'ओ गो आमार देशेर माँटी, तोमार पाये, ठेकाइ माथा' (ऐ हमारे देश की मिट्टी तुम्हारे पैरों को छू रहा हूँ।) 'सार्थक जन्म आमार, जन्मेछि एइ देशे ''मेरा जन्म लेना सार्थक है कि मैं इस देश में जन्मा हूँ।'' जैसे कई और देश-प्रेम विषयक गीत हैं। उन्हें बंग-भंग आन्दोलन में गले में हारमोनियम झुलाकर बाँग्लार माटी के बाँग्लार गीत गाते हुये आन्दोलनकारियों के साथ सड़क पर देखा गया है। उनके कलकत्ता के जोड़ा-साँकू वाले घर में क्रान्तिकारियों का आना-जाना होता था। शान्ति निकेतन में क्रान्तिकारी अध्यापक थे। जलियाँवाला गोली काण्ड के प्रतिवाद में उन्होंने 'नाइटहुड' त्याग दिया था। फासीवाद के विरोध में उन्होंने प्रेमचन्द के पास अपनी शुभकामना भेजी थी। ठाकुर परिवार के पहले आदमी थे जिन्होंने अपने लड़के की शादी विधवा से की थी। विश्व मंच पर नाजीवाद,

फासीवाद, पूँजीवाद के विरोधी थे। गाँधी-रवीन्द्र श्रद्धा-स्नेह किसी से छिपा नहीं है। इस प्रकार सक्रिय राजनीति में न होकर भी भारतीय जन-मानस के निकट थे। उनकी जीवनी और लेखनी पढ़ने यह मालूम होता है कि उनको यह पछतावा रह गया था कि जन-सामान्य के लिए जितना करना चाहिए था, उतना मैं नहीं कर सका। मैं अपनी कमी स्वीकारता हूँ।

उन्होंने एक कविता में अपनी इस कमी को स्वीकार करते लिखा है कि मैं समाज के उच्च मंच पर बैठा एक छोटी सी खिड़की से उस जगह को देख रहा हूँ, जहाँ किसान हल चला रहा है, जुलाहा कपड़ा बुन रहा है, मछुआरा जाल फेंक रहा है, इनका कर्मक्षेत्र बहुत दूर तक फैला हुआ है, इन्हीं पर सारा संसार टिका हुआ है। बीच-बीच में मैं उनके पाढ़े (मुहल्ले) के नजदीक गया हूँ, मगर उसमें अन्दर जाने की हिम्मत हममें नहीं थी। इसके लिये मैं अपनी निन्दा मान लेता हूँ कि यह कमी हममें थी। जानता हूँ कि मेरी कविता सब तक नहीं पहुँची है। मैं उस कवि की कविता सुनने के लिये कान लगा कर बैठा हूँ, जो किसान के जीवन में शरीक हैं, जो माटी के नजदीक हैं और जिन्होंने अपनी वाणी और कर्म से उनकी आत्मीयता प्राप्त कर ली है।

'दो बीघा जमीन' में रवीन्द्रनाथ इसके मालिक उपेन के पाढ़े के आसपास से लौट नहीं आये हैं, उसके भीतर जाकर उपेन की दुर्दशा को आद्योपान्त देखा भी है।

'दो बीघा जमीन' का मालिक उपेन कहता है, ''केवल यह दो बीघे जमीन ही हमारे पास बची है, बाकी सब कर्ज में चली गयी है। जब बाबू ने कहा मैं इसे खरीद लूँगा, उपेन ने कहा आप भूस्वामी (जमींदार) हैं, अपके पास बहुत जमीन है। विचार करके देखियेगा कि मेरे लिये तो यही जीवन-मरन की साथी है। बाबू ने कहा, जानते हो न बापू, एक बगीचा लगाये हैं, उसी के लिये यह जमीन लेना होगा। उपेन ने हाथ जोड़ कर सजल नेत्रों से कहा, यह सात पुरखों की निशानी है, गरीबी के कारण मैं इस माँटी-माँ को बेच नहीं सकता। आँखें लाल लाल कर, कुछ देर मौन रह कर, क्रूर हँसी हँस कर उन्होंने कहा, अच्छा, फिर देखा जायेगा।''

करीब डेढ़ महीने बाद झूठा कर्ज दिखा कर भूस्वामी ने डिग्री करा लिया और उपेन घर-दुआर छोड़कर सड़क पर आ गया, निराश्रित। इस दुनिया में जिसके पास जितना अधिक है, वही सबसे अधिक हाय-हाय करता है। इस तरह राजा गरीब के धन की चोरी करता है। सोचा भगवान ने यही भाग्य में लिखा है। उपेन संन्यासी के वेष में देश देशान्तर, मनोरम स्थानों में घूमता। रहा, मगर दो बीघा जमीन भूल न पाया। पन्द्रह सोलह वर्ष बाद घर लौटने की इच्छा हुई। सुजला सुफला शस्य श्यामला बंग-भूमि को प्रणाम करता हुआ, दो दिन बाद दूसरी बेला में अपने गाँव पहुँचा। मन में कहा ''निर्लज्ज कुलटा जन्मभूमि तुम्हें सौ-सौ बार धिक्कार है, जब कभी जिस किसी की हो गई, क्या यही जन्मभूमि है। क्या तुम्हें वह दिन याद आयेगा जब तुम दरिद्र माता थी, अपने आँचल में शाक-सब्जी, फल-फूल भरे रहती थी, आज किसके भुलावे में आकर पंचरंगा पाता आँचल में बाँधकर विलासिनी-वेष में फूलों से वालों को सजाये हुए हो। मैं तुम्हारे लिये विरागी बनकर, घर-विहीन होकर, दुखिया होकर चारों ओर घूम रहा हूँ, और ऐ राक्षसी तू यहाँ बैठी, हँसती हुई दिन बिता रही हो? धनी के यहाँ आदर पाकर घमंड मत करो, आज तुम बदल गयी, पहले का कोई चिह्न बाकी नहीं रह गया है। तुम कल्याणी थी, अन्नपूर्णा थी, आज अपने को जितना ही सजाओ, जितना हँसो, पहले देवी थी, आज दासी बन गई हो।''

विदीर्ण हृदय से उपेन चारों ओर देख रहा है। दीवाल के पास अभी वह आम का पेड़ है। उसके नीचे बैठ गया मन शान्त हुआ। एक-एक कर बचपन की बातें याद आने लगीं।

याद आयी जेठ की आँधी, रात भर नींद नहीं आती, सबेरा होते ही आम बीनने चला जाता। वही प्यारी दुपहरी, स्कूल से भागना, सोचने लगा ''हाय! वे सब कहाँ, नया फिर कभी उस जीवन को पायेंगे। सहसा हवा चली और पेड़ से दो पका फल हमारे पास आकर गिरा। लगा, जैसे माता ने अभी हमें पहचाना है, स्नेह से दिये उस दान को सम्मान के साथ कई बार माथे से लगाया। इसी बीच यमदूत जैसा माली आया और गालियाँ देने लगा। हमने कहा—हमने तो चुपचाप अपना सब कुछ दे दिया है और आज दो फल के लिये इतना शोरगुल। मुझे पहचाना नहीं, मुझे पकड़ कर बाबू के पास ले गया। बाबू अपने परिषदों के साथ छीप से मछली मार रहे थे। सारा विवरण सुनकर गुस्सा कर कहा, 'मारते मारते, तुम्हारी जान ले लूँगा।' जितना बाबू कह रहे थे, परिषद उसका सौ गुना कह रहे थे। हमने कहा बाबू दो आम भीख माँग रहा है। बाबू ने हँस कर कहा, बेटा साधू के वेश में पक्का चोर है। मुझे सुनकर हँसी आयी। आँखों से आँसू निकल आये। यही हमारे भाग्य में था कि महाराजा आज साधू हो गये हैं, और मैं चोर हो गया हूँ।'' कविता एक आह छोड़ जाती है उपेन विद्रोही किसान नहीं है, मगर उसकी आह विद्रोही है। पाठक के मन में विद्रोह की आग धधक उठती हे कि ऐसी लूट-पाट।'' रहीम की याद आती है—

रहिमन आह, गरीब की, हरि सों सहा न जाय।
मुये चाम की साँस से, लोह भसम होइ जाय ॥

इन्हीं उपेन जैसों की अवस्था सुनने को रवीन्द्रनाथ व्याकुल थे और कान लगाये बैठे थे कि कोई कवि कहे तो इनकी दास्तान। उपेन क्रान्तिकारी किसान नहीं हैं, मगर उसके आह की चिंगारी किसी ज्वालामुखी से कम नहीं है। 'दो बीघा जमीन' में रवीन्द्रनाथ का मौन कारुणिक आर्त्तनाद है। उन दो आमों की गुठलियों ने ही 'गोरा' में रवीन्द्रनाथ को मुखर कर दिया। हम देखते हैं कि 'दो बीघा जमीन' में किसान विद्रोह का जो बीज अंकुरित हुआ था, वह 'गोरा' में पुष्पित-पल्लवित होकर फलित हुआ। यहाँ का किसान साधू नहीं, लठियल है। वह लठैत फरू है। उपन्यास में नापित एक बालक का लालन-पालन कर रहा था। उसी के बारे में गोरा ने पूछा था ''इस लड़के के माँ-बाप नहीं हैं? नापित ने कहा दोनों हैं, मगर न होने के बराबर हैं। गोरा ने कहा, ''वह कैसे?''

नापित ने जो इतिहास बताया उसका सार यह है—''जिस जमींदारी में ये लोग रह रहे हैं, वह निलहे साहबों के इजारे में है। द्वीप पर नील की जमीन लेकर प्रजा के साथ नील कोठी की शत्रुता का अंत नहीं। अन्य समस्त प्रजा तो वश में आ गई है, केवल इस द्वीप के घोषपुर की प्रजा को साहब लोग शासन मानने को बाध्य नहीं कर पाये। यहाँ की सारी प्रजा मुसलमान है, और इनका मुखिया सरदार फरू किसी से भी नहीं डरता। वह नील कोठी के झगड़े के सिलसिले में दो बार पुलिस पर लाठी चलाकर जेल काट आया है। उसकी दशा ऐसी हो गई है कि बस उसका घर अन्न का मुहताज है, किन्तु वह किसी भी तरह दबना नहीं जानता। इस बार गाँव के लोगों ने नदी के कैचीनुमा द्वीप पर कुछ धान उगा लिया था। आज आधे माह के लगभग हुआ, नील कोठी के मैनेजर ने स्वयं लठैतों के साथ आकर प्रजा का धान लूट लिया। उस झगड़े के समय फरु सरदार ने साहब के दाएँ हाथ पर एक ऐसी लाठी चलाई कि अस्पताल ले जाकर उनका वह हाथ काट कर फेंक देना पड़ा।'' इसके बाद पुलिस द्वारा प्रजा पर घोर अत्याचार हुआ। जैसा आज भी किसान या किसी भी जन आन्दोलन पर होता है। हम देख रहे हैं कि किसान जीवन पर पूरा उपन्यास न लिखकर भी रवीन्द्रनाथ उपन्यास लिखने की पृष्ठभूमि तैयार कर गये हैं। फरू के प्रति रवीन्द्रनाथ ने जो सहानुभूति दिखायी है,

लगता है वे यहाँ गांधी जी के उसूलों के कायल नहीं हैं। फरू रवीन्द्रनाथ का प्रवक्ता है। उपेन की तरह आरजू मिन्नत नहीं करता।

भारत में जब स्वाधीनता संग्राम शुरू हुआ उस समय किसानों की समस्याओं पर साहित्यकारों की दृष्टि राजनीतिज्ञों से पहले गई और करीब-करीब सभी भाषाओं में लेखकों ने इस पर लिखा। हमने रवीन्द्रनाथ की किसान चेतना का उल्लेख किया है। माना जताा है कि किसान जीवन पर मुकम्मल उपन्यास लिखने का श्रेय उड़िया भाषा के लेखक फकीर मोहन सेनापति को हैं। उनका उपन्यास 'छह बीघा जमीन' 1902 में छपा। रवीन्द्रनाथ और फकीर मोहन की समस्या एक ही है, किसान की जमीन का हड़पा जाना। उपेन की भी जमीन झूठे कर्ज का मामला चला कर हड़पी गयी है और भगिया की जमीन भी कर्ज के जाल में फँसा कर हड़पी गयी। इसकी पीड़ा में रवीन्द्रनाथ का उपेन संन्यासी हो जाता है, 'गोरा' में फरू बागी और फकीर मोहन सेन का भगिया पागल। उपेन नियति का उपहास कहकर हँसता है, फरू निलहे मैनेजर को लाठी से ऐसा मारता है कि उसकी बाँह काटनी पड़ती है। फरू जेल में कैदी हो जाता है। 'छह बीघा जमीन' के भूस्वामी रामचन्द्र मगराज और भगिया दोनों ही जेल पहुँचते हैं। यहीं भगिया उन्मादावस्था में रामचन्द्र मगराज की नाक चबा जाता है। उसी से अन्त में उनकी मृत्यु होती है। भगिया नदी में कूदकर आत्महत्या करता है। रामचन्द्र मगराज के परिवार की ही नहीं भगिया के परिवार का भी दुखद अंत होता है। जैसी करनी वैसी भरनी।

साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित 'छह बीघा जमीन' (हिन्दी अनुवाद) की भूमिका में कालिन्दीचरण पाणिग्राही ने लिखा है कि ''कथानक अत्यन्त ही करुण है, फिर भी इसे हल्के हाथों और हास्य की शैली में निबाहा गया है।...इसमें जिन समस्याओं की विवेचना की गई है, वे हमारे समाज के इस आधुनिक परिवेश में भी किसी न किसी रूप में ज्यौं की त्यौं बनी हुई है।'' हमने भी इन रचनाओं का उल्लेख इसीलिए किया है कि यह समस्याऐं आज भी बनी हुई हैं। रामचन्द्र मगराज ने उधार के मूलधन से भगिया की जमीन ले ली और सूद के एवज में उसकी गाय भी उठा ले गये। अभी तक देख रहे हैं कि अन्याय के अंत के लिये जिस सांगठनिक और वैचारिक शक्ति की जरूरत होती है उसका इन रचनाओं में अभाव था। कहावत है, अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ता। फिर भी प्रतिरोध का साहस कम प्रेरक नहीं है।

वैचारिक अस्था लेकर आये प्रेमचन्द। ऐसा नहीं था कि हिन्दी लेखक किसान समस्या से बेखबर थे। फकीर मोहन सेनापति की मृत्यु 1918 में हुई और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 1941 में। हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द इनके ही सम-सामयिक थे। 1918 में ही प्रेमचन्द का उपन्यास 'सेवा-सदन' प्रकाशित हुआ। जिसमें एक पात्र चेतू अहीर है। यहाँ मामला महंत रामदास का है। ''वह साधुओं की एक गद्दी के महन्त थे। उनका सारा कारोबार बाँके बिहारी जी के नाम से चलता था। लेन-देन करते थे और 32 रुपये सैकड़े से कम सूद न लेते थे। बाँके बिहारी को रुष्ट करके उस इलाके में रहना कठिन था। महन्त रामदास के यहाँ दस-बीस मोटे-ताजे साधु स्थायी रूप से रहते थे। वह अखाड़े में दंड पेलते, भैंस का ताजा दूध पीते, संध्या को दूधिया भंग छानते और गाँजे-चरस की चिलम तो कभी ठंडी न हो पाती थी। ऐसे बलवान जत्थे के सामने कौन सिर उठाता?''

महंत जी तीर्थयात्रा करने गये थे। वहाँ से आकर उन्होंने एक बड़ा यज्ञ किया था। पूरे दस हजार महात्माओं को निमंत्रण था। इस यज्ञ के लिये इलाके के प्रत्येक आसामी से हल पीछे पाँच रुपया चंदा उगाहा गया था। किसी ने खुशी से दिया तो किसी ने उधार लेकर। जिसके पास न था उसे रुक्का ही लिखना पड़ा। श्री बाँके बिहारी की आज्ञा को कौन टाल

सकता था। यदि ठाकुर जी को हार माननी पड़ी तो केवल एक अहीर से, जिसका नाम चेतू था। वह बूढ़ा दरिद्र आदमी था। कई साल से उसकी फसल खराब हो रही थी। थोड़े ही दिन हुये ''श्री बांके बिहारी जी ने उस पर इजाफा लगाने की नालिश करके उसे ऋण के बोझ से और दबा दिया था, उसने यह चन्दा देने से इनकार किया, यहाँ तक कि रुक्का भी न लिखा। ठाकुर जी ऐसे द्रोही को भला कैसे क्षमा करते। एक दिन कई महात्मा चेतू को पकड़ लाये। ठाकुरद्वारे के सामने उस पर मार पड़ने लगी। चेतू भी बिगड़ा। हाथ तो बँधे हुए थे, मुँह से लात-घूसों को जवाब देता रहा और जब तक जबान बन्द न हो गई, चुप न हुआ। इतना कष्ट देकर ठाकुर जी को संतोष न हुआ, उसी रात को उसके प्राण ही हर लिये।''

जहाँ रवीन्द्रनाथ का उपेन नियति को अपनी बर्बादी का कारण मान चुका था, फकीर मोहन का भगिया पागल हो गया था, वहीं प्रेमचन्द का चेतू मरते दम तक हार न माना। कह दिया चंदा नहीं देंगे तो नहीं देंगे। ठान लिया। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द के बलराज और मनोहर तो रवीन्द्रनाथ के 'गोरा' के फरू से भी बढ़-चढ़ कर निकले। फरू ने तो मैनेजर के हाथ पर ही लाठी मारी थी, मगर मनोहर और बलराज ने तो गौश खाँ की हत्या तक कर दी। बलराज सहम रहा था मगर मनोहर का कलेजा प्रसाद जी के शकटार जैसा हो गया था। प्रेमाश्रम के किसानों के मन में एक नई चेतना का अंकुर दिखायी पड़ता है। बलराज तो साफ कहता है, ''तुम लोग तो ऐसी हँसी उड़ाते हो, जानो कास्तकार कुछ होता ही नहीं या जमींदार की बेगार के ही भरने के लिए बनाया गया है। लेकिन मेरे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा गया है कि रूस देश में कास्तकारों का ही राज है। वह जो चाहते हैं, वही करते हैं। उसी के पास कोई और देश, बलगारी है, वहाँ अभी हाल की बात है, कास्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है। और अब किसानों की पंयायत राज करती है।'' यहाँ बलराज की आवाज में प्रेमचन्द बोल रहे हैं। किसान-मजदूर की पंचायत का विकल्प पेश कर रहे हैं। यानी समाजवादी व्यवस्था में इस अत्याचार का अंत संभव है।

इन कृतियों को पढ़ने पर हम देख रहे हैं कि किसान संघर्ष तो कर रहे थे, मगर न तो उनके पास कोई वैचारिक आधार था, न संगठन। 'नील दर्पण' में होने वाले संघर्ष के बारे में 'हिन्दू पैट्रियार' के संपादक हरिश्चन्द्र मुखोपाध्याय ने कहा है कि ''बंगाल अपने किसानों पर अवश्य ही गर्व कर सकता है। नील आन्दोलन के आरम्भ होने के बाद से बंगाल की रैयत ने जिस शक्ति का इतना स्पष्ट परिचय दिया है वह अन्य किसी भी देश के किसानों में देखी नहीं गयी। गरीब, राजनीतिक ज्ञान और क्षमताविहीन एवं नेतृत्वविहीन होने पर भी ये सारे किसान इस तरह की क्रान्ति करने में समर्थ हुये हैं जो गुरुत्व और महत्त्व में किसी भी देश के सामाजिक इतिहास की क्रान्ति की तुलना में किसी भी तरह कम नहीं।''

रवीन्द्रनाथ के 'गोरा' में घोषपुर के किसान एकजुट होकर निलहों का विरोध करने, और उनका मुखिया, फरू अकेले दम मारकाट भी करता है, मगर यहाँ भी संगठन, नेतृत्व और विचारधारा का अभाव है। जहाँ तक फकीर मोहन सेनापति के 'छह बीघा जमीन' का सवाल है उसमें रैयत में कुछ लोगों ने रामचन्द्र के विरुद्ध 'सरिया-हत्या' के मामलों में उनके विरुद्ध गवाही देने का साहस जरूर किया है, मगर यहाँ न सांगठनिक प्रयास है, न विचारधारा। सारा उपन्यास परम्परित अन्याय से भरा पड़ा है। एक बात जरूर है कि इस तरह के अन्याय से अन्य किसान आहत जरूर होते हैं। विद्रोह करने का साहस भले न हो, इच्छा जरूर है।

प्रेमचन्द ऐसे लेखक हैं, जहाँ संगठन भले न हो, 'प्रेमाश्रय' का बलराज एक विचारधारा लेकर जरूर आता है और किसानों पर इस अत्याचार का निदान समाजवादी व्यवस्था 'किसान-मजदूर

एकता' में खोजता है। प्रेमचन्द वोल्शेविक उसूलों के कायल थे। रूसी समाजवादी सरकार के प्रशंसक और पूँजीवाद के विरोधी थे। इस समय चल रहे किसान-आंदोलन में देख रहा हूँ कि किसान समस्या को लेकर साहित्यकार पहले आये हैं, राजनीतिज्ञ बाद में।

स्वाधीनता संग्राम में कई विचारधारा की पार्टियों ने हिस्सा लिया। सबने अपनी-अपनी किसान-सभायें बनायीं। स्वतंत्र भारत में सबको दिल्ली की कुर्सी मुअस्सर हुई। सब कुछ बदला मगर नहीं बदला तो किसान। प्रेमचन्द को शक था कि आजाद भारत में टोपी बदल ही होगा। हुआ भी। संसद बनी, विधानसभएँ बनीं, प्रतिनिधियों की कई-कई टोपियाँ बनवायीं, कुछ ने गाढ़े रंग में रंग भी दिया। उनका भाग्य भी बदला। जन-प्रतिनिधि बन कर दिखाई दिये। धीरे-धीरे उनका पत्ता कटता गया। अब भिखारी राम नहीं करोड़ी मल प्रतिनिधि बन कर आये। 'बलराज' वाली किसान मजदूर की पंचायत 'खरगोश की सींग' हो गयी। आज जब 70 लाख रुपया खर्च करके प्रतिनिधि बनने की इजाजत वैधानिक है तो प्रतिनिधि 'तीन कौड़ी' नहीं करोड़ी मल होंगे। वे या तो खुद करोड़पति होंगे, या करोड़पति उनके पीछे होंगे। आज किसान राजनीति का मोहरा है। कभी उत्तम माने जाना वाला कर्म अधमाधम हो गया है। किसान गाँव से पलायन कर रहा है। उसको खैरात और कर्ज पर जिन्दा रखने की कोशश की जा रही है। जो अन्नदाता था, आज सरकारी अन्न का मुहताज है।

साहित्यकारों को सोचना होगा, दुश्मन कौन? कहीं 'रहजन ही तो रहबर' नहीं बन गये हैं।

सहायक ग्रंथ और पत्रिकाएँ :

1. नील दर्पण—दीनबन्धु मित्र, रूपान्तर-नेमिचन्द्र जैन, भारतीय ज्ञानपीठ सं. 2010
2. रवीन्द्र रचनावली—परिचय बंग सरकार, सं. 1368, प्रथम, तृतीय खंड
3. गोरा—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अनु. देवराज—राजकमल सं. 2018
4. छह बीछा जमीन—फकीर मोहन सेनापति, अनु. गुरुजीत नवलपुरी, साहित्य अकादेमी, सं. 1981
5. सेवा सदन—प्रेमचन्द, लोकभारती इलाहाबाद, सं. 2016
6. प्रेमाश्रय—प्रेमचन्द, सुमित प्र. इलाहाबाद, 2001
7. पक्षधर—सं. विनोद तिवारी, जनवरी-जून, 2020
8. पश्चिम बंग—रवीन्द्र, संख्या 1375 (बंगाब्द)

संपर्क : 412/3 एफ. बक्सी खुर्द, दारागंज, प्रयागराज-21006 मो. : 8004040537

'कबीर' की परिभूमि
साम्प्रदायिक संकीर्णता के विरूद्ध युद्ध

सव्यसाची भट्टाचार्य
अनु. : रणजीत साहा

'वन हंड्रेड पोएम्स ऑफ कबीर' के बांग्ला संस्करण (2005) की सव्यसाची भट्टाचार्य लिखित ऐतिहासिक भूमिका का अविकल अनुवाद।

1317 बंगाब्द (1910 ई.) में शान्ति निकेतन आश्रम के सृजनोन्मुख कर्म और सदिच्छा को ध्यान में रखते हुए, दो पुस्तकों का प्रकाशन किया गया—पहली थी 'गीतांजलि' और दूसरी थी, यह पुस्तक 'कबीर'। जिसका पहला खंड प्रकाशित हुआ 'गीतांजलि' (1910 ई.) के कुछ महीने बाद ही, 'शांति निकेतन ग्रंथमाला' के तौर पर इसे प्रकाशित किया गया था। बांग्ला 'गीतांजलि' के कम-से-कम तैंतीस प्रतिमुद्रण हो चुके हैं, जबकि क्षितिमोहन सेन लिखित इस पुस्तक का मुद्रण आठ दशकों के बाद, अब जाकर हुआ है। इसलिए, इस रचना संकलन का यथोचित परिचय पाठक समाज को नहीं मिल पाया है। चूँकि यह पुस्तक दुष्प्राप्य थी, इसलिए भी पाठक इससे अनभिज्ञ रहे। भावसाम्य और एक प्रकार की ऐतिहासिक संबद्धता के कारण 'गीतांजलि' और प्रस्तुत कृति एक ही सूत्र से ग्रथित है। पुस्तक के ऐतिहासिक महत्त्व को अगर भूल भी जाएँ तो आज की दुःस्थिति में यह कृति निश्चय ही अपरिहार्य है। इसका कारण भी स्वतः प्रमाणित है। आज जब धर्मान्धता और साम्प्रदायिकता के साथ संकीर्ण मानसिकता के आघात से राष्ट्रीय संस्कृति और संहति आहत है, तब क्षितिमोहन सेन द्वारा कबीर वाणी के अनुवाद का पुनर्संचार एवं प्रचार विशेष प्रयोजनीय है। इन सब कारणों से मुझे ऐसा लगता है कि इस पुस्तक के प्रकाशकीय उपक्रम से मेरे अग्रज तुल्य श्री अमर्त्य सेन (क्षितिमोहन सेन के नाती) एवं इसके वर्तमान प्रकाशक अवश्य ही यह अनुभव करेंगे कि एक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ है।

कबीर की कालातीत वाणी क्षितिमोहन सेन के अनुवाद द्वारा इस पुस्तक में प्रसारित हुई है। ऐतिहासिक कालानुक्रमानुसार इस पुस्तक के बारे में कुछेक बातें की जा सकती हैं जबकि अध्यात्मविदों एवं साहित्य समालोचकों द्वारा और भी बहुत कुछ कहने को बचा रह जाएगा। क्षितिमोहन सेन की इस पुस्तक का प्रथम खंड (अनुमानतः) आश्विन 1910 में प्रकाशित हुआ था,[1] इसकी भूमिका में उन्होंने लिखा था, ''कबीर की एक विस्तृत प्रवेशिका और जीवनी

तथा कबीर की रचनावली के सारे खंड मुद्रित एवं प्रकाशित करने की इच्छा है।[2]"

यद्यपि वह ये सारे कार्य पूरा नहीं कर पाए लेकिन इसके बाद 'दादू' (1340 बंगाब्द; 1933 ई.) नामक ग्रंथ में उन्होंने अन्यान्य मध्ययुगीन संतों के संग कबीर के संबंध में कई तथ्य एवं मत प्रकट किए, वह ग्रंथ संप्रति विश्वभारती गवेषणा प्रकाशन विभाग द्वारा पुनः प्रकाशित हो गया है। क्षितिमोहन सेन के संकलन एवं अनुवाद द्वारा कबीर के संबंध में जो तथ्य प्रकाश में आए थे, वे आगे बहुत अधिक समृद्ध नहीं हुए। फ़र्कुहर, हज़ारी प्रसाद द्विवेदी सैयद अतहर अब्बास रिज़वी, चार्ल्स बोदनिल, इरफ़ान हबीब आदि विद्वानों ने कोई नई सामग्री उपस्थित नहीं की और जो 1910 ई. में जो तथ्य ज्ञात नहीं थे, उस बारे में भी कोई दावा नहीं किया।[3] पूर्वज्ञात तथ्यों को प्रस्तुत करते हुए किसी ने एक तथ्य को रेखांकित किया तो किसी दूसरे ने किसी अन्य तथ्य की ओर संकेत कर हमारा ध्यान खींचने की चेष्टा की। कबीर के मुक़ाबले अन्यान्य संतों को उनके अनुगामी भक्तों की मानसिकता के कारण बृहत्तर लाभ प्राप्त होता गया और कबीर का व्यक्तित्व, विचार और विश्लेषण से दूर होता चला गया।

कबीर के समसामयिक एवं उनके परवर्तीकालीन परिदृश्य को किस प्रकार देखा गया, इस बारे में इतिहासकार कुछ नई रोशनी डाल सकते हैं। क्षितिमोहन ने उल्लेख किया है कि कबीर 'दिल्लीपति सिकन्दरशाह लोदी' के समसामयिक थे। इस तथ्य के अनुसार, सिकन्दर लोदी का राज्यकाल 1489-1519 ई. था और बादशाह अकबर के सभासद इतिहासज्ञ अबुल फज़ल ने 1595 ई. में कबीर के बारे में लिखा है कि सिकन्दर लोदी के समय में कबीर जीवित थे और उन्होंने परंपरागत रूढ़ियों के विरुद्ध खड़े होकर आत्मोपलब्ध सत्य का प्रचार करते हुए, हिंदी में कई रचनाएँ कीं।[4] क्षितिमोहन सेन ने कहा है कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे, लेकिन इस बारे में विद्वानों में मतभेद है। बोदविल ने यह बताया कि सत्रहवीं सदी में, अर्थात् कबीर की मृत्यु के सौ साल बाद, रामानन्द के साथ, कबीर का नाम जोड़ा गया, 'दनिस्तान' ग्रंथ (अनुमानतः 1653 ई.) के अनुसार।[5] इसी कारण कबीर को वैष्णव वैरागी सम्प्रदाय का माना गया, और इसके बाद प्रियादास के विवरण में (1992 ई.) रामानन्द का शिष्य बताया गया। समसामयिक प्रमाण के अभाव में बोदविल और इरफ़ान ने कबीर को रामानन्द का शिष्य नहीं माना है।[6] दूसरी ओर हज़ारीप्रसाद द्विवेदी कबीर को रामानन्द और वैष्णव सम्प्रदाय की परिधि से एकदम बाहर लाकर कबीर को शैव-नाथ परंपरा में देखते हैं।[7] कारण यह था कि कबीर की मृत्यु के बाद, उनको अपने-अपने सम्प्रदाय में अंतर्भुक्त करने के लिए विभिन्न सम्प्रदाय अथवा अध्यात्मवेत्ता वर्ग सचेष्ट हो गए और कई काल्पनिक गुरु-शिष्य संबंध अथवा साधन-परंरागत संयोग लोककंठ द्वारा प्रचारित किया जाता रहा। कबीर की प्रसिद्ध द्विपदी (दोहे) ''भगति द्राविड़ उपजी...'' में कहा गया है कि भक्ति द्रविड़ देश में उद्भुत हुई, जिसे रामानन्द यहाँ लेकर आए और इसे कबीर ने प्रचारित किया। यह कबीर के नाम से कई रचनाओं की तरह ही एक प्रक्षिप्त रचना हो सकती है, जिसका कोई प्रमाण नहीं है। यह भी कहा जाता है कि कबीर ने स्वयं अपने 'बीजक' ग्रंथ में किसी भी संप्रदाय विशेष को न तो श्रेष्ठ बताया और न निकृष्ट; इसीलिए वह किसके शिष्य थे—अपने व्यक्ति जीवन में अथवा निर्वैक्तिक तौर पर—इस प्रश्न के कई उत्तर जुटा लिए गए हैं। क्षितिमोहन सेन इस बारे में अत्यंत सतर्क थे, यथा—''अधिकतर सम्प्रदायों ने कबीर की कई उद्धरणियों से विभिन्न शब्द-रूपों को हटाकर अकारण 'राम' शब्द डाल दिया है। क्योंकि इनमें से अधिकतर रामोपासक थे।...दशरथ के पुत्र राम को वह एकदम नहीं मानते थे।''[8] हालांकि रामानन्द के शिष्यत्व के संबंध में क्षितिमोहन ने इस पुस्तक के सामग्री संकलन के समय इस तथ्य को स्वीकार कर लिया था लेकिन उन्होंने उपर्युक्त साम्प्रदायिक मनोवृत्ति

से परे, कबीर की अवस्थिति के संबंध में पाठकों को प्रयत्नपूर्वक सचेत किए रखा।

इसलिए, संभवतः क्षितिमोहन एक और वितर्कित विषय के बारे में चुप्पी साध गए। साधारणतः भक्ति साधना की दो परंपराओं के बारे में इतिहासकारों की धारणा रही है—धार्मिक एवं दार्शनिक। एक ओर सगुण भक्ति परंपरा, जिसके संस्थापकों में तुलसीदास, चैतन्यदेव, मीराबाई, सूरदास इत्यादि तो दूसरी निर्गुण भक्ति परंपरा, जिसके एकमात्र प्रवर्तक के रूप में कबीर को देखा जा सकता है।[9] इसकी पृष्ठभूमि में महाराष्ट्र में, चौहदवीं सदी के भक्तकवि नामदेव की प्रतिष्ठा के साथ, कबीर पर उनके संभावित प्रभाव के बारे में बहुत अधिक लिखा गया है। क्षितिमोहन सेन ने इस बारे में इस कारण से शायद किनारा कर लिया कि सगुण एवं निर्गुण भक्तिमत के बारे में स्वयं कबीर ने बहुत कम अंतर माना है—

सगुण के सेवा करो, निर्गुण का करो ज्ञान।
सगुण निर्गुण ते परे, तहाँ हमारा ध्यान॥

—सगुण अर्थात् ब्रह्मा की सेवा करो, निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान (प्राप्त) करो; सगुण-निर्गुण से परे जो है, वही हमारे ध्यान का विषय है। इस प्रसिद्ध दोहे को उनके द्वारा लिखित मान लेने पर यह विवाद अप्रासंगिक हो जाता है। इसे ध्यान में रख कर ही, क्षितिमोहन ने द्वैतवाद एवं अद्वैतवाद के मत-पार्थक्य को कबीर-दर्शन के संदर्भ में विवेचित नहीं किया है।[10]

कबीर के इन संकलित पदों को पढ़ने पर जो सबसे बड़ी बात दिखाई देती है वह है, साम्प्रदायिक संकीर्णता के विरुद्ध युद्ध की घोषणा। इसका एक पहलू है प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय के अंदर रूढ़िसम्मत आचार-विचार और पुरोहितवाद का विरोध। दूसरा पहलू है, सम्प्रदाय के बार संस्कार के संग अन्यान्य सम्प्रदाय के साथ संपर्क के बीच भेदभाव और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विरोध का त्याग। एक तरफ़ सीधा और कठोर कटाक्ष—'साधो पाँड़े निपुण कसाई' (साधु, पुरोहित बड़ा निपुण कसाई है), 'मुल्ला होकर बाँग जो देवे, क्या तेरा साहब बहरा है' (मुल्ला जो इतना चीखता है, क्या ईश्वर कान का बहरा है?), 'मन ना रँगाए, रँगाए जोगी कपड़ा', 'मूरत से दुनिया फल माँगे, अपने हाथ बनाए' इत्यादि।

दूसरी ओर कबीर ने बड़े प्रेम से मुसलमान और हिन्दू के बीच फैले विभेद को पाटने की कोशिश की :

अरे इन दोहुन राह न पाई
हिंदू की हिंदुआई देखी, तुर्क न की तुर्काई।
हिन्दू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहमाना।
आपस में दोउ लड़े मरत हैं, मरम कोई नहि जाना॥

(हिन्दू कहता है राम हमारा है, मुसलमान कहता है रहीम मेरा है, दोनों एक दूसरे से लड़कर मर रहे हैं, (धर्म का) मर्म कोई नहीं जानता है)। हिन्दू की दया, मेहर तुरकन की, दोनों घर से भागी। वोह करे जिबह वोह झटका मारैं, आग दोउ घर लागी॥ (हिन्दू की दया, मुसलमानों की करुणा ने घर छोड़ दिया है। एक बलि देता है तो दूसरा जिबह करता है, और दोनों के घरों में आग लगी है।)...ऐसे राष्ट्रीय (जातीय) कबीर की वाणी के अत्यधिक उद्धरण प्रस्तुत करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है, जो क्षितिमोहन की इस पुस्तक में समायोजित हैं। सूफ़ी चिन्तनधारा के महत्त्व पर ज़ोर और कबीर को हिन्दू-मुस्लिम के सांस्कृतिक सेतु के तौर पर देखने वाले कई विद्वान उन्हें सूफी मतावलम्बी मानते हैं। सत्तर वर्ष पहले जे.एन. फ़र्कुहर ने इस बारे में कहा था—''सूफ़ियों की धारणा के माध्यम से इस्लाम हिन्दुओं के हृदय तक पहुँचा।...इस चिन्ताधारा के मूल आशय को जिन्होंने साधारण जन तक पहुँचाया वह थे, कबीर।''[11]

इसी प्रकार मुहम्मद एनामुल हक़ ने सूफ़ी मत पर शोध करते समय कबीर को चिस्ती सम्प्रदाय का अनुयायी बताकर एक सूफ़ी के तौर पर चिह्नित किया।[12] इधर हाल में इरफ़ान हबीब ने कबीर को सूफ़ीवाद से दूर रखने पर ज़ोर दिया है। उनके अनुसार, कबीर के समय के आसपास उनका परिचय सूफ़ी के तौर पर नहीं, मुअहिद्द या एकेश्वरवादी के रूप में था।[13] लेकिन विभिन्न विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि मूल रूप से कबीर के दर्शन को साम्प्रदायिक दायरे में वर्गीकृत करना आसान नहीं है; इन सबसे परे हिन्दू-मुसलमान में भेद-भाव का विरोध करने वालों को ही, कबीरपंथियों का विशेष लक्षण बताया गया। क्षितिमोहन ने तात्त्विक आलोचना पर विशेष ध्यान न देकर कबीर वाणी को आधार बना, उनके समाहारकर्त्ता रूप को ही स्थापित करने का संकल्प किया है।

उनके इस समाहरण कर्म को सम्पन्न करने के क्रम में आने वाली समस्या पर भी ध्यान देना आवश्यक है। क्षितिमोहन ने अन्यत्र, अपने ग्रंथ 'दादू' में लिखा है—''मेरे द्वारा संग्रहीत 'कबीर' वाणी आदि देखकर कई ईसाई मिशनरी के प्रभारियों ने मुझ पर दोष मढ़ते हुए कहा कि मैंने कबीर का बीजक क्यों नहीं छपाया? 'कबीर' के प्रथम खंड की भूमिका देखने पर वे जान पाते कि मेरी पहली कोशिश थी कि (मरमिया) साधकों द्वारा वाचिक परंपरा में प्रचलित पाठों की रक्षा करना।''[14] ये आरोप मढ़नेवाले वही हैं, जिनकी समालोचना का क्षितिमोहन ने खंडन किया था? अब वे भुला दिए गए हैं, लेकिन प्रभात कुमार मुखोपाध्याय ने अपनी 'रवीन्द्र जीवन' में, विस्तृत ब्योरा देते हुए, यह समालोचना की है। कबीर और कबीर पंथियों के बारे में अपने ग्रंथ (1931) में डॉ. एफ़ ई. केइ ने यह अभ्युक्ति की है कि क्षितिमोहन सेन द्वारा संकलित 381 संख्यक पद (कविता) में केवल 18 पद और 39 साखी ही कबीर के 'बीजक' के अनुरूप हैं। रेवरेण्ड अहमद शाह के मतानुसार ''इस संकलन की अनेक कविताएँ (पद आदि) कबीर द्वारा नहीं रचे गए हैं, इसकी भाषा से ये आधुनिक प्रतीत होते हैं।''[15] ऐसी आलोचनाओं को उद्धृत कर प्रभात कुमार ने यह मंतव्य प्रकट किया था कि क्षितिमोहन के इस संकलन पर आधृत रवीन्द्रनाथ कृत अंग्रेजी अनुवाद भले ही विदेश में आदृत हुआ हो, ''इस देश में जो लोग कबीर के संबंध में विशेष रूप से जानकारी रखते हैं, वे उस अनुवाद को पढ़कर खुश नहीं हुए थे।[16] रवीन्द्रनाथ के इस अनुवाद कर्म के बारे में दो-एक बातें यहाँ की जा सकती हैं—जैसा कि पहले बताया गया, क्षितिमोहन सेन का प्रयास था, कबीर पंथियों में प्रचलित परंपरागत वाणियों को विलुप्त होने से बचाना। चूँकि कबीर बीजक कई बार मुद्रित हो चुका था ''और तब इसके नष्ट होने का भय नहीं था, इसलिए उस ओर मैंने ध्यान नहीं दिया।''[17] दूसरे, क्षितिमोहन ने एक ओर जिन लिखित या मुद्रित 'कबीर वाणी' की सूची को आकर ग्रंथ (संदर्भ) रूप में प्रस्तुत किया है, दूसरी ओर आधुनिक नृतत्त्वविद की तरह काशी, गैबी, चौकंडी इत्यादि स्थानों के कबीरपंथियों से जुबानी सुनकर संग्रहीत किया था। इस संबंध में उनकी गवेषणा कालोपयोगी ही नहीं, एक प्रतिमान है।

इस कार्य में उनके सामने दो कठिनाइयाँ थीं। ''एक थी, मठों और साम्प्रदायिक ग्रंथों में साम्प्रदायिक वाणियों को ही स्थान मिलता था—यह कबीर सम्प्रदाय की आंतरिक प्रवणता (बाध्यता थी) जीवंत और तेजस्वी महापुरुष को अपनी-अपनी सुविधा के अनुरूप निर्जीव बनाकर लोग समाज में मंदिर स्थापित करते हैं और सम्प्रदाय चलाते हैं। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि महापुरुषों के मठ और सम्प्रदाय उनकी प्रखर वाणी को यथासाध्य त्याग कर या उससे बचकर चलते हैं।''[18] क्षितिमोहन का उद्देश्य था, उन सब वाणियों का उद्धार करना; भले ही उनके समकालीन कबीरपंथियों में सर्वमान्य बीजक के अंतर्गत न भी हों। इसके अलावा क्षितिमोहन

का मानना था—''विदेशी प्रचारक जब हमारे धर्म के विषय में जानना चाहते हैं तो वे कई बार यह भूल जाते हैं कि जिसके बारे में जानने के इच्छुक हैं, उसमें जीवन-जैसा भी कुछ अंश हो सकता है।...भारत के धर्म के बारे में यह सब वैदेशिक कौतूहल और जानकारी की वस्तु मात्र है। लेकिन भारत की साधना और धर्म जिनके लिए मर्म की वस्तु है—उनके निकट इन सबमें जीवन है और इसीलिए उनके प्रति दरद (विशेष आग्रह) भी है।''[19]

इसलिए, यह पाया गया कि क्षितिमोहन की संकलन नीति कबीर सम्प्रदाय युक्त अथवा मिशनरी साहबों में भी सबको संतुष्ट नहीं कर पाई, क्योंकि उनके उद्देश्य और आदर्श अलग-अलग थे। इन्हें ही सामने रखकर वह रवीन्द्रनाथ के समानान्तर अपने पथ पर बढ़ते गए। मैंने पहले जिस ऐतिहासिक संबद्धता की बात की, उसका पुनरुल्लेख आवश्यक है। अर्थात् रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' और 'कबीर वाणी' (पद) के अनुवाद कर्म के साथ क्षितिमोहन की कबीर वाणी के संकलन का क्या संबंध है? एक ही विषय और एक ही आदर्श के साथ ये दोनों समान्तराल पथ पर आगे बढ़े थे। इसका कारण, मुझे ऐसा जान पड़ता है कि अपने बचपन से ही काशी और उत्तर भारत के विभिन्न तीर्थों के भ्रमण एवं प्रवास के क्रम में वह साधुओं के मुख से कबीर वाणी सुनकर अनुप्राणित हुए थे और 1908 ई. में शान्ति निकेतन आने के बाद, उक्त वाणी संग्रह करने का संकल्प किया। आश्रम के आचार्य (रवीन्द्रनाथ) द्वारा उत्साह पाकर वह इस कार्य में प्रवृत्त हुए। रवीन्द्रनाथ ने यह उत्साह बाल्यकाल में अपने पिता (देवेन्द्रनाथ ठाकुर) के मुख से हाफ़िज़ और दूसरे सूफ़ियों की रचनाओं के संग परिचय प्राप्त करने और बाद में विभिन्न धर्मों के मूल आशय प्राप्त करने (यथा, 'तत्त्वबोधिनी' के संपादन काल में विभिन्न धर्मों पर प्रबंधमाला प्रकाशन) के दौरान अर्जित किया था।

क्षितिमोहन के शान्तिनिकेतन आश्रम से जुड़ने के एक वर्ष के अंदर ही यह देखा गया कि रवीन्द्रनाथ उन्हें 'कबीर वाणी' संकलित एवं अनूदित करने की ताकीद कर रहे हैं, संदर्भ ग्रंथ जुटाने में सहायता कर रहे हैं और 1910 ई. में यानी क्षितिमोहन के प्रथम खंड के प्रकाशन के पूर्व अनुवाद और संपादन कार्य में प्रत्यक्ष सहयोग कर रहे हैं।[20] प्रूफ़ देखने के समय, रवीन्द्रनाथ ने अनुवाद में कई परिवर्तन किए और इस बारे में उन्होंने क्षितिमोहन को लिखा, ''इस बार हस्तक्षेप कुछ ज़्यादा ही हो गया...। मेरे संशोधन (संस्करण) जहाँ असंगत जान पड़ें, वहाँ आप अपने संशोधन अवश्य कर सकेंगे।''[21] इसके अलावा अनुवाद के आदर्श के बारे में कई उपदेश भी दिए गए हैं, जिनमें से एक यहाँ उद्धृत किए जाने योग्य हैं—''मूल को न्यूनांश में भी छोड़ देने की मेरी इच्छा नहीं होती, अगर उसमें भाव अस्पष्ट हो तो भी कोई बात नहीं। भाव में कुछ परिणाम में ये अस्पष्टता भी आवश्यक है—अत्यन्त स्पष्ट होने पर अर्थ छोटा पड़ जाता है—कविता और तत्त्वविद्या की व्याख्या नहीं होती, इसलिए उनके स्पष्ट शब्दों की माँग का दावा बेमानी है।''[22]

यहाँ प्रशान्त कुमार पाल की तथ्याश्रित आलोचना दृष्टव्य है—''गीतांजलि की मूल पाण्डुलिपि में कबीर, तुलसीदास आदि प्रमुख सात कवियों के अठारह दोहे लिखित हैं। रामेश्वर मिश्र ने इन्हें रवीन्द्रनाथ के हाथों लिखा बताया है, जिससे हम सहमत नहीं हैं। चाँदकवि (चंदबरदाई), तुलसीदास आदि कवियों की मूल रचना के साथ रवीन्द्रनाथ का परिचय था, इसके अलावा कबीर के जीवन और रचना के साथ उनका परिचय था, इसके प्रमाण दुर्लभ नहीं यह परिचय और भी प्रगाढ़ हुआ, क्षितिमोहन को निकट पाकर।''[23] रवीन्द्र ने अपने हाथों इन दोहों को लिखा है या नहीं, यह एक गौण विषय है; वैसे मिश्र ने पुस्तक के परिशिष्ट में यह दिखाया है कि क्षितिमोहन के अनुवाद कार्य के पूर्व कबीर वाणी और जीवन के संबंध में 1880 ई.

से ही कई पुस्तकें प्रकाशित होती रही हैं, जिनमें से कइयों के साथ रवीन्द्रनाथ का परिचय था—इसे ध्यान में रखना होगा।[24]

क्षितिमोहन सेन ने 1946 ई. (1383, बंगाब्द) में लिखा है कि 'गीतांजलि' और 'कबीर वाणी' में भावसाम्य—अर्थात् 'गीतांजलि' में प्रकाशितव्य कविताएँ देखकर उन्होंने रवीन्द्रनाथ का ध्यान आकृष्ट किया था। कबीर वाणी देखकर उन्होंने गीतांजलि नहीं लिखी। 'गीतांजलि' देखकर, मैंने उन्हें कबीर वाणी दिखाई।[25] इस तथ्य की सार्थकता इस बात में है कि ये दोनों अपने-अपने पथ पर चलते हुए कबीर के समीप पहुँचे थे और एक से दूसरे को साहचर्य प्राप्त हुआ। इस बात में भी सच्चाई है कि रवीन्द्रनाथ के पक्ष में कबीर वाणी के संग घनिष्ठतर परिचय क्षितिमोहन के अनुवाद के माध्यम से हुआ था। इन्हीं के द्वारा कबीर के भावबोध के साथ रवीन्द्रनाथ के दार्शनिक विचारों की निकटता प्रबल हुई। 1910-1911 ई. में क्षितिमोहन के कबीर संकलन की प्रकाशावधि का यही इतिहास है। इसके बाद 1914 ई. में क्षितिमोहन के संकलन के आधार पर कबीर वाणी के एक सौ पदों का अंग्रेजी अनुवाद रवीन्द्रनाथ ने प्रकाशित किया। अजित कुमार चक्रवर्ती द्वारा अंग्रेजी अनुवाद का प्रारूप (ख़ाका) तैयार करने के बाद इसका कार्य शुरू हुआ। एवलिन अंडरहिल की सहायता से रवीन्द्रनाथ ने इसे पुनर्लिखित कर, मुद्राणार्थ तैयार किया। 1913 ई. में क्षितिमोहन सेन द्वारा लिखित कबीर पुस्तक की सहायता से कवि एज़रा पाउण्ड एवं कालीमोहन घोष ने कबीर वाणी के कुछ अंशों का अनुवाद किया। यह भी देखा गया कि पश्चिमी साहित्यिकों के बीच भी कबीर और रवीन्द्रनाथ द्वारा सृजित रचना एवं गीतांजलि के अंग्रेज़ी अनुवाद के बीच भावसाम्य को अनुसंधान का विषय बनाया गया।[26]

मौटे तौर पर यही कहा जा सकता है कि क्षितिमोहन के कबीर रचना संकलन का प्रभाव समकालीन मानस पर कई रूपों में पड़ा है। रवीन्द्रनाथ के मानस और सृजनकर्म पर इसका कितना प्रभाव पड़ा होगा, इसे भी मापने का प्रयास कइयों ने किया है। इस माप-जोख के मामले को वर्तमान में और प्राक्कथन द्वारा उठाना अनावश्यक और कठिन है। अनावश्यक, इसलिए कि इस पुस्तक के तत्कालीन प्रभाव से वर्तमान को मूल्यांकन से अलग रखना, संभव है और उचित भी। कठिन, इसलिए कि कोई भी सृजनशील लेखन के पीछे जो बहुधारा मानस स्रोतस्विनी प्रवाहित रहती है, उसका संपूर्ण मानचित्र अगम्य होता है—केवल पाठक की यात्रा प्रक्रिया—जो आविष्कार या उद्भावना से संबद्ध होती है—विचार द्वारा ही प्राप्य है। इस देश का वर्तमान मन कबीर की वाणी से क्या आविष्कृत करेगा, क्या अधिगत करेगा, इसका उत्तर अपेक्षित है। जो बात संदेह से परे है वह यह है कि आज धर्मान्धता के चलते जो साम्प्रदायिक सद्भाव संकटग्रस्त है, जब सम्प्रदायगत विभेद राष्ट्रीय संहति को बाँटने पर तुला है, जब राष्ट्रीय संहति सरकारी प्रशासनीय नीति के समर्थन पर टिकी है—तब भारतीय संस्कृति के एक मुखर प्रवक्ता कबीर की बात देश का मन आग्रह के साथ सुनेगा।

संदर्भ

1. प्रशान्त कुमार पाल ने Bangal Library Catalogue के अनुसार 'कबीर' ग्रंथ के द्वितीय से लेकर चतुर्थ खंड की प्रकाशन तिथि क्रमशः 28 जनवरी 1911, 23 मई 1911 और 28 अगस्त 1911 ई. है। द्रष्टव्य : रवि जीवनी, (1992) खंड 6, पृ. 160
2. कबीर (1910), सेन खंड 1, पृ. 4
3. जे.एन. फ़र्कुहर, An outline of the Religious Literature of India, Oxford University Press, 1920; H.P. Dwivedi, Kabir (Ed. 1973) Delhi: Vandeville, Kabir, Vol. 1 (Oxford, 1974); S.A.A, Rixvi,

Muslim Religious movements in northern India in the 16th and 17th centuries (Agra, 1965); Irfan Habib, 'The Historical setting of mediaval monotheism' (Mimeo, Aligarh, 1993)

4. Abul Fazl, Ain-i-Akbari, (ed.) Nawal Kishor, 1893, 1893, II, pp. 53, 78, cited in Irfan Habib of. cit. f.n. 30
5. Dabistan-i-Mazahib, cited in Irfan Habib, op.cit. p. 5
6. Vandevi the, op.cit.pp.120 et.seq. Irfan Habib, op.cit.p.5
7. ह.प्र. द्विवेदी, कबीर
8. कबीर, सेन, खंड 8, भूमिका, पृ. आठ; इसके अनुसार बीजक संभवतः 1570 के दशक में लिखा गया था, जिसमें चार सौ से अधिक साखियाँ, शताधिक शब्द एवं शताधिक भक्तिमूलक पद थे। क्षितिमोहन सेन के पूर्व बाबा पूरनदास का संकलन (1905) उल्लेख्य।
9. प्रभाकर माचवे : कबीर, दिल्ली, 1968, पृ. 22-34; भूमिका : ह.प्र. द्विवेदी, पृ. 6; डेविड एन. लोरेंजन, 'कबीर पंथ : हेरेटिक्स टु हिन्दु'स रेलिजस चेंज एंड कल्चरल डोमिनेशन' (मेक्सिको, 1981)
10. कबीर, सेन उपरिवत्, पृष्ठ छह; दृष्टव्य : डी.एन. श्रीवास्तव : Kabir's concept of Bhakti in Prof. Birinchi Kumar Barua commemoration Vol. (Guahati, 1968); गंगाशरण शास्त्री, 'दार्शनिक चिन्तन और कबीर बीजक' (संपा.) और 'कबीर साहित्य की प्रासंगिकता'।
11. जे.एन. फ़र्कुहर, उपरिवत, पृ. 284
12. Muhammad Enamul Haq 'A History of Sufism in Bengal', ढाका (1975) जो 1934 ई. में सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय के निर्देशन में लिखी गई थी। इसे बाद में एशियाटिक सोसाइटी ने प्रकाशित किया था।
13. इरफ़ान हबीब, उपखित्, पृ. 5-6
14. क्षितिमोहन सेन, दादू (शांति निकेतन, प्रथम संस्करण, पृ. 1419)
15. F.E. Keay : 'Kabir and his followers, 1931, pp. 61-62; प्रभात कुमार मुखोपाध्याय, रवीन्द्र जीवनी, विश्वभारती, कलकत्ता, खंड 2, पृ. 346
16. प्रभात कुमार मुखोपाध्याय, उपरोक्त पृ. 346; यहाँ जिन रेवरेण्ड अहमद शाह को उद्धृत किया गया है, ने क्षितिमोहन के कार्यकाल में एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ में, संकलनकर्त्ता के नाते उनसे सहायता प्राप्त की थी। यह ग्रंथ क्षितिमोहन सेन द्वारा भी संभवतः उपयोग में लाया गया था—G.H. Westcott द्वारा लिखित 'Kabir and tha Kabir Panth', Kannpore (Kanpur) 1907
17. दादू, पृ. 141
18. दादू, पृ. 142
19. दादू, पृ. 141
20. प्रशान्त कुमार पाल, रवि जीवनी, खंड 6, पृ. 162-36, 230
21. क्षितिमोहन को रवीन्द्रनाथ का पत्र, पाल, उपरिवत्, पृ. 163
22. उपरिवत्,
23. उपरिवत्, पृ. 162-163
24. रामेश्वर मिश्र, मध्ययुगीन हिन्दी संत साहित्य और रवीन्द्रनाथ (वाराणसी) पृ. 86-87 एवं परिशिष्ट संख्या 4
25. क्षितिमोहन सेन, मासिक बसुमती, बैशाख, 1353 बंगाब्द पृ. 36
26. यथा, अध्यापाक वुड्स, जिन्होंने रवीन्द्रनाथ के कबीर अनुवाद को मैकमिलन द्वारा प्रकाशित करने में सहायता की थी, उन्होंने रवीन्द्रनाथ को लिखा था—"कृपया मुझे यह सूचित कीजिए कि आपको किन चिंतकों ने प्रभावित किया है, विशेषकर कबीर के संदर्भ में। तब मैं आपके दर्शन को ऐतिहासिक परिदृश्य में समझ पाऊँगा।" विस्तृत विवरण के लिए दृष्टव्य : पाल, उपरिवत्, पृ. 371, 348, 414-18, 486 आदि।

संपर्क : एम.जी. 1/26, विकासपुरी, नई दिल्ली-110018 मो. : 9811262257

हिंदी उपन्यास की भारतीय ज़मीन

विनोद शाही

हिंदी में 'उपन्यास' पर सामान्य विचार-विमर्श तो खूब हुआ है, पर यह बुनियादी सवाल अनुत्तरित छूट गया है कि 'हिंदी उपन्यास' की ज़मीन कहाँ है? वह क्या है, जिसे हम कथा की हमारी अपनी विशिष्ट 'भारतीय परिपाटी' कह सकें? पर उपन्यास की भारतीयता वाले इस 'विशिष्ट पहलू' को समझने से पहले, कथा की अर्थमीमांसा के 'सामान्य विवेचन' पर एक निगाह डालना ज़रूरी लगता है।

उपन्यास और महाकाव्य के बहाने विधागत अर्थ-मीमांसा

एक विधा के रूप में उपन्यास आधुनिक काल में प्रकट हुआ। तथापि 'कथा' अपने आप में रचनाशीलता की मूलभूत प्रवृत्ति होने के कारण आदिम समयों से लेकर आज तक विविध रूपों में अभिव्यक्ति पाती रही है। इसे हम कथा की ज़मीन में उत्खनन करने के माध्यम से समझ सकते हैं।

आधुनिक काल की शुरुआत के साथ काव्यात्मकता के गद्यमूलक हो सकने के नए दौर का आगाज़ होता है। यही वह बुनियादी अंतःसंक्रमण है, जिसकी वजह से महाकाव्य पीछे छूट जाता है और उससे जो जगह खाली होती है, उसे भरने के लिये उपन्यास सामने चला आता है।

काव्य के गद्य की ओर आने की वजह से मानवजाति के लिए, ज्ञान के नए क्षितिजों की ओर सफ़र करने के नये रास्ते खुलने लगे। फिर महसूस किया जाने लगा कि इस बौद्धिक युग में, जिसे हम 'ज्ञान' कहते हैं, वह भी 'ज्ञान की कथा' में बदलता जाता है।

इस तरह भाषा से 'अर्थ ग्रहण' करने की बात तक, हमारे समय में 'आख्यान या कथा की व्याख्या' में बदल गयी।

ऐसे में सारा ज्ञान, 'भाषापाठीय आख्यान' हो गया, भाषापाठीय आख्यान 'इतिहास के पुनराख्यान' हो गये और इतिहास के पुनराख्यान 'समय के वृत्तान्त' का पाठ हो गये।

सोच में आई इन तब्दीलियों ने कथा की अर्थमीमांसा को एक नयी शक्ल दे दी है।

तो, कथा क्या होती है? इस सवाल का जवाब अब हमें नये सिरे से खोजना होगा।

कथा, गहरे में, इतिहास का पर्याय ही नहीं, उसका विकल्प भी होती है। और दूसरी तरफ इतिहास भी, गहरे में, एक और ही तरह की कथा होता है, ताकि वह खुद को फिर फिर नये रूप में लिख सके।

कथा की सैद्धांतिकी में इतिहास और कथा में इतनी समानता देखी जाती रही है कि इतिहास को एक कथा की तरह देखा समझा और पढ़ा जाने लगा है। जिसे पहले वस्तुनिष्ठ या वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित इतिहास कहते थे, उसे भी विशेष दृष्टियों से किए गए तथ्यों के चयन पर आधारित इतिहास के रूप में देखा जाने लगा है।

दृष्टिकोण और इतिहास की कथा दोनों एक दूसरे को किस तरह रचते और गढ़ते हैं, इस पर इतिहासकारों का विशेष ध्यान गया है। उन्होंने देखा कि एक ही इतिहास के विविध ऐतिहासिक आख्यान संभव हैं। राजनीतिक इतिहास के अलावा जनमूलक इतिहास के दमित होने की ओर खास ध्यान गया है और उस दृष्टि से अनेक लोगों ने वास्तविक इतिहास को फिर से लिखने की बात करनी शुरू कर दी है। इस संदर्भ में वर्चस्वी इतिहास और दमित इतिहास के रूप में भी अनेक तरह के इतिहासों की मौजूदगी देखी जा रही है। औपनिवेशिक इतिहास, सबाल्टर्न इतिहास, स्त्रीमूलक इतिहास, दलित, वनवासी या मूलनिवासी इतिहास की बात भी हमारे सामने आने लगी है। धर्म के साम्प्रदायिक रूपों के प्रबल हो जाने से हमारे समय में संस्कृति के आख्यान भी विभाजित हो रहे हैं। फिर ऐसे इतिहास भी सामने आ रहे हैं, जो अपने-अपने जनसमूह की सांस्कृतिक, सभ्यतामूलक और राजनीतिक आकांक्षाओं के मुताबिक़ अपनी-अपनी इतिहास कथाओं का निर्माण कर रहे हैं। ऐसे में कथा एक सर्वव्यापी अभिव्यक्ति का रूप होकर सामने आ रही है।

अब बात गद्य में लिखने की नहीं, गद्य में लिखे जाने वाले हर रचनात्मक भाषापाठ के कथा हो जाने की हो गई है। इसलिये उपन्यास की बात करते वक़्त हमें अपने समय में कथा के सर्वत्र व्याप्त हो जाने के परिदृश्य को अपने सामने रखना होगा।

कथा की यह अति-व्याप्ति, आधुनिक काल के आगाज़ के साथ अपनी जड़ें जमाने लगती है और हमारे समय तक फैल कर पहचानी जाने लायक स्थिति में आ जाती है।

ऐसे में काव्य की बात साहित्य में सबसे ज्यादा संकटग्रस्त हुई मालूम पड़ती है। काव्य को भी अपने आप को बचाने के लिए कथा की ओर रुख़ करना पड़ा है। साहित्य में कथा लगभग सभी मौजूदा विधाओं में किसी न किसी रूप में प्रवेश करती हुई नज़र आ रही है। प्रकाशन की दुनिया में ज्ञान की कथाओं के रूप में एक नई भाषापाठीय कोटि का विकास हो रहा है। इसे कथा होते हुए भी विधिवत् कथा न होने की तरह देखा जा सकता है। अख़बारों की दुनिया भी ख़बरों को कथाओं की तरह प्रस्तुत करती नज़र आ रही है।

ऐसे में यह बात सोचने लायक हो गई है कि साहित्यिक विधा के रूप में हम अब उपन्यास और कहानी नामक अपनी परंपरागत विधाओं को कैसे समझेंगे और उन्हें काव्य, महाकाव्य और नाटक से अलहदा करने के लिए किन दलीलों को अग्र प्रस्तुत करेंगे। निबंध तक को कथा का एक विशेष रूप कहने से अब बात स्वयं कथा के स्वरूप को नए सिरे से समझने की ओर चली गई है। तो आइए इस परिदृश्य में पहले साहित्यिक विधाओं को समझने के लिए नई आधारभूमियों पर विचार करें। फिर कथा और कहानी के स्वरूप को समझने की कोशिश करते हुए यह देखें कि हमारे दौर में जिसे हम एक अच्छा उपन्यास कहेंगे उसके क्या प्रतिमान हो सकते हैं या होने चाहिए?

कथा मूलतः समाजेतिहास से जीवनेतिहास में लगायी जाने वाली एक छलाँग है। वह समाजेतिहास के किसी ख़ास घटना चक्र से जुड़े समय का, जीवनेतिहास के वृत या वर्तुल के रूप में घूमना है। बात जहाँ से शुरू होती है, वह घूम कर एक नई शक्ल में अपने प्रस्थान को फिर से छूती है, ताकि उस बात को ठीक से पुनः शुरू होने की तमीज़ मिल सके। इस तरह वह समूचे इतिहास को एक नयी चेतना से युक्त नया रूप देती है। इस तरह वह इतिहास न रह कर, कथा हो जाती है।

इतिहास के विमर्श में यह बात अक्सर कही जाती है कि इतिहास खुद को दोहराता है। पर कथा में इतिहास खुद को दोहराता नहीं, अपने बीज को फल में बदलने और उस फल के भीतर पुनः एक नए बीज तक पहुँचने की कोशिश करता है। इसे एक अर्थ में खुद को दोहराना हो कर भी, दौहराने जैसा नहीं कहा जा सकता। इतिहास का कथा में बदलना, चार स्तंभों पर खड़े किये जाने वाले एक नये भवन का निर्माण होता है। ये चार स्तंभ हैं :

एक : समय

दो : स्थान

तीन : पात्र

चार : परिप्रेक्ष्य।

कथा में इतिहास, विविध घटना चक्रों से बंधे समय, पात्रों के परिप्रेक्ष्य और स्थानगत अनुभवों के रूप में रहता है। कथा इस इतिहास को अपनी स्थिति, संदर्भ और चित्तगत स्मृतियों की शृंखला में परिणत करती है। इस तरह इतिहास का समय, कथा के अगले समय की स्थितिगत स्मृतियों में दाख़िल होता है। फिर वह स्मृतियों के वर्तुल में आगे, अपनी तरह से, खुद को दोहराता हुआ घूमता है। स्मृतियाँ इतिहास के समयखंडों को, अपने अनुभवों के समय-वृत्तों में ढालती हैं। इस हेतु स्मृतियाँ स्वभावतः ख़ुद को दोहराती हैं और इस तरह इतिहास को कथा में बदलती हैं।

मानव चित्त की रचना इस रूप में हुई है कि वह संवेदनानुभव से पाये अपने ज्ञान को, स्मृतियों के माध्यम से ही अपने बोध में बदल पाता है। स्मृतियों में खुद को दोहराने की अपार क्षमता होती है। वे खुद को इसलिए दोहराती हैं, ताकि हमारे द्वारा उपलब्ध किया गया ज्ञान केवल सूचनाओं का संग्रहागार ही न होकर रह जाये। स्मृतियाँ हमारे ज्ञान के सतहीपन को भेदती हैं और उसे गहरा कर आत्मीय रूप प्रदान करती हैं, ताकि वह हमारे अपने बोध और विवेक में बदल सके।

सूचना और तथ्यों के रूप में उपलब्ध किया ज्ञान उथला होता है। इसलिए वह मानव की चेतना का सीधे-सीधे अंग बन के अंतर्विकास नहीं कर पाता। ज्ञान को जातीय और आत्मीय रूप में समझने लायक बनाने के लिए स्मृतियाँ आगे आती हैं। वे ज्ञान को इतिहास के समय से अलहदा करके, उसे अपने जातीय और सांस्कृतिक समय में बदलती हैं। इस तरह मानव का समस्त ज्ञान इतिहास के एक ख़ास तरह के अंतर्विकास-मूलक आख्यान का रूप ले लेता है। इस तरह ज्ञान को स्मृतियों के द्वारा आत्मसात किया जाता है और स्वप्नों जैसी कल्पनाशीलता के द्वारा कथा का रूप दिया जाता है।

इस रूप में इतिहास को कथा का रूप देने में, मनुष्य का चेतन और अचेतन मन मुख्य भूमिका निभाता है।

प्रकृति ने हमारे मन को सपने देखने की अद्भुत क्षमता दी है। प्राकृतिक रूप में ये सपने, हमारे मन में स्वतः प्रकट होने वाली विशुद्ध कथाएँ ही हैं। वे एक कथा की तरह हमारी स्मृतियों

को फिर से एक नई शक्ल देती हैं। स्मृतियाँ हमारे सपनों में बड़े अजीबोगरीब तरीके से आरंभ, मध्य और अंत वाली संरचनाओं को उपलब्ध होती हैं। हालाँकि सपनों के द्वारा बुनी गई कथाओं को हमारा चित्त एकदम से समझ नहीं पाता, पर वे पूरी तरह अबोध्य भी नहीं होतीं। ऐसे में हमें ऐसी कथाओं की ज़रूरत पड़ती है, जो सपनों और इतिहासाख्यानों के बीच की कड़ी की तरह होती हैं।

वस्तुनिष्ठ इतिहास के तथ्याधारित स्मृति-आख्यान, सामाजिक परंपराओं की तरह खुद को दोहराते हैं। ऐसे में खुद को दोहराने वाली इतिहास रूढ़ियों को जड़ता से निजात दिलाने के लिए, साहित्यिक कथा एक जीवंत विकल्प की तरह सामने आती है।

मानव चित्त की एक बड़ी उलझन यह होती है कि वह सचेत रूप में जिस ज्ञान को उपलब्ध करता है, वह उसके अपने आत्मीय इतिहासाख्यान में बदलता नज़र नहीं आता। वह सत्ता, राजनीति, धर्म, संस्कृति, विचारधारा अथवा अस्मिता आदि की कथाओं को अपनी इतिहास कथा की तरह देख कर भी अपनी कथा नहीं कह पाता।

मनुष्य को पूर्व उपलब्ध विज्ञान और इतिहास की परंपराएँ अपना गुलाम बना लेती हैं। इसलिये मनुष्य प्रयास करता है कि वह अपने इतिहास को अपनी कथा की तरह स्वयं उपलब्ध करे। परंतु अपनी कथाएँ मनुष्य को इसलिए उपलब्ध नहीं होतीं, क्योंकि उसकी अपनी कथाएँ उसके अपने ही भीतर अचेतन रूप में मौजूद जैव इतिहास की जातीय स्मृतियों, सपनों और संस्कारों से ताल्लुक रखती हैं। उनके उलट उपलब्ध करायी जाने वाली कथाएँ, सत्तावर्चस्वी संरचनाओं से जुड़ी कथाएँ होती हैं, जिनमें मनुष्य को आस्था रखने के लिए कहा जाता है।

इस लिहाज से देखा जाए तो साहित्य मनुष्य की इतिहास से मुक्ति का आख्यान है। वह मनुष्य के अचेतन से उसी तरह सीधा संवाद करता है, जैसे सचेतन रूप में उपलब्ध किए गए।

ज्ञानेतिहास और उसकी कथा के साथ साहित्य भीतर की कथा और बाहर के इतिहास दोनों के बीच रचनात्मक संबंध स्थापित करता है। उसकी यह रचनाशीलता इतिहास में स्थित मानव को, ख़ुद को रचने की आज़ादी देती है। वह जितनी इतिहास की वस्तु है उतनी ही इतिहास से बाहर होने का आयोजन भी है

साहित्य की दो मूल विधाएँ हैं - एक काव्य, दूसरी कथा। काव्य के साथ मनुष्य उपलब्ध इतिहास और ज्ञान की परंपरा के विविध आख्यानों की गुलामी से आज़ाद होता है। कथा के साथ साहित्य अपनी इस आज़ादी को निर्बंध होने से रोकता है और उसे फिर से एक अपने तरह के इतिहास में बँधने के लिए वापस बुलाता है।

कथा और काव्य- ये दोनों साहित्य की मूल विधाएँ हैं। ये दोनों गहरे में एक दूसरे से अंतरंग रूप में जुड़ी रहती हैं। न काव्य कथा के बिना संभव है, न कथा काव्य के बिना। कथा से आज़ाद होकर काव्य स्वच्छंद और अमूर्त्त हो जाता है, कथा काव्य से रहित हो कर मृत इतिहास हो कर रह जाती है। कथा काव्य की ज़मीन है, काव्य कथा का आकाश। ज़मीन वहाँ पीछे मौजूद प्रस्थान और परिणति की तरह आकाश का इंतजार करती है। इस तरह यह भी कह सकते हैं कि काव्य एक कथा तरल अथवा इतिहास तरल अनुभव दशा है और दूसरी तरफ कथा काव्य का घनीभूत होकर इतिहास में बदलना है।

कथा काव्य की मदद इसलिये लेती है, ताकि वह इतिहास से संबंध रखने वाले स्वप्नलोक को भी, इतिहास का हिस्सा बनने के लिए आमंत्रित कर सके। इतिहास जिन अनुभव क्षेत्रों को अपने वस्तुनिष्ठ रूप की रक्षा के लिए निष्कासित करता है, वे साहित्य के लिए काम के

साबित होते हैं। इसलिए यह लग सकता है कि साहित्यिक कथाएँ कल्पना पर आश्रित होती हैं। तथापि साहित्य के लायक होने वाली कल्पना बेलगाम नहीं होती। वह इतिहास की खाली जगहों को भरने के लिहाज से सार्थक भूमिका निभाने वाली होती है। इस कल्पना के द्वारा इतिहास का अंतर्विकास हुआ करता है।

कथा की रचनाशीलता काव्य की मदद से गहराती है। इसलिए परंपरागत रूप में साहित्य को काव्य कहा जाता रहा है। इसकी वजह यह है कि परंपरागत रूप में इतिहास इतना जटिल और सत्तामूलक नहीं था कि उसका समाज के सामूहिक सपनों से कोई रिश्ता न बैठ पाता। इसलिए इतिहास और कथा में वहाँ अधिक दूरी दिखाई नहीं देती। नतीजतन रचनाशीलता, स्वरूपतः कथात्मक न होकर काव्यात्मक ही दिखाई देती रही है। परंतु हमारे समय तक आते-आते इतिहास इतना जटिल हो गया है कि उसके भीतर काव्य के प्रवेश के लिए गुंजाइश ही नहीं रह गई है। इसलिए अब कथा को स्वयं विशुद्ध कथा की तरह सामने आना पड़ा है।

मिथक इतिहास की स्वप्नमय पुनर्रचना है।

अतीत में मानव जाति के लिये कल्पना की इतनी उड़ान संभव थी कि इतिहास की मिथक के रूप में पुनर्रचना हो सकी। परंतु बाद के समय में यह कार्य लगभग असंभव हो गया। अतीत में 'ख्यात वृत्त' की तरह ग्राह्य इतिहास का रचनात्मक प्रतिफलन, मिथकों के सह समांतर नाटकों और महाकाव्यों के रूप में हुआ।

मिथकों और नाटकों की तरह इतिहास अपने अचेतन और चेतन दोनों रूपों में रचनात्मक अभिव्यक्ति को उपलब्ध हो सका। नाटक इतिहास की सचेतन रूप में पुनर्रचना का प्रयास है और मिथक अचेतन रूप में। बाद में जो महाकाव्य वाली विधा प्रकट होती है, वह इतिहास को उसकी समग्रता में रचनात्मक अभिव्यक्ति दे सकने का प्रयास है।

काव्य में सृजन अपने नैसर्गिक रूप में दिखाई देता है। शुरुआती रूप में छंद उसमें, व्यवस्था की स्वाभाविक प्रवृत्ति की तरह प्रवेश करता है और गेयता लयात्मक होने की ज़रूरत की तरह। गहरे में ये दोनों चीजें सृष्टि के होने के तरीके की तरह देखी जा सकती हैं। सृष्टि अपने हो सकने से पहले अव्यवस्था का महास्फोट होती है। फिर इस अव्यवस्था का बंधना छंद हो जाता है और स्फोट ही एकतान होकर लय और गीति में बदल जाता है।

सृष्टि के उद्भव की जिस प्रक्रिया का पुराणों में वर्णन हुआ है, वह स्फोट से नाद तक पहुँचने का उपक्रम है। स्फोट अव्यवस्थित नाद है, नाद व्यवस्थित स्फोट। स्फोट को बाँधने का प्रयास छंद बन गया। छंद की जो उपलब्धि है, वह नाद को साधने के रूप में हमारे सामने आती है। चूँकि छंद में बंधकर स्फोट शब्दों में लय की तरह एकतान हो पाता है, इसलिये काव्य में शब्द और अर्थ में कोई दूरी दिखायी नहीं देती। वहाँ ध्वनिबिंब और वस्तुएँ एक दूसरे में एकाकार होते हैं और नाद की लय अर्थ की तरह गूँजती हुई रचना के सत्य को उद्घाटित करती है। सृष्टि के उद्भव की इस प्रक्रिया को संस्कृत के वैयाकरणों ने काव्य के सिद्धांत के रूप में व्याख्यायित किया था।

काव्य में हमें रचनाशीलता अपने आद्य रूप में दिखाई देती है। परंतु सृष्टि हो जाने के बाद जो बचता है और जिस का विकास होता है, वह इतिहास होता है। इस तरह काव्य की रचनाशीलता, अपने उत्तर-आख्यान के रूप में एक कथा होती है।

कथा, समय और स्थान के आपसी रिश्तों का, हमारे स्मृतिमूलक अनुभवों के रूप में होने वाला अंतर्विकास है।

आदिकाल से मनुष्य जिन अनुभवों को अपने भीतर स्मृतियों के रूप में सहेजता आया

है, वे मनुष्य के भीतर उसके इतिहास बोध की तरह रहती हैं। मनुष्य की समझ की एक सीमा होती है। इसलिए मनुष्य को प्रकृति ने स्मृतियों का उपहार दिया है। स्मृतियों के द्वारा इतिहास के अनुभव मनुष्य के भीतर संगृहीत होते रहते हैं। उन अनुभवों की शृंखलाएँ पीढ़ी दर पीढ़ी आगे स्थानांतरित होती रहती हैं। इस तरह इतिहास मनुष्य की चेतना बनकर उसके भीतर से अभिव्यक्ति पाता रहता है।

परंतु, इस जीवनमूलक इतिहास में बहुत कुछ ऐसा होता है, जो बाहर से उपलब्ध किए जाने वाले तथ्यात्मक, वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ इतिहास से मेल नहीं खाता। मनुष्य के स्मृतिमूलक इतिहास से उसकी सभ्यता का जन्म होता है और वह इतिहास जिसे लिखित रूप में बचाया जाता है, वह मनुष्य की सामाजिक और सांस्कृतिक निधि होता है। धीरे-धीरे इन दोनों के बीच फासला बढ़ता जाता है। इस फासले को कम करने के लिए साहित्य की रचनाशीलता अपनी काव्यमूलक सामर्थ्य का इस्तेमाल करती है।

इतिहास का कथा में प्रवेश, समसमय का हिस्सा होकर पुनर्रचित हुए प्रख्यात पात्रों और प्रसिद्ध घटनाओं के रूप में होता है। इन्हें कथा साहित्य अपनी रचनाशीलता के द्वारा, यथार्थ से स्वप्न तक ले जाता है और फिर स्वप्न से पुनः यथार्थ को एक नयी शक्ल में वापिस करता है। साहित्य में इस तरह के प्रयास महाकाव्यात्मक प्रयास कहलाते हैं।

मध्यकाल तक महाकाव्य का लिखा जाना संभव था। तब तक लिखित इतिहास की जकड़ इतनी नहीं थी कि प्रख्यात ऐतिहासिक पात्रों को नायक बना कर रचनात्मक होने में कोई मुश्किल होती। तब तक नायक गहरे में नयी समाज-सांस्कृतिक और सभ्यतामूलक पुनर्रचना का पर्याय होने लायक दिखायी देता था। उस दौर तक कथानक ज्ञात इतिहास और जातीय इतिहास के बीच आपसदारी रखने वाले मालूम पड़ते हैं। इसलिए इतिहास की कथाएँ, लोक की जातीय स्मृतियों से जुड़ी कथाओं से गलबाहीं डालकर आगे बढ़ती रहती है। सत्तावर्चस्वी इतिहास को हमारे महाकाव्यों ने, विशेष रूप में रामायण और महाभारत ने, वनवास के रास्ते लोक की जातीय स्मृतियों से जोड़ा था। इस तरह हमारी कथा, सत्ता का केंद्र हो गए इतिहास से बाहर निकल जाती है और वन में पीछे पड़े रह गए इतिहास के साथ एक रिश्ता बनाने का रचनात्मक प्रयास करती है।

इस तरह मध्यकाल तक हमारी कथा की, कथा में मुक्ति संभव हो सकी। परंतु आधुनिक काल तक आते-आते इतिहास इतना विविध, बहुल, जटिल और अंतर्विभाजित हो गया कि महाकाव्य के द्वारा इतिहास की पुनर्रचना कठिन होती चली गयी। इस पुनर्रचना के लिये अब ज़रूरी हो गया कि हम महाकाव्य की उदात्त दुनिया की ऊँचाई से नीचे उतरते, गद्य की भाषा की तरह ज़मीन पर चलते और आम आदमी की तरह इतिहास के विकल्प को खोजने के लिहाज़ से अपनी असफलताओं का सामना करते।

इस तरह अपनी ज़मीन के करीब आते हुए हमने महाकाव्य से उपन्यास की ओर रुख़ करने की समझ पायी।

आधुनिक काल गद्य का काल उतना नहीं है, जितना गद्य की मार्फत कथा के मुखर हो जाने का। हमारे समय में कथा को इतना मुखर बनाने का जो कार्य संभव हुआ, उसकी भूमिका गद्य ने बनाई। परंतु गद्य ने काव्य को अपदस्थ नहीं किया। ऐसे में गद्य के काव्यात्मक इस्तेमाल की बात और मुखर हो कर सामने आई।

'कामायनी' जैसा जो बड़ा महाकाव्य आधुनिक काल में हमारे सामने आता है उसमें भाव और अनुभूति भी अपनी कथा कहने के लिए जैसे मुखर हो जाते हैं। सामान्यतः भी आधुनिक

काव्य में हम यह देखते हैं कि वहाँ जीवनमूलक यथार्थ से संबंधित कथाएँ, अनुभव के छोटे-छोटे खंडों की तरह, अपने मुकाम तक पहुँचने की कोशिश करती हैं। सब कुछ जैसे कथा की तरह कहा जाने के लिए उन्मुख और विवश मालूम पड़ता है।

काव्य और कथा की रचनात्मक आपसदारी सभी समयों में होती है, लेकिन इन दोनों में से किसकी अभिव्यक्ति अधिक मुखर होगी, इससे युग परिवर्तन का पता चलता है। इस आधार पर यह बात सापेक्ष रूप में अवश्य कही जा सकती है कि दुनिया अब काव्य केंद्रित न रहकर कथाकेंद्रित हो गई है।

मध्यकाल तक कथा का काव्य के रूप में रचनात्मक बने रहना संभव था, अब आधुनिक काल में काव्य का कथा होकर ही रचनात्मक हो पाना संभव हो पा रहा है।

ऐसे में सारी विधाओं के निर्णय के लिए हमें उनके नए रूपों की व्याख्या का कार्य अपने हाथों में लेना होगा।

मध्यकाल तक जिसे हम मिथक कहते थे, उसमें स्वप्न और कल्पना का प्राधान्य था। वही मिथक आधुनिक काल में अब एक नई कथा के रूप में सामने आए हैं, जिसे कहानी कहा जाता है।

दूसरी तरफ वह जो मध्यकाल का नाटक था, उसके भीतर से कथा का एक अन्य रूप निकला है जिसे हम दृश्य-श्रव्यमूलक पटकथा कहते हैं। आधुनिक काल के नाटक दृश्य प्रधान होते होते दृश्य की कल्पनाशीलता को एक ऐसे नए यथार्थवादी शिल्प के रूप में गढ़ रहे हैं, जहाँ दृश्य यथार्थ भी कल्पनाशील हो सकता है। यह दृश्य-श्रव्य पटकथा, अब नाटक की बजाय सामान्य कथा कहानी के अधिक करीब मालूम पड़ती है। इस में समय का आवृत्तिमूलक इकहरा अंतर्विकास टूट बिखर गया है।

आधुनिक कथा में इकहरेपन से निजात पाता समय अब, जटिल इतिहास की नयी रचनात्मक अभिव्यक्ति करने लगता है। वहाँ समय लगातार आगे-पीछे और पीछे आगे होता रहता है। अब स्मृतियों की कालक्रमिक शृंखलाएँ नहीं बची हैं। अब स्मृतियाँ लगातार अपने समय को अतीत और भविष्य से जोड़ती हुई, गहरी कल्पनाशीलता का परिचय देने लगी हैं।

आधुनिक काल में अन्य विधाओं की तरह महाकाव्य भी एक नई शक्ल ले कर उपन्यास के रूप में हमारे सामने आया है। इसीलिए हमारे समय में अब अगर हमें महाकाव्यात्मकता को खोजना हो तो वह सामान्यतः उपन्यास में संभव रह गई है।

महान उपन्यास वही हैं जिन्हें हम महाकाव्यात्मक उपन्यासों के रूप में देख सकते हैं। यहाँ रचनाशीलता अपनी समग्रता में अभिव्यक्ति पाने का प्रयास करती है।

यथार्थ और कल्पना के बीच जो दूरी हमें अन्य विधाओं में दिखाई देती है उसे उपन्यास एक हद तक समन्वित करते हैं। लेकिन इतिहास की जटिल संरचनाएँ और समीकरण उपन्यास को भी यथार्थवादी और कल्पनामूलक कोटियों में विभाजित कर देती हैं।

तथापि महान उपन्यास वही होते हैं जहाँ यथार्थ की व्यापकता गहरा कर काव्य में होने का संकेत देती है; या जहाँ गहरी कल्पनाशीलता अपनी गहराई में व्यापक संदर्भों को छूने की दिशा पकड़ती है।

उपन्यास, अन्य विधाओं की तुलना में अधिक गहराई से, इतिहास की जटिलता को एक वैकल्पिक मुकाम पर ले जाते हैं। यथार्थवादी शिल्प वाले उपन्यासों के पात्र और स्थितियाँ प्रतिनिधित्व मूलक अधिक होती हैं। परंतु हम वहाँ महानता की कसौटी के रूप में यह देखते हैं कि वे पात्र और स्थितियाँ कैसे तयशुदा प्रतिनिधित्व-मूलकता के बंधन को तोड़कर आज़ाद

होती हैं। इस तरह वे अपनी आंतरिक रचनाशीलता को बंधनमुक्त करती हैं। इसी प्रकार वे उपन्यास जिन्हें हम ऊँची कल्पनाशील उड़ान के लिए महत्त्वपूर्ण मानते हैं, उनकी महानता इस बात में प्रकट होती है कि वे कैसे आखिरकार अपनी कल्पना को व्यापक समाज-सांस्कृतिक यथार्थ से जोड़ पाते हैं।

यानी अगर आप आज़ाद हैं तो बँधने में महानता होगी और अगर आप बँधे हैं तो बंधन को तोड़कर आज़ाद होना महानता की कसौटी हो जाएगी।

उपन्यास के कथानक, पात्रों और स्थितियों की आपसदारी में आगे बढ़ते हुए आख़िरकार अपने मुकाम पर पहुँचते हैं। उपन्यास में शिल्प की दृष्टि से स्थितियाँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं या पात्र-इस बारे में अक्सर बहस चलती रही है। परंतु यह बहस बहुत अर्थपूर्ण नहीं है। उपन्यास के पात्र स्थितिमूलक होकर ही पात्र हो पाते हैं और स्थितियाँ पात्र के रूप में प्रस्तुत होकर ही मूर्त और जीवंत हो पाती हैं। उपन्यास में उसके सभी घटक, एक दूसरे में इस कदर रचे बुने होते हैं कि किसी घटक को किसी अन्य से अलहदा करके देखना संभव नहीं होता।

उपन्यास के कथानक को ठीक से समझने और खोलने के लिये ज़रूरी है कि हम उसमें मौजूद उस इतिहास की कथा को भी देखें जो वहाँ परोक्ष एवं सह समांतर रूप में उसे गति देती है।

गहरे में इतिहास हुए बिना, कोई कथानक अपना वैकल्पिक अंतर्विकास नहीं कर सकता; और कोई भी इतिहास, गहरे में कथानक हुए बिना, जीवंत और रचनात्मक होने का दावा नहीं कर सकता।

इतिहास अगर मानव जाति को मुक्त करने का सपना देखता है तो उसे उपन्यास के कथानक की ओर उसी तरह उम्मीद की निगाहों से देखना चाहिये, जैसे कभी वह महाकाव्य की ओर देखा करता था। और उपन्यास के कथानक को यदि वास्तव में अर्थपूर्ण होना है तो उसे व्यापक इतिहास के भीतर से अंतर्दृष्टिपूर्ण चुनाव करके उसे मानव के स्वप्न में उतारना होगा।

उपन्यास के कथानक में इतिहास की मौजूदगी उसकी गहरी संरचना के रूप में होती है। कथाएँ मानव चित्त की स्मृतियों में कुछ मूलभूत संरचनाओं की तरह मौजूद रहती हैं। ये संरचनाएँ मानव के सामाजिक, सांस्कृतिक और सभ्यतामूलक अंतर्विकास के दौरान जन्म लेती हैं। वैसे मूल संरचना सदा जैविक होती है। मनुष्य का जीवन किसी भी इतिहास के कथानक की मूल संरचना का सबसे गहन और मूलभूत पक्ष होता है।

जीवन में जैसे जन्म से लेकर मृत्यु तक की यात्रा दिखाई देती है, तो वही हमारे सभी तरह के इतिहासों की अस्ल ज़मीन होती है। या जैसे किसी वृक्ष के बीज से लेकर फलवान होने तक का सफ़र देखा जाता है, वैसे ही सारी कथाएँ आरंभ, मध्य और अंत की तरह संरचित होती हैं। यह कोई यांत्रिक अंतर्विभाजन नहीं है। यह मूलतः जैविक है। अतः इसमें अपार विविधता और अनेकरूपता है।

परंतु जैसे जीवन और मृत्यु के साथ जीवन का एक चक्र पूरा होता है, वैसे ही कथानक में भी इसी प्रकार की किसी मूलभूत संरचना के द्वारा पूर्णता का आभास पैदा करना पड़ता है। इस पूर्णता की मौजूदगी के बिना इतिहास का अर्थ प्रकट नहीं होता।

इतिहास में कुछ भी पूर्ण नहीं है। परंतु इतिहास की समस्त कथाएँ असंख्य किस्म की परस्पर पूरक पूर्णताओं से युक्त होती हैं। इतिहास की निरंतरता में उससे कोई रुकावट नहीं पड़ती। जैसे जन्म से मृत्यु तक का सफ़र जीवन के अनवरत रूप में प्रवाहित रहने के रास्ते

में कोई रुकावट पैदा नहीं करता।

सभी साहित्यिक कृतियाँ जितनी इतिहास के भीतर होती हैं, उतनी ही इतिहास के बाहर भी। वे इतिहास में दर्ज़ होने से रह गए वृत्तांतों को उनकी अपनी जगह देती हैं।

प्राचीन कृतियों में हमें देवता दिखाई देते हैं। उनके बरअक्स असुर भी खड़े नज़र आते हैं। परंतु मनुष्य अपनी जगह बनाने में लगातार असफल बने रहते हैं। साहित्य की रचनाशीलता इन देवताओं और असुरों के वृत्तांतों को मिथक कथाओं में बदल देती है और वे वास्तविक न रहकर मनुष्य के स्वप्न का हिस्सा हो जाते हैं।

इस तरह देखा जाए तो प्राचीन काल का सारा साहित्य मनुष्य के अचेतन का साहित्य है।

मध्यकाल में मनुष्य के इतिहास की ओर साहित्य की निगाह उठती है। परंतु मनुष्य अभी भी हाशिए पर पड़ा रहता है। साहित्य जिस मनुष्य की फ़िक्र करता है, वह ऐसा मनुष्य है जो मूलतः देव ही है, परंतु जिस का ज़मीन पर अवतरण हो गया है। या फिर बात ऐसे मनुष्य की होने लगती है, जो मनुष्य होने के नाते क्षणिकता, पीड़ा और मृत्यु का सामना करता है। ऐसा करने की वजह से उसका वास्तविक संसार दुःखमय संसार में बदल जाता है। इस दुःखमय संसार से बाहर आने के लिए वह स्वयं को इतना ऊपर उठाता है कि उसके भीतर कोई ब्रह्म उसके वास्तविक अनुभव का हिस्सा हो गया लगने लगता है।

इस तरह हम देखते हैं कि मध्यकाल में साहित्य की रचनाशीलता मनुष्य को इतिहास से ईश्वर की मदद लेकर उबारती हैं। जब तक इतिहास को नियंत्रित करने वाली शक्तियाँ मनुष्य के वश के बाहर रहती हैं, साहित्य की रचनाशीलता इतिहास के विकल्प को खोजती दिखाई देती रहती है।

यह आधुनिक काल में पहली दफ़ा घटित होता है कि मनुष्य केंद्र में आता है। परंतु हम साथ ही यह भी देखते हैं कि मनुष्य के केंद्र में आने की स्थिति बड़ी विडंबनापूर्ण है। मनुष्य के केंद्र में आने के साथ वह जटिल यथार्थ भी मुख्य भूमिका में आता है जो उसे संचालित और नियंत्रित करता है। इससे यह बात रेखांकित होने लगती है कि मनुष्य इतिहास की अंधी और अमानवीय शक्तियों के बरअक्स बड़ी कठिनाई से किसी तरह अपने आप को खड़ा रख पाता है।

इसलिए आधुनिक काल के अधिकांश उपन्यास उस सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, या ऐतिहासिक यथार्थ का चित्रण करते हैं जो मनुष्य को चारों तरफ से घेरे हुए हैं। यह इतिहास गहरे में मनुष्य की पीड़ाओं का स्रोत बन कर उभरता है और मनुष्य के मुक्त होने के मार्ग में लगातार रुकावट बनता है। आधुनिक काल की अन्य सभी विधाओं के मुकाबले में उपन्यास मनुष्य की इस विडंबनापूर्ण स्थिति को बड़ी व्यापकता और गहराई से पकड़ता और अभिव्यक्त करता है।

अगर हम आधुनिक काल में उपन्यास के विकास के इतिहास पर नजर डालें, तो मनुष्य की विडंबना के अनेक रूप और उनके विविध चरण कालक्रमिक रूप में हमें साफ़ दिखाई दें सकते हैं।

आधुनिक काल में जब उपन्यास का उद्भव होता है, तो हम वहाँ ऐसे पात्रों को देखते हैं :

- जो ग्रामीण परिवेश से निकलते हैं
- या जो सामान्य होने के बावजूद विशिष्ट होते हैं
- या जिन्हें सत्ता के वर्चस्वी रूपों का प्रतिनिधित्व करने वाले लोग अपने तौर पर कुछ हासिल करने के लिए बाहर के सफ़र पर भेजते हैं।

ऐसे तमाम लोग यथार्थ की उन दुरभिसंधियों के गढ़ तोड़ते हैं, जो इतिहास की उपज होती हैं। वे अपने रास्ते साफ़ करते हुए शहरों में, राज्यों में या सत्ता के दूसरे केंद्रों में दाख़िल होकर अपनी मौजूदगी का अहसास कराते हैं।

आधुनिक काल के आरंभिक चरण के ये जो उपन्यास हैं, इनके पीछे मध्यकाल के प्रेमाख्यानों की मानसिकता दिखाई देती है। मध्यकालीन प्रेमाख्यान मूलतः राजकुमारों के आसपास लिखे गए थे। उनमें से कुछ अमीर व्यापारियों के आसपास घूमते भी नज़र आते हैं। ये लोग अपने घर और गाँव को छोड़कर दूर देशों की यात्रा पर निकलते हैं। वे अपने ध्येय को प्राप्त करने के लिए अनेक आश्चर्यजनक कारनामे करते हैं। वे बंदी बना ली गईं राजकुमारियों को आसुरी या जादुई शक्तियों के स्वामियों के चंगुल से छुड़ाते हैं या बेशकीमती धनसंपदा को प्राप्त करने के लिए पहाड़ों, नदियों, गुफाओं, जंगलों और हिंसक पशुओं आदि के अवरोधों को पार करते हुए अपनी मंज़िलों तक पहुँचते हैं।

ये जो मध्यकालीन कथा नायक हैं, ये वर्चस्वी सत्ता वाले वर्ग से आते हैं। इतिहास में अपनी जगह बनाने के लिए सामान्य मनुष्य अभी इतना सशक्त नहीं होता कि वह ऐसी यात्राओं पर निकल सके। दिखाया यह जाता है कि इतिहास की सत्ता अच्छे और बुरे के बीच विभाजित है। वे जो अच्छाई, सत्य, या श्रेष्ठ आचरण के प्रतीक नायक हैं, अंततः विजय उन्हीं की होती है।

आधुनिक काल में दाख़िल होते हुए ये तमाम प्रेमाख्यान अचानक अपना वर्गांतरण होता हुआ देखते हैं। सामान्य जन से नये नायकों का उदय होता हुआ नज़र आने लगता है। बहुत साधारण पृष्ठभूमि के लोग अचानक महत्त्वपूर्ण होने लगते हैं। इस तरह हम इतिहास के भीतर से मनुष्य के लिए एक गुंजाइश पैदा होते हुए देखते हैं।

लेकिन हम जल्द ही यह पाते हैं कि सामान्य जन के नाम पर जो लोग दरअसल अपने लिए कोई जगह बनाते हैं, वे नए प्रकट हुए मध्यवर्ग से अधिक ताल्लुक़ रखते हैं। सामान्य जन के लोग आधुनिक काल के उद्भव वाले चरण में अवश्य हैरतअंगेज़ कारनामे करते दिखाई देते हैं, परंतु बाद के समय में उनकी जगह मध्यवर्ग के पात्र लेने लगते हैं।

यह जो आधुनिक काल के उद्भव वाला चरण है, वह अनेक तरह की गहरी संभावनाओं से युक्त है। इन संभावनाओं को समझे बिना हम आधुनिक काल की कथा के वास्तविक अर्थों को खोजने में असमर्थ रहेंगे।

आधुनिक काल में प्रकट होने वाली नयी तरह की कथा में इतिहास, राजशाही वाले निरंकुश सत्ताकेंद्रों से जुड़े पात्रों को अहमियत नहीं दी जाती। वह सामान्य जन के एक नए तंत्र को, जिसे हम जनतंत्र या प्रजातंत्र कहते हैं, को उसकी जगह स्थापित करने का प्रयास करती है। परंतु हम जल्द पाते हैं कि इस बारे में आश्वासन, एक आश्वासन ही बनकर रह जाता है। सामान्य मनुष्य के नाम पर जो केंद्र में आता है, वह हमारा विकासशील मध्यवर्ग होता है।

आधुनिक काल के आते ही मध्यवर्ग बहुत बड़ी संभावनाओं के साथ अचानक प्रकट हो जाता है। उसमें निम्न वर्ग के बहुत से लोग भी आकर शामिल हो जाते हैं। उच्च वर्ग में भी जो लोग उदार और आत्मत्याग करने की मानसिकता से जुड़े होते हैं, वे भी अपनी बहुत सी वस्तुओं का परित्याग कर के मध्यवर्ग की मानसिकता में अपने आप को उतार लेते हैं। इस तरह के लोगों को तकनीकी शब्दावली में उदार बुर्जुआ कहते हैं। परंतु वे अपनी मानसिकता में आए बदलाव के कारण मध्यवर्ग का हिस्सा मालूम पड़ते हैं। मध्य वर्ग में नीचे से ऊपर उठे लोगों की तादाद हमेशा ज़्यादा होती है। इन्हें हम नए युग के प्रगतिशील नेतृत्व का हिस्सा होते भी देखते हैं।

पर जहाँ तक बात आधुनिक कथा की है, निचले वर्गों के ऊपर उठते लोग संघर्षशील तो होते हैं, मगर वे नायक बनने के लिहाज़ से उन पात्रों से पिछड़ जाते हैं, जो ऊपर से नीचे आते हैं। जहाँ कहीं उन्हें नायकों के रूप में उतारा भी जाता है, वहाँ हम केवल उनकी पीड़ा से वाक़िफ़ होते हैं परंतु उन्हें एक वैकल्पिक इतिहास का निर्माण करने लायक होता नहीं पाते।

इस तरह उपन्यास के उद्भव काल में प्रकट हुए नायको का जो एक बड़ा चमत्कारिक संसार हमारे सामने अचानक प्रकट होता है, वह बड़ी जल्दी बाद के समय में आंतरिक विरोधाभासों और विडंबनाओं का शिकार हो जाता है। अधिक जटिल और उलझी हुई स्थितियों के बरअक्स डट कर खड़ा हो पाना उसके बस की बात नहीं रह जाती। तथापि उसकी मूलचेतना और सरोकार इस ओर इशारा करते हैं कि सत्ता के उन केंद्रों को कैसे ध्वस्त किया जाए, जो मनुष्य को नियंत्रित करते हैं और जनसामान्य को दासता में धकेलते रहते हैं।

आधुनिक काल के उद्भव काल में प्रकट हुए उपन्यासों की तरह, बाद के दौर में सामने आने वाले पात्र, खुद को अधिक जटिल यथार्थ की विसंगतियों के बरअक्स खड़ा पाते हैं। वे मानवीय सारतत्व को उद्घाटित कर पाने के लिहाज़ से कोई बड़ी भूमिका निभाने लायक नहीं रह जाते। पर आधुनिक काल के इस आगे वाले चरण के उपन्यास की एक बड़ी प्राप्ति यह है कि यथार्थ की विसंगतियों और अंतर्विरोधों के बावजूद मनुष्य पहली दफ़ा इस लायक होता है कि वह इतिहास की वैकल्पिक कथाओं का आधार हो जाये।

हिंदी के उपन्यास को सामने रखेंगे तो हमें देवकीनंदन खत्री के 'चंद्रकांता संतति' जैसे उपन्यास याद आ सकते हैं। वहाँ ऐयार लोग चमत्कारिक शक्तियों से युक्त है। उन्हें उदार सत्तावर्चस्वी संरचनाओं के द्वारा मनुष्य विरोधी सत्तासंरचनाओं में सेंध लगाने को कहा जाता है। इस तरह उनका इतिहास की अंधी शक्तियों से संघर्ष आरंभ हो जाता है। इतिहास का निर्माण करने वाली क्रूर शक्तियाँ जब निर्णायक स्थितियों में पहुँचती हैं तो वे अमूमन युद्ध में उतरती हैं और शक्ति परीक्षण के द्वारा सामान्य मनुष्य की शांति को संकट में डालती हैं।

आधुनिक काल के उपन्यासों में ऐसे युद्ध पृष्ठभूमि में मौजूद रहते हैं और वे मनुष्य केंद्र में आ जाते हैं जो वस्तुतः ऐसे युद्धों को लड़ते हैं, उनके परिणामों को भोगते हैं और उनकी मार्फ़त अपने जीवन में कोई अंतर आया हुआ महसूस करते हैं। इस तब्दीली को हम यहाँ राजाओं की जगह ऐयारों के नायक होने की तरह देख सकते हैं।

इस तरह कथा वास्तविक जनेतिहास की ओर एक कदम आगे बढ़ाती है। वह इतिहास पर क़ाबिज़ शक्तियों के बरअक्स, जन के इतिहास को महत्त्व देने लगती हैं। परंतु हम देखते हैं कि सत्ता केंद्रों को ध्वस्त करने निकले ये नये कथानायक ख़ुद को चारों तरफ से घिरा पाते हैं। जो कथानायक शहरों में आकर गाँव या कबीले के प्रतिनिधि होने के नाते अपनी प्रतिभा, शक्ति और सामर्थ्य का प्रमाण देते हैं, अपना अर्थ खो देते हैं।

उनकी जगह आधुनिक काल की नयी कथा के वे पात्र सामने आते हैं जिनके लिए आधुनिकीकृत होते शहर या गाँव का हिस्सा होकर संघर्ष करना ही सब कुछ है, परंतु पहुँचने के लिए कहीं कोई जगह नहीं है। इन नये कथानायकों को लगता है कि इतिहास की सत्ता वर्चस्वी दुनिया उसकी आँखों से एकदम ओझल होकर नेपथ्य में बैठी अपना काम चलाने लगी है। उन्हें पता ही नहीं है कि इतिहास कहाँ, कैसे और किस रूप में उन्हें नियंत्रित करके अपने मुताबिक़ ढालता और चलाता है। इसलिए वे किस से लड़ें, यह उन्हें समझ ही नहीं आता। फिर भी उन्हें लड़ना होता है और लड़ते-लड़ते अंततः नष्ट हो जाना पड़ता है।

मनुष्य को इतिहास की धाराओं के विकल्प के रूप में ग्रहण करने के फ़ायदे भी हैं,

नुक़सान भी हैं। फ़ायदा यह है कि पहली दफ़ा मनुष्य को उसकी जगह मिलनी आरंभ होती है। नुक़सान यह है कि पहली दफ़ा मनुष्य को यह अनुभव होने लगता है कि वह किस कदर निहत्था है; इस लिहाज़ से निहत्था कि उसकी मदद करने के लिए कोई देवता धरती पर नहीं आते। न ही उसके भीतर से कोई ब्रह्म प्रकट होकर उसकी समस्याओं का अंत करता है। कोई ईश्वर भी अब अवतार बनकर उसके दुःखों का अंत करने के लिए सामने उपस्थित नहीं होता। इस तरह मनुष्य की मुक्ति के सारे मध्यकालीन विकल्प अचानक इस आधुनिक मनुष्य को अपने सामने धराशाई होते दिखाई देने लगते हैं।

परंतु मनुष्य के यूँ अचानक निहत्था हो जाने से मनुष्य अपने भीतर की नई रचनात्मक सामर्थ्य को खोजने निकलता है और अपने संघर्षशील बने रहने के लिए नए प्रेरणा स्रोतों की ओर उन्मुख होता है।

नतीजतन आधुनिक काल के उपन्यास, मनुष्य के इतिहास का विकल्प हो सकने की संभावनाओं को दो तरह से खोजते हैं। एक सामाजिक और दूसरे सांस्कृतिक आधार वाले सत्ता-विकल्प के रूप में।

पहले तरह के उपन्यासों में सामाजिक वर्गों के प्रतिनिधियों के रूप में हमारे सामने मौजूद मनुष्य अपने अंतर्विरोधों से उबरने के लिये संघर्ष करता है। उसके अपने आसपास के हालात के साथ जुड़ने की वजह से यह एहसास पैदा होता है कि वह मनुष्य जो करता है, वह उसकी अपनी नियति को ही नहीं, उसके वर्ग की नियति को भी परिभाषित करता है। इस तरह वर्ग का प्रतिनिधि होना अपने आप में सामूहिक चेतना को जन्म देने वाली सामाजिक युक्ति की तरह आता है।

लेकिन हम बड़ी जल्दी यह पातें हैं कि इन उपन्यासों की रचनाशीलता वर्गमूलक सामाजिक संरचना वाले इतिहास के सीमित दायरे को भी थोड़ा बहुत तोड़ती है। वह मनुष्य के वर्गीय चरित्र के भीतर से उस चेतना को प्रकट होता हुआ दिखाने के लिए अकुलाने लगती है, जो गहरे में वर्ग विहीन होती है। हालात वर्ग विहीन नहीं होते तथापि ऐसे उपन्यासों के पात्र अपनी चेतना के धरातल पर जब वर्गविहीनता के संकेत देते हैं तो वे इस नये सामाजिक इतिहास की सीमाओं को एक अर्थ में तोड़ रहे होते हैं। इस तरह सत्तामूलक इतिहास की जगह सामाजिक इतिहास के बंधनों को तोड़ना इन उपन्यासों का एक मक़सद हो जाता है।

हमारे दौर के दूसरी तरह के उपन्यास वे हैं जो मनुष्य के भीतर व्यक्ति चेतना के उदय की ओर इशारा करते हैं। यहाँ हम सामाजिक रूपांतर की बजाय मनुष्य के उस चेतनामूलक रूपांतर को महत्त्वपूर्ण होता देखते हैं, जो इतिहास की लोक-नियंत्रणकारी युक्तियों का प्रतिरोध करते हैं और उनसे मानसिक तौर पर अचानक बाहर आ जाते हैं। यहाँ हम समाज, इतिहास और उनके सत्ता केंद्रों में किसी तरह के परिवर्तन को होता नहीं देखते। सत्ता, व्यवस्था और परंपरा धारा के रूप में मनुष्य को बाँधती हुई आसपास मौजूद रहती है। परंतु मनुष्य अपने चुनाव की स्वतंत्रता के द्वारा अपनी चेतना के स्वतंत्र होने की घोषणा करने लगता है। इस तरह हम मनुष्य में वर्ग के प्रतिनिधि की जगह उसके अपने व्यक्तित्व को खड़ा होता हुआ देखने लगते हैं।

हम यह मानते हैं कि आधुनिक काल में एक जटिल परंतु मुक्तिकामी व्यक्तित्व संभव है जो इतिहास का एक नया विकल्प हो सकता है।

उपन्यास की आलोचना के दो स्वीकृत मॉडल हैं, जिन्हें मार्क्सवादी और अस्तित्ववादी उपन्यासों की तरह देखा जाता है। दोनों तरह के उपन्यास अपनी सार्थकता की बाबत अलग

अलग दावे करते हैं। परंतु सचाई यह है कि क्रांति चेतना और सामाजिक रूपांतर के दावों की तरह अंतर्विरोधों का अतिक्रमण करने वाला व्यक्तित्व भी ज़मीनी हालात में कोई बड़ी तब्दीली नहीं लाता। तथापि हम इन दोनों तरह के उपन्यासों का महत्त्व अधिक संवेदनशील समाज और मनुष्य को जन्म देने के लिहाज़ से अवश्य स्थापित कर सकते हैं। इसीलिये किसी एक को दूसरे से बेहतर साबित करने के लिये ये कसौटियाँ अपर्याप्त हैं। गुणवत्ता का निर्णय उपन्यास की समग्रता पर ही आधारित हो सकता है, न कि उपर्युक्त रूप में अंतर्वस्तु के विवेचन पर आधारित।

(दो)

हिंदी उपन्यास की भारतीयता

अब अगर हम हिंदी उपन्यास को देखें, तो हमारे सामने ये दोनों तरह के कथा-विकल्प, भारत की अपनी ज़मीन से अपनी तरह प्रकट होते हुए दिखाई देंगे। यक़ीनन ये पश्चिमी उपन्यास की तर्ज़ वाले व्यक्तित्वपरक और वर्गचरित्रमूलक उपन्यास नहीं है। इनका एक अपना 'भारतीय रूप' है।

परंतु, सामान्य कोटिकरण के लिहाज़ से ये भी इसी तरह की दो अलग श्रेणियों में बाँटे जाते रहे हैं। इस तरह की एक श्रेणी के प्रतिनिधि के रूप में हमारे पास प्रेमचंद का 'गोदान' है, जिस के पात्र वर्गगत मालूम पड़ते हैं। होरी, धनिया, राय साहब, मालती मेहता आदि के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि होने की बाबत हमें कभी कोई संदेह नहीं होता।

दूसरी तरफ अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी' है, जो एक ऐसे व्यक्तित्व को अपने भीतर से प्रकट करता है, जो अपनी दृढ़ता के द्वारा ही सारी परंपरा के बोझ को एक तरफ उतार कर फेंक सकता है। परंपराओं के अंतर्विरोधों और दुरभिसंधियों का मुक़ाबला करके वह अपने तौर पर अपना रास्ता, अपने चुनाव अपनी आंतरिक शक्ति के माध्यम से खोज और खोल सकता है।

भारत में इतिहास के युग बोधक आख्यान हमारे यहाँ की ज़मीन से अपनी अलग रचनात्मक अभिव्यक्ति पाते हैं। वे ऊपरी तौर पर उपर्युक्त दो दिशाओं की ओर जाते मालूम पड़ते हैं, परंतु जहाँ तक इतिहास से उबारने वाले युगबोध का प्रश्न है, वे–

- आजादी मिलने से पहले औपनिवेशिकता प्रतिरोधी चेतना वाले उपन्यास हैं, जो पुनरुत्थानवादी होने से बचने के लिये अपनी संघर्षशीलता को ही अपनी मुक्ति का पर्याय बनाने की कोशिश करते हैं। ।
- और आज़ादी मिलने के बाद नवोपनिवेशन की जकड़बंदियों के बरअक्स अपनी जातीय और सभ्यतामूलक ज़मीन के यथार्थवादी पुनर्शोधन और पुनर्मूल्यांकन के लिये असफल प्रयास करने वाले उपन्यास हैं।

इससे स्पष्ट है कि हमारा उपन्यास पश्चिमपरस्त होने की बजाय पश्चिम से उबर पाने की प्रक्रिया में अपनी ज़मीन के और करीब होता हुआ अपनी आत्मा को खोजता है।

औपनिवेशिक दौर में तीखे आर्थिक शोषण के दबाव में हमारे समाज की परंपरागत जातीय संरचना टूटने बिखरने लगती है। मध्य वर्ग के विविध स्तरों के रूप में नए अंतर्वर्त्ती वर्गों का जन्म होता है। आधुनिकता के नए मूल्यों की ओर झुकाव भी दिखाई देता है। परंतु यथार्थ ऐसा है कि उन मूल्यों को जड़ें जमाने के लिए माक़ूल ज़मीन कभी नहीं मिलती। इस तरह

भारतीय समाज एक अर्थ में बिखरता है और अपनी मूल्यचेतना को रूपांतरित कर के नए आधुनिक मूल्यों को आत्मसात करने में एक हद तक असफल रहता है।

नतीजतन हमारे यहाँ परंपरा और आधुनिकता के बीच गहन संघर्ष देखने को मिलता है। परंपरा पुनरुत्थान की ओर मुड़ जाती है और आधुनिकता एक तरह के आकर्षण के बावजूद परायी मालूम होती है। यही स्थिति प्रगतिशील होने की भी दिखाई देती है। आगे बढ़ना पश्चिमपरस्त होना होता है, जो सामान्य जन के लिए अजनबी बात होती है। परंतु परंपरागत मूल चेतना के साथ जीना भी अब संभव दिखाई नहीं देता।

औपनिवेशिकता के विरोध में नई मूल्य चेतना सत्ता के प्रतिरोध की चेतना के रूप में सामने आती है। परंतु जब वह क्रांतिकारी होने का प्रयास करती है तो देशभक्ति और आतंकवाद के बीच फासला मिटा दिए जाने के कारण लोकचित्त में संशय का भाव पैदा करती है।

दूसरी तरफ जो अहिंसक प्रतिरोध पैदा होता है, वह अव्यावहारिक और अमूर्त मालूम पड़ता है। वह बहुत अधिक आत्मोत्सर्ग की माँग करता है और परिणामों के दूरगामी होने के कारण अपने मानवीय होने के बावजूद लोगों के चित्त में अधैर्य को जन्म देता है।

इस तरह हम देख सकते हैं कि औपनिवेशिक दौर का हमारा युगबोध अनेक अंतर्विरोधों से युक्त है। उनसे उबरने के लिए रचनाशीलता के पास अपनी तरह के विकल्प खोजने और उन्हें जीने लायक बनाने के अलावा और कोई मार्ग शेष नहीं बचता। हमें सामूहिक मुक्ति की चेतना को अपने भीतर विकसित करने की ज़रूरत पड़ती है।

अब हम यह विवेचन कर सकते हैं कि हमारे उपन्यास औपनिवेशिक सत्ता के प्रतिरोध की इस चुनौती को किस तरह लेते हैं?

हमारे यहाँ उस दौर में जो दो बड़े उपन्यास सामने आए, 'गोदान' और 'शेखर एक जीवनी' के रूप में, वे भारत के इस युगबोधक मुक्ति अभियान को दो तरह की परिणतियाँ प्रदान करते हैं।

'गोदान' में यहाँ के विभिन्न वर्गों से आए हुए पात्रों को प्रतिनिधित्वमूलक बनाकर ऐसी परिणतिओं तक ले जाया जाता है, जहाँ उनकी निजी मुक्ति के साथ साथ सामाजिक मुक्ति भी संभव प्रतीत हो सके। इस संदर्भ में नया सामने आया प्रगतिशील शिक्षित समाज हमें प्रेमचंद के इस उपन्यास की तरह अन्य उपन्यासों में भी समाजसेवा की ओर उन्मुख होता दिखाई देता है।

परंतु, छोटे किसान, मजदूर और समाज के निम्नवर्गों के अन्य पात्रों के लिए इतिहास के युगबोधक अंतर्विरोधों से उबर पाने के लिए कोई संभावना और कोई बड़ी ज़मीन निकलती दिखाई नहीं देती। ऐसे में प्रेमचंद के उपन्यास निम्न वर्ग के पात्रों को प्रस्तुत करते हुए उनके जीवन को विडंबनामूलक रूप में प्रस्तुत करते हैं। निम्न वर्गों के पात्रों की विडंबनामूलक त्रासदी या उनसे उपजने वाली व्यंग्य चेतना, गहरे में उस दौर के युगबोधक अंतर्विरोधों पर एक तरह की टिप्पणी की तरह नज़र आती है। इससे नए बनते हुए समाज के अंतर्विरोधों को समझने और उनसे उबरने के लिए आत्मचिंतन करने की ज़रूरत और अधिक गहरी होती दिखाई देती है।

परंतु, इस तरह के उपन्यासों की सीमा यह है कि न समाज सेवा से कोई रास्ता निकलता है और न निम्नवर्गों के पात्रों की मर्मांतक कारुणिक त्रासदी ही औपनिवेशिक यथार्थ से और उसके इतिहास की जकड़बंदियों से हमारे समाज को बाहर निकालने के लिए कोई बड़ी दिशा हमारे सामने खोलती है।

इसलिए गाँधीवाद से निकला सेवामूलक आदर्शवाद और मार्क्सवाद से संबद्ध संघर्षशील,

पर त्रासद यथार्थवाद वाला हमारा यह अंतर्विभाजित मुक्तिमार्ग बड़ी जल्दी अवरुद्ध हो जाता है। और आज़ादी मिलते ही मोहभंग का शिकार हुआ मालूम पड़ने लगता है।

दूसरी तरफ 'शेखर एक जीवनी' का नायक अपने व्यक्तित्व की स्वच्छंदता को अपनी परंपराओं से लड़ने के सामर्थ्य में बदलता है। वहाँ इतिहास के युगबोधक अंतर्विरोध, बाहरी यथार्थ के अंतर्विरोध की तरह दिखाई देते हैं। जाति के बंधन, आर्थिक शोषण, भ्रष्टाचार, सामान्य जनता का दमन और नैतिक पाबंदियाँ - ये सभी मनुष्य को तोड़ने वाली मालूम पड़ती हैं। परंतु इस उपन्यास का कथानायक टूटने को राजी नहीं होता। वह किसी न किसी तरह से अपनी स्वतंत्रता और अपने संघर्षशील बने रहने में अपनी आस्था को जीवित रखता है।

अब यहाँ जो व्यक्तिमूलक विकल्प हमारे सामने उभरता है, उसकी सीमा भी बड़ी जल्दी स्पष्ट हो जाती है। उस जैसे शिक्षित मध्य वर्ग के पात्र बड़ी जल्दी यह देखने लगते हैं कि उनके पास अपनी चुनाव की स्वतंत्रता को बचाने के लिए बहुत बड़ी सामर्थ्य और समाज सांस्कृतिक ज़मीन शेष नहीं बची है। उन्हें भी औपनिवेशिक सत्ता तंत्र के द्वारा अपने में समाहित कर लिया जाता है। इससे वह भटकाव का शिकार होकर अंततः अपनी सामर्थ्य को खो बैठता है।

शेखर की इस सीमा को इससे बहुत पहले जयशंकर प्रसाद अधिक गहराई में समझ गए थे। उनके उपन्यास 'कंकाल' के नायक को देखें तो हम वहाँ भी वैसी ही स्वच्छंद संघर्षशीलता में आस्था, प्रेम और सौंदर्य को जीने की ललक देखते हैं। वह सत्ता से जुड़े विविध पात्रों से अलहदा होकर प्रतिरोधी मुद्रा के द्वारा अपनी आत्मा को बचाता है। उसके आचरण उसे अपने कंकालवत हो जाने की परिणति की ओर ले जाते हैं।

परंतु, प्रसाद यह देख पाए थे कि भारत में किसी के लिए इस तरह अपनी राह बनाना यानी अपना इतिहास खुद निर्मित करना संभव नहीं है। इसलिए उनका नायक सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अंतर्विरोधों पर विजय पाने के अभियान में उतरने के बाद अंततः खुद को अजनबी पाता है और गंगा के घाट पर वह मृतप्राय पड़ा मिलता है। जैसे कि अब वह विक्षिप्त हो गया हो।

यह भारतीय संस्कृति के भीतर से उठने वाले सांस्कृतिक पुनरुत्थान में आस्था रखने वाले चित्त के अपनी मृत्यु के क़रीब पहुँचने का पर्याय है।

औपनिवेशिक दौर में हमारा सांस्कृतिक पुनरुत्थान विमर्श के तौर पर तो बहुत लुभावना है, परंतु उपन्यास की रचनाशीलता में वह कंकालवत होकर हमारे सामने उपस्थित होता है।

इस तरह हम देखते हैं कि हमारे उपन्यासों में भारतीय इतिहास के युगबोधक रूपों की कल्पनात्मक उड़ान ही वह कुंजी है जो हमारी रचनाशीलता के मर्म को उद्घाटित करती है। वह हमें उस जगह ले जाती है, जहाँ हमारे पास अपने आपको सीधे देखने, समझने, आत्म चिंतन करने और फिर अपनी भस्म से अमर पक्षी होने की संभावना को खोजने का कोई रास्ता निकल सकता है।

औपनिवेशिक दौर की रचनाशीलता भारतीय इतिहास के अंतर्विरोधों को उस दौर के उपन्यासों के कथानकों में बदलती है। वहाँ यह सफ़र जहाँ आकर रुकता है, वहीं से अगले दौर का सफ़र शुरू होता है।

यह दौर इतिहास के अंतर्विरोधों से भारत को उबारने के लिए जितनी गहरी या जितनी ऊँची छलाँग लगा सका था, अब ज़रूरत थी उससे भी अधिक गहराई में उतरने की। यह संभव हो सका, इसीलिये अगले दौर में दो ऐसे उपन्यास हमारे सामने आते हैं जिन्हें हम विश्व स्तरीय उपन्यास कह सकते हैं।

ये दो उपन्यास हैं, 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'मैला आँचल'।

दूसरे विश्वयुद्ध के समाप्त होने के साथ भारत में भी औपनिवेशिक दौर के अंत होने की संभावना दिखायी देने लगती है। एक दौर के अंत और दूसरे के प्रकट होने के बीच के संक्रांतिकाल में हमारी रचनाशीलता अधिक गहराई में डुबकी लगाने की कोशिश करती है। ऐसे में हमारे उपन्यास भारत के वैकल्पिक इतिहासबोध को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करते हैं।

वैकल्पिक इतिहासबोध की तलाश के संदर्भ में बाणभट्ट हमें भारत के इतिहास के उस दौर में ले जाता है, जिसे तंत्रों का काल समझ कर लगभग भुला दिया गया था। वर्तमान युग के औपनिवेशिक अंधकारकाल के अनसुलझे सूत्रों के ताले मध्यकाल के अंधकारकाल के भीतर से पाई जाने वाली कुंजियों से खोले जा सकते हैं। वहीं से उस शक्ति को पाने का फिर से प्रयास किया जाता है, जहाँ हमने उसे बहुत अरसा पहले खो दिया था।

तथापि यह उपन्यास हमें पुनरुत्थान की ओर नहीं ले जाता। वह इतिहास को वर्तमान में फिर से जीने लायक बनाकर उसे एक वैकल्पिक इतिहास का रूप दे देता है। यह एक बड़ी उपलब्धि है।

किसी उपन्यास के बड़े होने का एक अर्थ यह है कि वह इतिहास के अंतर्विरोधों से उबरने के लिए वास्तविक इतिहास की शवपरीक्षा करता है। वह अतीत के शव को दुर्गंधमय हालत में जाने से बचाने के लिए उसके उन गहरे जीवाश्म-लेखों तक पहुँचता है, जो बाहरी अंगों की तरह कभी गलते सड़ते और विकृत नहीं होते। इस तरह हम गहराई से कुछ अमृत कणों को खोज लाने में सफल हो पाते हैं। और हम अपनी मरणशीलता के भीतर से नए जीवन की संभावना तक पहुँच जाते है।

'बाणभट्ट' संक्रांतिकालीन समुद्र मंथन कर के सांस्कृतिक अमृतकलश को ऊपर लाने वाला उपन्यास है।

'मैला आँचल', इसके समानांतर समकालीनता के भंवर की गहराई नापने का प्रयास करता है। वह उसी युग के राजनीतिक और सांस्कृतिक अंतर्विरोधों से खुद को उबारने की कोशिश करता है। वह वहाँ पहुँचता है, जहाँ हमारे समाज का कभी न मरने वाला सभ्यतामूलक मानवीय आधार मौजूद है, जहाँ से हमें फिर से जीने लायक एक नई संजीवनी मिल सकती है।

ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से इतनी बात स्पष्ट हो सकती है कि उपन्यास को पढ़ना और समझना, गहरे में समग्र यथार्थ और उसके इतिहास में डुबकी लगाना है। यथार्थ के अंतर्विरोधों और युगबोध की विडंबनाओं के रूबरू होना है। फिर समकाल में अपनी रचनाशीलता के साथ जीने के लिए एक नई राह खोजना है।

उपन्यास को इस रूप में हम एक तरह से इतिहास को नष्ट करने वाला भी कह सकते हैं और दूसरी तरह से अपने लिए अपने तरीक़े के एक नए इतिहास को खोजने वाला भी।

समय और भूगोल उपन्यास में हमेशा बड़े ठोस रूप में मौजूद होते हैं, मगर गहराई में बेहद तरल बने रहते हैं। उपन्यास के कथानक हमें समय और भूगोल, पृष्ठभूमि और परिदृश्य की तरह घटनाओं को स्थितियों में बदलते दिखाई देंगे, परंतु उन स्थितियों की गहराई हमें समयातीत और सार्वभौम धरातल की ओर खुलती दिखाई दे जाएगी।

यहाँ हम उपन्यास की रचनाशीलता के एक बुनियादी सिद्धांत के रूबरू हैं। उपन्यास की कथा का ताना-बाना जिस कथानक के रूप में हमारे सामने आता है, उसके दो बुनियादी अंग होते हैं–

- पहला है पात्रों का आंतरिक और बाहरी परिवेश के मुताबिक व्यवहार।

- और दूसरा है परिवेश का पात्रों की जीवनशैली की तरह ढलना।

उपन्यास में पात्र और परिवेश एक दूसरे में इस कदर घुले-मिले होते हैं कि परिवेश ही पात्र की देह हो जाता है और पात्र ही परिवेश की आत्मा। विज्ञान और इतिहास में ऐसा नहीं होता। विज्ञान में ये दोनों, दो एकदम अलग कोटियों की तरह होते हैं। इतिहास में स्मृतियों की दख़ल से इन के बीच की दूरी थोड़ी कम हो जाती है। उपन्यास में ये दोनों देह और आत्मा की तरह एक दूसरे के साँचे में ढल जाते हैं। काव्य और आगे जाता है। वहाँ सब पात्रमय या आत्ममय हो जाता है। इसलिये उपन्यास बेहतर रचनात्मक विधा मालूम पड़ता है। वर काव्य और यथार्थ के बीच पुल की तरह होता है।

उपन्यास भी दो तरह के होते हैं–

- एक वे हैं जिन में पात्र सीधे आत्माभिव्यंजना न करते हुए, परिवेश के रूप में खुलते हैं।
- और दूसरे तरह के उपन्यास वे हैं जो परिवेशगत यथार्थ का चित्रण इस तरह करते हैं जैसे कि वे विविध पात्रों के व्यक्तित्व को मूर्त या ठोस रूप प्रदान करने के लिये उपस्थित हुए हों।

इन दोनों तरह के उपन्यासों के बीच केवल दिशाओं का फ़र्क़ है, जो इन के कथानकों को इन दो बुनियादी रचनाप्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति में बदल देता है।

जब हम पात्र से आरंभ करते हैं और उसके भीतर से खुलते हुए परिवेश को अभिव्यक्त होता हुआ पाते हैं, तो इसका अर्थ यह होता है कि हम वास्तविक इतिहास के द्वारा मनुष्य को बाँधने की कोशिश करने वाली परंपराओं व प्रवृत्तियों के बरअक्स खड़े मनुष्य के महत्त्व को पहचानते हैं।

यह मनुष्य वास्तविक इतिहास से उबरने की कोशिश में स्वच्छंदता को महत्त्व देता हुआ हमारे सामने आता है। ऐसे उपन्यास स्वच्छंदता को अपने परममूल्य की तरह इस्तेमाल में लाते हैं। परिवेश इस स्वच्छंदता को बाँधना चाहता है, पर असफल होकर खुद उसके आगे कटघरे में खड़ा नज़र आता है। इतिहास यहाँ मनुष्य की मनोदशा के अंतर्विरोधों में परिणत हो जाता है। ये उपन्यास, इस गहरी अंतर्भूमि पर खड़े होकर, पात्र की मनोदशा के अंतर्विकास और अंतःरूपांतर को अपना कथानक बनाते हैं। वहाँ इतिहास की जड़ परंपराएँ तथा उसके संस्थागत बंधन ऐसी मनोदशा के विरोध में खड़े दिखाई देते हैं। यह विरोध ऐसे उपन्यासों में उस मूल तनाव को जन्म देता है जिससे कथानक का सतत विकास होता रहता है। मूल तनाव से उबरने के लिए कथानक में पात्रों की मनोदशाएँ अंतः रूपांतरित होती हुई सामने आती हैं। इस तरह वह मनोदशा मनोदशा मात्र न हो कर, परिवेश के अंतर्विरोधों को प्रतीक रूप में हमारे सामने ले आने वाली हो जाती है।

ऐसे पात्रमूलक उपन्यासों में पाठक मनोदशा से परिवेश में छलाँग लगाते हैं। वे परिवेश को मनोदशाओं के मूर्त रूप में ग्रहण करते हैं।

इसके उलट जो उपन्यास परिवेश को केंद्र में रखते हैं, उनके पात्र परिवेश के अंतर्विरोधों के प्रतिनिधियों की तरह हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं। यहाँ पात्रों के माध्यम से परिवेश के ही विविध अंतर्विरोध आपस में घात प्रतिघात करते दिखाई देते हैं।

ऐसे परिवेशमूलक उपन्यासों में जैसे-जैसे बाहरी यथार्थ के अंतर्विरोध और गहन व उजागर होते जाते हैं, वैसे वैसे इनके पात्र भी अन्य पात्रों से अपने बहुलतामूलक संबंधों के लिहाज़ से बहुस्तरीय तनावों से युक्त हो जाते हैं। इतनी बहुलता, विविधता और बहुस्तरीयता ऐसे उपन्यासों में भाषा के स्तर पर भी बहुत वैविध्य पैदा करती है। बहुत से संस्थागत परिवेश,

अपनी-अपनी अलग भाषा की दुनियाओं के साथ ऐसे उपन्यासों में एक दूसरे के सह समांतर खुलते और अभिव्यक्त होते हैं।

इस तरह ये उपन्यास यथार्थ का बहुत सटीक प्रतिनिधित्व करने वाले उपन्यासों की तरह हमारे सामने आते हैं। परंतु, इन उपन्यासों की परिणतियाँ सदा इन पात्रों की विडंबनामूलक स्थितियों और मनोदशाओं के रूप में अंतःसमन्वित होती हैं और प्रतीकात्मक रूप में किन्हीं भविष्यमूलक यूटोपियायी स्थितियों की व्यंजना करती हैं। भविष्यमूलक होने के कारण उन्हें मनोगत कहने और मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

यथार्थवादी उपन्यासों की परिणतियों में मनोदशाओं के केंद्रीय होने से जो विचारधारात्मक संकट पैदा होता है, उससे बचने के लिये अनिश्चयमूलक परिणतियों की ओर रुख़ किया जाता है। इसे अंतहीन अंत की युक्ति भी कहा जाता है। परंतु, इससे वस्तुस्थिति नहीं बदलती। परिवेशमूलक उपन्यास का सफ़र पात्रमूलक हुए बिना ख़त्म नहीं होता।

(तीन)

उपन्यास के रूप में भारतीय साहित्य आस्ट्रेलियाई की ओर

यहाँ हम उपन्यास के जिस नए काव्यशास्त्र के रूबरू हैं, वह परंपरागत काव्यशास्त्र का, जटिलता और विविधता मूलक परिदृश्य के बरअक्स, उत्तर-विकास है।

हम यहाँ भारत में विकसित हुए भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के उस सिद्धांत की ओर देख सकते हैं, जहाँ दृश्य-काव्य यानी नाटक के कथानक को आलंबन और उद्दीपन के आपसी रिश्तों के रूप में व्याख्यायित किया गया था।

आलंबन पात्रमूलक और उद्दीपन परिवेशमूलक धारणाएँ हैं।

परंतु, क्योंकि भरत कालीन समाज में यथार्थ इतना जटिल नहीं था कि आलंबन और उद्दीपन के जटिल रिश्तों को स्पष्ट करने की मांग उठती, इसलिए वहाँ केवल इतना निर्देश पर्याप्त मान लिया गया कि नाटक के कथानक में पात्र और परिवेश केंद्रीय महत्त्व रखते हैं। फिर कहा गया कि इनके आपसी रिश्ते अंततः जिस समन्वय दशा वाली परिणति तक पहुँचते हैं, उसका अनुभव पाठक को रस दशा के रूप में हो सकता है।

पात्र और परिवेश में किसी एक के केंद्रीय होने और दूसरे के उसके भीतर से अंतर्विकसित होने की बात एक जटिल स्थिति है, जो आधुनिक काल की देन है।

भरत के समय तक पात्र और परिवेश एक दूसरे के पूरक के रूप में मौजूद रहे होंगे, इसलिए उनके संबंध भी इतने जटिल नहीं थे कि वहाँ पात्रों को स्वच्छंद होने की ज़रूरत पड़ती और परिवेश को पात्रों के भीतर से अभिव्यक्ति पाते हुए उन्हें अपने प्रतिनिधियों के रूप में प्रस्तुत करने की हद तक जाना पड़ता। यहाँ हम अतीत से आधुनिक काल की दूरी को और फर्क को साफ़-साफ़ देख सकते हैं। समय के अंतराल से इन दोनों के बीच चाहे कितनी बड़ी खाई क्यों न पैदा हो गई हो, परंतु, अंततः पात्र और परिवेश को एक दूसरे का पूरक होना ही पड़ता है।

इसलिए आधुनिक काल में जो महान उपन्यास हमारे सामने आते हैं, वे चाहे पात्र केंद्रित हों या परिवेश केंद्रित; अंततः ये दोनों कोटियाँ एक दूसरे को अपने भीतर से अभिव्यक्ति देती हुईं—एक दूसरे को अपने प्रतीक के रूप में पुनः रूपबद्ध करती हैं और एक दूसरे को अपने आंतरिक पर्याय के रूप में रचती हैं। इस तरह हम इन उपन्यासों के ऐसे अंत देखते हैं, जहाँ

इन दोनों के बीच परस्पर पूरक संबंधों की व्यंजना संभव हो पाती है। बेशक इस परस्परपूरकता को ये उपन्यास अपने कथानकों में ज़ाहिर नहीं होने देते, परंतु वह भविष्य में स्थगित व्यंजना या विकल्प के रूप में सदा मौजूद रहती है।

जैसे वर्गों के प्रतिनिधि पात्र, अंततः वर्ग विहीन मानसिकता की ओर बढ़ते हैं, परंतु कोई उपन्यास उस वर्गहीनता को अभिव्यक्ति नहीं देता। लेकिन ऐसे उपन्यासों की अंतिम परिणतियों की सभी व्यंजनाएँ वर्गविहीनता, जातिविहीनता, लैंगिक परस्परपूरकता आदि की मानसिकता को व्यंजित किया ही करती हैं।

ऐसे ही जो उपन्यास पात्रों को विशेष महत्त्व देते हैं, उनकी परिणतियों में वे ऐसे स्व को उपलब्ध होते हैं जो सामूहिकता में विलय होना चाहता है। वह किसी सामाजिक आत्म को अपने भीतर से पाना चाहता है। आत्मभाव उसी परस्परपूरक समन्वय का दूसरा नाम है, जो मूलतः सामाजिक यथार्थ की तरह ही मूर्त हो पाता है। परंतु, ऊपर से देखने पर यह लगता है कि आत्मभाव एक तरह की मनोदशा या जीवनदशा है और वर्गविहीनता या जातिविहीनता भविष्य की स्थितिगत संभावना मात्र।

कुल मिलाकर हम यह कह सकते है कि आधुनिक काल की नई विधा के रूप में विकसित हुए ये जो उपन्यास हैं, वे अंततः जिस मनोदशा और स्थितिदशा के रूप में अपनी परिणतियों को पाते हैं, वे गहराई में एक दूसरे की व्यंजना करती हैं।

मनोदशा और सामाजिक स्थिति में जो आंतरिक सूत्र हैं, उसे हम संस्कृति और सभ्यता के एक दूसरे के पूरक होने की स्थिति में देख सकते हैं, परंतु हमारे समय में इन दोनों के परस्पर रिश्ते इतने अंतर्विरोधपूर्ण हो गये हैं कि वह सूत्र हमारी पकड़ में नहीं आता।

पात्रों की मनोदशा संस्कृतिमूलक संरचनाओं से निर्मित होती है और कथा-स्थितियाँ सभ्यतामूलक परिवेश के भीतर अपना ताना-बाना बुनती हैं। परंतु मनोदशा की परिणति सभ्यतामूलक रूप में अपने सामाजिक सार को उपलब्ध करती हैं और परिवेशमूलक कथानक समन्वय की चेतना को अपना लक्ष्य बनाते हैं।

गहरे में इन दोनों के बीच फर्क़ ज़्यादा नहीं है। फ़र्क़ इतना ही है कि एक चेतनामूलक होने के कारण दार्शनिक व्याख्या की ओर ले जाता है, तो दूसरा जीवनमूलक होने के कारण वैज्ञानिकता को उपलब्ध करने की बात करता है।

उपन्यास की इन दोनों तरह की रचनाप्रक्रियाओं में हमें काव्यमूलक रचनाशीलता की मौजूदगी साफ़ दिखाई देती है।

जो उपन्यास स्वच्छंदतामूलक मनोदशा के द्वारा वास्तविक इतिहास के बंधनों का अतिक्रमण करते हैं, उनके द्वारा उद्घाटित वैकल्पिक मानवीय इतिहास किसी सामाजिक आचरण की तरह परिणति तक आते हैं। वहाँ ऐसा समाज होता है, जो आंतरिक चेतना की लय की तरह बजता और खुलता है। यह जो लयपूर्ण होने की स्थिति है, उसे हम स्व के समूह में विलय की कथा के रूप में प्रकट होता देखते हैं।

दूसरी तरफ प्रतिनिधित्वमूलक उपन्यासों में स्थितिगत अंतर्विरोधों से उबरने के लिए संघर्ष देखा जाता है। इसी के लिये पात्रों को लामबंद किया जाता है। वे अपने जिस वैकल्पिक इतिहास की खोज में निकलते हैं उसे हम उनके परिवेशगत अंतः-व्यवस्था की तरह देखते हैं। काव्य में अंतः व्यवस्था किसी छंदगत लय की तरह होती है। इस अर्थ में परिवेश का छंद में बंधना एक तरह का काव्य है।

परंतु इस तरफ बहुत ध्यान नहीं दिया गया है। उपन्यास में परिवेशगत स्थितियों के

छंदविधान को हम वहाँ देखते हैं, जहाँ उस के कथानक के विविध चरणों की व्यवस्थाएँ खुद को दोहराती हैं।

जैसे काव्य में भाषागत संरचनाओं की अंतः आवृत्ति होती है, जो या तो छंद का रूप लेती हैं या छंद मुक्त रूप में अपनी आंतरिक लय को साधती हैं; उसी तरह हम कथा में भी एक अलग तरह के अंत्य आवृत्तिमूलक विधान को देख सकते हैं।

कथाओं मे छंद की तरह स्थितिमूलक व्यवस्था खुद को कई तरह से दोहराती है। वह मूल व्यवस्था, अव्यवस्था और पुनर्व्यवस्था की तरह अंतर्विकास करती हुई खुद को दोहराती है। मनोदशाएँ इसी तरह मूलभाव के आरोह, अवरोह और सम पर आने वाली अंतर्वर्त्ती लय की तरह खुद को दोहराती हैं।

स्थितियां परिवेश के भीतर मौजूद अंतर्विरोधों की नई व्यवस्थाओं और उनके समन्वय की नई संभावना के आधार पर अपने कथाछंद बनाती हैं। जब कि मनोदशाएँ भावों, विचारों, संवेदनाओं और अनुभूतियों की स्वच्छंद आवृत्ति में अपनी लय को खोजती हैं। यह लय अंततः किसी व्यवस्थामूलक महालय में विलय हो जाती है।

उपन्यासों को 'गद्य का महाकाव्य' कहने का तो बड़ा प्रचलन है, परंतु इनकी काव्यात्मक अंतर्भूमि की व्याख्या करने की ओर आलोचकों का बहुत कम ध्यान गया है।

तथापि यह सही है कि आधुनिक कथाएँ बेहद जटिल होती हैं, इसलिये उनकी काव्यात्मकता की व्याख्या के मामले में अनेक समस्याएँ दिखाई दे सकती हैं।

यहाँ कथानक के न तो चरण व्यवस्थित होते हैं, न उनकी अंतःसंरचना के रूप में प्रकट होने वाली स्थितिमूलक या मनोदशामूलक आवृत्तियाँ एकरेखीय या इकहरी होती है। इसलिये हमारे दौर के उपन्यासों की महाकाव्यात्मकता के पैमाने भी अब अलग हो जाते हैं।

कथा की बुनियादी संरचना के रूप में, तोदोरोव जैसे विद्वानों ने पाँच या छह चरणों की चर्चा की है। जटिलताओं में जाने से पहले उन पर एक निगाह डालना ज़रूरी लगता है। उनके अनुसार उपन्यासों के कथानक आरंभ में यथास्थिति से मूल तनाव की अभिव्यक्ति की ओर जाते हैं। इस तरह आरंभ में दिखाई देने वाली सामान्य स्थिति कथा का आरंभिक चरण हैं। यह प्रस्थान उपन्यास की कथा में विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि इसके भीतर से उपन्यास के अगले चरण, बीज से पैदा होने वाले वृक्षों की तरह विकास करते हैं। फिर बीज के स्फोट की तरह सामान्य स्थिति खंडित होती है। फिर भ्रमित स्थितियों या पात्रों को रास्ते पर लाने के लिए प्रयास आरंभ होते हैं। इसके पश्चात गतिरोध और खुले संघर्ष के चरण आते हैं। अंततः गतिरोध को हटाकर किसी नई तरह की सामान्य स्थिति की बहाली या समन्वय का प्रयास सामने आता है।

बेशक कथानकों का मूल ढाँचा कमोबेश इसी तरह का होता है, लेकिन आधुनिक उपन्यासों की जटिल कथाओं में ये चरण आगे पीछे, एक दूसरे के बाद, उन से पहले और फिर पुनः उसके बाद उपस्थित होते रह सकते हैं।

समय और स्थान की सीमाओं को तोड़ते हुए ये चरण कभी फ्लैशबैक की तरह प्रकट होते हैं तो कभी सपनों के माध्यम से भीतर डुबकी लगा जाते हैं। ये कभी समांतर कथाओं के रूप में, कभी पूरक की तरह या फिर विरोध पूर्ण दशाओं की तरह उपस्थित होते हैं।

आधुनिक उपन्यासों के कथानक जैसे जैसे जटिल होते जाते हैं, उनके पात्रों और उनकी मनोदशाओं के इतिहास से रिश्ते भी उसी अनुपात में अस्पष्ट और परोक्ष होते जाते हैं। इतिहास की अभिव्यक्ति वहाँ पात्रों के दृष्टिकोण के केंद्र में स्थापित हो जाने से होती है। मनोदशा

और दृष्टिकोण में जो अंतर है, वह इस बात से पैदा होता है कि मानसिकता में भावबोध और विचारधारा में कौन केंद्रीय स्थिति में है। मनोदशा स्थितियों के ज़रिये खुद को दृष्टिकोण की तरह अभिव्यक्त करती है और दृष्टिकोण बोधगत परंपराओं का हिस्सा होकर मनोदशाओं की तरह प्रकट होता है। ये दोनों एक दूसरे को गहराते व व्यापक बनाते हैं।

परंतु, दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने में एक आसानी हो जाती है। वह यह है कि जब हम मनोदशा को किसी ख़ास दृष्टिकोण से उपजा हुआ दिखाते हैं तो हम यह भी देख पाते हैं कि वहाँ परंपरा से आये अनेक अन्य दृष्टिकोण मौजूद हैं। ऐसे दृष्टिकोण अग्रप्रस्तुत दृष्टिकोण के विरोध में भी हो सकते हैं, उसके पूरक भी। इस तरह वे दृष्टिकोणमूलक विविधताओं और बहुलताओं को पाठकों के अनुभव का विषय बनाते हैं। इसलिए उपन्यासों में अब विविध चरणों वाले क्रम को हम विविध इतिहास-प्रसूत दृष्टिकोणों के द्वारा निरंतर टूटता बिखरता हुआ पाते हैं।

जो विद्वान आलोचक उपन्यासों की व्याख्या पात्रकेंद्रित रूप में करते हैं, जैसे कैंपबेल या व्लादिमीर प्रॉप हैं, वे मुख्य पात्र के साथ साथ समांतर नायकों, सहनायकों, प्रति नायक आदि की मौजूदगी की ओर देखते हैं। वे यह मानते हैं कि वे नायक को भ्रमित करने या दिशा दिखाने के लिहाज से मुख्य पात्र का ही अंतर्विकास कर रहे होते हैं। पात्रों संबंधी यह जो पारंपरिक दृष्टि है, इसे बाद के विद्वानों ने निरंतर टूटते बिखरते हुए देखा और दिखाया है।

इस तरह के एक विद्वान ली वाई स्त्रास हैं, जो हर मनोदशा और हर स्थिति को भीतर से द्विभाजित पाते हैं। उनके मुताबिक जो सामने दिखाई देता है, उसका विलोम या उसका पूरक उसके साथ ही अस्तित्व में आ जाता है। इस तरह हर पात्र गहरे में अनेक पात्रों का पुलिंदा होता है। वह बहुत से अन्य पात्रों के साथ अंतः संबंधों की जटिल व्यवस्था के रूप में हमारे सामने मौजूद होता है।

इसे देखते हुए रोलाँ बार्थ जैसे विद्वान आलोचक उपन्यासों के संबंध में हमें उनके भाषापाठों के भीतर कई तरह के अर्थकूटों को देखने की ओर ले जाते हैं। वे मानते हैं कि उपन्यास एक ऐसा भाषापाठ है, जिसे अनेक तरह से देखा और समझा जा सकता है। आप उसे यथार्थ की अनुकृति के रूप में भी देख सकते हैं अथवा यथार्थ की सतह को तोड़ कर भीतर के गहन स्तरों की जटिल अभिव्यक्ति करने वाले पाठ के रूप में भी। अन्य भाषापाठों से परस्पर गुँथी संरचनाओं की तरह भी वहाँ कई तरह की संभावनाएँ खुल सकती हैं।

देरिदा जैसे विद्वानों की ओर देखें तो एक दृष्टि यह हो सकती है कि हम विवेच्य उपन्यास में किसी वर्चस्वी अर्थ या दृष्टिकोण को देखें और यह दिखाएँ कि वह कैसे अन्य अर्थों व दृष्टिकोणों का दमन करता हुआ विकसित होता है।

अथवा यह भी संभव है कि हम वहाँ सांस्कृतिक दृष्टिकोण को अपनाएँ और यह देखें कि उपन्यास के पात्र और उनकी परिवेशगत स्थितियाँ किस सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति किया करती हैं।

इसका मतलब यह है कि आलोचना कृति के आधार पर यह तय करती है कि उसे उपन्यास के पाठ में किस दृष्टि को वरीयता देनी हैं। उस वरीयता के आधार पर उपन्यास में अनेक तरह के अर्थ देखे और दिखाए जा सकते हैं। परंतु इन सब का संबंध उपन्यास की पाठविधि के साथ है।

जहाँ तक कथा के विन्यास की रचना प्रक्रिया का सवाल है, वहाँ भाषा और उसकी विविध अर्थ संरचनाएँ बड़े संश्लिष्ट रूप में अभिव्यक्ति पाती हैं। प्रश्न केवल उन्हें बाद में खोलने और समझने का होता है। यह प्रश्न इसलिए पैदा होता है क्योंकि किसी उपन्यास की

सामान्य व्याख्या संभव है लेकिन उपन्यास के पूरे अर्थ को खोल पाने में अपर्याप्त मालूम पड़ रही है।

इसलिए एक उत्तराधुनिक चिंतक मिखाईल बाख्तिन का यह मानना है कि उपन्यास में हमें उसकी विविधता और बहुलता पर ही ध्यान केंद्रित करना चाहिए। हमें यह देखना चाहिए कि उपन्यास में पात्र और परिवेश के बीच किस प्रकार के दोहरे संबंध हमेशा मौजूद रहते हैं और उनके बीच किस प्रकार के दोतरफ़ा संवाद (डायलौजिक) की स्थितियाँ दिखाई देती हैं।

यह दोतरफ़ा संवाद सामान्य यथार्थ की व्याख्या के लिए बहुत उचित है, परंतु उपन्यास के संदर्भ में हम यह कह सकते हैं कि यदि हम पात्र के भीतर से परिवेश को और परिवेश के भीतर से पात्र को देखने का प्रयास करेंगे तो हम उपन्यास की आंतरिक संरचनाओं को अधिक बेहतर तरीके से समझ पाएँगे। तथापि बाख्तिन का कार्निवाल वाला उत्सव धर्मी विश्लेषण हमें यह समझने में मदद करता है कि उपन्यास में विभिन्न वर्गों, व्यवसायों और जीवनस्तर से जो पात्र आते हैं वे अपने साथ अनेक तरह के भाषासंसारों का मेला सा साथ लाते हैं।

इस तरह उपन्यास में बहुत तरह की भाषाओं की मौजूदगी एक ही भाषापाठ के अंतर्गत दिखाई देती है। इससे उपन्यास की विविधता और बहुलता के बीच क्या रिश्ता है, इसे समझने की ओर आगे बढ़ा जा सकता है।

पश्चिम के सभी विद्वान जो उपन्यास की संरचना की बाबत इस तरह की धारणाओं को व्यक्त करते हैं, उनका मक़सद उपन्यास को व्याख्यायित करने और उसके समावेशी पाठ तक पहुँचने का अधिक है। इसीलिए इस तरह के सिद्धांतों के भीतर से उपन्यास के पाठकवादी सिद्धांत बाद में अधिक नुमाया हो जाते हैं। इनका अपना महत्त्व है, परंतु, वे उपन्यास को रचने और उसकी जटिलताओं को समझने में अधिक मदद नहीं करते। वे उस रचना प्रक्रिया को महत्त्व नहीं देते, जो जितनी सचेतन है उतनी ही अचेतन भी होती है। पाठकवादी आलोचना उपन्यास के सचेतन पक्ष को अधिक महत्त्व देती है और अचेतन पक्ष को अक्सर नजरअंदाज़ करती है।

पश्चिमी चिंतन का अधिक ध्यान उपन्यास के सचेतन यथार्थ और उसकी बोधगत व्याख्या पर केंद्रित रहता है। अचेतन को भी वहाँ बोधगम्य रूप में अधिक ग्रहण किया जाता है। अनुभूति को प्रमाण मानने की बात को पश्चिम में संदेह से देखा जाता है।

भारत में गहन अनुभूतियों के अनुभव संसार परंपरासिद्ध रूप में लोकचेतना के द्वारा स्वीकार कर लिये जाते हैं। इस संदर्भ में हम भारतीय उपन्यास की एक अपनी अलग जातीय ज़मीन की मौजूदगी को देख सकते हैं। इस ज़मीन को हमने यहाँ उपन्यासों की 'काव्यात्मकता' या अपने तरह के कथामूलक, 'गद्यात्मक छंद-लयगत विधान' की तरह देखने समझने की कोशिश की है।

जहाँ तक उपन्यास के गद्य का महाकाव्य होने का प्रश्न है, वह इस बात से संबद्ध है कि वहाँ अलग तरह की छंदगत व्यवस्था ही नहीं लय भी होती है। उपन्यास में हमें कथानक की व्यवस्था, उसके विखंडन और पुनर्रचना के प्रयासों के साथ-साथ एक तरह की लय की मौजूदगी भी मिलती है। वह कथा के मूल सुर को किसी व्यापक महाराग में विलय करती है।

जहाँ तक भारतीय ढ़ंग के उपन्यासों का प्रश्न है, उसकी व्याख्या के लिए हमें उपन्यास के सचेतन और अचेतन पक्षों के बीच के द्वंद्वात्मक रिश्ते को अधिक गहराई से समझना होगा। हिंदी में लिखे गए वे उपन्यास जो किसी ऊंचाई तक पहुँच सके, वहाँ सिर्फ वही महत्त्वपूर्ण नहीं है जो सतह पर घटित होता है, क्योंकि वह सतह के नीचे की गहराई में भी लगातार

डुबकी लगाता है।

हिंदी के उपन्यासों की इस विलक्षण वृत्ति को हम इन उपन्यासों का सांस्कृतिक पक्ष भी कह सकते हैं। परंतु यहाँ यह सांस्कृतिक पक्ष केवल किन्हीं मूल्यों, संबंधों या अवधारणाओं तक सीमित नहीं है अपितु उसका संबंध वहाँ पीछे मौजूद एक सुदीर्घ परंपरा से जुड़ी जातीय चेतना से होता है। वह सहस्रों बरसों की स्मृतियों और संस्कारों से निर्मित चेतना के अंतर्विकास की तरह मौजूद होती है। उसे परंपरा की अनवरत शृंखला की समकालिक कड़ी की तरह देखा जा सकता है। हमारे उपन्यास अपनी परंपरा को गहराई के साथ इसी तरह जीवंत बनाते हैं।

जैसे 'गोदान' को ही लें। वहाँ धनिया के तमाम बचे हुए धन को एक ब्राह्मण इसलिए हड़प लेता है क्योंकि धनिया की चेतना में गोदान का सांस्कृतिक धारणा के रूप में महत्त्व है। उसके पति को वैतरणी पार करने में किसी गाय की सहायता मिलेगी - यह अचेतन में बद्धमूल संस्कार है।

इसे आप आधुनिक प्रगतिशील दृष्टिकोण से अंधविश्वास भी कह सकते हैं। परंतु, यह केवल अंधविश्वास नहीं है अपितु यह मनुष्य की जीवन में और जीवन के पार संभव होने वाली मुक्ति में आस्था का पर्याय भी है। यह इतनी गहरी आस्था है कि इसे मृत्यु भी अवरुद्ध नहीं करती।

मुक्ति की अभिलाषा जितनी जीवन में होती है, उतनी मृत्यु के पार भी हुआ करती है। भारतीय नुक़्तेनिगाह से इहलोक और परलोक के बीच कोई दूरी नहीं है। मनुष्य देहगत रूप में मरता है, परंतु, मुक्ति की अभिलाषा और उम्मीद नहीं मरती।

भारतीय उपन्यासों में सहज रूप से चित्रित होने वाली यह जो ख़ास तरह की सांस्कृतिक चेतना है, इसे निरा अंधविश्वास कह कर खारिज़ करना उचित नहीं है। यह वह गहराई है जिसे ऊपरी यथार्थ की व्यवस्था के छंद का किसी महालय में विलीन होना कहा जा सकता है। इस तरह के प्रसंग हमारे सभी बड़े उपन्यासों में लगातार जहाँ तहाँ दिखाई देते रहते हैं।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में हम तमाम धार्मिक प्रतीकों को नदी में प्रवाहित करने के प्रसंग में इस अचेतन संस्कृतिधारा को सचेतन बनाने के प्रयास की तरह अभिव्यक्त होता देखते हैं। वहाँ मनुष्य सब तरफ़ से अकेला होकर भी अपनी चेतनामूलक गहराई के साथ बचे रह कर जी सकने की मनोदशा तक पहुँचता है।

ऐसे ही 'मैला आँचल' में हमें डॉक्टर प्रशांत नवसंस्कृति के प्रशांतमहासागर के पर्याय के रूप में दिखाई देते हैं, परंतु, सभ्यतामूलक परिदृश्य के अचेतन महाराग में यह महासागर आख़िरकार विलीन हो जाता है। मेरीगंज के गड्ढों में खिलने वाले किसी एक कमल यानी उपन्यास की नायिका कमली के लिए जैसे अपने आप को समर्पित कर देता है। इसे हम समुद्र के बूँद में विलीन होने की उस सांस्कृतिक उलटबाँसी की तरह देखते हैं, जिसे हमारे यहाँ के मुक्तिकामी मनीषियों ने अपने गहरे चेतनामूलक संघर्षों के द्वारा किसी ब्रह्मांडीय चेतना की तरह प्रकट होते देखा था। इसे मनुष्य के सचेतन और अचेतन पक्षों के समन्वय से उपजने वाले अतिचेतन की तरह देखा जा सकता है।

भारतीय उपन्यास में यह दार्शनिकता सीधे तौर पर मौजूद नहीं है, परंतु ऐसा भी नहीं है कि उस व्यापक सांस्कृतिक परिदृश्य से इन की स्थितियों और मनोदशाओं का कुछ लेना देना नहीं है। बात केवल यह है कि हमें इस तरह की दार्शनिकता की अलग तरह की कथामूलक अभिव्यक्तियों की नयी तरह से व्याख्या करनी होगी।

काव्य में इनकी अभिव्यक्ति जिस तरह की होती है, वह उससे भिन्न है। परंतु कथाओं

में इन अर्थों की जो सांकेतिक अभिव्यक्ति होती रही है, उसकी अक्सर अनदेखी हुई है।

यह अनदेखी हमारी अपनी कथा-सैद्धांतिकी ने ही की है और वह इसलिए की है क्योंकि हमने अपनी अलग तरह की कथा की सैद्धांतिकी का अभी तक विकास नहीं किया है।

हिंदी उपन्यासों की विधिवत व्याख्या करने के लिए हमें जिस सिद्धांत की ज़रूरत है, वैसा कोई सिद्धांत अभी हमारे पास नहीं है। परंतु इस दिशा में प्रयास किए जा सकते हैं। यदि हम थोड़ा गहराई में उतर कर अपने विचारधारात्मक सरोकारों को थोड़ा कथामूलक बनाने का प्रयास करेंगे तो दिखाई देगा कि हमारी सीमित दुनिया दूर दिखाई देने वाले क्षितिज की रेखाओं को छूने के लिए पहले से प्रस्तुत थी, बस हम वह देख नहीं पा रहे थे। हमें बस इतना ही करना है कि वह क्षेत्र जो हमारी कथाओं में उनकी व्यंजनाओं की तरह अनदेखा पड़ा है, उसे भी हम अपनी सैद्धांतिकी में व्याख्या का हिस्सा बना कर देख और समझ सकें।

हिंदी की कथा सैद्धांतिकी को विवेचन का विषय बनाने के लिए ज़रूरी है कि हम यह रेखांकित कर पाए कि भारत में और खासतौर पर हिंदी की प्रकृति के मुताबिक जो उपन्यास लिखे गए हैं, उनका अपना विशेष व्यक्तित्व क्या है। उनकी वह कौन सी ज़मीन है जिससे वे अपने उस व्यक्तित्व को गढ़ते हैं। और वह कौन सा आकाश है जिस ओर यह कथा खुलने के लिए जद्दोजहद किया करती है।

(चार)

सिद्धांत से व्यवहार की ओर

आधुनिक काल में पूरी दुनिया में उपन्यास एक नई विधा के रूप में प्रकट हुआ है। यदि हम पूरे वैश्विक परिदृश्य को अपनी निगाह में रखें तो हम यह देख पाएँगे कि दुनिया भर के उपन्यासों को हम चार-पाँच कोटियों में रखकर उनकी व्याख्या कर सकते हैं।

ज्यादातर उपन्यास सामाजिक संबंधों पर केंद्रित होते हैं। इन सामाजिक संबंधों की ज़मीन आधुनिक काल में प्रकट हुई सत्ता संरचनाएँ है। पूरी दुनिया में सामंती व्यवस्था को परे हटा कर उसकी जगह आधुनिक जनतांत्रिक या समाजवादी सत्ता संरचना को लाने का प्रयास किया गया है। उनके बरअक्स सामाजिक संबंधों में बड़ी गहरी तब्दीलियाँ देखने को मिलती हैं संबंध केंद्रित उपन्यास सामाजिक दृष्टि से सामंती सत्ता और जनतांत्रिकता के बीच के अंतर्विरोध पर केंद्रित होते हैं। वे प्रयास करते हैं कि किसी प्रकार आधुनिक मूल्यों के रूप में प्राप्त स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व जैसे सरोकारों को कथागत संबंधों के भीतर से उपलब्ध किया जा सके। इस तरह सामाजिक संबंधों पर केंद्रित उपन्यास गहरे में दुनिया के सत्तामूलक इतिहास को एक नई तरह की कथागत संबंधों की परिभाषा देने का प्रयास करते हैं। यहाँ इतिहास के विकल्प को समाज के वर्गमूलक और व्यक्तिगत संबंधों के बीच से खोजने की कोशिश की जाती है। इस तरह यह वैकल्पिक इतिहास एक तरह से व्यापक इतिहास के भीतर खड़ा होकर उसे अंदर से बदलने का प्रयास करता है। इससे यह भी रेखांकित होता है कि आधुनिक उपन्यास सामान्य व्यक्ति को सत्ता संरचनात्मक व्यवस्था में दखल देने लायक बनाते हैं। यह हैसियत उस सामान्य व्यक्ति के संबंधों को एक व्यापकता और ऊँचाई प्रदान करती है। इसे हम सत्ता संरचनाओं में व्यक्ति अथवा विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों की बहुत छोटी मगर महत्त्वपूर्ण रचनात्मक दख़ल की तरह देख सकते हैं।

भारतीय परिदृश्य में सामाजिक उपन्यास गहरे में संबंधों के ऐसे अंतःरूपांतर से चूक

जाते हैं, जहाँ वे सत्ता का विकल्प होने की स्थिति में आ सकते हों। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि हमारे यहाँ जब उपन्यास का उद्भव होता है तब हालात औपनिवेशिक दासता वाले होते हैं। आजादी मिलने के बाद भी यह औपनिवेशिक दासता हमारी सत्ता संरचनाओं में गहरे में उतर कर सक्रिय बनी नजर आती है। इसलिए हमारे सामाजिक संबंधों पर केंद्रित उपन्यास अक्सर अपनी कथा की दुनिया में दोफाड़ नजर आते हैं। वहाँ सत्ता संरचनाएँ एक ओर बड़ी दिखाई देती है और सामान्य व्यक्तियों के आपसी रिश्ते उनसे अलग-थलग यों अपनी मौजूदगी दर्ज़ कराते हैं जैसे कि वे किसी अन्य तरह के यथार्थ की अभिव्यक्ति कर रहे हों। सामान्य यथार्थ और सत्तामूलक यथार्थ के बीच यह जो खाई है, वह दोनों ओर सेंध लगाती हुई दोनों को तोड़ती है। वह सत्ता संरचनाओं को बेनक़ाब करती है। ज्यादातर उपन्यास सत्ता संरचना में किसी तरह की सामान्य व्यक्ति की दख़ल न हो पाने की स्थिति का चित्रण करते हैं। इस वजह से वे दूरागत रूप में नियंत्रित करने वाली सत्ता संरचनाओं के प्रति व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण अपनाते हैं।

अधिकांश उपन्यासों में सत्ताव्यवस्था पर व्यंग्य हमारे उपन्यासों की एक अपनी तरह की विशेषता की तरह उभरता है। सत्ता संरचनाओं के प्रति व्यंग्य का भाव होने से सामान्य संबंधों का यथार्थ बेचारगी में पड़ा नज़र आता है। सामान्य यथार्थ की यह बेचारगी करुणापूर्ण प्रतीत होती है। सामान्यजन का यह यथार्थ अपने तौर पर किसी वैकल्पिक सत्ता संरचना का विकास करने में भी असमर्थ नज़र आता है। ऐसी स्थिति में एक तरह की हीनता, आत्मकरुणा और प्रतिक्रियामूलक हिंसा की ग्रंथि सामान्यजन के व्यवहार और आचरण में कुंठा पूर्ण यथार्थ की तरह मौजूद दिखाई देने लगती है। इससे कई उपन्यास या तो त्रासद हो जाते हैं या करुणा पूर्ण या कुंठित होने की स्थिति में किसी शाश्वत अभिशाप को ढ़ोते हुए मालूम पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में ये उपन्यास आत्मविनाश या लक्ष्यभ्रष्ट विद्रोह की ओर बरबस खिंचे चले जाते हैं।

सामान्यजन के यथार्थ को बचाने के लिए ज़रूरी होता है कि उसकी सत्ताप्रतिरोधी चेतना को और संघर्षशीलता को इस रूप में प्रस्तुत किया जाए जैसे कि वह प्रतिरोध या संघर्ष ही अपने आप में अर्थपूर्ण हो सकने वाला आत्यंतिक समाज-सांस्कृतिक मूल्य हो। उसे ऐसे मूल सरोकार का रूप देना पड़ता है जो किसी दूरागत भविष्य में सत्तासंरचनाओं का विकल्प होने लायक लगता हो। संघर्ष एवं प्रतिरोध का यह आदर्शीकरण हमारे उपन्यासों की एक बड़ी सीमा है। वह हमारे उपन्यासों में उन क्रांतिकारी विचारधाराओं के आरोपित होने की ओर इशारा करती है, जिनकी जड़ें हमारी ज़मीन में नहीं हैं।

दूसरी तरफ़ सत्ता के प्रति व्यंग्य के भाव की मौजूदगी वाली दुनिया है, जिससे सत्ता संरचनाओं के प्रति विविध आलोचनात्मक नज़रियों की उत्पत्ति होती है। ये आमतौर पर बौद्धिक ही अधिक होते हैं। इन्हें भी हम सत्तासंरचनाओं के ज़मीनी विकल्प नहीं कह सकते।

इस तरह औपनिवेशिक और नव-औपनिवेशिक यथार्थ हमारे उपन्यासों को एक अलग तरह का व्यक्तित्व देता है। स्पष्ट है कि इस रूप में उपस्थित सामाजिक संबंधों का यथार्थ हमारे उपन्यासों को वास्तविक इतिहास के बरअक्स कहीं नहीं पहुँचाता। इसलिए व्यापक इतिहास के बड़े प्रश्नों को आत्मसात करने की दृष्टि से हमारे उपन्यास असफल माने जा सकते हैं, परंतु यह इन उपन्यासों की कमजोरी को आंकने की अभिजात्य या प्राच्यवादी दृष्टि मात्र है।

सत्तासंरचनाएँ पश्चिमी उपन्यासों में सामान्य व्यक्ति के दख़ल के लिहाज़ से हमारे मुक़ाबले में ज्यादा संभावनापूर्ण प्रतीत होती हैं। इसलिए वहाँ सामाजिक संबंधों के उपन्यास किसी ऐसे मुक़ाम तक पहुँच पाते हैं, जहाँ वे प्रचारात्मक हुए बिना वास्तविक इतिहास की क्रूरता का प्रतिकार

करते हुए दिख सकते हैं। वे उस अमानवीय यथार्थ के बरअक्स एक अपने तरह का मानवीय विकल्प भी प्रस्तुत कर पाते हैं।

पर औपनिवेशिक यथार्थ बाद में जिस उत्तरऔपनिवेशिक यथार्थ की शक्ल लेता है, उसमें भी चूँकि पश्चिमपरस्ती अपनी जगह बनाए रहती है, इसलिये वहाँ ऐसी संभावनाएँ अपनी अभिव्यक्ति पाने के लिहाज से कुंठित बनी रहती हैं।

'अंग्रेज़ी ढ़ँग के उपन्यासों' के बरअक्स वे उपन्यास जो 'भारतीय ढ़ंग' के हैं, वे ऐसे उपन्यास हैं, जो किसी न किसी अर्थ में औपनिवेशिक पश्चिमपरस्ती से उबर पाने में सफल होते हैं। वे भारतीय यथार्थ के उन पहलुओं की तरफ देखते हुए ऐसा कर पाते हैं, जहाँ हमारे यथार्थ की अभिव्यक्ति, पुनरुत्थानवादी हुए बगैर अपनी संस्कृति और सभ्यता की ज़मीन में उत्खनन करती है, उसे उर्वर बनाती है और वहाँ अपनी जड़ें जमाने की ओर प्रवृत्त होती है। ऐसा करते हुए हमारे उपन्यास अपनी तरह के विकल्पों की ओर बढ़ पाते हैं। ये जो हमारे अपनी ज़मीन से उपजे उपन्यास हैं, हमारी जातीय स्मृतियों और सभ्यतामूलक मानवीय उम्मीदों में अपनी ज़ुबान की अभिव्यक्ति पाते हैं।

हमारी इस ज़मीन और ज़ुबान की अभिव्यक्ति करने वाले उपन्यासों में हमें अपना वह मानवीय यथार्थ दिखाई देगा, जो औपनिवेशिकता के प्रहार के बावजूद नष्ट होने से बच गया है। वह इस अर्थ में कालजयी है कि वह नई प्रकट हुई सत्ता संरचनाओं के शोषक और दमनकारी होने के बावजूद अपने दम पर जीवित रहने और विकसित हो पाने की सामर्थ्य रखता है।

हम अपने उपन्यासों में कालजयी तत्वों और प्रवृत्तियों को उनके प्रमुख पात्रों की जातीय समृतियों अथवा आचरणों में निहित देख सकते हैं।

आधुनिक काल में सामने आए हमारे कुछ प्रमुख उपन्यासों में सामाजिक संबंधों की अभिव्यक्ति गहराई में उतरने के कारण थोड़ी अलग लगने लगती है।

जैसे प्रेम और काम संबंधी समस्याओं की अभिव्यक्ति करने वाले उपन्यास हैं। वे सामाजिक संबंधों के एक विशिष्ट रूप की तरह हमारे सामने आते हैं। वहाँ प्रेम और काम संबंधी हमारी दार्शनिक बहसें सहज रूप में ही इस तरह आ जाती हैं, जैसे पीछे छिपी एक लंबी परंपरा की मौजूदगी की ओर इशारा कर रही हों।

इस संदर्भ में 'वैशाली की नगरवधु' या 'गुनाहों के देवता' जैसे उपन्यासों की ओर देखा जा सकता है।

ऐसे ही व्यक्तिमूलक उपन्यास हैं, जहाँ अस्तित्व की खोज और व्यक्ति की अजनबीयत को महत्त्व दिया जाता है। यहाँ सामाजिक संबंधों में अपना अर्थ खोज पाने से चूकने के कारण, व्यक्ति के स्वयं अपने बूते अर्थ खोजने की प्रक्रिया का आरंभ होता देख पाते हैं। वह गहरे में सामाजिक संबंधों का एक विशिष्ट रूप ही है। यहाँ हम अपनी उस दार्शनिक परंपरा को पृष्ठभूमि की तरह देख सकते हैं, जो हमारे अनेक प्रबुद्ध जनों को उस मानसिकता तक ले गयी, जिसे 'संतन को कहाँ सीकरी सो काम' जैसी धारणाओं में देखा जा सकता है।

यहाँ इस तरह के उपन्यास लिखने के संबंध में अक्सर यह कहा जाता है कि ऐसे व्यक्तिमूलक उपन्यास सामाजिक संबंधों के उपन्यासों के उलट खड़े हैं। जबकि ऐसा नहीं है। हमारे यहाँ व्यक्ति और समाज एक दूसरे से गहरे में अनिवार्य रूप से जुड़े ही होते हैं। समाज को क्षणिकता के नज़रिये से देखना समाजविरोधी बात न हो कर अलग तरह के यथार्थवादी नज़रिये को अपनाना है। यह हमारे समाज की अलग तरह की खास अंतःसंरचना से उपजता है।

सामाजिक यथार्थ के अधिक मर्यादावादी और दमनकारी हो जाने पर व्यक्ति आपने स्वतंत्र

होने की घोषणा करता है। वह सामाजिक संबंधों के भीतर से प्रकट हुई एक व्यक्तिमूलक प्रतिक्रिया है, जो कई दफ़ा कुंठा बन जाती है।

यहाँ हम व्यक्ति को सामाजिक यथार्थ के विकल्प के रूप में अपना समाज खुद रचने की ओर बढ़ता देखते हैं। इस तरह देखा जाए तो व्यक्ति के द्वारा अपनी चेतनामूलक स्वतंत्रता को अर्जित करना सामाजिक संबंधों के भीतर से हासिल की जा सकने वाली स्वतंत्रता की ही अभिव्यक्ति है। वह समाज की सत्तापरस्ती का एक ऐसा विकल्प है, जिसे 'आभ्यंतरीकृत यूटोपिया' कह सकते हैं।

बेशक, एक अन्य नज़रिये से उन्हें एक चेतनामूलक ग्रंथि की तरह भी देखा जा सकता है। तथापि वह भी एक सामाजिक ग्रंथि है क्योंकि कोई व्यक्ति अंततः समाज से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सकता, चेतनामूलक दृष्टि से भी नहीं। जो चीज़ चेतना के धरातल पर उपलब्ध होती है, वह भी अंततः समाज के काम आती है।

पश्चिम में व्यक्तिमूलक और सामाजिक संबंधमूलक उपन्यास एक दूसरे के विरोध में खड़े नज़र आते हैं।

यहाँ भी हम भारतीय यथार्थ की ज़मीन और उसकी ज़ुबान की पश्चिम से अलहदगी के तथ्य को रेखांकित कर सकते हैं। भारतीय सामाजिक यथार्थ का सांस्कृतिक पक्ष ऐसी जातीय स्मृतियों की तरफ खुलता है, जहाँ उसने अतीत में बार बार वैरागी होकर घर-बार त्यागने वाले व्यक्तियों को केवल व्यक्ति होकर सत्य को खोजते हुए देखा है। इस तरह अद्वैत का शोध करने वाले लोग भी अंततः समाज में तभी स्वीकृत होते हैं, जब वे लौट कर समाज में आते हैं।

इसलिए धीरे-धीरे भारत में वन पीछे छूटता है और समाज में गृहस्थी के द्वारा, कीचड़ में कमल की तरह आचरण करते हुए सत्य को खोजना, यहाँ का अपना एक वैकल्पिक यथार्थ बन जाता है।

इस तरह भारतीय ज़मीन स्व को समाज में विलय करती है, परंतु उसे समाजसेवी न बनाकर, सामाजिक आत्मा से युक्त बनाती है। यह बिल्कुल अलग तरह की बात है।

सामाजिक आत्मा या सामूहिक आत्मा, व्यक्ति का वह चेतनामूलक सार है जिसे हमारे यहाँ जागतिक या ब्रह्मांडीय सत्य की तरह देखा गया। यह कहा गया कि बूंद समुद्र में विलय होकर समुद्र यानी समाज हो जाती है। और समुद्र यानी समाज तब सार्थक होता है, जब वह लौटकर बूंद का आंतरिक यथार्थ बनता है।

इस तरह व्यक्ति और समाज के बीच जो अस्तित्वमूलक विभाजन पश्चिम में नज़र आता है, वह भारतीय ज़मीन और उसकी ज़ुबान के अनुकूल नहीं बैठता। इसीलिए हमारे यहाँ जो व्यक्तिमूलक उपन्यास लिखे भी गए, वे भी गहरे में सामाजिक या सर्वहिताय की सामूहिक चेतना से युक्त होने में ही सार्थकता पाते हैं।

इसी तरह हम भारतीय ज़मीन और ज़ुबान की एक अन्य विशिष्टता को देखते हैं। हमारे उपन्यास केवल सत्तासंरचनाओं के द्वारा हथिया लिये गये अर्थ के विकल्प की ही तलाश नहीं करते, अपितु स्व के 'स्वराज' की पुनःस्थापना से हासिल हो सकने लायक सार्थकता पर केंद्रित होते हैं। वे बहुत सामान्य स्थितियों, आचरण या मूल्यों में भी पूर्णता के बोध तक पहुँचने का प्रयास करते हैं।

वे चीज़ें जिन्हें पश्चिम गौण कहता या बनाता है, उन्हें भी हमारे यहाँ समग्र या संपूर्ण महिमा वाली वस्तुओं की तरह देखने की परंपरा रही है।

इस तरह हमारा उपन्यास बहुत बड़े कथानकों में मौजूद सत्तासंरचनाओं या महाख्यानों

को अपनी परिणतियों में नहीं ढ़ालता। वह अपनी सामान्य कथाओं के द्वारा जहाँ ले जाया जाता हैं, वहाँ वह अपने खोए हुए आत्म को खोजता है।

भारतीय संस्कृति में आत्मा की अवधारणा पश्चिम की स्व को खोजने की अवधारणा से बहुत अलग तरह की है। इसीलिए हमारे यहाँ पिछले कुछ दौर में जो उपन्यास, अस्मिता की खोज के संदर्भ में लिखे गए हैं, वे भी अपनी गहन संरचना वाले अर्थों में, पश्चिमी उपन्यासों से बहुत अलग तरह के हो जाते हैं।

नारी और दलित की अस्मिताएं जहाँ कहीं पश्चिमपरस्त अनुकरण की ओर इशारा करती हैं, वहाँ वे हमारे यहाँ मक़बूल हो सकने वाली रचनाशीलता का पर्याय नहीं हो पातीं। परंतु, जहाँ स्त्री और दलित चेतना वाले उपन्यास बहुत सामान्य और गौण लगने वाली अपनी हक़ीक़त की मिथकीय आधारभूमि तक पहुँचते हैं, वे भारतीय 'मिज़ाज' वाली परंपरा भूमि पर खड़े नजर आने लगते हैं।

हमारी अपनी ज़मीन को हमारी अपनी तरह की ज़ुबान में अभिव्यक्ति देने वाले उपन्यास वे हैं जो उस यथार्थ की रचनात्मक अभिव्यक्ति करते हैं, जिसे हम भारत के द्वारा ख़ुद को खो देने और पुनः खोज पाने के आख्यानों की तरह देख सकते हैं।

यहाँ सवाल उठता है कि 'भारत' और 'भारतीय' से हमारी मुराद क्या है?

भारत का अर्थ एक देश के अर्थ में भी खुलता है और उस भारतीय के अर्थ में भी, जिसके पास अपनी खास तरह की जातीय स्मृतियों से उपजी आत्मा होती है, परंतु जिसे अब यह लगता है कि वह अपनी आत्मा को खो चुका है।

यह आत्मा को खो चुका हमारे दौर का व्यक्ति कभी सत्ता में संरक्षण तलाशता है तो कभी वैकल्पिक संबंधों की ओर देखता है और कभी अपने उस व्यक्ति की ओर, जो विद्रोही और प्रतिरोधी होकर चरितार्थ हो पाता है। अपनी खोई हुई आत्मा की तलाश में कभी कभार वह उस वर्गमूलक अस्मिता की ओर भी देखता है, जहाँ से वह कोई छोटी मोटी क्रांति करने के लिए कोई अवसर पा सके। परंतु, सभी जगह असफलता के बरअक्स खड़ा वह अपनी वर्ग-जाति-लिंगमूलक अस्मिता वाले 'निजात्म' को तभी पाता है, जब वह उसे सर्वात्म में विलय कर पुनः उपलब्ध करता है। इस तरह वह अपनी खोई हुई आत्मा और अपने खोए हुए देश के सार को उपलब्ध करने की ओर एक कदम आगे बढ़ा लेता है।

बेशक ये चीज़ें बहुत मुखर रूप में हमारे उपन्यासों में दर्ज़ नहीं होतीं, परंतु, हमारे उपन्यास अपनी व्यंजनाओं में अपनी जातीय स्मृतियों में उतर कर उसे खोजते हुए अवश्य मालूम पड़ते हैं। वे कभी मिथकों के माध्यम से ऐसा करते हैं, कभी लोक कथाओं के पुनःपाठ के रूप में उस ओर रुख़ करते हैं और कभी स्वयं इतिहास के ही पर्याय होकर किसी अपने तरह के इतिहास की तरह व्यवहार करते भी नज़र आते हैं।

रास्ता कोई भी हो परंतु हमारे उपन्यास लगातार अपनी जातीय स्मृतियों में अपने जिन अर्थों को खोजते हैं, वे गहरे में हमारी सत्ता संरचनाओं की आलोचना जैसे मालूम पड़ते हैं। यह आलोचना कभी कभार प्रतिरोध भी बनती है और एक ऐसी क्रांति का उद्घोष भी। परंतु, यह क्रांति ऐसी होती है जिसे हम अपनी सभ्यतामूलक परिणतियों की तरह ही खोजते, देखते और खुलता हुआ पाते हैं।

अपनी ज़मीन की तलाश में हमारे उपन्यास शहर से पीछे की ओर लौट कर गाँव, कबीलों, जंगलों, पहाड़ों और हाशिये के समाजों की तरफ देखते हैं। परंतु वह लौटना शहर का परित्याग नहीं होता। वह लौटना शहर के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण से युक्त होकर लौटना होता

है। यह लौटना ऐसा होता है कि जब हमारी वापसी होगी तो शहर के लिए एक नये संभावना विकल्प को हमारे सामने रख पाएगी।

हमारे इन उपन्यासों में शहर औपनिवेशिकता के बद्धमूल रूपों की तरह भी दिखाई देते हैं। इस दासता को हम प्रगतिशीलता और विकास की संभावनाओं के बहाने बना कर झूठलाते हैं।

विकास का यह पूरा आख्यान भी हमारे यहाँ शहरों, नगरों या महानगरों से संबद्ध यथार्थ ही होता है। विकास की पैरोकारी करने वाले उच्चवर्ग के प्रति संशय का भाव, हमारे गाँवों और शहरों के मध्यवर्ग या निम्नमध्यवर्ग के पात्रों का स्थायी भाव होता है। ये ऐसे पात्र होते हैं जिनके पास अपनी गाँव घर की या कबीले की या वनवासी अतीत की जातीय स्मृतियाँ अभी किसी न किसी रूप में सुरक्षित होती हैं।

तो ज़रूरी यह नहीं होता कि ये पात्र वापिस गाँव में ही जाएँ। अनेक दफ़ा ये अपने ग्रामीण या वनवासी अतीत की चेतना को ही शहरों में जीने के लिए एक जगह प्रदान करने के रूप में भी बस एक सांकेतिक रूप में अपनी ज़मीन में लौटते हैं।

औपनिवेशिकता की तरह ही हमारे यहाँ गतिशीलता और विकास की संभावनाएँ भी सत्ता संरचनाओं के साथ इस कदर गुँथी हैं कि हमारी जातीय स्मृतियों के मानवीय सार तत्व के साथ उनका सीधा रिश्ता बड़ी कठिनाई से बनता है। इसलिए औपनिवेशिकता के आलोचनात्मक विमर्श की तरह हमारी मानवीय जातीय चेतना विकास और प्रगति के नए रूपों को भी लगातार कटघरे में खड़ा करती है। यही वजह है कि विकास और प्रगति से जुड़े रूपांतर और क्रांति के जो महाख्यान हमारे यहाँ उत्पन्न होते हैं, उनके प्रति भी हमारे बड़े उपन्यासों का रुख़ काफ़ी हद तक आलोचनात्मक हो जाता है। यह जातीय चेतना इस नई तरह की प्रगति के प्रति अजनबी भाव रखती है। यही भाव इसकी वापसी के लिए ज़रूरी संभावना की तरह खुलता और विकसित होता है।

इस तरह हमारे उपन्यासों के अंतर्विकास की एक स्पष्ट दिशा सामने आती है।

अनेक उपन्यास जो गाँव के उपन्यास है, उनके पात्र नगरों की ओर आते हैं। परंतु, नगरों के अंतर्विरोध उन्हें इस कदर घेर लेते हैं कि वहाँ मिलने वाली थोड़ी बहुत आज़ादी, तरक़्क़ी या समृद्धि भी उन्हें उनका वास्तविक व्यक्तित्व प्रदान नहीं कर पाती। तब वे अपने उस व्यक्तित्व की खोज करने लगते हैं, जिसे उन्होंने गाँव, जंगल, कबीले या हाशिये के समाज से बाहर आने की प्रक्रिया में खो दिया था।

फिर एक दूसरी तरह की कथा-संरचना भी सामने आती है। इसका संबंध नगरों के निम्न-मध्यवर्गीय पात्रों के गाँवों की ओर लौटने के साथ है। वे गाँव में अपनी प्रगतिशीलता के नव-आख्यान के साथ आते हैं। परंतु गाँव के पिछड़ेपन के बावजूद वे अंततः यह पाते हैं कि उनकी अपनी प्रगतिशीलता और तरक़्क़ी, गाँव के पिछड़े होने के बावजूद, गहरे अर्थों में उन्हें सार्थकता प्रदान कर पाने में असमर्थ है। तब वे गाँव में मौजूद अपनी जातीय स्मृतियों के साथ फिर से जुड़ते हैं। फिर वे सभ्यतामूलक अर्थों में अपनी अलग तरह की सार्थकता की तलाश की ओर आगे बढ़ते हैं।

फिर ऐसे उपन्यास भी दिखाई देते हैं जो एक तीसरी तरह की कथा-संरचना लेकर आते हैं। यहाँ मध्यवर्ग के या निम्न-मध्यवर्ग के जो पात्र गाँव की ओर आते हैं, वे गाँव में हो रहे शहरीकरण और वहाँ दख़ल देने वाली शहर की सत्तासंरचना के कारण हतप्रभ हो उठते हैं और उन्हें लगता है कि गाँव में शहरों से भी अधिक बड़े अंतर्विरोध हैं। तब वे अपनी जातीय स्मृतियों में बची हुई मानवीय भूमियों को किसी तरह बचाकर पुनः शहर की ओर लौटते हैं।

इसी प्रकार की स्थिति औपनिवेशिकता से जुड़े महाख्यानों को अपना कथ्य बनाने वाले उपन्यासों की भी है। औपनिवेशिकता का ज़्यादा असर नगरों में दिखाई देता है। इसलिए नगरों के पात्र सीधे प्रतिरोध की भूमिका में नज़र आते हैं। परंतु, यह संघर्ष गहराई तब पकड़ता है, जब हाशिये के समाजों से या गाँव और जंगल से आए हुए पात्रों का जातीय स्मृतियों से जुड़ा हुआ व्यक्तित्व भी उस प्रतिरोध में शामिल होता है। औपनिवेशिक दासता से लड़ाई समकाल मे अपनी सत्तासंरचनाओं के वर्चस्व के ख़िलाफ़ लड़ाई में बदल जाती है। इस लड़ाई में सफलता और असफलता दोनों के संदर्भ में, सार्थकता की खोज के लिए नए द्वार तब खुलते हैं, जब संघर्षशील लोग नए तरह के विकास के मॉडल के लिये लड़ते हैं।

हमारी जातीय स्मृतियों से रामराज्य जैसे विकल्प आतें हैं, परंतु, वे एक नयी मानवीय अंतर्भूमि वाले होते हैं। वर्चस्वी सत्ता ऐसे विकल्पों को पुनरुत्थानवादी बना कर संघर्ष को गुमराह करती है। ऐसी कथाओं में सार्थकता की तलाश थोड़ी अलग तरह की है। इसे हम औपनिवेशिकता से सीमित निजात दिलाने वाली सार्थकता कह सकते हैं, परंतु, यह भारत के नए तरह के पश्चिमीकरण जैसी नहीं होती। वह भारत के हर तरह के पश्चिमीकरण के प्रति आलोचना का भाव रखती है।

परंतु, वह अतीतजीवी होकर पुनरुत्थानवादी होने से भी बचती है। ऐसी स्थिति में वह ऐसी आज़ादी या ऐसे स्वराज की परिकल्पना तक आती है, जिसका संबंध मनुष्य के मानवीय सारतत्व के साथ होता है। ऐसी मानवीय सार्थकता के साथ, जिसकी जड़ें हमारी जातीय स्मृतियों से जुड़े अतीत में या परंपराओं में ही होती हैं।

भारतीय उपन्यासों में इसे परंपरावादी प्रवृत्ति कहकर खारिज़ नहीं किया जा सकता। यह परंपरा के प्रगतिशील पक्षों के उद्घाटन का प्रयास करने वाली चेतना से उपजी कथासंरचना है। हालाँकि इस चेतना की गहन अभिव्यक्ति बहुत कम उपन्यासों में हुई है, परंतु पात्रों के व्यवहारों और उनके मूल्यगत संघर्षों में यह जातीय स्मृतिगत अंतर्भूमि हमें बार-बार अपनी जगह बनाती हुई, नई खिड़कियाँ खोलती हुई और भीतर झाँककर नया यथार्थ बनाने का प्रयास करती हुई दिखाई देती है।

यह अलग बात है कि अक्सर हमारे उपन्यास ऐसे प्रयासों की असफलता ही अधिक दिखाते हैं, लेकिन यह असफलताएँ भी इतनी भव्य और उदात्त होती हैं कि उसकी त्रासदी और उनसे उपजने वाली करुणा में वह और अधिक संवेदना जगाने वाली हो जाती है।

इस लिहाज़ से देखा जाए तो हमारे लगभग सारे बड़े उपन्यास इन्हीं बुनियादी कथा-संरचनाओं को अलग-अलग रूपों में अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।

'गोदान', 'मैला आँचल' और 'राग दरबारी' जैसे उपन्यासों में हमें गाँव और शहर के बीच सीधी आवाजाही नजर आती है। परंतु, जिन्हें दूसरी धारा का उपन्यास माना जाता है, वहाँ भी गहरी संरचनाएँ कमोबेश इसी तरह की होती हैं। जैसे कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' या 'शेखर एक जीवनी' जैसे उपन्यास हैं। 'मैला आँचल' की तरह 'झूठा सच' और 'मय्या दास की माड़ी' जैसे उपन्यास स्वराज की खोज के लिए औपनिवेशिक परिदृश्य को सीधे-सीधे अपने आलोचना-विमर्श का आधार बनाते हैं। वहाँ इतिहास की क्रूर शक्तियाँ हमें प्रत्यक्ष रूप में पात्रों की नियति बनकर उनकी तमाम कथा स्थितियों को घेरती हुई दिखाई देती हैं। इन पात्रों में औपनिवेशिकता से उबारने वाली चेतना वास्तविक इतिहास की बजाय, जातीय स्मृतियों के इतिहास से जन्म लेती है।

सत्ता संरचनाओं के वर्चस्वी रूपों से सीधे टकराने वाले इन उपन्यासों के अलावा जो

दूसरी तरह के उपन्यास हैं, उनमें यही इतिहास सामाजिक संबंधों और उनकी संरचनाओं के भीतर से हमारे सामने लगातार प्रकट होता है। 'धरती धन न अपना' जैसे उपन्यास में हम देखते हैं कि गाँव से शहर की ओर आने वाला पात्र, जब इस उपन्यास की अगली कड़ियों के रूप में नए उपन्यासों में अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति पाता है तो वह पहले तो शहर में अपनी संघर्षशीलता के कारण स्वयं को स्थापित करता है, फिर शहर से उसके अंतर्विरोध उसे अजनबी बना कर गाँव की ओर लौटा देते हैं। इस तरह इस उपन्यास-त्रयी में एक पूरा इतिहास-वृत्त हमारे सामने प्रकट हो जाता है। गाँव से शहर, शहर से फिर गाँव, फिर से शहर और फिर से गाँव। यह जो अनेक तरह का लौटना है, वह पुराने अर्थों में लौटना कभी नहीं होता। यह वर्तुलाकार आवाजाही की तरह होता है, जिसमें क्रमिक रूप से धीरे-धीरे एक भारतीय किस्म के अंतर्विकास की रूपरेखा हमारे सामने उभरती है।

यहाँ 'आधा गाँव' एक अन्य कारण से भारतीयता की हमारी इस खोज को एक अलग ही ऊँचाई पर ले जाता है। वहाँ जीवन की अनवरतता को पात्रों के जन्म जन्मांतरों की कथा की वह शक्ल नहीं दी जाती, जो भारतीय कथा परंपरा की एक बड़ी विशेषता रही है। वहाँ इसे इतिहास के विविध चरणों के खंडों को एक साथ रख कर यह भाव पैदा किया गया है कि वह जो बीत गया है, वह आज भी किसी न किसी शक्ल में घट रहा है। यह समय के वर्तुल का भूगोल और सामाजिक व्यवहार में समकालीन होना है।

यहाँ यह बात भारतीय मुसलमानों के नुक्तेनिगाह से आती है। उनके साथ मध्यकाल का वह इतिहास आता है, जो मध्य एशिया से लेकर भारत तक फैला है। यहाँ गंगा के साथ वे भारत के अतीत के ऋषियों तक पहुँचते हैं। मगर वर्तमान उन्हें खंडित करता है। पर अपनी भारतीयता को वे अपने घर की खोज के इतिहास बोध में बदलते हैं, जहाँ से बाहर फेंक दिये जाने को वे राज़ी नहीं होते।

ये उपन्यास देश, सामाज, वर्ग, जाति, गाँव, शहर, जंगल, पहाड़, और हाशिये के लोगों वाली तमाम कोटियों, अंतर्विभाजनों व अस्मिताओं के भीतर से इन तमाम सीमाओं से मुक्त होने के लिए जो रास्ता हमारे सामने निकालते हैं, वह रास्ता सांस्कृतिक पुनरुत्थान का नहीं होता। वह रास्ता सभ्यतामूलक जातीय स्मृतियों के मानवीय सार को पुनरुपलब्ध करने का होता है। वही इतिहास और वर्चस्वी सत्ता संरचनाओं के मनुष्यविरोधी रूपों का विकल्प है।

भारतीय ढ़ंग की बुनियादी कथा-संरचना में मौत के पार झाँकने वाली जीवन की अनवरतता एक ऐसा विकल्प हो जाती है, जो इतिहास और सत्ता के पाशों को तोड़ डालती है। वह हमारे उपन्यासों की असली ज़मीन भी है और उसकी ज़ुबान की अभिव्यक्ति भी।

संपर्क : ए-563 पालम विहार, गुरुग्राम-122017 मो. : 9814658098

'चाँद' पत्रिका और विधवाओं के बयानात

विजय झा

'चाँद' महिलाओं की पत्रिका थी। वह 1922 से इलाहाबाद से निकलना शुरू हुई। आजादी के बाद के सालों (1948-49) तक निकली इस पत्रिका को रामरख सिंह सहगल (संपादक) और उनकी पत्नी विद्यावती सहगल (प्रबंधिका) ने शुरू किया था। हिंदी के लोकवृत्त में 'चाँद' से पहले भी कई स्त्री-पत्रिकाएँ निकल चुकी थीं।[1] उनमें से कई का 'चाँद' के वक्त भी निकलना जारी था। अन्य पत्र-पत्रिकाओं ने भी स्त्री-प्रश्न पर नियमित स्तम्भ चला रखे थे। लेकिन चाँद की बात जुदा थी। उसने रूप और वस्तु दोनों स्तरों पर कई नए प्रयोग कर खुद को महिलाओं की सर्वाधिक लोकप्रिय पत्रिका के रूप में स्थापित किया। इसके बारे में हिंदी लोकवृत्त की अध्येता फ्रंचेस्का ऑर्सीनी ने काफी तफसील से विचार किया है।[2]

फ्रेंचेस्का ने 'चाँद' की जिन खूबियों की तरफ ध्यान दिलाया है उनमें से एक है उसकी महिलाओं को संवेदना का अधिकार (राईट तो फील) प्रदान करना। इसके लिए उसने चिट्ठी-पत्री नामक स्तम्भ शुरू कर[3] उन महिलाओं को भी बोलने का अवसर दिया जो अनपढ़ या कम पढ़ी-लिखी थीं, जो 'लेखिका' नहीं थीं। फ्रेंचेस्का के शब्दों में, 'सहगल ने बड़ी ही कुशलता से पत्रिका को अपनी पाठिकाओं के लिए ऐसा विश्वासपात्र, ऐसा अंतरंग मित्र और राजदार बना दिया था जिस से वे भरोसे के साथ सहायता और समर्थन की माँग कर सकती थीं, चाहे राज कितने ही दिल हिला देने वाले क्यों न हों''।[4]

प्रस्तुत लेख में ऐसे ही कुछ पत्रों का विवेचन किया गया है जिनका ताल्लुक विधवा-प्रश्न[5] से था। कहने की जरूरत नहीं कि औपनिवेशिक भारत के अन्य प्रांतों की तरह हिंदी प्रांत में भी स्त्री-प्रश्न केंद्रीय प्रश्न बना हुआ था। स्त्री-पत्रिका होने के नाते 'चाँद' ने बाल-विवाह, शिक्षा, वैधव्य आदि जैसे मसलों पर तथ्य और आंकड़े, विमर्श, चिट्ठी-पत्री, कविता-कहानी आदि के जरिए एक प्रकार की आम राय कायम करने की अपनी भूमिका का बखूबी निर्वाह किया।

विधवाओं के बयानात

'चाँद' के संपादक रामरख सिंह सहगल हिंदू विधवाओं के प्रति समाज के क्रूर रवैये और इस कारण, उनकी पशु से भी बदतर जिंदगी को लेकर काफी चिंतित और गंभीर थे। यही वजह है कि विधवाओं की जिंदगी के विभिन्न पहलुओं को सामने लाने, विधवा-प्रश्न को संजीदगी से लिए जाने और उसके तत्काल समाधान के लिए आम राय कायम करने हेतु उन्होंने पत्रिका के जरिए अभियान-सा छेड़ दिया। विधवा-प्रश्न पर केंद्रित विशेषांक विधवा-अंक के संपादकीय में उन्होंने लिखा कि, ''हमने विधवाओं के हर एक पहलू पर प्रकाश डालने का यथाशक्ति प्रयास किया है और साथ ही समाज में होने वाली सभी बुराइयों को, समाचार के रूप में, गल्पों के रूप में और लेखों के रूप में हम समय-समय पर अपने पाठकों के सामने रखते आए हैं। इस अंक को भी सफल बनाने के लिए...जगह-जगह घटनाएँ और अङ्क (Facts and Figures) तो हमने पाठकों के सामने रक्खा ही है पर साथ ही समाज में बढ़ते हुए व्यभिचार को पाठकों के सामने रखना भी हम नहीं भूले हैं। कुछ स्त्रियों के बयान तथा कतिपय घटनाओं का जो संग्रह है वह मनगढ़ंत नहीं है। वे ध्यानपूर्वक मनन करने योग्य हैं और जरा ठंडे दिल से समझने वाली बात है।''[6]

'चाँद' के वक्त तक विधवा-प्रश्न के साथ हिंदू-मुसलमान तनाव के तार जुड़ चुके थे। दूसरे शब्दों में कहें तो विधवा प्रश्न का सांप्रदायीकरण हो चुका था। विधवा-प्रश्न पर गंभीरता से विचार करने और पुनर्विवाह या अन्य उपाय अपनाकर उसका समाधान करने की जरूरत अब और इसलिए बढ़ गई थी कि हिंदू विधवाएँ अन्य धर्मावलंबियों, खासकर मुसलमान पुरुषों के साथ जा रही थीं या उनके द्वारा बहला-फुसलाकर अथवा जबरन भगाई जा रही थीं। इस संदर्भ में इतिहासकार चारु गुप्ता का शोध उल्लेखनीय है।[7] उन्होंने कई तरह के स्रोतों के सहारे यह दिखलाने की कोशिश की है कि इस मामले ने हिंदी प्रिंट जगत में कितना तूल पकड़ रखा था। विधवा-प्रश्न पर विचार करने के क्रम में 'चाँद' पत्रिका भी खुद को सांप्रदायिक सुर से बचा न सकी। उसके पहले ही अंक में 'हिंदू समाज का अधःपतन : विधवाएँ भगाई और बेची जाती हैं!' शीर्षक से दो चिट्ठियाँ प्रकाशित हुईं। गौरतलब है कि प्रताप से उद्धृत इन चिट्ठियों की प्रेषिकाएँ निरक्षर थीं। चिट्ठियों के अंत में उनके अँगूठे की निशानी दी गई है।

मुसम्मात मायादेवी के नाम और पते से प्रेषित पहली चिट्ठी[8] से पता चलता है कि उसका बाल-विवाह हुआ था। विवाह के दो वर्ष बाद ही पति की मृत्यु हो गई तो वह बाल-विधवा बन कर रह गई। उसके साथ मायके और ससुराल दोनों ही जगहों पर अच्छा सुलूक नहीं किया जाता था। उसे शादी-ब्याह जैसे शुभ अवसरों में शरीक नहीं होने दिया जाता था। आगे उसने जो लिखा वह उस समय के लिहाज अनपेक्षित लग सकता है और दिलचस्प भी, 'मैं जवान हो गई। घरवालों ने मेरा कोई इंज़ाम नहीं किया। सरदार सिंह सिक्ख, जो मौज़ा भल्ल जिला गुजरात का रहने वाला कपड़ा बेचने को जाया करता था वह मुझे लालच देकर भगा लाया'। विधवा-विवाह के समर्थकगण प्रायः यह कहा करते थे कि जो जवान विधवा शादी करना चाहती है उस पर जबरन वैधव्य नहीं लादा जाना चाहिए। जवान विधवा खुद से आगे बढ़कर विवाह के लिए तो कहेगी नहीं, इसलिए सुधारकों ने इसकी ज़िम्मेदारी घरवालों के ऊपर डाली और मशविरा दिया कि उसके चाल-ढाल बता देंगे कि वह विवाह करना चाहती है या नहीं। मायादेवी ने भी घरवालों को कोसा कि उसके जवान होने (इसमें यह बात भी निहित है कि उसने विवाह करा देने के आशय के संकेत भी दिए) के बावजूद उन्होंने कोई नीति-सम्मत उपाय नहीं किया। इसका नतीजा यह निकला कि वह कपड़े के व्यापारी (सिक्ख) द्वारा भगा ली गई। कहना न

होगा इस भागने-भगाने में मायादेवी ने खुद को दोषी नहीं माना। उसे फुसलाकर भगाया गया। खैर, उसके साथ 10 साल तक रहने और एक लड़की के पैदा होने के बावजूद उसने मायादेवी से पैसे और जेवर छीनकर, पेट में ज़ोर से लात मारकर घर से भगा दिया, क्योकि बीमार पड़ने के कारण वह काम करने के काबिल नहीं रह गई थी। उसे अंततः धर्मशाला में शरण मिली। बेटी द्वारा घरों से रोटियाँ माँग कर गुजारा कर रही मायादेवी ने आगे लिखा कि 'सरदार सिंह ने अब मोहिनी नामक ब्राह्मणी को बाराबंकी जिले से भगा लाया और 200 रुपए में स्यालकोट बेच आया है। प्रायः कपड़े बेचने वाले पूरब से औरतें भगा लाते हैं। बहुत-सी हिंदुओं की औरतें मुसलमान के हाथ फ़रोख की गई हैं। बहुत सी औरतें ईसाइन भी हो गईं। अब मेरी बहुत बुरी दशा है।

12 वर्ष के रामलाल झेलम के माँ का नाम भी मायादेवी है। उसके साथ भी कुछ-कुछ ऊपर-लिखित घटित होता है। उसे और उसके माँ को भी घर से निकाल दिया गया है। वह भी लिखता है कि, 'यहाँ से कपड़े बेचने वाले पूर्व में जाते हैं और औरतों को निकाल ले आते हैं। मुसलमानों के हाथ में बेच डालते हैं। ब्राह्मण क्षत्रियों की सैकड़ों औरतें मुसलमान हो गई हैं।[9] हालाँकि इन दोनों ही विधवाओं को किसी मुसलमान ने नहीं लाया, फिर भी उनकी आपबीती में मुसलमान और धर्म-परिवर्तन आदि का जिक्र आ जाता है। दोनों ही घटनाएँ अन्य विधवाओं के लिए यह सबक छोड़ती हैं कि वे अपनी मर्जी से भी किसी के साथ हो लेने की गलती न करें या फुसलाए जाने से बचें, कारण वह राह और भी अधिक बदतर स्थिति में ला पटकती है।''

1926 के मई अंक में 'विधवाओं की पुकार'[10] नाम से एक चिट्ठी छपी। इसे तकरीबन 40 विधवाओं ने मदन मोहन मालवीय और देश के अन्य नेताओं को संबोधित करते हुए लिखा गया था। सहगल के मुताबिक इस चिट्ठी का न तो किसी नेता ने उत्तर देने का साहस किया था और न ही कहीं इसकी चर्चा हुई। अंततः चिट्ठी की नकल (प्रति) 'चाँद' को भेजी गई। 'चाँद' ने उसे इस उम्मीद के साथ प्रकाशित किया कि हिंदू-महासभा का ध्यान विधवाओं की समस्याओं की तरफ जाएगा। गौरतलब है कि मालवीय जी और हिंदू महासभा द्वारा स्त्री-प्रश्न के प्रति उदासीनता बरतने के कारण सहगल उनसे नाराज चल रहे थे। उन्होंने कई मर्तबा इसका स्पष्ट इजहार भी किया।

चिट्ठी की शुरुआत इस शिकायत से हुई कि नेताओं ने समाज और देश की भलाई की खातिर तो बहुतेरे काम किए लेकिन विधवाओं की उन्होंने कभी सुध लेने की नहीं सोची। ऐसी बात नहीं है कि विधवाओं को केवल गैरों से खतरा था। मुसलमान या ईसाई पुरुष तो सुधारकों के लिए खुद की ज़िम्मेदारी से बचने का एक आसान बहाना बन गए थे। विधवाएँ सबसे अधिक अपनों द्वारा ही सताई जा रही थीं। चिट्ठी में आगे नेताओं से यह सवाल किया गया कि 'यदि विधवाएँ लाचार होकर अपने-बेगानों से सताई जाकर—अपने ही रिश्तेदारों से लूटी जाकर **(जोर मेरा)** विधर्मियों के हाथों में पड़ जायें या पुनर्विवाह कर बैठें, तो क्या इस धर्म की हानि के आप जिम्मेवार नहीं हैं?' चिट्ठी में यह पूछा गया कि आखिर विधवाओं के लिए कोई फंड क्यों नहीं है? नगर-नगर-प्रांत-प्रांत में विधवाशाला क्यों नहीं है जहाँ विधवाएँ कोई कौशल सीखकर आत्मनिर्भर हो पातीं और विपथित होने से बच जातीं। चिट्ठी से पता चलता है कि विधवाएँ केवल शिकायत और अनुरोध भर नहीं कर रही थीं। जिस आधुनिक बोध के आधार पर नेतागण राष्ट्र की आजादी के लिए डटे हुए थे, और भी अन्यान्य बदलाव होते देखने को मिल रहे थे उससे महिलाएँ भी वाकिफ हो रही थीं। वे अपने मानवोचित अधिकारों

और पुरुषों की चालाकियों को समझने लगी थीं। तभी तो चिट्ठी के अंत में यह लिखा गया कि ''विधवाओं की आँखें आफ़्तों ने खोल दी हैं, वह समझने लग गयी हैं कि, पुरुष स्वार्थी बना है। पुरुष ने जीवन के नियमों में स्त्रियों से न्याय का वर्ताव नहीं किया! यह अग्नि अभी हमारे हृदयों में है! हम इस अग्नि से जल रही हैं!! समय आएगा जब यह ज्वाला प्रचंड होकर हृदयों से निकलेगी और उन संस्थाओं को, जो हमारे सुख की राह में बाधा डाल रही हैं, भस्म कर देंगी।''[11]

हिंदू विधवाओं को प्यार के नाम पर हिंदू पुरुष भी धोखा दे रहे थे। मुकुन्दी नामक विधवा[12] के साथ कुछ ऐसा ही हुआ। कानपुर से जानकीबाई नामक महिला ने उसके बारे में लिखा कि विवाह के कुछ ही दिन बाद विधवा हो जाने वाली इस स्त्री ने घर में सास इत्यादि के सताये जाने के कारण, घर से भागकर कानपुर के विधवा-आश्रम में जाकर शरण लिया। वहाँ से उसे भूपति सिंह नामक ब्राह्मण अपने साथ ले गये। शुरू में उनकी माली हालत ठीक नहीं थी। इसलिए उन्होंने मुकुन्दी से जेवर तक ले लिए। अब जबकि नौकरी अच्छी थी तब वे मुकुन्दी को अपने साथ नहीं रख रहे थे। दाने-दाने को मोहताज मुकुन्दी का अभी भी सच्चा प्रेम उन्हीं पर था। अंत में चिट्ठी में अपील की गई कि ''क्या कोई महाशय हैं, जो इस अनाथ का उद्धार कर सकते हों? भूपतिसिंह से कह सुन कर कुछ मासिक बंधा दें, क्योंकि वह समाज द्वारा ही पतित हुई है। अगर समाज ने ध्यान न दिया तो आशंका है कि, वह कहीं इससे भी ज्यादा पतित न हो जाय!'' यहाँ दो बातें गौरतलब हैं। एक तो मुकुन्दी का भूपति पर सच्चा प्रेम और दूसरा, और भी अधिक पतित होने की आशंका। विधवा विवाह के समर्थक हों या फिर, विरोधी—सब इस तथ्य पर एकमत थे कि पातिव्रत्य हिंदू स्त्री का मूल धर्म है। इसलिए कुँवारी या बाल-विधवा के पुनर्विवाह के मसले पर विरोधी भी यह सोचकर चुप हो जाते थे कि पति के साथ संसर्ग हुआ ही नहीं या उसके दर्शन हुए ही नहीं तो पातिव्रत्य कैसा! वहीं समाज में बढ़ते व्यभिचार, वेश्यावृत्ति और तथाकथित विधर्मियों के साथ जाने आदि जैसी चिंताएँ पति के साथ संसर्ग कर चुकी युवती विधवाओं के पुनर्विवाह को भी उचित ठहराने को बाध्य करने लग गई थीं। मुकुन्दी ने भूपति सिंह के साथ विवाह नहीं किया था। वह उसके साथ रहने चली गई थी। इसलिए उसे पतित कहा गया। लेकिन वह केवल भूपति के प्रति ही समर्पित थी। यानी पातिव्रत्य के आदर्श का पालन कर रही थी। इसलिए वह न केवल सहानुभूति बल्कि आदर का भी पात्र थी। ध्यान रहे, पत्र-प्रेषिका ने दोषारोपण उस विधवा पर नहीं बल्कि समाज पर किया। दूसरा, मुकुन्दी अभी भी हिन्दू समाज के दायरे में बनी हुई थी। अभी सहारा न मिलने की स्थिति में वह वेश्यावृत्ति या दूसरा धर्म अपना सकती थी और इस तरह, और भी अधिक पतित हो सकती थी।

जैसा कि हमने ऊपर, पहले पत्र (प्रताप से उद्धृत) के मामले में पाया, 'चाँद' ने सहयोगी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित आपबीती को यदि प्रसंगानुकूल पाया तो उसे पुनर्प्रकाशित करने से उसने गुरेज न की। 'समाज की चिनगरियाँ' शीर्षक से प्रकाशित पत्र ऐसा ही एक पत्र था जो 'जैन पथ प्रदर्शक' में छपा था। कौशल्यादेवी नामक विधवा ने पत्र[13] में आपबीती लिखी थी। संपादक सहगल ने पत्र को हृदय को दहलाने वाला बताते हुए लिखा कि ''हिंदू समाज में, इसकी पापावलियों से उद्विग्न हो, इसके निष्ठुर प्रहारों से आक्रांत होकर कौशल्यादेवी की भांति सैकड़ों कौशल्याएँ आज विधर्मियों का दामन पकड़ रही हैं। फिर भी हिंदू-जाति आज सोती है और हिंदू संगठन के नेता महामना मालवीय जी तथा लाला लाजपत राय जी प्रभृति सज्जन काउंसिलों में व्यस्त हैं'।''

कौशल्यादेवी परवार-जैन थी। वह और उसकी बहन दोनों बाल-विधवा थीं। बहन का विवाह धनी घर में हुआ था। लेकिन विधवा होने के बाद घरवालों ने उसके साथ ऐसा व्यवहार किया मानो वह निर्जीव हो, पत्थर की पुतली हो। उसे एक पुरानी धोती पहनाकर घर से बाहर निकाल दिया गया। चिट्ठी में लिखा है कि मेरी बहन उस नर्क से निकलकर खुश ही हुई। दरअसल विधवाएँ घरों में भी सुरक्षित नहीं थीं। उनसे दिन-रात काम तो करवाया ही जाता था, साथ ही घर के पुरुष (जेठ, ससुर, देवर) उनका यौन-शोषण भी किया करते थे। जैसा कि खुद कौशल्यादेवी के साथ हुआ जब वह विधवा हुई तो उसने अपने ससुर को ही चाहने वालों में पाया। ससुर से गर्भ ठहरा तो उसे गिराना पड़ा। उसके बाद एक मुसलमान युवक से उसे प्रेम हो गया। ससुर से संबंध तोड़ वह उस युवक के साथ रहने चली गई। वहीं बड़ी बहन भी उसके साथ रहने के लिए आ गई जो किसी धोबी के साथ भाग गई थी और उसकी पिटाई से तंग आ चुकी थी। मुस्लिम युवक ने कौशल्यादेवी को एक पठान के हाथ बेच दिया। बहन की मदद से वहाँ से किसी तरह छूटकर दोनों ने एक ईसाई संस्था में शरण लिया। वहाँ उनकी शादी भी कर दी गई। कौशल्यादेवी और उसके पति शुद्धि के बाद पुनः हिंदू बन गए थे।

वैधव्य का एक बड़ा कारण वृद्ध विवाह था। सुधारकगण इसकी तरफ ध्यान दिलाते हुए इस पर रोक लगाने के लिए कानून बनाने तक की माँग कर रहे थे। एक परवार-विधवा ने 'जाति-प्रबोधक' नामक पत्रिका में इसकी बड़ी मर्मस्पर्शी तस्वीर खींची थी जिसे 'चाँद' ने 'हिंदू-समाज का कच्चा चिट्ठा'[14] शीर्षक से प्रकाशित किया और टिप्पणी की ''पतित हिन्दू-समाज आज अपनी पाप-वासना तथा विधवाओं के प्रति घोर अत्याचारों से अपनी जड़ किस भयंकर गति से खोद रहा है—इस बात का अंदाजा इस आत्मकथा को पढ़ने से ही मिल जायगा। समाज में होने वाली भयंकर भ्रूण-हत्याओं का सारा उत्तरदायित्व इस अभागे हिन्दू-समाज पर ही है। और आज हम दावे के साथ कह सकते हैं कि हिन्दू- जाति में व्यभिचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है, इसका एकमात्र कारण है—हमारा गंदा सामाजिक जीवन।''

चिट्ठी भेजने वाली विधवा का विवाह एक वृद्ध से किया गया था। इसलिए उसके अन्य युवकों से प्रेम-संबंध हो गए। कई बाल-बच्चों की माँ हो चुकने पर वह विधवा हुई। लेकिन युवकों से उसका संबंध बना रहा, जिससे गर्भ ठहर गया। गर्भपात की कोशिश के बावजूद गर्भ बना रहा। जैसी की उम्मीद थी उन युवकों के बीच से कोई भी ज़िम्मेदारी लेने के लिए सामने न आया। उन्होंने छोटे खाँ नामक मुसलमान को कुछ ले-दे कर तैयार किया कि वह ज़िम्मेदारी ले ले। इस तरह, हिंदू पुरुषों ने अपने गुनाह एक मुसलमान पुरुष के मत्थे मढ़ दिए। फिर क्या था, छोटे खाँ ने उसे बाल-बच्चों समेत मुसलमान बनाने की ठान ली। लेकिन बच्चे किसी तरह बचा लिए गए पर वह विधवा मुसलमान बन गई। अपनी इस स्थिति के लिए जिम्मेदार लोगों के प्रति गुस्से का इजहार करते हुए उसने लिखा, ''इच्छा तो होती है कि यहाँ उन नारकीय जीवों के नाम दे दूँ, जिन्होंने मुझे स्वर्ग से ढकेल कर घोर नरक में डाल दिया। पर वे ठहरे धनवान और जाति के मालिक उनका मैं पतित मुसलमानिन क्या बिगाड़ सकूँगी? मेरी जैसी न जाने कितनी हतभागिनी इन लोगों के नाम को रोती होंगी?'' छोटे खाँ ने उसे जब छोड़ दिया तब वह आजीविका के लिए सुरक्षित गर्भपात करवाने और दलाली के काम में लग गई। जाहिर है, और उस विधवा ने चिट्ठी में लिखा भी, कि अवैध और अनैतिक संबंधों (खासकर विधवाओं के साथ) की कमी नहीं थी। सवाल है कि उस विधवा या उस जैसी अन्य विधवाओं की इस हालत के लिए कौन ज़िम्मेवार था। ऊँची नाक वाले पंचों, सरपंच साहबों से मुखातिब होते हुए उसने पूछा, पहले तो यह कि मुझे बूढ़े के साथ क्यों विवाहा गया था?

दूसरे यह कि उन साठी के चावल चरने वालों का कुछ भी विचार क्यों नहीं हुआ? तीसरे यह कि मेरे विधवा होने पर मेरी इच्छा जानकर तदनुसार कुछ प्रबंध समाज ने क्यों नहीं किया? और चौथे यह कि बलात मुसलमान का नाम लिखवाकर उन धनवान कुत्तों ने मेरा जो सर्वनाश कर डाला, इससे परवार-जाति, जैन-समाज, जैन धर्म और भारतवर्ष को क्या लाभ हुआ?

अपनी दुर्दशा के लिए समाज को दोषी ठहराने वाली इस चिट्ठी-प्रेषिका ने अपनी एजेंसी या संलग्नता का उल्लेख नहीं किया लेकिन आगे अन्य विधवाओं को सलाह देते वक्त उसने उन्हें (यदि हो सके तो) संयम करने की सीख दी। लेकिन साथ ही, काम-वासना को 'नेचर का धर्म' करार देते हुए उन्हें ग्लानि या लज्जा न कर पुनर्विवाह कराने या खुद से कर लेने की भी सलाह दी। इन नसीहतों में उसने सारी जिम्मेवारी खुद विधवाओं पर डाल दी। मानो विधवा को समाज ने इस हद तक छूट दे रखी थी कि वह आसानी से पुनर्विवाह कर-करवा ले या फिर, परिवार और समाज में परिवेश इतना स्वस्थ था कि वह चाहे तो संयमित जीवन जी ले।

अपना पुनर्विवाह करने या करवाने के लिए कहने में कामेच्छा का इजहार निहित था। इसलिए उच्च जातियों की हिंदू विधवाओं से इसकी उम्मीद करना अनुचित था। इससे वह अपने परिजनों की नजरों में गिर सकती थी। आखिर उसके लिए ब्रह्मचारिणी का आदर्श तय था। वैसे भी, आम तौर पर सधवा स्त्रियों द्वारा कामेच्छा को प्रकट करना भी अनपेक्षित माना जाता था। ऐसे में 'मेरी मर्म-व्यथा' शीर्षक से भेजी गई चिट्ठी दिलचस्प है।[15] इसे एक विधवा ने अपने ससुर को संबोधित किया है और उनसे पुनर्विवाह कर देने का अनुरोध किया है। चूँकि वह इसे उनके सम्मुख नहीं कह सकती थी इसलिए 'चाँद' को बतौर माध्यम चुना। संपादक सहगल ने कमलादेवी नामक विधवा द्वारा भेजी गई इस चिट्ठी को विधवा-हृदय का सच्चा उद्‌गार बताया और कहा कि ''पुरानी टकसाल के 'सनातनियों' को इसमें निर्लज्जता की बू आएगी. ..आशा है, सुधार-प्रेमी सज्जन...इन जलते हुए प्रश्नों पर ठंडे दिल से विचार करेंगे।''

दो संतानों की माँ कमलादेवी 22 वर्ष की उम्र में विधवा हुई। सास बहुत सताती थी। ससुर आर्यसमाजी थे। वे उसके प्रति उदार-भाव रखते थे। राँड (विधवा) होने के कारण उसका नाम साँड पड़ा, सबके सामने ज्यादा दुखड़ा न रोने-धोने के कारण उसे पत्थर कहा गया, घूँघट न निकालने के कारण बेशर्म कहा गया। उसने दिन-प्रति दिन की कठियाइयों का जिक्र करते हुए विधवापन निभाने को मुश्किल माना। उसके शब्दों में, ''न किसी से बोलने की इजाजत, न हँसने की, न गाने की, न खाने की, न सोने की, न पहनने की, न कहीं जाने की, न कुछ देखने की। ओह, किस तरह यह उमर कटे। अगर दिल बहलाने के लिए किसी से बात करें तो शक होगा। अगर औरत से बात करती हूँ तो...घर की शिकायत करती हूँ। अगर मर्द है, 12 वर्ष का भी लड़का है, तो मेरा यार-दोस्त है। दिन में दो-एक दफे कुछ खाया जाय तो कहा जाता है इतना खाना खा के भला कैसे रहेगी, कहीं भाग जायगी...हँसे तो फँसे गावे तो खुशी मनावे...घर में कुछ बने-बिगड़े मैं दोषी, कुछ नुकसान हो मैं दोषी, बच्चे बीमार हों मैं दोषी, लड़ें-भिड़ें, रोएँ-चिल्लाएँ सबके लिए मैं दोषी।''

कहना न होगा कई सुधारक और खुद 'चाँद' के संपादक भी विधवाओं से घर और समाज में किए जाने वाले कठोर बर्ताव की आलोचना कर रहे थे। उनकी दलील थी कि यदि विधवाओं से ठीक से पेश आया जाय तो उनका आधा कष्ट दूर हो जायगा। हो सकता है तब वे पुनर्विवाह या घर छोड़ भागने की या विपथित होने की न सोचें। कमलादेवी ने भी लिखा कि ''एक तो ऐसी उम्र बिताना यों ही कठिन रहता है, तिस पर घर का यह बर्ताव।

शायद ही कोई ऐसी होगी जो इससे मारना या भागना अच्छा न समझेगी।''

विधवा-विवाह के समर्थकों में भी ज्यादातर संतान वाली विधवा के पुनर्विवाह के पक्ष में नहीं थे। उनके बारे में चर्चा भी बहुत कम हो रही थी। ऐसे में कमलादेवी, जिसकी दो संतानें थीं, ने समाज के दोचित्तेपन पर कटाक्ष किया। उसने पूछा कि, ''पोते-नाती वाले 60-70 वर्ष के बूढ़े शादी करें और औरतें अगर बच्चे वाली 16 वर्ष में ही विधवा हो जायँ तो शादी न करें! वाह रे न्याय!'' कमलादेवी ने विधवा पर ससुर के नियंत्रण का जिक्र किया और पूछा कि वे अपनी बहुओं की शादी क्यों नहीं करते? उसने सुधारकों के कथनी और करनी के बीच के फासले के बारे में भी लिखा और खुद अपने ही आर्यसमाजी ससुर का उदाहरण दिया,

''वे औरों से तो इस किस्म की बातें खूब बघारतें हैं, मगर कहने और करने में बहुत फर्क होता है। कहने को तो सभी आर्य बनते हैं, मगर उन्हीं के घर में जवान विधवा बैठी है, दहेज लेते हैं, मांस खाते हैं, देवता पूजते हैं...वही हाल मेरे ससुर का है सबको शिक्षा देते हैं। मगर मेरे दुखों की कुछ परवा नहीं।''

ससुर किसी से उसका गंधर्व विवाह ही करा देते, ऐसी इच्छा व्यक्त करते हुए उसने चेतावनी भरे शब्दों में कहा कि ''मैं अब इस बात पर तुली हूँ कि दूसरा विवाह करके छोड़ूँगी। अभी ससुर को चेताती हूँ, अगर न चेते तो फिर देखा जायगा—जो होना है, वही होगा।'' संपादक ने कमलादेवी के साहस की प्रशंसा की और कहा कि विधवाएँ अगर ठान लें तो पुनर्विवाह करने से उन्हें कोई नहीं रोक सकता। उन्होंने व्यक्तिगत तौर पर मदद करने की भी बात की।

हिंदू विधवाओं के लिए कुली-प्रथा भी एक निकास द्वार था। यह बिहार से नेटाल पहुँची एक कुली महिला की चिट्ठी[16] से स्पष्ट होकर सामने आया। नामी जमींदार की बेटी इस महिला का बाल विवाह हुआ था और 10 साल की उम्र में ही वह विधवा हो गई थी। सोलह साल की उम्र में ससुराल गई, वहाँ देवर से प्रेम हो गया और गर्भ ठहर गया। किसी तरह वह कुली-डिपो पहुँची और नेटाल चली गई। वहाँ एक हिंदू पुरुष की गृहिणी बन कर वह सुखपूर्वक रहने लगी। कुली प्रथा नहीं होती तो उसका न जाने क्या हश्र हुआ होता। उसे इस बात का संतोष था कि वह दूसरा धर्म अपनाने को मजबूर नहीं हुई। धर्म भी बचा रहा और वह भी। इसलिए उसने अपनी चिट्ठी में लिखा कि, ''आप लोगों ने राष्ट्रीय-मर्याद का ख्याल करके कुली-प्रथा बंद करा दिया है, यह तो बहुत अच्छी बात हुई लेकिन मैं आपसे जानना चाहती हूँ कि हिंदू विधवाओं को घर से निकाले जाने पर उनके पास हिंदू बने रहने का केवल एक ही उपाय था और वह था कुली बनकर उपनिवेशों को कूच कर देना और यहाँ किसी हिंदू-पुरुष से संबंध करके अपनी जिंदगी बसर करना। किन्तु अब कुली प्रथा के अन्त हो जाने पर उन विधवाओं के पास ईसाई, मुसलमान या रंडी बन जाने के सिवाय हिंदू बने रहने का कौन सा साधन रह गया है?''

विधवाओं के हिंदू बने रहने के लिए ही नहीं बल्कि विधवाओं को आश्रय देने, उन्हें आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने के लिए कौशल-प्रशिक्षण देने, गर्भवती विधवाओं के सुरक्षित प्रसव और ऐसी संतानों के पालन-पोषण के लिए उचित प्रबंध करने आदि को ध्यान में रखते हुए संपादक सहगल ने न केवल जगह-जगह संरक्षण गृह बनाए जाने की राह सुझाई बल्कि खुद मातृ-मंदिर के नाम से एक संरक्षण-गृह खड़ा करने की योजना पर विस्तार से एक संपादकीय लिखा।[17] उनके इस पहल की भी विधवाओं और कई अन्य महिलाओं-पुरुषों ने चिट्ठियाँ भेज कर प्रशंसा की और कइयों ने मातृ-मंदिर में शरण माँगी।

निष्कर्ष :

इन चिट्ठियों के अवलोकन से फ्रेंचेस्का की शुरुआत में उद्धृत की गई टिप्पणी की पुष्टि होती है। संपादक सहगल वास्तव में विधवाओं (अन्य महिलाओं के भी) के ऐसे हमदर्द और हमराज़ बनने में सफल रहे जिनके सामने वे बेहिचक अपनी तकलीफ़ें, अपने अनुभव बयाँ कर सकती थीं और मार्गदर्शन की उम्मीद कर सकती थीं। इसलिए हेमंत कुमारी चौधरानी ने उन्हें "अबला-बंधु" की उपाधि से अलंकृत किया।[18] जैसा कि लेख के आरंभ में उल्लेख किया गया है। चिट्ठी लिखने वाली ये विधवाएँ ज्यादा पढ़ी-लिखी नहीं थीं। कई तो निरक्षर तक थीं। लेकिन पत्र पाठक के नामक विधा के जरिए वे अपने अनुभव दर्ज कर गईं। कहना न होगा कि इन आत्मकथ्यों को प्रकाशित कर संपादक ने न केवल उन्हें बोलने का मौका दिया बल्कि विधवा-प्रश्न के कई ऐसे पहलुओं के उद्घाटन को भी मुमकिन किया, जैसे—कामेच्छा की अभिव्यक्ति, पुनर्विवाह करने की इच्छा का इजहार, घरों में विधवाओं के साथ होने वाले शारीरिक, मानसिक और यौनिक अत्याचारों का खुलासा आदि - जो अन्यथा घुटी रह जातीं।[19]

संदर्भ :

1. इनके बारे में अधिक जानकारी के लिए देखें, वीर भारत तलवार, हिंदी प्रदेश हिन्दी प्रदेश : प्रथम विश्वयुद्ध के दौर में स्त्री-चेतना, साक्षात्कार, जुलाई-सितंबर, 1987, शोबना निझावन, विमेन एंड गर्ल्स इन हिंदी पब्लिक स्फेयर : पेरियोडिकल लिटरेचर इन कोलोनियल नॉर्थ इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2012 आदि।
2. फ्रेंचेस्का ऑर्सीनी, हिंदी का लोकवृत्त 1920-1940, (अनु.) : नीलाभ, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011
3. पत्रिका-अध्ययन के विद्वानों के मुताबिक बहुविधात्मकता पत्रिकाओं को अपने-आप में एक अनोखा प्रिंट-रूप बनाती है। संपादक के पास कविता, कहानी, आलेख, चिट्ठी-पत्री और अन्यान्य विधाओं के एक ही साथ उपयोग करने का विकल्प रहता है। पत्रिकाओं, उनमें भी खासकर महिलाओं की पत्रिकाओं की सफलता इसी में थी कि वे अपने पाठक-वर्ग से न केवल बौद्धिक तौर पर बल्कि भावनात्मक तौर पर भी जुड़ सकें, उनमें अपनापन का बोध जगा सकें। देखें, बारबरा ग्रीन, 'कम्प्लेंट्स ऑफ एवरीडे लाइफरू फेमिनिस्ट पेरियोडिकल कल्चर एंड कोरेस्पोंडेंस कोलुम्न्स इन द वुमैन वर्कर, वीमेन फोल्क एंड द फ्रीवुमैन', मॉडर्निज्म/मॉडर्निटी, खंड 19, अंक 3, सितंबर 2012, पृष्ठ 461-485।
4. ऑर्सीनी, उपरोक्त, पृष्ठ 330।
5. विधवा प्रश्न पर चाँद में प्रकाशित अन्य सामग्री पुस्तकाकार प्रकाशित है। उसमें चाँद पत्रिका का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है। देखें, विजय झा (सं.), चाँद संकलन : विधवा प्रश्न और बाल-विवाह, नयी किताब प्रकाशन, दिल्ली, 2020।
6. रामरख सिंह सहगल, चाँद, विधवा अङ्क, अप्रैल 1923, पृष्ठ 556
7. चारु गुप्ता, 'औपनिवेशिक उत्तर भारत में विधवा विवाह पर बदलते विमर्श, आलोचना, सहस्राब्दी अंक 37, अप्रैल-जून 2010, पृष्ठ 89-99
8. एक अभागी विधवा की पुकार, नवंबर, 1922 पृष्ठ 47।
9. नवंबर, 1922, पृष्ठ 48।
10. मई 1926, पृष्ठ 82।
11. वही, पृष्ठ 83।
12. विधवाओं की दुर्दशा, मई 1926, पृष्ठ 83।
13. समाज की चिनगारियाँ, नवंबर 1927, पृष्ठ 156।
14. नवंबर, 1927, पृष्ठ 160।
15. अगस्त, 1929 पृष्ठ 486।
16. मई, 1927, पृष्ठ 41।
17. अगस्त, 1927, संपादकीय विचार।
18. सितंबर 1927, पृष्ठ 598।

19. ये बयानात नामी विधवा-लेखिकाओं की आत्मकथाओं से कहीं से भी कमतर नहीं हैं। लेकिन इनकी तरफ विद्वानों ने ध्यान नहीं दिया। इन्हें वाजिब स्रोत के रूप में जगह दिलाने का श्रेय नारीवादी दृष्टिकोण और पत्रिका-अध्ययन जैसी पद्धति को जाता है। जरूरत है इस तरह के और भी पत्रों को ढूँढ निकालने और उन्हें प्रकाशन या अन्य तरीके से संरक्षित करने की, ताकि सबआल्टर्न महिलाओं के अनुभव और विचार भी प्रकाश में आ सकें। इससे हमारी विद्वत-संपदा और भी समृद्ध होगी।

संपर्क : 25, सेंटर फॉर विमेन्स डेवलपमेंट स्टडीज (CWDS), भाई वीर सिंह मार्ग, नियर गोल मार्केट, नई दिल्ली-110001
मो. : 7836833283

देवी प्रसाद मिश्र की अन्य कथाएँ

देवी प्रसाद मिश्र

टिफिन लेकर निकलना

वे पिछले कुछ दिनों से तानाशाह को हटाने के कारोबार में लगे थे। वे सुबह ही निकल जाते थे। यह स्वतंत्रता के लिये घर से निकलना था। कुछ लोग टिफ़िन लेकर जाते थे। पूरे दिन लड़ना है तो दोपहर का खाना ले जाना चाहिये। लेकिन यह शाम को न लौटने के लिये जाना था। यह तीसरे दिन भी न लौटने के लिये जाना था। यह बदलाव के लिये मारे जाने के लिये जाना था—शहर के चौक की तरफ दोपहर का खाना लेकर।

निंफो

मैंने उसे गार्ड रूम में देखा था। जीवन को वह कितना प्यार करती थी इसे बताने के लिए वह बहुत गहरी लिपस्टिक लगाती थी। मामूली पैसों में ख़रीदे कपड़े फूलों के डिज़ायन से भरे होते थे। सलवार ज़मीन में लिथड़ती नहीं थोड़ा उठी रहती थी। कि लगे कि कोई चल रहा है और उसके पाँव हैं।

वह चीज़ों को पसंद करने या नापसंद करने की सख़्ती के साथ देखती थी। इसलिए एक टक देखती थी। मेरी तरफ़ भी वह इसी तरह देखती। कि जैसे वह दीवार को ड्रिल कर रही हो। मुझे लगता कि मैं उसके पास अपने को छिपा के ले जाऊँ। वह गार्ड रूम से निकलकर घूमती रहती—उसे लेकर यह शिकायत रहती कि कंजी आँखों वाली लड़की अपने को पता नहीं क्या समझती है—अपनी जगह पर मिलती ही नहीं।

एक दिन जब वह आई मैं हाउसिंग सोसायटी के बेसमेंट में मौजूद लायब्रेरी में अकेला बैठा हुआ था। वह मुस्कुराई और बोली कि लाइट और लायब्रेरी बंद करने आई हूँ। मैंने किताब

बंद करते हुए कहा कि ठीक है। कर दो बंद। उसने पहले एक ट्यूब रॉड बंद किया फिर दूसरी ट्यूब लाइट को बंद करने के पहले वह मुझे देखती रही और फिर बोली, थोड़ा बैठ जाऊँ। मैंने कहा, क्यों नहीं। मैंने महसूस किया कि वह बहुत सुंदर है। मैने यह कह भी दिया। कि वह बहुत सुंदर है। इस पर उसने कहा कि वह जानती है। फिर उसने कहा, सुंदर होना यातना है। मैं उसकी तरफ देखता रहा तो उसने कहा कि हर कोई मुझे पाना चाहता है और इसके बाद क़ैद करना चाहता है। तब मैं उसे छोड़ देती हूँ। मैंने छह पुरुषों को छोड़ा—तीन प्रेमी और दो पति। और छठा, मैंने पूछा तो उसने खूब हँसकर कहा कि वह प्रेमी और पति के बीच की कोई चीज़ था। लोग मुझे आदमखोर कहते हैं, उसने बहुत उदास होकर कहा। जिस दिन उसने खून के सूख जाने वाले कत्थई रंग का सूट पहना था उसने कहा कि वह न्याय की खोज में है। फिर वह तेज़ हँसी—क्या मैंने आपको खाने की कोशिश की। मैंने कहा : भवानी। उसने कहा : जी। मैं तुम्हारी तरह स्वतंत्र होना चाहता हूँ, यह मैंने धीमी आवाज़ में कहा जो उसने नहीं सुना लेकिन उसने मुझसे अपना वाक्य दोहराने के लिए नहीं कहा। उसने अपनी ड्यूटी निभाई—लाइट बुझा दी। मैं उसके पीछे चलने लगा - जिसे निंफो कहा जाता था उसके। मैंने उसके कंधे पर हाथ रखा तो वह तेज़ी के साथ आगे बढ़ गई। उसे बहुत बुरा लगा था और मैंने अपने गिरने की आवाज़ सुनी थी। मैं रैंप पर फिसला था। अगले रोज़ वह फिर बत्तियाँ बुझाने और लायब्रेरी बंद करने आई। मैंने कहा कि सौंदर्य और किताबें अँधेरा नहीं फैलने देतीं। वह सामने कुर्सी पर बैठ गई। उसने मेज़ पर अपना सिर रख दिया और बहुत धीमे से शायद यह बोली कि इस बात को न मानने के कारण लगातार बढ़ रहे हैं। वह उस मेज़ पर सो गई। मैं सीढ़ियों से बाहर गया तो एक गार्ड ने पूछा कि क्या आपने भवानी को देखा तो मैंने कहा कि हाँ, मैंने उसे देखा लेकिन फिर वह अदेखी हो गई। गार्ड ने कहा हाँ सर, वह दिखती है और फिर नहीं दिखती है। और सर, ऐसे घूमती रहती है कि जैसे उसके पैर जल रहे हों। इतना बेचैन तो मैंने किसी को नहीं देखा।

जिस दिन मैं बेसमेंट में लायब्रेरी में बैठा था वह आते हुए दिखी। वह मेज़ पर सामने बैठ गई। उसने लाइट बंद करने और लायब्रेरी बंद करने की बात कही। मैं विस्मित उसे देखते रहना चाहता था। उसने लाइट बंद करते हुए कहा कि प्रेम की पुरुष पहल अपराध की गुंजाइश तलाशना क्यों है। अँधेरा होने की वजह से उसकी आवाज़ ज़्यादा गूँज रही थी। उसने कहा कि वह सारे पुरुषों को किसी तहख़ाने में बंद करके एक भारी सा ताला लगा देना चाहती है और चाबी का गुच्छा खनकाते हुए पूरी पृथ्वी में निश्चिंत घूमना चाहती है। लायब्रेरी में तहख़ाने में एक कुर्सी पर मुझे छोड़कर वह ताला लगाकर चली भी गई।

चेहरे पर कालिख़ पोतकर निकलने वाली लड़की के भीतर की लड़की

हाउसिंग सोसायटी में माता की चौकी जैसी कोई चीज़ होने वाली थी—मैं उसके आसपास थोड़ा-सा टहलकर गेट से बाहर निकलकर सड़क पर आ गया तो देखा कि किनारे एक तिपहिए की आड़ में एक पतली सी लड़की हाथ में शीशा लेकर चेहरे पर कालिख़ पोत रही थी। मैं एक छोटे-से पतले-से पेड़ की आड़ में खड़े होकर यह मंज़र देखने लगा। मुँह में काला पोतने के बाद उसने बहुत ढीले काले कपड़े पहने, हाथ में तलवार ली। लेकिन यह पूरा दृश्य नहीं था। उसके आसपास एक आदमी भी सज रहा था—वह राक्षस का भेस बना रहा था। कुछ देर बाद आगे काली और उसके पीछे महिषासुर चल रहे थे। वे सोसायटी का गेट पार करके जिसे

माता की चौकी वग़ैरह कहा जाता था उस तरफ वे चल दिए। मैं उनके पीछे पीछे चल रहा था। धीरे धीरे यह साफ़ होने लग गया कि वह उस रात माता के जागरण में काली बनी हुई थी। वह तलवार घुमाती रही, बाल खोलकर स्त्री की ताक़त का मुज़ाहिरा करती रही, उसने चीख़कर राक्षसों का वध किया जिसमें एक महिषासुर भी था। पुरुष सत्ता पर विजय का यह बड़ा दृश्य था। सारी पृथ्वी आतताइयों से मुक्त हो गई। माता के जागरण में अपनी आधे घंटे की भूमिका अदा करने के बाद वे दोनों—काली और महिषासुर का किरदार निभानेवाले ड्रामे और रौशनी से बाहर निकल आये। मैं फिर उनके पीछे हो लिया। उन्होंने गेट पार किया और सड़क के किनारे खड़े तिपहिया के पीछे खड़े होकर सारे मिथकीय कपड़े उतारे और ग़ाज़ियाबाद के ग़रीबों वाले कपड़े पहन लिए। लड़की ने तुड़ा-मुड़ा सलवार कुर्ता पहना और तिपहिये में पीछे जाकर बैठ गई। महिषासुर ने भी राक्षस की पोशाक उतारकर पैंट कमीज़ पहन ली और बीड़ी फूँकने लगा। कुछ दूर पर माता का जागरण चल रहा था और फिल्मी धुनों पर माता का जयकारा। अचानक स्वांग का महिषासुर भी पिछली सीट के अँधेरे में गायब-सा हो गया। मैं वहाँ से जाने के लिए मन बना ही रहा था कि वहाँ से कुछ देर में अजीब सी आवाज़ें आने लगीं। पेड़ के पीचे खड़े होकर मैंने उस लड़की का चीखना सुना कि हरामी, नाड़ा तोड़ दिया। स्साले, पुलिस वाले आ गए तो फाड़ डालेंगे मुझे। राड क्यों घुसेड़ रहा है कुत्ते, भूखी हूँ। क्यों नोच रहा है, भेड़िए। हरामी, दो टाइगर बिस्कुट ही दे देता पेला पेली के पहले।

सारे आतताइयों का नाश करने वाली की चीखें काफी बेदम थीं।

दुबला पतला बच्चा और गुलाब के फूल

मैंने सड़क के किनारे बैठे एक दुबले-पतले बच्चे से गुलाब का फूल ख़रीदा और पूछा कि वह गुलाब के फूल कहाँ से लाता है।

उसने कहा कि वह उन्हें सेना के एक बड़े अफ़सर के बँगले से चुराता है।

मैंने पूछा कि घर के दूसरे लोग क्या करते हैं तो उसने कहा कि वे एक दूसरे से बहुत नहीं पूछते कि वे कहाँ जाते हैं, क्या करते हैं। माँ क्या काम करती है, पिता कहाँ जाते हैं, बहन क्यों बहुत देर से क्या करके लौटती है—कोई एक दूसरे से नहीं पूछता। उसने कहा कि वे सब भूख से लड़ने में लगे हैं और वे बेहद थके रहते हैं और उनके पास एक दूसरे से पूछने का समय नहीं होता है।

फिर उसने मुझसे कहा कि वे लोग कितने ही पाप करते हों उनके अपराध देश की मौजूदा कैबिनेट से कहीं कम हैं।

अगर अत्याचारी के मुँह पर थूक दिया तो

आसपास तैनात एक सिपाही रायफ़ल लेकर पान खाने आया करता था। उसकी रायफ़ल में काफ़ी वज़न था और उसे कंधे पर टाँगते ही उसके भीतर परिवर्तन हो जाया करता था—वह फ़ैज़ाबाद में एक ग़रीब घर में पैदा होने वाला या फ़ुटबॉल को बेहतरीन तरीक़े से ड्रिबिल करने वाला युवक नहीं रह जाता था : वह एक बैल की तरह हिलने और चलने लगता था और किसी राष्ट्राध्यक्ष की तरह अकड़ने लगता था। पान खाने के बाद वह पान वाले की तरफ़ ठंडी हिंसा के साथ देखता था।

एक दिन पनवाड़ी जो भाँग खा कर आया था बोला कि क्या रायफ़ल की वजह से तुम पान का पैसा नहीं देते हो। और अगर मैं तुमसे पान का पैसा माँगूँ तो क्या तुम गोली मार दोगे।

सिपाही को इसका उत्तर नहीं सूझा तो उसने हँस देने का विकल्प चुना। मुफ़्त का पान खाना सिपाही ने फिर भी नहीं छोड़ा। उसने यह हिदायत भी दी कि नशा करके यहाँ मत बैठा करो। नहीं तो दुकान तोड़ देंगे।

पनवाड़ी ने एक दिन यह सपना देखा कि उसने सिपाही के पान में ज़हर मिला दिया। यह सपना देखने के बाद वह इतना डरा कि अगले दिन दुकान की तरफ गया ही नहीं।

अगली ही रात को उसने सपने में सिपाही के मुँह पर थूक दिया।

उसे लगा कि इस सपने का पता कहीं सिपाही को न चल गया हो। ऐसा कैसे हो सकता है लेकिन अशांत वह पूरे दिन रहा।

वह डरा रहा और अगले दिन भी दुकान पर नहीं गया।

वह तीसरे दिन भी नहीं गया। इस बीच वह यही सोचता रहा कि इन सपनों के बारे में वह सिपाही से भाँग खा कर बात कर सकता है।

चौथे दिन वह घर से निकला तो उसने सोचा कि सिपाही से वह यह कहेगा कि वह अपना फ़ोन नंबर दे—वह सिपाही को तीन सपनों के तीन वीडियो भेजना चाहता है। इस बात को सोचकर वह खूब हँसा। उसको लगा कि अगर सपनों की वाक़ई रिकॉर्डिंग हो सकती तो कितना मज़ा आता। अब हाल यह था कि वह न तो सपनों की रिकॉर्डिंग भेज सकता था और न सपनों को सिपाही से बताने के लिए भाँग खाने के मूड में था। तो उसने तय किया कि वह सिपाही से सीधे कहेगा कि वह पान का पैसा दिया करे। हर पान का पैसा और जो पहले खा चुका है उसका भी। और अगर उसे सपने के बारे में बताना ही होगा तो यह बताने के लिए वह भाँग नहीं खायेगा। सीधे ही कह देगा कि भाई साहब, सपनों पर किसी का बस नहीं और मैंने दो सपने जो आपके बारे में देखे उन्हें अगर सही सही बता दूँ और बताना ही चाहिए तो एक सपने में मैंने आपके पान में ज़हर मिला दिया और दूसरे में मैंने आपके मुँह पर थूक दिया उस वजह से कि आप ने पान का पैसा नहीं दिया और मैंने इस डर की वजह से पैसा नहीं माँगा कि आप के पास रायफ़ल है लेकिन अब यह भी है कि बंदूक का डर पता नहीं कैसे कम होता गया और जितनी बार आपको पान दिया और पैसा नहीं मिला तो उतनी ही बार मैं मरता गया तो क्यों इतनी बार मरा जाय जब एक ही बार मरना होता हो।

एक कप चाय को पीने का डर

वह एक ऐसा दिन था जब लग रहा था कि हवा कुछ कम है, साँस लेने में दिक्क़त हो रही है और पैर उठ नहीं रहे। उस दिन बादल कुछ डराने वाली आकृतियाँ बना रहे थे। इस तरह के सलेटी मौसम में कुछ लोग एक घर के सामने आकर खड़े गए।

जो घर पीले रंग से बहुत शौक़ से पुतवाया गया था उससे एक लड़की निकली।

उस लड़की ने पूछा कि वे किससे मिलने आए हैं तो उनमें से एक ने कहा कि हम मिलने नहीं मारने आए हैं।

उस लड़की को लगा कि वे लोग मज़ाक़ कर रहे हैं। उसके अब्बू इस तरह के हँसोड़ लोगों के साथ सुबह सैर के लिए निकला करते थे जो एक दूसरे को धौल लगा दिया करते थे। बस यह था कि आज के ग्रुप के लोगों को वह पहचानती नहीं थी।

उसने अपना दुपट्टा सँभालते हुए मज़ाहिया लहज़े में कहा कि आप लोग आइए, चाय पीजिए और फिर आपको जो करना है कीजिएगा। पापा को बुख़ार भी है और वे दो दिनों से उठ नहीं पा रहे हैं।

जो लोग सात-आठ की संख्या में आए थे उन्होंने आपस में बात करनी शुरू की : क्या किया जाय। क्या मारने के पहले चाय पी जाय। क्या एक कप चाय पीने से घृणा की तीव्रता कम तो नहीं हो जाएगी।

एक कप चाय पी जाय या नहीं इसको लेकर चाय पीने के 3200 साल के पूरे इतिहास में इतना विभ्रम पहले कभी नहीं हुआ था।

सबसे बड़ा डर चाय के मानवीय बना देने वाले संवादात्मक गुण में था।

पति की जींस को काटकर बनाए झोले में रखी दुविधाएँ

एक दिन एक पति को अपनी पत्नी के बैग से जो पति की नीली जींस काटकर बनाया था दो कंडोम के पैकेट मिले।

पत्नी बाहर काम करने जाया करती थी। पति ने पूछा कि पत्नी के किससे दैहिक संबंध हैं तो पत्नी ने इस बात का जवाब नहीं दिया। उसने उबलते दूध को जलते गैस के चूल्हे पर उल्टा कर दिया, पानी की स्टील की टंकी को गिरा दिया, पर्दों को खींचा जो लोहे के रॉड समेत नीचे आ गिरे। पति ने कहा कि वह उसके साथ दग़ा कर रही है और उद्धत भी दिख रही है।

पति ने कंडोम के दोनों पैकेट निकाले, टी टेबल पर पटके और कहा कि ये तुम्हारे बैग से निकले।

पत्नी ने कहा हाँ, वह इन्हें बैग में रखती है।

तीन बेटियों के पिता ने सोचा कि पत्नी को मार देना आसान नहीं होगा। लेकिन किसी आत्यंतिक हिंसा के पहले पति परपुरुष का नाम जान लेना चाहता था।

पत्नी हँस पड़ी और उसके बाद रो पड़ी। फिर एक गहरी साँस लेकर कहा कि ये दो कंडोम विकल्प की तलाश हैं।

पति उसकी तरफ़ देखता रहा तो पत्नी ने कहा, मैं तुम्हारे साथ कई बार नहीं रहना चाहती। लेकिन तुम्हें छोड़ नहीं सकती। तीन बेटियाँ हैं, उनका मोह है। तब ये कंडोम मेरी मदद करते हैं क्योंकि तब मैं एक ऐसे साथी की खोज में निकली होती हूँ जो तुम नहीं हो। इस कंडोम को छूना एक काल्पनिक और मानवीय और वैकल्पिक देह को छूना होता है। यह एक वैकल्पिक सृष्टि का निर्माण भी होता है।

पति एक लंबी सी हूँ निकालकर धम्म से सोफे पर बैठ गया।

पति ने पूछा कि क्या वह कभी उसे समझ पाएगा तो पत्नी ने कहा नहीं।

पति ने पूछा कि वैसे दो कंडोम रखने का क्या मतलब था तो पत्नी बहुत तेज़ हँसी और बोली कि ठीक से देखो। झोले में दो से ज्यादा कंडोम होंगे।

पति ने कहा कि तुम एक सड़क की वेश्या में बदल गई हो। पत्नी ने दीवार की तरफ़ देखते हुए कहा कि कई दफ़ा विकल्प जिसका विकल्प तलाशा जा रहा है उससे भी बुरा होता है तो यह विकल्प का विकल्प का विकल्प का विकल्प तलाशना हुआ।

इसके बाद पिता को अपनी बेटियों के झोलों से भी कंडोम मिलते रहे जिन्हें साँस रोककर वह ढूँढ़ता भी रहता था।

पहले मोड़ के बाद ही

पहले मोड़ के बाद ही मुझे लग गया कि कोई मेरा पीछा कर रहा है : इस बात ने मुझे अचानक काफी परेशान कर दिया क्योंकि मेरा पीछा तमाम कारणों से किया जा सकता है : मेरे पास कितने ही रहस्य थे। बहुत सारी बातें थीं कि जिन्हें करने का मुझे पछतावा था। मैंने झूठ बोले थे और ऊँचाइयों से डरा था। मैंने पलायन किया था और प्यार में धोखा दिया था और बदलाव में मेरी भूमिका कहीं ज्यादा बड़ी हो सकती थी। मैंने मुड़कर देखा तो पीछा करने वाला या वाली एक आकृति से ज्यादा कुछ नहीं दिख रही थी : कोई मेरा पीछा कर रहा है—ऐसा मेरा भ्रम हो सकता था। दूरी और सँकरी गली इस संशय को प्रगाढ़ करती थी।

मुझे अचानक लगा कि पीछा करने वाली मेरी कक्षा पाँच की टीचर होगी जिसका दिया कोई भी काम मैं पूरा नहीं करता था और वो मुझे धूप में खड़ा कर दिया करती थी : वह जानना चाहती थी कि मैं वैसा क्यों हूँ जैसा मैं हूँ। उससे मैं भी पूछना चाहता था कि वह जैसी है वैसी क्यों है। मुझे यह समझ में नहीं आया कि इस गली में वह मेरे पीछे कैसे आ सकती है। क्योंकि मुझे तो यह भी याद था कि कई साल पहले मैंने उसके मरने की खबर सुनी थी। दरअसल उसका बेटा अचानक मुझे एक शहर में मिल गया था और उसके बाद हम दोनों दोस्त जैसी कोई चीज़ हो गए थे : लेकिन इसके बावजूद मेरे मन में अपनी टीचर को लेकर जो हिक़ारत थी वह निकली नहीं थी। संशय भी नहीं निकला था कि वह कब कह देगी कि मैं किसी काम का नहीं हूँ। मैं चलता रहा और सोचता रहा कि और कौन हो सकता है मेरे पीछे?

मुझे अचानक लगा कि यह आदमी बाबुल नाम का आदमी है जो बरसों पहले मेरे पीछे मेरा रेप करने के लिये घूमा करता था। वह कक्षा 11 में होता था और मैं पाँच में। वह मेरे सपनों में आया करता था लेकिन मुझे इस बात का इमकान नहीं था कि वह गली में मेरे पीछे लग जायेगा। जब मोड़ आया और उसका दिखना बंद हो गया तो मेरे अंदर से राहत की साँस निकली।

लेकिन वह आकृति फिर दिखने लगी। इस बार मैं कम घबराया।

मैंने सोचा कि मैं थोड़ा ध्यान से देखूँ कि मेरे पीछे है कौन। बहुत याद करके लगा कि शायद यह सिनेमा बनाने की बहुत पुरानी इच्छा थी जो मेरा पीछा कर रही थी। उस समय तक मैं थक गया था। मैं बैठ गया और मैंने फैसला किया कि उसे आने दूँगा। वह आया। मैं जब बैठा तो वह भी बैठ गया और बोला कि मैं तुमसे बात करना चाहता था लेकिन मन में संकोच भी था। मैंने कहा क्या बात तो उसने कहा कि वही जो एक आदमी दूसरे आदमी से करता है। मैंने कहा कि एक आदमी दूसरे आदमी से क्या बातें करता है। उसने कहा कि वह तो हमारी बातचीत से पता लगेगा कि एक आदमी दूसरे आदमी से क्या बातें करता है।

लाल हवेली के असंख्य कमरों का अँधेरा और धतूरे के दूध का उजाला

राज नरायन मिसिर का नाम राज नारायण मिश्र था।

वह सई नदी के तट से लगभग एक मील की दूरी पर रहते थे। वह लेखपाल थे—इस नौकरी में इस गाँव से उस गाँव जाने का काम करना होता था। इसके लिए उनके पास हरक्युलिस साइकिल थी जिसके कैरियर में वह कई किलो का खसरा-खतौनी लेकर घूमा करते थे। किस

किसान ने मालगुज़ारी दी है कि नहीं, इसका ब्यौरा उन्हें रखना पड़ता था। उनका यह काम भी था कि अगर किसी ने खेत ख़रीदा या बेचा है तो वह उसे दर्ज करें। वह पान बहुत खाते थे और उनका मुँह एक ऐसे लकड़बग्घे की तरह होता था कि जिसने अभी-अभी हिरण के बच्चे को मारकर खाया हो। ऐसा इसलिए भी होता था कि उनका पान चूकर उनके कुर्ते पर गिरा होता था और वह एक दुर्दांत खूनी की तरह दिखते थे। कुछ ऐसा था भी। मसलन हाल ही में उहोंने एक दलित विधवा का खेत सरपंच के नाम कर दिया जो बाम्हन था और जिसने उन्हें घूस में एक बड़ी रकम दे दी थी। ऐसा वह करते रहते थे। उनकी सायकिल के कैरियर में बँधे खसरा-खतौनी में कितनी ही शिकायतें, आहें, पुकारें, घुटन और निरुपायताएँ बंद होती थीं। उन्होंने कितने ही निर्बलों का खून किया था। धन संपत्ति के लिए। तो हुआ यह कि इस तरह उन्हें जो अनाप-शनाप पैसा मिला उससे उन्होंने अनाप-शनाप हवेली बनवाई जिसमें कितने कमरे हैं, यह कोई गिन नहीं सका था। तीन मंज़िल की हवेली को लाल रंग से पुतवाया गया था। तो लोगों को यह कहने का मौक़ा मिलता था कि यह कमज़ोरों के खून से पोती गई इमारत है। इस तरह लोग राज नारायण मिश्र को रक्त नारायण मिश्र कहने लगे थे। इस तरह के रक्तपिपासु लेखपाल के जाल का शिकार रामग़रीब सरोज और उनकी माँ थे जिन्हें जो थोड़ी सी ज़मीन ग्राम सभा ने दी थी उसे गाँव के सरपंच ने लेखपाल की मदद से हड़प ली। बाद में राज नारायण मिश्र ने अपनी पाँच बेटियों में एक का ब्याह उस सरपंच के यहाँ कर दिया। भूमिहीन रामग़रीब सरोज गाँव के बाहर जाने वाली सड़क पर चाय बेचने लगे जबकि माँ बाम्हन को सरापते सरापते मर गई। एक दिन लेखपाल गाँव गाँव घूमकर लौट रहे थे तो उन्होंने चाय पीने के लिए बायसिकिल रोक दी। बेंच पर बैठ गए और बोले कि चाय दे दो। लेखपाल तो नहीं लेकिन रामग़रीब पहचान गए कि इसी खाऊ ने उनकी थोड़ी सी ज़मीन से उन्हें महरूम कर दिया था। नारायण ने खूब दूध वाली चाय के साथ जितनी चीनी तुम्हारे पास हो इसमें डाल दो वाली डिमांड भी कर डाली। राम ग़रीब ने कहा, अभी दी, बाबू साहेब। रामग़रीब झोपड़े के पीछे गये, माँ को याद करके रोए, दाँत पीसा और धतूरे के कितने ही पत्ते तोड़कर उनका दूध एक कप में गारकर चाय के दूध में मिला दिया और खूब चीनी झोंक दी। धतूरे का कसैलापन चीनी की मिठास में लीन हो गया। लेखपाल चाय पीकर चल पड़े लेकिन हवेली पहुँचते न पहुँचते सिर चकराने लगा। पेट का अलसर फट गया और मुँह से खून आने लग गया। कुर्ता खून से भीग गया। रास्ते में एक लड़के ने कह दिया कि इतना पान क्यों खाते हो कि पूरी देह रंगीन लार से रंगी दिखे। नारायण लाल हवेली के सामने बिछी खाट पर ढह गये और यह भी नहीं बता सके कि पान तो उस दिन उन्होंने बहुत काम के दबाव की वजह से खाया ही नहीं था। उनकी पत्नी जो तीसरी मंज़िल पर थी, दौड़ते हुए नीचे आने लगी तो पैर फिसला और सिर पर चोट खाकर गोलोक को प्राप्त हुई। इस अन्य कथा को जो भी अविश्वसनीय मानेगा उसे धतूरे के दूध की चाय पीनी पड़ सकती है, खून की उलटी करनी पड़ सकती है और इतिहास के किसी संगीन मोड़ पर गिर कर मरना पड़ सकता है खूनी हवेली के सामने के दुआरे पर बिछे पलंग पर।

संपर्क : फ्लैट नं.-1201, दिव्यांश आर्क एंजेल्स, राजनगर एक्सटेंशन, गाजियाबाद-2010117 (उ.प्र.) मो. : 9634282886

सीताराम से सिकंदर

वर्तुल सिंह

ये अब वो शहर तो नहीं...न तो अब यहाँ लहरतारा या मण्डुवाडीह की तरफ़ से उठता है कोई धूल का बवंडर और न ही इस शहर की जीभ अब धूल से किरकिराती है। अब तो इस शहर की जीभ स्टील और कंक्रीट से लहूलुहान होती है। इमारतों के दमकते शीशों से इसका चेहरा लाल हो जाता है, जैसे इसकी प्राचीनता को किसी ने सहसा अपमानित कर दिया हो। इस शहर के घाटों पर बैठे बंदरों की आँखों में अब नमी नहीं है, बल्कि बंदर अब वहाँ हैं ही नहीं, वे सब अपने कुनबे के साथ समूचे शहर में फैल गए हैं। और हाँ, अब इनकी आँखों में नमी की जगह एक रोष है। भिखारियों के कटोरों के निचाट खालीपन अब भी है, लेकिन वहाँ बसंत नहीं उतरता, उसमें से अब धर्मांधता का मवाद रिसता है। अब इस शहर का रहस्यमयी अधूरापन भी कृत्रिमता से भर गया है। अब यह शहर न ही अपनी एक टाँग पर नहीं खड़ा है, अब तो इसे अरबों करोड़ों की लगात से एक बैसाखी दे दी गई है, जिसके सहारे अब यह क्योटो से टक्कर ले रहा है। यहाँ सर पर लादे बोरा और कंधे पे लटकाए झोरा अब कोई नहीं दीखता। घाटों पर बाँस और सन से बुने छातों का स्थान अब चीन में बनी चटकीले रंगों की छतरियों ने ले लिया है। विकास का तूफान इस शहर की गंध को भी कहीं अपने साथ उड़ा ले गया है...न गोबर की गंध, न कचौरी जलेबी तलने की, न ही रिक्शेवालों के पसीने की बू, न गंगामईया के जल की पावन सोंधी गंध, न ही सस्ती वाली चन्दन के अगरबत्ती की गंध, न ही बंगाली टोला और भारतसेवा आश्रम संघ की ओर से आती गुग्गुल और धूने की सुगंध, दालमंडी से ताजे बेला और खस की गंध, घाटों से उठती बहते जल और गाँजे की, और हरिश्चंद्र घाट की तरफ से जलते हुए मांसपिंड और जलावन वाली लकड़ियों की, गोदौलिया के ताँगे स्टैंड से खच्चरों की लीद की, पान दरीबा से तंबाकू, जाफरानी ज़र्दा और कट्टे की कसैली गंध, मदनपुरा से आती बड़े के कबाब या अंडा फ्राई, जलजोग से लौंगलते और समोसे, गोला दीनानाथ से मसालों और हींग के साथ अनाज की एक सोंधी और पुरातन

गंध, बाँस फाटक की ठंढई घर की केसर और औंटाए दूध से सनी हुई भाँग की घसाइली (पीसे घास), औरंगाबाद के तेल निकालने के तिलहन की चरपरी गंध, पक्का महाल से चूड़ामटर और मगदल, चित्रा सिनेमा के अंदर आलू टिक्की और चाट की गंध...इस शहर के हर मौसम में हर पल की एक खास गंध है, जो सदियों से चली आ रही थी.... किसी ने उसे रौंद दिया है। गत्ते के डब्बे में कई सालों तक बुनी गई बनारसी साड़ी को काँख में दबाये ऊँची पायँचे के पायजामे पहने लुक़मान अंसारी और नूर मियाँ भी नहीं दिखते। शव नहीं दीखते, गंगा का जल काफी साफ हो जाने के बावजूद स्थिर जल से सहसा सुईंस की अठखेलियाँ नदारद हैं. बनारस के गंगा मईया की शान बजरा की जगह अब आपको चमचमाती 'रिवर क्रूज' से घाटों के दर्शन कराए जाएंगे। आश्चर्य तो ये है कि पर्यटकों को रिझाने के लिए अब गंगा चिल्ली पक्षी को 'फीड' करना भी उनके यात्राक्रम में शामिल कर दिया गया है। इस महान पुराने शहर की हर विरासत को अब डॉलर कमाने के लिए नीलाम कर दिया गया है। बृजरामा होटल के अपने कमरे की बालकनी (दरभंगा कोठी के नवीनीकरण से बना अब एक पाँच सितारा होटल) से गंगा का विहंगम दृश्य देखते हुए मुझे इतने नकारात्मक विचार क्यों घेरे हुए हैं? बीस साल बाद यहाँ वापस आने का मेरा निर्णय क्या सही है?

चौथीशंकर पांडेय लागातार बोले जा रहा था। चौथी को जब यह पता चला कि मैं विदेश से आई हूँ, तो उसने अपने आप को चौटी नाम से इंट्रड्यूस किया। मैंने जब उसे अपनी बनारसी खड़ी बोली में बताया कि वापस आ कर अब मैं यहीं बसना चाहती हूँ तो पहले तो वह थोड़ा मायूस हो गया, लेकिन फिर वह बोहनी करने के लिए उतावला भी तो था। वह अपनी लिस्ट में देखकर सिद्धगिरीबाग़ के पुराने बंगालियों की कोठियों के विषय में बताने लगा।

'चौटी भैया मुझे सत्याग्रह मार्ग वाले पोखरे के पास का घर चाहिए' मैंने जोर देकर कहा। 'ठीक है बहिनजी आपको हम कल बताते हैं'। बनारस में कहीं भी एक साथ पाँच कट्ठा ज़मीन मिलना नामुमकिन था, वह भी कैंट स्टेशन ओर गोदौलिया चौराहे के बीचो-बीच स्थित, इसका सौदा तो होना ही था। मैं इसे जान कर भी अंजान बनी रही। मैं चाह कर भी अपने एक्सेंट को नहीं छुपा पायी। कोशिश तो मैंने की थी कि खड़ी बोली ही सही लेकिन बनारसी अंदाज़ में। बीस साल म्युनिक में रहने के बाद, यह मेरा बेहद असफल प्रयास था। उसका अपने नाम का आंग्लीकरण करना मुझे अटपटा लगा....शायद वह पहले विदेशी पर्यटकों को घुमाने का काम करता था। अब प्रॉपर्टी डीलर हो गया है। लेकिन मुझे अटपटा क्यों लगा, मैंने भी तो अपना नाम झुनिया चौरसिया की जगह झरना रख लिया था। बाप का नाम घुरहू और माँ का तीयनी नहीं बदल सकी।

भारत सेवा आश्रम से लेकर औरंगाबाद की पानी की टंकी तक लगभग एक किलोमीटर तक की लंबी सड़क के दाहिने बाएँ बसा था बनारस का सोनिया मोहल्ला। जैसे लगता था कि समूचे मोहल्ले को गलियों के ताने बाने से बुन दिया गया हो। सिगरा से लक्सा और नई सड़क होते हुये बनारस का सबसे सुगबुगाता इलाका गोदौलिया चौराहा पर निकलता था। वैसे तो बनारस के हर मोहल्ले और गली की अपनी एक विशुद्ध पहचान थी लेकिन सोनिया की खुसूसियत वक़्त और मौसम के हिसाब से बदलती रहतीं थीं। वहाँ का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान सोनिया पोखरा था। मैंने चौटी को जिस घर के लिए फोन किया था, वह वहाँ से दो गली छोड़ कर था। उसका विशाल फाटक सड़क से दिखाई देता, कॉन्फ्रेंस हाल में जैसे चेयरमैन की कुर्सी और उसके आसपास क्रमबद्ध घर बने हुये हों। गली पतली थी लेकिन छोटी कार सीधे फाटक तक जा सकती थी।

चौटी ने मुझे सड़क से ही इशारा कर के घर को दिखाया। सड़क से खड़े हो कर मैंने उस घर को देखा। यहीं से मेरे अरमानो को पंख मिले थे। मैंने चौटी से पूछा ''घर को अंदर से कब देख सकती हूँ?'' ''देखना क्या है बहिन जी, आपको तो वैसे भी इसे गिराना ही पड़ेगा, अस्सी साल पुराना है और दो साल से बंद पड़ा है।'' फिर लगभग रिरियाते हुये बोला ''कुछ अड्वान्स दे दीजिये, ईहाँ बहुत खरीदार हैं, अब गुजरात के पैसे के आगे सभी अपना मुँह बंद कर लेते हैं। ''मैं देखने के बाद ही अड्वान्स दूँगी''। ''ठीक है मैडम हम चाभी ले कर येही ठियाँ कल ग्यारह बजे मिलते हैं''।

वापस होटल पहुँच कर रिसेप्शनिस्ट ने बताया कि ''म्युनिक से आपके लिए कई कॉल्स आये थे, कोई लामिया बसी ताहा का था, आप उनसे अतिशीघ्र बात कर लें।'' मैंने सोचा ताहा से तो मैंने आज सुबह ही बात की, ऐसी क्या अर्जेन्सी है...वैसे भी उसे एक महीने बाद यहाँ आना ही है। मैंने रिसेप्शनिस्ट को कॉल बैक करने का निवेदन किया। मैं अभी तक अपने सेल नंबर को पोर्ट नहीं करा पायी थी। रिसेप्शनिस्ट ने मुझे फ़ोन पकड़ाते हुए सहानुभूतिपूर्ण निगाहों से देखा। दूसरी तरफ से ताहा की केवल सिसकियों की आवाज़ आ रही थी। ''क्या हुआ ताहा से समथिंग स्वीटहार्ट?'' सिसकियों के बीच उसने जो कुछ भी कहा वो सुन कर मेरे होश उड़ गए...!

मुझे मामला अब कुछ-कुछ समझ में आने लगा था। मेरे पैर काँपने लगे, मैंने रिसेप्शन की मेज़ पकड़ते हुए ज़मीन में बैठने की कोशिश की। रिसेप्शनिस्ट ने तुरंत मुझे सहारा देकर पास के काउच पर बैठा दिया। सामने टेबल पर पड़े ऑरेंज जूस के जग से उसने जल्दी से मुझे एक ग्लास जूस पिलाया।

एक दुर्बल ''थैंक्स'' कहते हुए मैंने उससे पूछा ''बार कहाँ है?'' ''आइये मैम मैं आपको ले चलती हूँ...आप चल लेंगी न?'' उसने चिंतित होते हुए पूछा। ''ओह यस, आय एम फाइन।'' बार पहुँच कर मैंने दूर कोने वाली कुर्सी पर बैठने की सोची। गंगा यहाँ से एक रजतमय स्निग्ध रेखा की तरह दिखती थी। मुझे केवल अपनेआप को इस धक्के को बर्दाश्त करने के लिए कुछ बेहद स्ट्रांग ड्रिंक चाहिए था। मैंने सिंगल माल्ट के डबल लार्ज का आर्डर दिया... शराब की श्वस्तिदायक थपकी से रुस्तम और ताहा के साथ म्युनिक की यादों की परतें उघड़ने लगीं।

यादगारे म्यूनिक

2025 सितंबर महीने के आखिरी सप्ताह का वह चटकीला दिन, ठीक एक हफ्ते बाद यानी पाँच अक्तूबर को मैं अपने लगभग बीस साल के प्रवास के बाद इंडिया जाने वाली हूँ, शायद इसीलिए म्यूनिक का यह पतझड़ का मौसम और भी लुभावना लग रहा है। आज कई दिनों के बाद बावारीयन आल्पस की शृंखला भी दिखाई दे रही थी। बगल के अपार्टमेंट से विवाल्डी के "फ़ोर सीजन्स" के आरोह-अवरोह के साथ, फूलों के गमलों से पटे गवाक्ष पर ईसर नदी के मशहूर दो जंगली कबूतरों के प्यार की मीठी फुसफुसाहट, ऊपर के छज्जे पर नीली आँखों वाली दुबकी एक भूरी बिल्ली का अबाबीलों के चिचियाते जत्थे पर टोह लगाना, सिंकते हुये बेकन और हैम के साथ उबले आलू की बोझिल महक, जीवन अपने हर स्वरूप में रचाबसा, ताज़ातरीन और लयबद्ध हो रहा था - "परंतु, मन्थर और गुनगुने इस अहन् में, पतझड़ के उस काहल पल में, ईसर नदी के नीले जल का सुनाद और और उसके तरंगों पर नृत्य करती सूरज की किरणों में, नदी के तीर से सरसराती प्रसरल, सनोबर और चिक्रकणवल्क वृक्षों को चुम्बित करते हुये ऊषोराग की इस मंद बयार में भी, न जाने क्यों संयुक्त रूप से इन सभी

में एक रुख़सती बिछोह था। इतने दिनों की बद्धमूल ज़िंदगी में अब अचानक अस्थिरता और असमग्रता का कंपन्न था, बीस साल बाद पुनः देशधिवासन वो भी एक ऐसी जगह पर जहाँ की अब केवल यादें ही शेष रह गई थीं!" ...मैंने हर दिन की तरह आज भी अपने नोट पैड में, अपने विचारों के इस प्रस्फुटन को काव्यात्मक पंक्तियों के एक गुच्छे के रूप में दर्ज़ किया। लुडविग मैक्सिमिलियंस विश्वविद्यालय के सेंटर फॉर अडवांस स्टडीज में बीस साल से, हफ्ते में दस से बारह लेक्चर और यूरोप के कई महत्त्वपूर्ण शिक्षा केन्द्रों में सेमिनार और संगोष्ठियों में भाग लेने के बाद अब एक ठहरी हुई ज़िंदगी सुहानी लगने लगी थी...!

इस लंबे कार्यकाल की पृष्ठभूमि और अपने इस लगभग यांत्रिक ठहराव को मैं एंजॉय तो करती थी लेकिन कहीं से एक अपूर्णता और कसमसाहट हमेशा बरक़रार रहती। आज मेरी अमरीकी प्रौढ़ छात्रों के एक समूह के साथ बातचीत है। शायद औपचारिक रूप से यह मेरा अंतिम लैक्चर होगा। सुबह के सात बज गए थे। आठ बजे की सबवे ट्रेन मिल सकती है। मैं वार्डरोब से पीले शिफोन की साड़ी और पूरी बाँह वाले काले ब्लाउज़ को जल्दी से निकाल कर बेड पर पसारते हुए वाशरूम में शावर लेने लगी। शीशे के धुँधले दरवाजे से मैंने बेड पर पड़े मोबाइल के स्क्रीन पर कॉल आते देखा। मैंने सोचा इतनी सुबह तो किसी का कॉल नहीं आता। मैं तौलिया लपेटते हुए जल्दी से बाहर आई। कॉल हमारे डीन प्रोफेसर रुस्तम कियरोस्तामी का था।

"हैलो झरना! गुड मॉर्निंग। यदि तुम्हारा क्लास के बाद कोई और एंगेजमेंट नहीं है तो क्या तुम मुझसे व्हाइट रोज स्मारक के पास मिल सकती हो" उनकी आवाज़ में जल्दबाज़ी थी।

"बेशक। मैं बारह बजे के आसपास आपसे मिलती हूँ...वैसे कोई ख़ास वज़ह?"

"नहीं। मिलने पर बात करता हूँ, यस, लंच मेरे साथ करना, तुम्हारे पसंदीदा रेस्तराँ लिमोनी में"

"मेरा फेयरवेल है क्या, मैं तो अभी लगभग दस दिन हूँ प्रोफेसर रुस्तम"

"ओह नो, ओह नो। बिलकुल ऐसा नहीं है। मिलते है। ख़ुदाहाफ़िज़"

आज बुधवार है। ओह!मेरे फिजीशियन के अनुसार आज मुझे पाँच मिनट तक अपने ब्रेस्ट्स का किसी भी तरह की गांठ या सूजन के लिए परीक्षण करना था। चालीस के बाद की सभी महिलाओं को यहाँ इसकी सलाह दी जाती है। वार्डरोब के शीशे के सामने खड़े होकर मैं थोड़ी देर अपने नग्न शरीर को निहारने लगी... मुझे याद आया अभी कुछ दिनों पहले, कालिदास के साहित्य पर चर्चा के बाद, एक मनचले स्टूडेंट ने मेरी तुलना 'मेघदूत' की यक्षिणी से की थी। ज़ाहिर है उसने उस "शोकाकुल तथा विरहिणी यक्षिणी के कारुण्य" का चित्रण नहीं बल्कि उसके शारीरिक सौन्दर्य की तुलना मुझसे की थी। गेहुँआ दबा हुआ रंग, अपेक्षाकृत छोटे कंदुकी उरोजों में अभी भी एक कसाव, कमर पतली, शिकम के थोड़े से मनोरम उभार पर कमलनाभ, लंबी उँगलियों वाले पतले हाथ, सुवृत्त जंघाएँ, लेकिन चौड़े कूल्हे के गुदाज़पन से एक ढलती उम्र की प्रमदा का एहसास मुझे होने लगा। मैंने अपने दोनों हाथों को वक्षस्थल की तरफ बढ़ाया लेकिन फिर कुछ सोचते हुए न जाने क्यों मैंने आज के इस परीक्षण को मुल्तवी कर दिया। ओह! केवल तीस मीनट बचे हैं। कपड़े पहन कर मैंने अपने चूड़ी डब्बे से लाल चूड़ियों को कलाईयों में फिसलाते हुए, फ्रिज से बाव्रन्ब्रोत (जर्मनी का ख़ास पावरोटी) के अधखाए टुकड़ों, चीज़ के कतरन, और सौसेजसकी दो लड़ियों को निकाला और माइक्रोवेव में झोंक दिया। टमाटर और खीरे के पतले टुकड़े काटते हुए मैंने सोचा की कॉफी विश्वविदयालय में पी लूँगी। जल्दी

जल्दी मैंने बाव्रन्ब्रोत को बीच से काटा और चीस, सौसेजस, टमाटर और खीरे को उसके अंदर ठेलते हुए एक विरूपित बेडौल सा सैंडविच बनाया. एक हाथ में पर्स और दूसरे हाथ में सैंडविच रैप ले कर मैं सबवे की तरफ लगभग दौड़ने लगी, लेकिन हमेशा की तरह अपने बाल्कनी से एक गहरे नीले रंग के कॉर्नफ्लॉवर को तोड़ कर अपने कान में फँसाना नहीं भूली। कॉर्नफ्लॉवर जर्मनी का राष्ट्रीय पुष्प भी है। सबवे स्टेशन यूनिवर्सिटी पर उतरने के बाद मैंने व्हाइट रोज़ स्मारक के बिखरे हुए परचम पर झुक कर उस कॉर्नफ्लॉवर को अर्पित कर और उसके पास स्थित विशाल फव्वारे से होते हुए द लिचथॉफ, (यूनिवर्सिटी की लॉबी या प्रकोष्ठ को यहाँ इसी नाम से जाना जाता था) में दाखिल हुई। न जाने क्यों मैंने वो किया जो मैंने शायद बीस सालों में कभी नहीं किया। मैं द लिचथॉफ से क्लासरूम की तरफ जानेवाले सीढ़ियों के आजूबाजू काफूरी संगमरमर से निर्मित दो आचार्य प्रवरों की विशालकाय प्रतिमा पर कुछ पलों के लिए ठहर गई और फिर ऊपर की तरफ स्टेनिमेयर ऑर्गन को घूरने लगी।

क्लास का सेशन बेहद इंटरैक्टिव और संतोषजनक था। वर्ल्ड रिलीजन और उसकी अन्य शाखा प्रशाखाओं पर विस्तार से चर्चा हुई। कोरोना वाइरस और 2020 के राष्ट्रपति चुनाव के बाद अमरीकियों का दुनिया के प्रति नज़रिया बेहद नम्र और प्रतिगृहित हो गया था। दुनिया की घृणा के पात्र डोनाल्ड ट्रम्प के समर्थकों की काफी ज़लालत हो रही थी। मेरे क्लास से बाहर निकलते ही लगभग पचास साल का एक व्यक्ति मेरे बिलकुल पास आया, उसके मुँह से कच्चे प्याज़ की दुर्गंध आ रही थी, उसे हिंट करने के इरादे से मैंने माउथ फ्रेशनर की एक गोली को अपने मुँह में उछाल लिया। न जाने क्यों उसका हावभाव बेहद आक्रामक था।

"मिस झाड़ना, (यही तलफ़्फ़ुथजा उसका) मेरा नाम माइक है, आपने जो मोरमोंस के बारे में टिप्पणी की, वो बेहद अपमानजनक थी। एक समय में अमरीका के सबसे शानदार राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प भी मोरमोन-जीवन शैली के प्रवर्तक थे। मैं भी मोरमोन हूँ और मैं समझता हूँ कि..."

हालांकि मेरे वक्तव्य में धर्म और उससे जुड़ी राजनीति का कोई समावेश नहीं था लेकिन फिर भी शायद मैंने मोरमोन से संबन्धित बहुत उत्साहवर्धक शब्दों का प्रयोग नहीं किया था।

"लेकिन मैंने ऐसी क्या टिप्पणी की"? मैंने उसकी बात को काटते हुए पूछा।

उसने लगभग चिल्लाते हुए कहा "आपने कहा कि औरतों के प्रति उनका रवैया संदेहास्पद है।"

मैंने कहा "इसमें क्या शक है!"

उसने ज़ोर-ज़ोर से बोलते हुए कहा कि "यह गलत है, हमारी पारिवारिक मान्यताएँ बेहद नैतिकतावादी होती हैं, शायद इसीलिए आज के इस पथभ्रष्ट समाज को हमारे धार्मिक अनुष्ठान संदेहास्पद लगते हैं, क्यों? एक नर को अपनी मादा को कैसे संरक्षित रखना चाहिए और कैसे उसे उसका प्राकृतिक स्थान देना चाहिए, यह केवल, यह केवल, पूरे ईसाई समुदाय में LDS(लैटर डे सेंटस) चर्च में ही संभव है।"

हालाँकि मैंने सैंकड़ो बार क्लासेज और क्लास के बाहर ऐसे कई घमासान झेले हैं और अक्सर मैं समय की परवाह किए बगैर, अपने स्टूडेंट्स के साथ ऐसी कई बहसों में भाग भी लेती रही हूँ। लेकिन आज मेरे पास समय का अभाव तो था ही, मैं किसी कीमत पर उसके मुँह से आती कच्चे प्याज़ की दुर्गन्ध को बर्दाश्त नहीं कर पा रही थी। बहरहाल उसने नर और मादा जैसे शब्दों का प्रयोग कर के अपनी "केव मैन' मानसिकता को तो प्रदर्शित कर ही दिया। मैंने उसके कंधे पर हाथ रखते हुए कहा कि ''माफ़ करना माइक। तुम्हारे संप्रदाय

का अनादर करने की मेरी कोई मंशा नहीं थी। मैंने तो एक तुलनात्मक अध्ययन के तहत ही उसका उदाहरण दिया, और मुझे जहाँ तक याद आता है ऐसे कई और धर्मों और सम्प्रदायों के बारे में भी मैंने समानांतर उदाहरण दिये थे। यह एक बहुत उत्साहवर्धक विमर्श था और तुम सब की भागीदारी काफी सराहनीय रही। हम शीघ्र ही फिर मिलेंगे।''

वह थोड़ा पिघल गया। लेकिन जाते-जाते उसने मुझे फिर से संशोधित किया ''ओके हम फिर मिलेंगे, लेकिन LDS सम्प्रदाय नहीं हैं। यह सिर्फ़ एक जीवन पद्धति है...बाय...!"

मैंने देखा बारह बजने ही वाले हैं, वाइट रोज स्मारक के पास रुस्तम सिर झुकाए, अपनी ठुड्डी को चिर परिचित अंदाज़ में हथेलियों पर टिकाए, स्मारक के फैले पाम्फ्लेट्स को घूर रहा था। रुस्तम, ईरान के उस परिवार से आता था जिसने शाह रेज़ा पहलवी के शासन की मुसल्सल मुख़ालफ़त की थी। CIA द्वारा 1953 में मुहम्मद मूसा देग़ की सरकार का तख्ता पलटने से लेकर आयातुल्लाह ख़ोमैनी के 1979 के इस्लामिक रिपब्लिक ऑफ़ ईरान तक पुरज़ोर सक्रिय था। उसका परिवार हिज़्ब-ए-तुदेह-ईरान (ईरान के आवाम की पार्टी) नामक वामपंथी पार्टी का समर्थक होने के कारण जल्द ही खोमैनी के कट्टरपंथी विचारों से अपने को अलग कर लिया और पुनः एक बग़ावत को अंजाम देने की कोशिश की। इस असफल प्रयास में उसके परिवार को ईरान छोड़ना पड़ा। उसकी पढ़ाई ज्यादातर यूरोप और कैरो (काहिरा) के अल-अज़हर यूनिवर्सिटी से हुई। रुस्तम का बड़ा भाई ईरान का एक मशहूर सिनेमा निर्देशक था। रुस्तम ने भी अपनी कुव्वत के अनुसार अपने कैरियर में काफी तरक़्क़ी की थी, लेकिन पता नहीं क्यों मुझे उसका ज्ञान छिछला लगता था। एक तो उसमें अपने आप को एक क़िताबी अफलातून के रूप में प्रस्तुत करने की एक नाकाबिल-ए-बर्दाश्त प्रदर्शनवृत्ति थी। उसने खबतुलहवासी को अपना एक स्टाइल स्टेटमेंट बना दिया था। अक्सर वो एक पैर में भूरा जूता तो दूसरे में काला या बेमेल जुराबें पहन कर क्लास लेने पहुँच जाता। उलटे स्वेटर या पैंट की खुली हुई ज़िप के तो क्या कहने। आज भी उसने ढीली ढाली, शैवाल रंग की कॉर्डरॉय की पैंट के ऊपर टर्टल नैक का, मोटे ऊन से बुना गदहिया रंग का एक स्वेटर पहन रखा था। वो इतना ढीला था कि मुझे वो स्वेटर तो कहीं से नहीं बल्कि कहना चाहिए कि एक सूफियाना लबादा लग रहा था। सच कहूँ तो वो पीछे से यहाँ की मशहूर गदरायी भेंड़ जिसको बेंटीमर कहते थे, की तरह लग रहा था। मुझे पता था यह सब उसका ध्यान आकर्षित करने का तरीक़ा और अपने आप को एक दार्शनिक के साँचे में ढालने का असफल प्रयास था। चूँकि व्हाइट रोज़, स्मारक यूनिवर्सिटी के कैम्पस में होते हुए भी जर्मनी के मशहूर पर्यटक स्थलों में से एक था, यहाँ स्टूडेंट्स के अलावा सैलानियों की भी अच्छी ख़ासी भीड़ रहती थी। रुस्तम के लिए अपने थिएट्रिक्स के लिए इससे उपयुक्त जगह और क्या हो सकती थी। सबको पता था कि खूबसूरत चेहरों के प्रति वो कितनी जल्दी न्यौछावर हो जाता और आसानी से अपना सब कुछ दाँव पर लगा देता था। पैसे के मामले में भी बेहद काईयाँ था। लेकिन उसमें, अपने चाहने वालों और दोस्तों के प्रति पूर्ण समर्पण का एक ख़ास व्यक्तित्व गुण था जो आजकल कम देखने को मिलता है। वफ़ादारी और एक पैनी राजनैतिक विचारधारा के अंतर्गत उसमें एक चाणक्य वाला तत्व भी था। उसके कई स्टूडेंट्स दुनिया भर में अपने अपने देशों में इंक़लाबी पैंतरे दिखा रहे हैं। अमरीका के इराक़ पर हमले के बाद वो कई रेसिस्टंस ग्रुप्स का आइडीअलॉग था। खाड़ी की राजनीति में उसका अभी भी काफी हस्तक्षेप बना हुआ था।

प्राचीन फारस और ईरान के कुछ अंदरूनी इलाक़ों में अब भी अपने दोनों हाथों से आँखों को छू कर अपने क़रीबी लोगों का अभिवादन और उनके प्रति अपने पीर का इज़हार करने

का दस्तूर है। यह एक ऐसा ताज़ीम-ए-रवायत है जिसके माध्यम से 'आप मेरी आँखों में हैं' जैसे सन्देश दिए जा सकते हैं। हालाँकि यह बहुत ही विशिष्ट व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता था, लेकिन प्राचीन को समकालीन बनाने की होड़ में अब यह एक आम भावाव्यक्ति बन कर रह गयी थी। रुस्तम को भी प्राचीन से प्राचीनतम संदर्भों, उक्तियों, रसूमाती और रवायतों, खासकर जो पुराने फ़ारस से संबन्धित थे, उनका जुनून था।

मैंने पीछे से जा कर उसके कंधों को थपथपाया, उसने घूरना जारी रखते हुए कहा 'नाजियों के समय की यह धृष्टता आज हमें कितना प्रोत्साहित करती है—लेकिन अफ़सोस इस बात का है कि अब न तो सोफी शोल और न ही उसके भाई हान्स (नाज़ियों से मुक़ाबला करते दो स्टूडेंट्स जिन्हें मार दिया गया था) की तरह आज कोई इनका मुक़ाबला करने के लिए आगे बढ़ेगा। हम लोगों में, यानी समूचे विश्व में जो एक तरह की पैसिव मानसिकता आ गई है, एक अप्रतिरोधी वातावरण का ख़ुमार जिस तरह से फैलता जा रहा है—आज पुनः जिस स्वरूप में नव नाजीवाद 'अल्टरनेटिव फॉर जर्मनी' नामक पार्टी के संरक्षण में पनप रहीं है—सोफी और हान्स जैसे आज़ादी के मतवालों को तो छोड़ो, अब कोई चूँ तक नहीं करेगा...अमरीका में देखा न तुमने क्या हुआ?

"अमरीका वासियों ने तो ट्रम्प और उसके अनुयायियों को हमेशा के लिए ज़मींदोज़ कर दिया" मैंने उसके कंधों को दोबारा थपथपाया।

इस बार मुड़ कर मुझे देखते ही, अपने दिलकश नाटकीय अंदाज़ में उसने अपने दोनों हाथों को अपनी आँखों पर रखते हुये और फिर अपने दोनों हाथों से मेरे कन्धों को पकड़ते हुए मुझे संबोधित किया.... ''मेरी जान! झरना! जितना खूबसूरत आज का दिन है, माशाल्लाह, खुदा कसम तुम उससे भी खूबसूरत लग रही हो।'' मुझे उसके लबादे से मर्दों के किसी महँगे परफ्यूम की ख़ुशबू आ रही थी। शायद ब्वल्गारी या डैविडोफ या फिर पोलो। रुस्तम की पसंद बेहद नफीस थी। वो बेशक एक फक्कड़ वेशभूषा में खुद को पेश करता था, लेकिन उसका हर सामान ब्रांडेड और बेहद क़ीमती होता। मैंने गौर किया कि उसके लबादे के बाएँ कंधे पे मैरून रंग का दुनिया की प्रसिद्ध ऊनी पोशाक बनाने वाली इतालवी फर्म श्लोरो पिआनाशका तमग़ा था, जो कि मैरिनो और वीकोना जैसे बेहद महँगे और दुर्लभ ऊन बतौर फैब्रिक के रूप में इस्तेमाल करता है। मुझे, दरअसल महंगे ब्रांड्स के बारे में जानकारी प्राप्त करने का शौक़ है। और फिर रुस्तम न केवल एक शौकीन मिज़ाज का था बल्कि इस क़ीमती रुझान की पूर्ति के लिए उसके पास हर साधन मौजूद थे। वह एक बहुत ही अमीर परिवार का था, इसलिए वह इस शौक़ में मेरा प्रिय मज़मून भी था। उसके पास ईरान में तेल के कुएँ थे और शेवरॉन और एक्सोनमोबिल जैसे बड़े कंपनियों के शेयर्स भी। उसका अवलोकन करना मेरा रोज़ एक नए ब्रांड के बारे में ज्ञान हासिल करने जैसा ही था। सैल्वाटोर फ़ैरागामो के चश्मे, डोल्स एंड गब्बाना के पेटेंट चमड़े के जूते, स्विस घड़ियाँ वगैरह ....आचार्य रजनीश 'ओशो' की तरह ही उसने अपनी खिलन्दड़ई को दुनिया के ईलीट ब्रांड्स की नुमाइश का पर्याय बना दिया था।

''धन्यवाद प्रोफेसर, लेकिन मैं यह जानने के लिए बेचैन हूँ कि आखिर ऐसी क्या बात है जो तुम मुझे आज लिमोनी जैसे फाइन डाइनिंग रेस्तराँ में लंच करा रहे हो?'' रुस्तम मेरी बात अनसुनी करते हुए बोला...''मुझे तुम्हें एक शख्सियत से मिलाना है.... लामिआ....! चलो वॉक करते हुए बात करते हैं" 'क्यों नहीं' मैंने कहा ''अरे हाँ, तीन साल पहले हमने इसी गीस्विस्टर स्कॉल सड़क पर तुम्हारे नेतृत्व में कितनी बड़ी रैली निकाली थी! याद है!? क्या हुआ उन गुंडों का? मैं अब भी गुस्से से काँपने लगती हूँ जब मुझे उन दो नौजवान लड़कों

का लहू से लथपथ चेहरा याद आता है, और नव फासीवादियों का 'हाइल हिटलर और लॉन्ग लिव द फदरलैंड' जैसे नारे अब भी मुझे हिला देते हैं,'' रुस्तम गंभीर हो गया।

''कुछ नहीं। न्यायाधीश ने एक माफीनामा लिखवा कर छोड़ दिया। मैंने तुमसे उस समय भी कहा था कि अल्टरनेटिव फॉर जर्मनी पार्टी को फ्रिंज ग्रुप (इक्केदुक्कों का समूह) नहीं समझना चाहिए। इनके गुर्गे हर जगह मौजूद हैं, कुछ तो खुल कर सामने आते हैं और कुछ संविधान के डर से अपने तरीक़े से मकड़जाल बुन कर अपने एजेंडा का आरोपण करते हैं। मुझे डर है कि नव फासीवाद की जकड़ में न्यायालय के अलावा मीडिया, क़ानून और व्यवस्था के लगभग सभी तंत्र और सबसे शर्मनाक, हमारे विश्वविद्यालय भी पूरी तरह से आ चुके हैं।''

''हाँ ठीक कहा तुमने! मुझे याद है, विश्वविद्यालय के प्रेसिडेंट प्रोफेसर डॉ. बेर्न्ड हूबर ने कई बहाने बनाये थे हमारे उस LGBT प्राइड मार्च के लिए? मुझे तब पहली बार पता चला था कि जिन्हें हम अपना दोस्त अपना हमनफस मानते थे, ख़ासतौर पर मैं अपने सह-कर्मियोंमें से जिनसे हमारा रोज़ का वाबस्ता था, अल्टरनेटिव फॉर जर्मनी के वे सभी कितने बड़े गुप्त समर्थक थे! मैं वाकई में हैरान थी जब हमारे इस प्रपोजल कि स्टूडेंट्स अपने समलैंगिक लिव इन पार्टनर्स के साथ हॉस्टल में रह सकते हैं, इन्होने अपनी षड्यंत्रपूर्ण चुप्पी से खारिज़ करवा दिया था! लेकिन यह तीन साल पहले की बात है''!

''बेशक याद है झरना! मुझे यह भी याद है उस दिन तुमने बड़ी ही बेबाक़ी से मुझसे कहा था कि तुम लेस्बियन हो और तुम ऐसे लोगों की यानी LGBT'S की सन्नाटे में भी आहें सुन सकती हो, उनकी आँखों की कशिश को जज़्ब कर सकती हो''!

"हाँ और उस दिन तुमने भी तो इसी लेमोनी जाते वक़्त की साइडवॉक में सबसे पहले यह माना कि तुम्हारे भीतर भी एक बाइसेक्सुअल प्रवृत्ति है जहाँ तुम अपने तसव्वुर में कभी कभी अपने आप को एक औरत के रूप में देखते हो"।

रुस्तम झेंपते और हलके से हँसते हुए, आगे जाकर थोड़ा रुक जाता है। साईडवॉक पर चेलो (वायलिन की तरह एक बहुत बड़ा संगीत का बाजा) बजाती हुई एक खूबसूरत लड़की की तरफ देखते हुए उसके साथ स्वर मिलाते हुए गाने लगता है...

"Calves are easily bound and slaughtered
Never knowing the reason why
But whoever treasures freedom
Like the swallow has learned to fly
Donna Donna Donna Donna
Donna Donna Donna Don

''यह जोन बाएज़ का मशहूर गाना 'डोना डोना' उसके इंक़लाबी तेवर की बेहतरीन मिसाल है। तुम्हें पता है वह महीनों जेल में रहना पसंद करती थी, क्यों कि उसका मानना था कि अमेरिका जैसे देश को इन्कम टैक्स देना एक मानवता विरोधी कृत्य है, क्योंकि अमरीकी हुकूमत ने टैक्स देनेवाले लोगों के पैसे से वियतनाम और लैटिन अमेरिका को 'किलिंग फील्ड' बना दिया है।'' रुस्तम अपने दोनों हाथ मलते हुए बोला। उससे एक विषय पर बहुत देर चर्चा करना असंभव था।

''...मैं इसीलिए तुमसे कह रहा था कि अब ऐसे नौजवान सिर्फ मेरे ख़यालों और ख़्वाबों में रह गए हैं। ऐसे नौजवान जिनके बारे में इसी विश्वविद्यालय के अलुमनस (भूतपूर्व छात्र) अल्लामा मोहम्मद इकबाल ने.... (रुस्तम, बेहद एहतराम से अपने कानों को छूते हुए दोनों

हाथ आसमान के तरफ करता है, और थोड़ा रुक कर अपनी बात टूटी-फूटी उर्दू में जारी रखते हुए कहता है) ''कभी फ़रमाया था कि 'मोहब्बत मुझे उन जवानों से है, सितारों पे डालते हैं जो कमन्द'
.... क्या सितारों पे कमन्द डालने वाले नौजावन अब जर्मनी में बचे हैं? मेरे लिए शायद अपने जर्मन पासपोर्ट को शीघ्र ही सरेंडर करना पड़ सकता है। मैं इन जाहिलों के बीच अब कैसे रह सकता हूँ...।''

''तुम क्या इस ग्लोबल यूनिवर्सिटी के डीन और आजीवन प्रोफेसर एमेरिटस के पद को त्याग दोगे? कहाँ रहोगे? मैंने आश्चर्य से पूछा।

''हाँ। बेशक त्याग दूँगा! बहुत जल्द....! और फिर मेरे हमराज़, मेरे हमनफ़स मेरे हमनवां तुम भी तो वापस अपने देश जा रही हो।''

रुस्तम थोड़ा रोमांटिक होते हुए बोला। जवाब में मैंने भी, अपने होठों को गोल करते हुए 'सो स्वीट' वाला एक पाउट बना के उस पर एक इश्क़मिज़ाज़ी नज़र फेर दी। ''वैसे तुम किस देश में अब पनाह माँगोगे? मेरी तो डुएल सिटिज़नशिप है।''

''देखो, पोस्ट कोरोना वायरस वर्ल्ड में मेरे लिए सबसे चकित करने वाला, लगभग अविश्वसनीय परिवर्तन जो हुआ है, वो खाड़ी के देशों और ईरान के बीच उभरते साकारात्मक सम्बन्ध और उनसे उत्पन्न एक सिम्बिओटिक रिलेशनशिप (सहजीवी सम्बन्ध) उभर कर जो है, उसका आने वाले दिनों में दुनिया और मानवता के विकास में बेहद बड़ा योगदान होगा। शिया, सुन्नी, यज़ीदी, कुर्द, और इस्लाम की कई अन्य फ़रीक़े मुतखासिम को समझ में आ गया है कि वेस्ट ने उनका कितना दोहन किया है। अपनी अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिए कितने देशों को बाम्बार्ड किया। उन्हें इस बात का अभी भी ख़ौफ़ है कि कहीं संगठित इस्लाम फिर से उन पर हावी न हो जाए। याद है क्रूसेड, अरबों का अल-अंडलूस यानि आईबेरिआई उपमहाद्वीप पर सात सौ साल का हुकूमत और तुर्कों का बाल्कन उपमहाद्वीप पर पंद्रहवीं शताब्दी से ले कर बीसवीं शाताब्दी के पूर्वार्ध तक का कब्ज़ा। यह समन्वय देर सबेर होना ही था। तुम इसके विपरीत यूरोप के लगभग सभी देशों की राजनैतिक सोच से तुलना करो। फ्रांस में मेरी ले पेन, इंग्लैंड में बोरिस जॉनसन, इटली में मत्तो सलविनी, हंगरी में विक्टर ओरबन ये सब अपने देश को एक डर्विनियन सिद्धांत के अंतर्गत एक ऐसे समाज को अंजाम दे रहे हैं जो यूरोप को डार्क या मिडिल एजेस की तरफ धकेल रहा है। इन सभी ने अपने राजनैतिक प्रोपेगंडा में 2015 में सीरिया, अफ़ग़ानिस्तान और इराक से आये शरणार्थियों और अब कोरोना वायरस से एक ज़बरदस्त मुहिम चलाई, जिसका लब्बो लुआब केवल लोगों में एक भय व्याप्त करने का था। भयभीत जनसमूह डोर-डाँगर की तरह होता है, इन्हें कहीं भी हाँका जा सकता है। ... जर्मनी में तुमने हन्नीबल का नाम तो सुना ही होगा, जिसने KsKh जो किजर्मनी का सबसे चुनिंदा कमांडो बल है, उसके कमिशनद और नॉन कमिशनद ऑफिसर्स की एक शैडो आर्मी गठित की थी। जहाँ बाद में उसने म्युटिनी भी कराया और Dayx यानि सम्पूर्ण विद्रोह का एलान किया था। हन्नीबल ही आंद्रे श्मिट है जो आज गठबंधन सरकार में गृहमंत्री है। .... हाँ तुमने इन गुंडों की 'षड्यंत्रपूर्ण चुप्पी' का ज़िक्र किया था। यह तीन साल पहले की बात है। अब ये ताल ठोक कर अपनी बात कहेंगे। क्योंकि अब समाज में, मीडिया प्लेटफॉर्म्स और किसी भी सार्वजनिक सम्मेलनों में इनकी स्वीकार्यता आम हो गयी है.. इन्होंने अपने एजेंडा के तहत स्मृतियों और लिबरल नेताओं की छवि को जिस तरह से धराशायी किया है, वो ख़तरनाक ढंग से बेमिसाल है। उन ऐतिहासिक काबिल-ए-ज़िक्र शख्सियत को जिनको ये दरकिनार नहीं

कर सकते थे, उन्हें और उनकी विचारधारा को इन्होंने तोड़मोड़ कर अनुचित रूप से हथिया लिया, यू नो, एप्रोप्रियेट करना किसे कहते हैं? इन सबके केंद्र में, नेपथ्य से नियंत्रित करने वाला स्टरगार्ट का उद्यमी है, जिसका नाम है माइकल बॉलवेग, 'कोयर्डेकेन 711' नामक एक संस्था का संस्थापक है। "Querdenken" का मतलब 'लेटरल थिंकिंग' (पार्श्व सोच) है। प्रत्यक्ष रूप से'लेटरल थिंकिंग 711' एक जर्मन प्रदर्शन आंदोलन है, जो COVID-19 महामारी का मुकाबला करने के लिए सरकारी उपायों का विरोध करने के लिए है, लेकिन, यह एक दक्षिणपंथी नव नाज़िस द्वारा संचालित है। इसकी स्थापना अप्रैल 2020 में बॉलवेग ने की थी, जिसका मक़सद 'सभी कोरोना उपायों की तत्काल समाप्ति' और 'संघीय सरकार के निरसन' के लिए आह्वान करना था। बैल्वेग ने बैडेन-वुर्टेमबर्ग की राजधानी स्टरगार्ट में संघीय और राज्य सरकार के कोरोना उपायों के खिलाफ प्रदर्शन आयोजित किए और अगस्त 2020 में बर्लिन में दो प्रदर्शनों को अंजाम दिया, जिसमें कई हज़ार प्रतिभागियों ने हिस्सा लिया। '711' नंबर स्टटगार्ट का एरिया फोन कोड है। खाड़ी देशों की तरह, तुम्हारे देश ने भी तो धर्मान्धता को लात मारते हुए एक महिला के नेतृत्व में संयुक्त पार्टी के गठबंधन सरकार को अंजाम दिया''।

रुस्तम फिर घुमाने लगा। हम ख़रामा-ख़रामा खूब पॉलिश किये हुए काले चौकोर ग्रेनाइट के टुकड़ों से बने एक तिराहे के ट्रैफिक छतरी पर पहुँचे। सैंकड़ों की तादाद में कबूतरों के झुण्ड के झुण्ड वहाँ लगातार धावा बोल रहे थे। रुस्तम को आता देख उनमें एक अजीब सा उन्माद सा आ गया और वे सभी उसके इर्द गिर्द पूँछ हिलाते पिल्लों की तरह घूमने लगे, कुछ तो उसके सर और कन्धों पर भी बैठनेकी कोशिश करते। मैं इससे अनजान नहीं थी। वक़्त गुजारने के लिए रुस्तम की यह पसंदीदा और सबसे माकूल जगह थी। उसने अपनी जेबों को टटोलना शुरू कर दिया। मैंने उससे कहा दाहिने जेब में है। यह सब हर बार होता था, वह कबूतरों को खिलाने का चुग्गा हमेशा अपनी दाहिनी जेब में रखता, लेकिन कभी भी उसको एक प्रयास में वह नहीं मिलता. अक्सर कबूतरों के उन्माद से वह स्वयं भी काफी उत्तेजित हो जाता, और उलूलजुलूल हरकतें करते हुए जेबों को खँगालने लगता। मैं समझ गयी कि अब ये जनाब कम से कम दस से पन्द्रह मिनट कबूतरों के अलावा उनके चक्रव्यूह को भेद कर यदाकदा आए कुछ मैना, खंजन और कौओं को दाना डालेगा। बहरहाल, हमने फिर से हौले-हौले चलना शुरू कर दिया लेकिन लेमोनी अभी भी लगभग दो सौ मीटर दूर था और मैं अच्छी तरह से जानती थी की कम से कम आधा घंटा और लगेगा। रुस्तम को आसपास की सुगबुगाती ज़िन्दगी को क़तरे-क़तरे में जीने की हवस सी थी।

वहीं कुछ दूर एक सीरियन रिफ्यूजी महिला अपने छोटे बच्चे के साथ भुने हुए चेस्टनट और चिलगोजों की टोकरी लिए बैठी थी. इनके ढेर पर एक भारी भरकम कांसे से बना बटलोई नुमा बर्तन रखा था जिसमें से धुआँ निकल रहा था। उस बच्चे को वो बीच बीच में टोकती रहती, उसके ऐसा करने पर वो पास ही पड़े थैले से अपने गोल गोल हाथ से निकाल कर काठकोयला का एक दो टुकड़ा उस बटलोही में डाल देता था और फिर चेहरे पर आये रूखे बालों को उसी हाथ से हटाता था। इसके बरक़्स, इतनी चटकीली पीली धूप और बेहद खुशनुमा, विलासमय और अल्हड़ इस माहौल में, उसके गोरे चेहरे की कालिख और पैबंद लगे उस महिला का हिजाब - गुरबत के एक बेहद मार्मिक दृश्य को प्रतिबिंबित कर रहे थे... उसके मुख की कालिख और उस बर्तन को देख कर मुझे कुछ याद आने लगा। लेकिन यह तो समझ में आ ही गया कि इस महिला का शायद वो बर्तन, उसके देश की एकलौती अमानत होगी जिसे उसने अभी तक बचा रखा है, और यही उसकी रोज़ी रोटी भी है.... रुस्तम उसको देख कर

थोड़ा इमोशनल हो गया। उसने आगे बढ़ कर उससे चेस्टनट का एक दोना बनवाया और जेब से पाँच यूरो का नोट उसको पकड़ा दिया। उस महिला ने अपने हिजाब के सिरे को कान में खोंसते हुए इशारे से बताया की उसके पास चेंज नहीं है। रुस्तम ने शायद अरबी में उससे कहा कि उसे वापस करने की जरूरत नहीं। बगल में बैठे हुये बच्चे के फूले खुरदुरे गाल को थपथपाते हुए आगे बढ़ने लगता है। तभी एक पुलिस की गाड़ी आकर रूकती है और दो बेहद मोटे सिपाही अपने बैटन से उसके टोकरी पर मारते हुए चिल्लाते हैं — Lass uns gehen geh von hier weg. Wo sind deine Papiere\ (चलो हटो, हटो यहाँ से। कहाँ हैं तुम्हारे कागजात)''। रुस्तम तुरंत उनके पास पहुँच कर उनको समझाने की कोशिश करता है। उसने अरबी में उस महिला से कुछ कहा। वह अपने अबाया के अंदरूनी जेब से कुछ मुड़े कागज़ के टुकड़े और एक कार्ड निकाल कर रुस्तम को दे देती है। रुस्तम लगभग दस मिनट तक उन मोटे शरीर और शायद उससे भी मोटे दिमाग के सिपाहियों को समझाने में अंततः सफल हो जाता है। पुलिस वालों के जाने के बाद वो उस महिला को दुबारा कुछ समझाता है। लेकिन उस महिला के चेहरे पर भय व्याप्त था। रुस्तम के समझाने के बावजूद अपनी टोकरी को कमर पर टिकाते हुए और बच्चे का हाथ पकड़ कर जल्दी-जल्दी वह भीड़ में खो गयी।

''यही होगा।...मुझे इसी का भय था। एक दशक पहले जर्मनी अपने जिस वैश्विक मानवतावाद के लिए जाना जाता था, अब उन्ही मूल्यों को आज का सरकारी तंत्र ध्वस्त करने पर तुला हुआ है। एंजेला मर्केल ने उस समय इन शरणरार्थियों को पनाह दी थी जब समूचे यूरोप ने इन्हें दुत्कार दिया था। मर्केल के इस निर्णय ने जर्मनी को इतिहास में एक ख़ास जगह दे दी थी। उस समय भी L F G ने इसे एक चुनावी प्रोपेगंडा बना दिया था। और अब? तुम्हें पता है, जाहिर है होगा भी.., दस साल बाद भी इन सीरियन शरणार्थीयों के पास इनके पुनर्वास के पुख्ता कागज़ात नहीं है। इसके चलते इन्हें कभी भी धमकाया जा सकता है, कोई भी रोज़गार का साधन इनके पास नहीं है। ये वही औरतें हैं जो अपने पतियों के आलावा कभी किसी गैर मर्द के सामने बेनक़ाब भी नहीं होती थीं... आज...'' रुस्तम का गला भर गया ...।

''आज ये बर्लिन और म्युनिक जैसे शहरों में मसाज पार्लर और इसकी आड़ में पनपने वाले ज़िस्मफरोशी का धंधा करने को बाध्य हैं।''

बात बदलने के लिहाज़ से मैं रुस्तम को लामिआ वाली बात पर दुबारा वापस लाने का प्रयास करने लगी....लेकिन मेरी बेताबी को और भी सब्र की ज़रुरत थी। आगे बढ़ते हुए अचानक उसकी नज़र अंतर्राष्ट्रीय सिनेमा के फ्रेमदार डुप्लीकेट पोस्टर्स बेचते एक नौजवान स्टूडेंटनुमा लड़के पर पड़ती है। वो बेहद लम्बा और पतला था। बीस सालों से स्टूडेंट्स की प्रोफाइलिंग करने से मैंने उसे देखते ही भाँप लिया की वो आर्ट्स फैकल्टी का होगा...वही ढीलीढाली सन् साठ वाली जर्किन और ड्रेन पाइप वाली पतलून। रुस्तम वहीं रुक जाता है और उससे गपियाने लगता है। वो नौजवान बेहद अटपटे ढंग से हकलाते हुए, अपनी बात को कहने के लिए अपने दोनों हाथों को खतरनाक तरीके से हिला रहा था, इस हद तक की साइडवाक पर चलते लोग अपने आप को बचाते हुए उसके पास से निकल रहे थे। मुझे थोड़ी ऊब होने लगी। वैसे रुस्तम और उस लड़के को देख कर लौरेल हार्डी का याद आना स्वाभाविक था। रुस्तम ने मुझे करीब बुलाया और फ्रांकोइस ट्रूफ़ॉट की फिल्म 'जूल्स एट जिम' और फेलिनी की 'ला डोल्स वीटा' के पोस्टर्स पकड़ाते हुए बीस यूरो का नोट उस लड़के को थमाने लगता है। वो नौजवान अभी भी उससे कुछ बोलना चाह रहा था। वह फिर हाथ हिलाने लगा जिससे बीस यूरो का नोट जो रुस्तम उसको देने की कोशिश कर रहा था, हवा तैरते हुए पास के

दूकान के सोपान पर गिर जाता है। रुस्तम मुस्कुराते हुए मेरी तरफ देख कर कहता है–

''इनमें से एक तुम्हारे लिए और एक लामिआ के लिए है''

''तुम मुझे अब तक ऐसे चार पोस्टर्स दे चुके हो। ''

मैंने देखा है प्रोफेसर तुम हर बार फुटपाथ पर बिकने वाली इस तरह की वस्तुओं को खरीदते रहते हो। कहाँ रखते हो इन्हें?

''हम्म्म...! तुमने मुझसे एक नहीं दो सवाल पूछें हैं।'' वो टेलीविज़न के टॉकशो में भाग लेने वाले पार्टिसिपेंट के अंदाज़ में जवाब देने लगा। मुझे उसका इस तरह का अचानक एक औपचारिक कायान्तरण बेहद फनी लगता था।

''मैं क्यों इन फ़ालतू चीजों को खरीदता रहता हूँ? एक तो इससे जो स्थानीय अर्थव्यवस्था है वो मज़बूत होती है और दूसरा, तुमने ध्यान दिया होगा आखिर कौन लोग हैं जो इन्हें बेचते हैं? स्टूडेंट्स, रिफ्यूजी, बूढ़े लोग, फ्रीलांस आर्टिस्ट्स वैगरह। ये वही लोग हैं जिनके पास या तो यह आमदनी का एकमात्र जरिया है या फिर उन्हें अपनी छोटी सी कमाई में इज़ाफ़ा करना होता है। और मैं इनका करता क्या हूँ? तो तुम्हारे जैसे मित्रो को गिफ्ट करता हूँ, अपने स्टूडेंट्स को बतौर सोवेनिएर (स्मृति चिन्ह) देता हूँ''

वो हँसने लगता है। रुस्तम अपनी खबतुलहवासी में डोलता हुआ सा चल रहा था। उसकी अलसायी चाल को देख कर महसूस होता था मानो वह अफीम के नशे में है। मैं अब वाकई में बोर होने लगी थी, बोरियत इस वज़ह से नहीं कि मुझे रुस्तम की बातें और उस की हरकतें दिलचस्प नहीं लगती, बल्कि इसलिए कि वह लामिआ वाली बात को एक पुर-असरार दास्ताँ के अंत की तरह करना चाह रहा था गोया वह कोई इंसान के बारे में नहीं, कर्नल रणजीत के नावेल के प्लाट का खुलासा करने जा रहा हो। मैं अब जल्दी से जल्दी लेमोनी पहुँचना चाहती थी। आख़िरकार मैंने खीझते हुए उससे कहा

''रुस्तम प्लीज़ मुझे लामिआ.... ' मेरी बात पूरी होने से पहले ही वह मुझे कंधे से पकड़ कर अपनी तरफ हौले से खींचते हुए कहता है ''झरना .... मेरी जान मैं विषय से भटक गया था... देखो कितनी खूबसूरत है ज़िन्दगी, कितना रिद्म, कितनी लयकारी है अपने आसपास। नहीं मैं अब तुम्हें तफ्सील से बताता हूँ। लामिया मुराद बसी ताहा, हाँ, यही पूरा नाम है उसका। जानती हो उसे?

''नहीं, लेकिन, ताहा सुना हुआ सा लग रहा है ''

''लामिआ की बड़ी बहन नादिया मुराद.....''

उसकी बात पूरी होने से पहले ही मैंने कहा वह मशहूर यजीदी लड़की जिसने ISIS के चंगुल से छूट कर जर्मनी में पनाह ली और अपनी पुस्तक 'द लास्ट गर्ल : माय स्टोरी ऑफ़ कैप्टिविटी एंड माय फाइट अगेंस्ट द इस्लामिक स्टेट' के जरिये उसने दुनिया को बताया की ISIS कितनी बेरहमी से यज़ीदी लोगों का नरसंहार कर रहा है। उसे तो 2016 का नोबेल पीस प्राइज भी मिल चुका है।'' एक संदीप्त और अति उत्साही छात्रा की तरह मैंने उसकी बात काटते हुए, यह सब एक ही सांस में कह दिया। पर तभी मुझे अपनी अभद्रता का एहसास हुआ। मैंने देखा रुस्तम एक परिपक्व और शफ़ीक़ पिता की तरह मुझे देख रहा था। उसका यह लगभग अभिभावकीय अंदाज़ मुझे अच्छा लगता था। लेकिन आज मैंने लजाते हुए उससे कहा।

''क़ता कलाम माफ़ रुस्तम ...मैं दरअसल..।''

''अरे तुमने बिलकुल ठीक फ़रमाया, लामिआ और नादिया को ISIS से बचाने वाला

और उन्हें जर्मनी पहुँचाने वाला मेरा एक्टिविस्ट दोस्त उमर अब्देल जबार है। वह तोरगाऊ, दक्षिण बर्लिन के सबर्ब में रहता है। नादिया और लामिया भी वहीं रहतीं हैं। लेकिन मुझे तुमसे मदद की जो ज़रुरत है वो शायद तुम्हारी निजता में बाधक बन सकती है, हालाँकि कुछ ही दिनों के लिए।''

हम लोग बात चीत में मशगूल अमालिएनस्ट्राबे नामक पतली सड़क पर पहुँच गए। लिमोनी रेस्तराँ ने अपने प्रोमेनेड में बहुत ही सौंदर्यपरकता से बेंत की कुर्सियां और मेज़ो को सड़क के साइडवॉक पर तरतीब से कतारबद्ध किया हुआ था। हरे रंग के शामियाने के नीचे वाली कुर्सी खींच कर उसने झुक कर मुझे बैठने का संकेत दिया। वेटर को इशारे से बुलाते हुए उसने मुझसे कहा ''आज मैं तुम्हारे लिए आर्डर करूँगा, देखो कोई ख़ास वजह नहीं है लेकिन आज मैंने सोचा लामिआ के बहाने तुमसे तुम्हारे इंडिया प्लान्स के बारे में भी पूछ लूँ। लेकिन हाँ, तुमने मेरी सुबह की कॉल से ठीक अंदाज़ा लगाया था, मेरी तरफ से आज का यह लंच तुम्हें अलविदा कहने के लिए ही है ... मैं सनडे को यानी परसों कुर्दो के नए वतन कुर्दिस्तान की सीमाएँ निर्धारित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र के मुख्यालय जेनेवा जा रहा हूँ और फिर वहाँ से ईरानी हुकूमत द्वारा प्रायोजित कुर्दों के नए देश में भ्रमण। शायद तुम्हारे जाने तक मैं वापस नहीं पहुँच पाऊँगा''

''बधाई रुस्तम, तुम इतिहास बनाने जा रहे हो, लेकिन जहाँ तक मैं जानती हूँ ईरान के करमनशाह नामक प्रांत में कुर्दों की बहुत बड़ी जनसंख्या है, प्रस्तावित कुर्दिस्तान में तो ईरान को भी अपना एक बहुत बड़ा हिस्सा देना होगा?'' रुस्तम के चेहरे पर एक कुटिल मुस्कान थोड़ी देर टिकी रही फिर धीरे धीरे उसने मुस्कुराना बंद कर दिया और एक दो टूक वाला अंदाज़ उसके चेहरे पर छाने लगा...

''यू नो, तुमने बज़ा फ़रमाया! हाँ, हमारी जनसंख्या के लगभग दस फीसदी कुर्द हैं और इराक, सीरिया और टर्की के बरक्स, ईरान में सभी शिया हैं। लेकिन ईरान को अपना बहुत बड़ा हिस्सा नहीं देना पड़ेगा क्योंकि वे समूचे ईरान में फैले हुए हैं। इराक, सीरिया और टर्की में कुर्द बागी हैं लेकिन हमने इन्हें, हो सकता है एक बेहद गूढ़ राजनीति के तहत, ईरान के सांस्कृतिक और सामाजिक ढाँचे, राजनितिक एन्फ्रैन्चिज़्मेन्ट (मताधिकार) और सरकारी नौकरियों में आरक्षण दे कर इनका ईरान के वजूद में समावेश कर लिया है। नतीजा? इनकी जनसंख्या अब एक जगह इतनी नहीं रह गयी कि वे वतन के लिए कोई खतरा पैदा कर सकें।''

वेटर हमारे पास काफी देर इंतज़ार करने के बाद, बगल वाले टेबल की ओर बढ़ने लगा। रुस्तम ने उससे माफ़ी माँगते हुए वापस बुला लिया और मेनू देखने लगा। आदतन मैंने भी मेनू कार्ड उठा लिया। अन्य उपमहाद्वीपीय प्रवासियों की तरह इतालियन खाने में मेरी जानकारी और विकल्प बहुत ही सीमित थे। ''एक बोतल अपुलिया विनोसिया वाइन, स्टार्टर्स में अस्सातिमेंटो दी फोरमाड़ज़ी मिस्ती (चीज़ के विभिन्न प्रकार) और टुना इन सेसमे कोटिंग (तिल में लपेट कर तली हुई मछली) मेन कोर्स इसके बाद''। मेनू कार्ड में जो सबसे महँगी शराब और डिश थी, रुस्तम ने अपने हिसाब से उन्हीं को चुना था।

''मेन कोर्स? इसके बाद? मेरा लंच तो एक सैंडविच का होता है प्रोफेसर!'' मैंने आपत्ति जताते हुए टोका। रुस्तम ने मेरी ओर मुस्कुराते हुए देखा और वेटर से बात करने लगा। वेटर एक नौजवान था, वह अपने आर्डर नोटबुक को देखते हुए बीच-बीच में मेरी निरावरण पीठ और कुक्ष की ओर भी कनखी से देख ले रहा था। मुझे अचानक अपनी साड़ी की नाभिका से बहुत नीचे और अपने ब्लाउज़ के तंग होने का एहसास होने लगा। मेरी नज़र उस पर पड़ते

ही वह थोड़ा घबरा गया और फिर गंभीर होते हुए कहा ''आई रिपीट योर आर्डर सर (मैं आपके आर्डर को दुबारा पढ़ता हूँ) एक बोतल अपुलिया विनोसिया वाइन, स्टार्टर्स में अस्सातिमेंटो दी फोरमाड़ज़ी मिस्ती और टुना इन सेसमे कोटिंग, सर इसके साथ सफ़ेद पत्ता गोभी और शहद में मैरिनेटेड अदरख का सलाद भी होगा। धन्यवाद।''

''ओके! हैं तो तुम क्या कह रही थी? सुनो तुम यहाँ सर्व करने के तरीके को अच्छे से जानती हो। लगभग सारे फाइन डाइनिंग रेस्ट्रॉन्ट्स का यही हाल है। यहाँ के पकवानो के पोर्शन्स (मात्रा) बहुत कम होते हैं जो मेरे तो दांतों में ही फंसे रहते हैं। बहरहाल! कुर्दों के मज़मून पर वापस चलते हैं।''

''हूँ, तो मैं यह भी जानना चाहती हूँ कि तुम्हारी दिलचस्पी और कार्यक्षेत्र तो यज़ीदी ही रहे हैं। मुझे जहाँ तक याद है इंटरनेशनल क्राइसिस ग्रुप के लिए तुमने यज़ीदियों के नरसंहार पर एक आर्टिकल भी लिखा था, जिसका जिक्र नोबेल पीस कमिटी ने नादिया को नोबेल पीस प्राइज देने में भी किया था। तो फिर अचानक यह कूर्द प्रेम क्यों?' मैंने थोड़ी चुटकी ली।

''तुम्हारी याददाश्त और सटीक ग्लोबल पॉलिटिक्स की पकड़ की मैं दाद देना चाहता हूँ मिस झरना' उसने अपने होठों को टेढ़ा करते हुए बोला।'' मुझे कुर्दों से कोई उस तरह का सरोकार नहीं है, मैं नए कुर्दिस्तान की सरहदों के तहत एक यज़ीदी ऑटोनोमस रीजन के लिए पैरवी और मध्यस्थता करने जा रहा हूँ, उसका भी कारण है, यह महज़ संयोग है कि कुर्द बाहुल्य इलाक़ों में यज़ीदियों के भी पॉकेट्स हैं। इन्हें अलग देश यदि नहीं तो ऑटोनोमी का तो अधिकार है ही। ओह माई डिअर, देखो बुद्धिमान, दिलचस्प और फिर खूबसूरत लोगों से बात करने का यही हश्र होता है.....! हमने लामिआ से बात शुरू की थी और कहाँ पहुँच गए! लेकिन पहले तुम बताओ अपनी आने वाली प्लांनिंग्स के बारे में..और हाँ तुमने वो जो एक एक्सपीरियंस सर्टिफिकेट साइन करवाया था वो कहाँ के लिए है? नयी नौकरी?नया ओहदा? कहीं ज्वाइन कर रही हो?' उसने प्रश्नों की झड़ी लगा दी।

''मैं विस्तार से तुम्हें बताऊँगी, लेकिन मैं पहले लामिआ के बारे में जानने को उत्सुक हूँ''। उसने घड़ी देखते हुए कहा ''हमारे पास काफी वक़्त है, मैंने लामिआ को दो बजे का टाइम गीस्विस्टर स्कॉल फाउंटेन पर मिलने के लिए दिया है।'' ओके विस्तार से तो नहीं लेकिन संक्षेप में बताती हूँ। मेरी जन्मस्थली वाराणसी स्थित संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, जहाँ से मैंने स्नातक किया था, वहीं से मुझे धर्मशास्त्र विभाग में बतौर संकायाध्यक्ष का न्योता मिला है। यह वाकई अत्यंत सम्मोहक तो है ही साथ ही इसमें एक खूबसूरत सा प्रतिशोध भी है।

''प्रतिशोध? कैसा प्रतिशोध?'' रुस्तम उत्सुक होते बोला। मुझे थोड़ा अटपटा लगा उसके सामने इसका खुलासा करते हुए।

''वैसे मुझे अपने बारे में ख़ास तौर पर अपने पास्ट के बारे में बात करना अच्छा नहीं लगता, लेक़िन तुमसे क्या छुपाना? आश्चर्य है कि हमारे पंद्रह साल के सरोकार के बावजूद हमने कभी इस विषय पर यानी मेरी पारिवारिक पृष्ठभूमि पर चर्चा नहीं की। ''

''ओह डिअर'' रुस्तम एक ठंडी आह लेकर बोलता है ''हमारे पास विषयों की कमी कभी नहीं रही... संभवतः यही एक आयाम था जो अछूता रह गया। बहरहाल, हाँ तुम बोलो''

''पता नहीं तुम हिंदुओं की जाति प्रथा के बारे में जानते हो कि नहीं? मैं तथाकथित शूद्र जाति की हूँ और जाति के वर्गीकरण में सब से नीचे। हम लोगों को पढ़ने लिखने से दूर रखा जाता था और संस्कृत भाषा से तो कोसों दूर। लब्बोलुआब ये है कि मैंने काफी मुश्क़िलों का सामना करते हुए संस्कृत विश्वविद्यालय में दाखिला भी लिया और डिस्टिंक्शन से स्नातकोत्तर

भी पास किया। मेरे इतने अच्छे अंकों के मद्देनज़र मुझे वहाँ एडहॉक लेक्चरर का पद ऑफर किया गया। मेरे साथ के एक सहकर्मी डॉ. बुद्धि निकेत चतुर्वेदी जी थे, जो मुझसे लगभग आठ दस साल सीनियर थे। बेहद दकयानूस विचार वाले और घनघोर जातिवादी। मेरी नियुक्ति को लेकर वो बहुत आहत थे। उन्हें कई प्राध्यापकों और उनके अन्य चंगुओं-मंगुओं, यहाँ तक की विद्यार्थियों को भी यह कहते सुना गया था कि घोर कलियुग आ गया है, अब शूद्र हमें देवभाषा की शिक्षा देंगे''। मेरी ही उम्र के कई अन्य प्राध्यापकों को उनकी दकियानूस बातचीत से पाला पड़ता रहता था। इसी वजह से हमने उनका नाम उलट कर कुछ और ही रख दिया था।'' मैं हँसने लगी। रुस्तम ने भी हँसते हुए कहा ''दुरुस्त! ऐसे लोगों के लिए यह पूर्णतः उपयुक्त है'' मैंने अपनी बात को जारी रखते हुए कहा ''हमारे ग्रुप में उन्हें उसी नाम से संबोधित किया जाने लगा। यह नाम हम सबकी जुबाँ पर इस तरह चढ़ गया कि एक बार तो हमारे एक मित्र ने किसी औपचारिक मंच पर उनको इसी नाम से आमंत्रित किया। समय बीतने के साथ ही उनके कटाक्ष सीधे मेरी तरफ होने लगे। डीन की कांफ्रेंस के दिन तो उन्होंने हद ही कर दी। सभा कक्ष में मेरे घुसते ही उन्होंने ऊँची आवाज़ में कहा ''हंस की चाल चलने से कौआ हंस नहीं हो जाता है।'' टीचर्स कॉमन रूम में एक रोज़ मेरे एक सहकर्मी चाचा बनने की खुशी में 'मधुर जलपान' नामक एक मिठाई की दूकान, जो की खालिस देशी घी से मिठाई बनाने के लिए मशहूर थी, से मिठाई हम सब को खिला रहा था। मेरे पीरियड्स की वजह से मुझे हलकी मितली सी आती रहती थी। मेरे लाख मना करने के बावजूद उसने जबरदस्ती लौंगलत्ते का टुकड़ा खिला दिया। थोड़ी देर में मुझे अच्छी ख़ासी मितली आने लगी। मैंने दौड़ कर पास के बेसिन में थूकना शुरू कर दिया। वापस आने के बाद वह दकियानूस अध्यापक कुटिल मुस्कान के साथ मेरी हरकतों को देख रहा था, सबको सुनाते हुए कहा ''कुत्तों और शूद्रों को घी नहीं पचता।'' जानते हो रुस्तम मैंने उसी दिन प्रण किया कि मैं इस दकियानूस आदमी को सबक सिखाऊँगी। संकाय अध्यक्ष पद के लिए उसने भी अर्ज़ी लगाई थी, मैंने उसे करारी शिकस्त दी। धर्मशास्त्र विभाग में बतौर संकायाध्यक्ष मैं न केवल पहली महिला थी, बल्कि सबसे कम उम्र की और ब्राह्मणों के वर्चस्व के इस विभाग की पहली शूद्र भी'। रुस्तम गंभीरता से सुनता रहा। फिर उसने 'गॉडफादर' फिल्म के मुख्य किरदार डॉन वीटो कोरलियॉन का मशहूर डायलॉग मद्धिम स्वर में दोहराया "Revenge is a dish best served cold," (प्रतिशोध एक ऐसा व्यंजन है, जिसे ठंडा ही परोसना उत्तम है)। बैरे ने वाइन के साथ चिखौना और मेन कोर्स भी परोस दिया था। शराब की गर्माहट और पुरसुकूं माहौल में हमें समय का ख़्याल न रहा। रुस्तम ने कहा ''चलो समय के अभाव में हम रास्ते में ही बात करते हैं।'' हमने जल्दी-जल्दी लंच ख़त्म कियाऔर वापस गीस्विस्टर स्कॉल फाउंटेन की ओर चल पड़े। मैंने उससे फिर पूछा ''लामिया के बारे में तो तुमने अभी तक मुझे नहीं बताया''। ''ओके, मैंने तुम्हें अपने एक्टिविस्ट दोस्त उमर अब्देल जबार के बारे में बताया था न। एंजेला मैर्केल की सरकार ने उसे इस बात का आश्वासन दिया था कि जब तक वो अपने व्यवसाय को बखूबी मुकम्मल नहीं कर लेता है, उसे वज़ीफ़ा दिया जायेगा। उसे एक सेलिब्रिटी की तरह जर्मनी ने अपनाया था। लेकिन आज के मौजूदा हालात में न केवल उसका वज़ीफ़ा बंद कर दिया गया बल्कि उसके मीट प्रोसेसिंग (मांस प्रक्रमण) फैक्ट्री का लाइसेंस भी रद्द कर दिया। उमर अब नाडीया के साथ वापस जा रहा है। मैंने उन लोगों के लिए यज़ीदी ऑटोनोमस रीजन में नयी ज़िन्दगी शुरू करने का इंतज़ाम कर दिया है। मेरी समस्या है कि मैं लामिआ को किसके हवाले करुँ? लामिआ कम्पैरटिव रिलिजन (तुलनात्मक धर्म अध्ययन) में, इसी विश्वविद्यालय

से रिसर्च कर रही है। उसके अभी छह महीने और बचे हैं। उसे अब न तो कोई हॉस्टल में रहने की इजाज़त देगा और न ही कोई उसे मकान किराए पर देने को राज़ी होगा। वो बेहद ब्राइट स्कॉलर है''। रुस्तम मेरे चेहरे के भाव को गम्भीरता से पढ़ने की कोशिश करने लगा। वो शायद मुझसे ही वैकल्पिक समाधान की आस लगाए था। मैंने थोड़ी देर इस विषय पर विचार किया। ''मुझे उसको अपने साथ रखने में कोई दिक्कत नहीं है, लेकिन मैं भी दस दिन बाद जा रही हूँ और मैंने अपने मकान मालिक को एक महीने पहले ही घर छोड़ने का नोटिस दे दिया था।'' रुस्तम थोड़ा मायूस सा हो गया ''व्हाट कैन बी डन। ''हम लगभग गीस्विस्टर स्कॉल फाउंटेन से कुछ ही दूर थे। 'थोड़ा रुको' रुस्तम मेरा हाथ पकड़ कर बोला। ''कुछ तो करना ही पड़ेगा, मुझे तुम्हारे मशविरे पर भरोसा है...आई ट्रस्ट यू।'' मुझे अचानक एक उपाय सूझा। ''यदि मेरे मकान मालिक ने अभी तक किसी और से मेरे अपार्टमेंट को देने की बात नहीं की है, तो मैं उससे यह बोलूँगी कि मैं कुछ महीने बाद वापस आ रही हूँ, और मैं अपनी एक स्टूडेंट को इस अपार्टमेंट में देखभाल के लिए रखना चाहती हूँ। मेरे ही नाम पर मकान रखने पर उसे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। वैसे भी उसे पैसों की हर वक़्त ज़रूरत होती है। 'ज़बरदस्त, वाह! कॉल करो उसे, प्लीज अभी...' रुस्तम उतावला होते हुए चीखा। मैंने मकान मालिक को कॉल करके उसे इससे अवगत कराया। जैसा मेरा सोचना था, वह सहज ही तैयार हो गया। साथ ही उसने कुछ एडवांस की भी गुहार लगाई। रुस्तम तुरंत मुझे चार हज़ार यूरोज़ के मुड़े तुड़े नोटों को पकड़ाते हुए बोला 'उसे फुल पेमेंट कर दो...' विदूषकों की तरह नाचते हुए वो बोलने लगता है 'ला...ला...ट...रा...रा मेरी परेशानी का अंत हो गया...हो गया...रे' हम दोनों को आसपास से गुजरने वाले लोग मुस्कुराते हुए देखने लगे, सरेआम रुस्तम की यह अप्रत्याशित हरक़त से मुझे बेहद शर्मिन्दगी होने लगी...मैंने दबी जुबाँ में उससे कहा 'बस हो गया रुस्तम बंद करो यह...।'

रुस्तम को अभी भी पहुँचने की जल्दी नहीं थी। वो वैसे ही डोलता हुआ चल रहा था, गनीमत थी कि वापसी में वो कहीं रुका नहीं। सवा दो बजे के आसपास हम गीस्विस्टर स्कॉल फाउंटेन के पास पहुँचे। रुस्तम ने दूर से इशारा करते हुए दिखाया 'वो...! वो देखो!' मैंने देखा लाल रंग की चुस्त कार्डिगन, मिलिट्री ग्रीन रंग के हारेम पैंट और जंगल बूट्स पहने एक दुबली पतली लड़की किताब में सर गड़ाए फव्वारे के मुंडेर पर बैठी थी। उम्र लगभग पचीस छब्बीस के आसपास। रुस्तम ने कहा ''बहुत बड़ी किताबी कीड़ा है...बिलकुल तुम्हारी तरह, खूब जमेगी तुम्हारी उसके साथ।'' उसने आँख मारते हुए कहा। पास पहुँच कर रुस्तम ने उसके कंधे पर हौले से हाथ रक्खा। उसने अलसाई निगाहों से पहले अपने कंधे पर रक्खे हुए हाथ को देखा और फिर रुस्तम को। उसने खड़े होते हुए रुस्तम का दाहिना हाथ चूमा और मद्धिम स्वर में 'अस्सलाम अलैकुम' कह कर अभिवादन किया। उसके खड़े होने के बाद ही मैंने उसके क़द का अंदाज़ा लगाया। वो रुस्तम के बराबर ही थी। रुस्तम ने मेरा परिचय उससे करवाया और मेरे समझने के लिहाज़ से उसने लामिआ से अंग्रेजी में कहा ''झरना हमारे परिवार का ही हिस्सा है, तुम्हें इसके साथ रहने में जरा भी अटपटा नहीं लगेगा''। मैं समझ गयी की रुस्तम ने पहले ही मेरे बारे में लामिआ को अवगत करा दिया था। फिर खड़े-खड़े ही रुस्तम उससे अरबी में लगभग पंद्रह मिनट तक बात करता रहा। उसके हावभाव से मैंने जान लिया कि वो उसको कुछ जरूरी हिदायतें दे रहा है। फिर उसने फिल्म का पोस्टर और जेब से नोटों का पुलिंदा निकाला और लामिआ को दे दिया। इन सब से फारिग हो कर रुस्तम एक लम्बी साँस लेकर और कलाई घड़ी में समय देखते हुए कहता है ''झरना मुझे अब जाना होगा, मैंने

अभी पैकिंग भी नहीं की है। वैसे भी जाने से पहले हम चंद लम्हों के लिए सैटरडे को मिलते हैं। और हाँ बराये मेहेरबानी यदि कभी भी तुम्हें पैसे की जरूरत पड़े तो संकोच मत करना।'' उसने लामिआ की तरफ देखते हुए कहा ''ऑल योर्स, खुदाहाफिज़''।

रुस्तम के जाने के बाद मैंने लामिआ की ओर देखा। थोड़ी देर तक, न जाने क्यों हम एक दूसरे को निहारते रहे। उसके पूरे वजूद में हल्क़ा-ए-नूर का फेरा था। मानो कहकशां में सराबोर कोई उसकी आँखों में झाँकने से महसूस होता जैसे वो आपका सब राज़ जानती है। आवाज़ में एक तिलस्मी ख़राश। सुर्ख़ पतले पतले होठ। रुख़सार पे यौवन के मुहाँसे। उसने धीरे से कहा ''झरना, क्या मैं आज ही शिफ्ट हो सकती हूँ?' मैंने चौंक कर जवाब दिया ''ओह यस। क्यों नहीं।'' लेकिन फिर मैंने कुछ सोच कर कहा ''वैसे हम तो कल विश्वविद्यालय आ ही रहे है, क्यों नहीं हम उसी दिन शिफ्ट करते हैं। तुम्हारा पुराना घर यहाँ से तो बहुत पास है। तुम आज मेरे साथ ही रहो। अँधेरा होने में भी बहुत देर नहीं है। लामिआ खिल उठी ''गुड आईडिया, मैं अपने कुछ कपड़े और टॉयलेटरीज़ (प्रसाधन का सामान) पैक कर लेती हूँ। तुम चलोगी मेरे साथ?' मैंने तुरंत कहा ''हाँ हाँ चलो।''

लामिआ के साथ उसका सामान ले कर हम लोग सबवे लेकर घर पहुँचे। अपार्टमेंट के अंदर घुसते ही लामिआ ने अचरज से कहा ''तुम्हारे फ्लैट की वाइब (अनुभूति) बेहद सार्थक है, क्या शानदार व्यू है!'' शाम का झुटपुटा छाने लगा था। मैंने लामिआ से पूछा ''चलो सेलिब्रेट करते हैं! क्या लेना पसंद करोगी? वाइन या व्हिस्की''? 'कॉम्पारि' उसने दो टूक में जवाब दिया। मैंने एक बड़े से गिलास में कॉम्पारि उसको थमाया और अपने लिए व्हिस्की का एक लार्ज पेग पोर किया। लामिआ बालकनी से ईसर नदी का मंज़र देख रही थी ''तुमने कैसे निर्णय लिया यहाँ इतनी दूर फ्लैट लेने का? नदी की तरफ देखते हुए उसने पूछा। मैंने उसे विस्तार से बताना शुरू किया। वैसे मुझे अपने आप को भी सही साबित करने करने का मौका मिला।'' जानती हो, ड्यूससंग्रहालय के पास स्थित इस अपार्टमेंट का स्थान, म्यूनिक के पुराने क्षेत्र कैसे पुनर्जीवित हो रहे हैं यह अनुभव करनेका मौका देता है। ईसर नदी और इसकी क्लासिक बाइक / पैदल मार्ग यहाँ से एक ब्लॉक दूर है। यह इलाक़ा, शहरी आवास का एक व्यवस्थित हिस्सा है, इसलिए एक आगंतुक के रूप में अपनी एक दिनचर्या स्थापित करना आसान है। ब्लॉक के प्रत्येक छोर पर स्थानीय रेस्तरां हैं। मेरे पसंदीदा, उत्कृष्ट कॉफ़े हैप, कैफे ब्ला, लगभग 10 मिनट की पैदल दूरी पर हैं। नदी के उस पार, केवल 5 मिनट की दूरी पर, अद्भुत विशिष्ट अंतरराष्ट्रीय भोजनालय, उत्तम दर्जे के पब, शराब की दुकानें, जैविक रेस्तराँ और सबवे स्टेशन है। मेरी समझ से एक अकेली महिला के लिए यह सर्वोत्तम जगह है।' लामिआ थकी हुई लग रही थी, मैंने उससे कहा ''जाओ रेस्ट करो, कल बात करते हैं।''

संडे को रुस्तम चला जायेगा। हालाँकि मेरा क्लास सैटरडे को नहीं था फिर भी मैंने सोचा लामिआ को विश्वविद्यालय घुमा कर रुस्तम को फेयरवेल दे दूँगी। लामिआ को सामान पैक करने के लिए उसके पुराने घर में भेज कर मैं विश्वविद्यालय आ गयी। वहाँ पहुँच कर मैंने देखा रुस्तम कई टीवी वालों से घिरा है। उत्सुकता वश मैं भी उसके करीब पहुँच गयी। वह मुट्ठी बाँध बाँध कर एक जर्मन टीवी को वक्तव्य दे रहा था। मुझे पता था इस टीवी चैनल का मालिक LFG का गुर्गा था। यह बात रुस्तम को भी पता थी, फिर भी वो धाराप्रवाह बोले जा रहा था ''यह जानकार आपको खुशी होगी कि कुर्दिस्तान अब एक नया देश शीघ्र ही बन जाएगा और मैं अपने सभी यज़ीदी भाइयों की तरफ से यज़ीदी ऑटोनोमस रीजन की पैरवी भी कर रहा हूँ।'' इस पर उस रिपोर्टर ने पूछा ''जर्मनी को इससे क्या फायदा, क्यों

हमारी सरकार इसका समर्थन कर रही है?'' रुस्तम की हाज़िरजवाबी माननी पड़ेगी, उसने कुछ देर सोचा और बोला ''एंजेला मर्केल के समय से, जर्मनी मिडलईस्ट से आये लाखों शरणार्थीयों के लिए कई अन्य के बनिस्पत अधिक उदार रहा है। इससे यहाँ के सामाजिक और सांस्कृतिक माहौल में बहुत बदलाव आया है। कुछ का मानना है कि इससे जर्मनी की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के मुख़तलिफ़ हिस्सों में एक जोशीला इज़ाफ़ा हुआ है, क्यों कि अधिकतर रिफ्यूजी यंग एडल्ट्स (युवा वयस्क) थे। तो दूसरी तरफ कुछ लोगों और वे लोग जो एक ख़ास राजनैतिक विचारधारा से जुड़े हुए हैं-उनका कहना है कि जर्मनी में क्राइम रेट, प्रॉस्टिट्यूशन, बीमारी तथा जर्मन संस्कृति पर घटाटोप के ये कारण हैं। मैं यह उनके लिए ज़ोर दे कर बोलना चाहूँगा कि कुर्दिस्तान बनने के बाद जर्मनी से लाखों कुर्दों और यज़ीदियों का एक रिवर्स माइग्रेशन होगा। वे हिज़रात से उबर कर वापस अपने सर ज़मीन में बस सकते हैं।'' रुस्तम फिर तंजीये अंदाज़ में बोला ''जर्मनी उनके लिए फिर से सैनिटाइज़्ड (अप्रिय हिस्सों की काट-छाँट करना) हो जाएगी''

''रुस्तम इज़ नो मोर...!! ईरान और लेबनान के बॉर्डर पर मोसाद (इज़राईल का खुफ़िआ विभाग) ने उसके कॉन्वॉय को उड़ा दिया''। ताहा की सिसकियों से लबरेज़ आवाज़ मेरे ज़हन में, खाली गिरिजाघर में ऑर्गन पर बजते, डी माइनर में मोजार्ट केत्मुनपउ (रेक्विएम शोक-गीत) की तरह गूँज रही थी। मैनेजर की मिमियाती आवाज़ ''मैम, क्या मैं आपके ड्रिंक को रिपीट करूँ'' से मेरी तन्द्रा भंग हुई। मैंने उससे कहा 'यस प्लीज़'।

संपर्क : CISF IG, ईस्टर्न सेक्टर हेडक्वार्टर्स, टाइप-V/II, नियर तिरील आश्रम पो.-धुर्वा, राँची-834004 (झारखंड)
मो. : 9479666969

पितृ-पक्ष

चन्दन पांडेय

पितृपक्ष उतर रहा था। जंगबहादुर पाण्डेय की दाढ़ी में खुजली मची हुई थी।

सुबह का साँवला समय था। कुछ देर के लिए बारिश रुकी थी। सात दिनों के बाद। लगातार बारिश ने जीना मुहाल कर दिया था। इतनी बारिश और इतनी नमी से दीवारें, पेड़, रुख, हवा आदि सब फूल गए थे। जंगबहादुर गोकि जंगी अपने खेतों की ओर निकले थे और अभी अरहर के खेत पर खड़े थे।

पूरा खेत गिरा पड़ा था।

पितृपक्ष से या यों ही, उन्हें याद आया कि अगर पिताजी होते तब अरहर को गिरने से तो नहीं रोक पाते लेकिन बारिश में भी रोज खेत देखने जरूर आते। वे खेत के सामने चकरोड पर खड़े थे और मन हुआ कि खेत का पूरा एक चक्कर लगाया जाये। उन्हें फिर याद आया कि पिताजी हर खेत को रोजाना एक बार चारो तरफ से देखते थे। जबकि इन महाशय को, जिनके हिस्से में महज दो बीघा खेत आए थे, खेत देख पाने में असकत आती थी।

चकरोड पर खड़े-खड़े उन्हें अपनी दाढ़ी में एक बार फिर चुनचुनाहट महसूस हुई। याद करना चाहा कि किसकी चुगली करने का मन हो रहा है। जब कोई याद नहीं आया तब उन्होंने विचार किया कि हो न हो दाढ़ी हद से ज्यादा बढ़ गई है।

तय किया कि खेत से लौटते हुये चमटोला होकर गुजरेंगे और सिकुमार से अपनी दाढ़ी मुड़वा लेंगे। एक अंदेशा यह था कि सिकुमार कहीं अपने सैलून के लिए न निकल जाये। इन सातों दिनों की बारिश में जंगी ने रोज सिकुमार को आते जाते देखा था। काली बरसाती ओढ़े, साइकिल पर सवार सिकुमार, जब इनके दरवाजे से गुजरता था, बरसात में अपनी आवाज खो जाने के डर से, बेआवाज, सिर झुकाकर नमस्कार करता था।

इस भूलनडीह गाँव में बचा इकलौता रास्ता जंगी के दुआर से गुजरता था। बाकी के

रास्ते लोगों के घर, नाली इत्यादि के जद में आकर लगभग खत्म हो चुके थे और दुबारा मापी तथा अतिक्रमण हटाओ जैसी गतिविधियों की माँग करते थे।

इसी सोच-विचार में जब उन्होंने अपना कदम खेत की दक्खिनी मेड़ की तरफ बढ़ाया तब छपाक की हल्की आवाज हुई। पानी खेत में ही नहीं, मेड़ों पर भी चढ़ आया था। दो चार कदम चले होंगे कि देखा, गहरे पीले रंग की एक धामिन सामने से गुजर गई। वे एक पल के लिए ठहर गए। अपना मन तौलने लगे कि खेत का भाँवर लगाया जाये या नहीं।

पितृपक्ष उतरा ही उतरा था इसलिए पिताजी को याद करते हुए तय किया कि चक्कर लगाया जाये। लाठी लेकर न आने की एक भूल उनसे पहले ही हो चुकी थी। पिताजी होते तब दुल्लह हरवाह को साथ लेकर आते। उनकी मृत्यु के दो साल तक, जब तक वे चारो भाई सझिया में थे, हरवाही चली। जब बँटवारा होना शुरू हुआ तब दुल्लह चमार के साथ दो और लोग थे जो सामान पर निशानी लगा रहे थे और उठाया जा सकने वाला सामान उठाकर बखरे वाली जगह में रख रहे थे।

आखिर में दुल्लह ने पूछा था, 'हम केकरी बख़रा में?'

बड़े भैया ने आखिरी कोई सामूहिक ज़िम्मेदारी निभाई थी। भरी सभा में कहा था, 'दुल्लह, हमनी के पुश्त दर पुश्त चले वाला साथ अब एहिजग से खतम होता। आगे बढ़े के।'

यह सच बात थी कि जब आठ बीघे की खेती से हरवाह का खर्चा पानी चलाने में साँसत हो रही थी तब दो-दो बीघे के चार हिस्सों में हरवाह कैसे निबह सकता था। गाँव में लगभग प्रत्येक घर हरवाही छोड़ रहा था इसलिए दुल्लह के मन में उपजे बेरोजगारी वाले भाव उन तक ही रह गए होंगे। फिर जैसे बात समेटनी रह गई हो कि बड़े भैया ने कहा था, 'जगि-परोज में तहरे घर परिवार के लोग रही'। किसी को शायद ही इस अंतिम वाक्य में दिलचस्पी रही हो।

दुल्लह का बेटा सिकुमार हज्जाम के कला-कौशल सीख चुका था।

जब खेत से जंगी लौट रहे थे तब उनका अंदेशा प्रबल हो रहा था कि सिकुमार कहीं अपने काम पर न चला गया हो। ऐसी स्थिति में दो दिन का इंतजार उन्हें करना पड़ता क्योंकि अगला दिन मानि का था और उस दिन वे बाल दाढ़ी नहीं बनवा सकते थे।

गाँव में दो घर हज्जामों के थे जो राजवंशी हजाम के वंशज थे। पूरा गाँव दो भागों में बँटा था, एक हिस्से के हजाम राजवंशी के बड़े बेटे किशोर थे जो शुक्रवार को अपने तय घरों की ओर जाते थे और जो इच्छुक लोग होते थे, जिनकी दाढ़ी या बाल बनाने की जरूरत हो, उन्हें बनाते-सँवारते थे। ज़्यादातर बुजुर्ग ही थे जो इनकी सेवाएँ लेते थे। नौकरीपेशा लोग गाँव से कहीं दूर रहते थे और महज दाढ़ी बाल कटवाने के लिए गाँव आना मूर्खता कहलाती। रह गए नौजवान, उन्हें किशोर या उनके भाई भीखम की कारीगरी पर भरोसा नहीं था। भीखम अपने हिस्से के घरों की ओर बुधवार को जाया करते थे।

दूसरे, किशोर और भीखम अब गाँव के लिए कम ही समय निकालते थे। उनका ज़्यादातर समय उनके सैलून में जाता था। तीसरी बात, जो कि अहम बात थी, कि ये दोनों भाई अपने सैलून में चाहे जितनी नई चीजें इस्तेमाल कर लेते हों, बढ़िया ब्लेड, बढ़िया क्रीम, स्प्रे लेकिन गाँव के लोग की दाढ़ी अब भी धार दिलाने वाले उस्तरे से ही बनाते थे। वहाँ ये लोग ब्लेड वाले उस्तरे का इस्तेमाल नहीं करते थे। गाँव के बुजुर्ग अपनी बारी के आने के घंटा भर पहले से दाढ़ी में पानी मलते रहते ताकि अप्रभावी उस्तरे से उनके गाल न घायल हो जाएँ।

इनकी इन आदतों से गाँव के बुजुर्ग इनसे खफा रहते थे।

यही वजह थी कि जब सिकुमार ने हजामत के गुर सीख लिए तब गाँव का एक धड़ा इस राय पर पहुँचा था कि गाँव के नाऊ का काम उसे ही सौंप दिया जाये। बाकी के गाँव वाले सहर्ष मान गए होते लेकिन तभी किसी जरतुआह ने सिकुमार की जाति याद दिला दी होगी।

सिकुमार अपने सीखने के शुरुआती दिनों में इच्छुक जनों के दाढ़ी बाल मुफ्त ही में बना दिया करता था। बभनैया और अहीरटोला के लोग शुरुआत में छुआछूत मानते रहे थे लेकिन गोंड़टोली, दुसाधटोला और चमटोला के लोगों ने सिकुमार को अपने इस नए काम में हाथ साफ करने का खूब मौका दिया।

धीरे-धीरे सिकुमार ने अपने दो ठीहे बना लिए। उसके घर के ठीक सामने एक यूकिलिप्टस का पेड़ था जिस पर एक कील ठोंक दिया था और प्लास्टिक की एक कुर्सी भी लगा दी थी। जिसे अपनी बनती हुई दाढ़ी को आईने में देखने का शौक होता था वह अपने घर से आईना लेकर आता था। वह आईना फिर उसी कील में टाँग दिया जाता था।

कई बार ऐसा भी होता था कि बाद में आने वाले लोग आईने वाले से कहते थे कि वह अपना आईना वहीं छोड़ दे। उन पर यह ज़िम्मेदारी होती थी कि उनकी दाढ़ी बन जाने के बाद वह आईना उन्हें पहले वाले सज्जन के घर पहुँचाना होता था। यह सिलसिला हाल-हाल तक चलता रहा था जब तक कि सिकुमार ने एक सुंदर आईना वहाँ न लगा दिया था।

वैसे, आईने वाला वह कार्यक्रम दिलबहलाऊ ही होता था क्योंकि अमूमन लोग छोटा सा आईना लेकर आते थे और दूसरी तरफ, सिकुमार हमेशा कोई न कोई आदेश दिया करता था, जैसे सिर ऊपर कीजिये, दायें कीजिये, बाएँ कीजिये और इन चक्करों में वे लोग दाढ़ी बाल बन जाने के बाद ही आईना देख पाते थे।

धीरे-धीरे गाँव की हर बिरादरी सिकुमार के पास आने लगी थी। कुछ लोग अपने लिए घर से पानी लेकर आते थे। उन्हें पवित्रता का विचार स्पष्ट था। वे लोग ब्लेड, उस्तरा, ब्रश, फिटकिरी या साबुन को लेकर स्पष्ट थे कि यह बाजारू चीज है। इन चीजों को तो हर जगह एक जैसा ही रहना था लेकिन पानी को लेकर उनका बरावा बरकरार था।

अलबत्ता यह जरूर था कि शुरुआत में जो गलती सिकुमार से हो गई थी, सीखने के दौरान मुफ्त में बाल दाढ़ी काटने की गलती, उसे लोगों ने अपने स्तर पर ठीक किया था। सिकुमार अब बाजार मूल्य लागू करना चाहता था लेकिन गाँव के लोग अपने मन मुताबिक कभी कुछ पैसा या कभी कुछ सीधा, जिनमें धान या गेंहू ही ज्यादातर हुआ करते थे, दे दिया करते थे। कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्हें पैसे रुपए देने का मन होता था लेकिन किसी अनजान बंधन के वशीभूत हो वे लोग पैसे देने को एक दलित का मन बढ़ाने के समरूप रखते थे।

यही कुछ वजहें थीं कि उसका मन दूसरे ठीहे पर अधिक टिकता था जो नोमा कस्बे में था। यह उसका अपना सैलून नहीं था लेकिन यहाँ वह ठेके पर था। हर हजामत पर उसे पैसा मिलता था। दूसरे, कस्बे के सैलून में उसे अतिरिक्त कोई भय या उत्कंठा भी नहीं रहती थी। इसलिये वह सुबह के समय गाँव के एकाध लोगों के काम निबटाकर, उनसे पैसे रुपए सीधा पिसान लेकर, शहर चला जाया करता था।

दुल्लह या सिकुमार, जिसका भी कह लें, दुआर अभी दूर ही था कि जंगी ने हाँक लगा दी थी : 'रे सिकुमरवा।' हवा में बारिश के रेशे उड़ रहे थे और उनसे हवा इतनी भारी हो गई थी कि उससे टकरा कर उनकी आवाज लौटकर उन तक वापस आ गई थी। जो बादल अभी साफ दिख रहे थे वे किसी जिद्दी प्रेमी की तरह वापस लौट आए थे। सूरज, बादलों से

परेशान होकर, छिप चला था। बारिश के आसार बन गए थे।

उन्होंने दुबारा हाँक लगाई और जब तक सिकुमार के पिताजी दुल्लह बाहर निकलते दिखते तब तक जंगी उनके दरवाजे पहुँच गए थे। दंड प्रणाम के बाद दुल्लह ने उन्हें सामने रखी कुर्सी पर बैठने के लिए कहा और साथ ही यह भी कहा, 'बाबू तैयार होत बाने'।

जंगी कुर्सी पर बैठ गए थे लेकिन 'बाबू' शब्द उन्हें खल गया। वे समझ गए कि इस दुल्लह ने बाबू शब्द कहाँ से उठाया है। उन्हें अपने पिताजी की ऐसी उपस्थिति भली नहीं लगी। दुलुआ हरवाह ने यह शब्द जरूर जंगी बाबू के दादाजी से सीखा होगा, ऐसा उन्हें लगा था।

बभनैया में एक रिवाज था, कुछ घरों में अब भी है कि अगली पीढ़ी के बड़े बेटे को नाम से न पुकार कर उनके पिता उन्हें बाबू शब्द से पुकारते थे। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, दोनों स्थितियों में वे बाबू ही कहते थे। जंगी बाबू को यह शब्द प्रयोग अखरा था इसलिए उन्होंने एक ऐसी बात छेड़ दी, जिसका कोई औचित्य नहीं था। हँस-हँस के बताना शुरू किया कि पिताजी दुल्लह को हमेशा दुलुआ कहते थे और जब तक जंगी बाबू बड़े नहीं हो गए तब तक वे भी दुलुआ हरवाह नाम ही जानते रहे थे।

दुल्लह को, बहुत संभव है, इन जिक्रों से कोई ऐतराज न हुआ हो, इसलिए वे वहीं खड़े रहे। उन्हें अविचलित देख जंगी बाबू जरा और खनक गए। बताना शुरू किया कि जो खेत दुल्लह ने बँटायी पर बोया था वह बह गया इसलिए अब वे लोग सालभर क्या खाएँगे? दुल्लह का बेटा सिकुमार कमाने धमाने लगा था, वे चाहते तो कह सकते थे कि खरीद कर खाएँगे लेकिन खेती में जो श्रम लगा था, उसकी भरपाई नहीं थी। इसलिए इस जिक्र पर वे जरा बेचैन हो गए और दुबारा कह पड़े थे, 'बाबू, बस आवते बाने'।

इस बार जंगी तिड़क गए। पूछ बैठे, 'कौन बाबू'।

दुल्लह ने कहा था, 'बड़का बाबू।' फिर कहा था, 'सिकुमार।'

अपने आप में हँसने का नाटक करते हुए जंगी बाबू ने कहा था, ''ओह, सिकुमरवा। हमको लगा कोई लाट साहब है।''

जंगी अपना मन अभी शांत नहीं कर सके थे कि सामने से सिकुमार साइकिल निकालता हुआ दिखा। जब इनसे नजर मिली तब झुककर प्रणाम भी किया। आशीर्वाद में जंगी ने अपनी उजली दाढ़ी की तरफ इशारा किया था।

इनसे प्रणाम पाती के तुरंत बाद आसमान की ओर सिकुमार की पेशेवर हज्जाम नजर उठ गई और पाया कि बादल जाकर लौट आए हैं। बादलों का मन इधर ही रमा है और फिर बारिश होने वाली है। उसे पाँच किलोमीटर सायकिल रौंदना था इसलिए उसे यह बात मुश्किल की तरह लगी, बोल पड़ा था "जंगी बाबा, लग रहा है बारिश जोरदार होगी। ''

जंगी हजामत वाली कुर्सी पर टिक चुके थे। बारिश वाली बात को अनसुना करते हुये कहा, "तनी हजामत बनाव रे।'' एक हद तक संवादों का दौर शुरू हो चुका था क्योंकि जंगी बाबा के इस आदेश के बाद तुरंत ही सिकुमार ने कहा था, "जंगी बाबा, देर हो रहल बा, कल बना देता हूँ"।

जंगी ने अपनी पारंपरिक मजबूरी बताई कि अगला दिन मानि (अशुभ दिन) का है और आज अगर दाढ़ी नहीं बनी तब हो सकता है परसों बने। उनका ध्यान आईने पर गया। पेड़ से लटक रहा था। आईना इतना चमक रहा था कि खुद-ब-खुद को नए लग रहे थे। नए और चमकदार। उन्हें याद नहीं आ रहा था कि इतना बड़ा आईना उन्होने कभी देखा था। वे चकित

होने का अभिनय करते हुये पूछ रहे थे, "एतना बड़ा शीशा। केतना में लिया रे, सिकुमररवा।"

सिकुमार को इस क्षेपक पर लगा कि उसका आग्रह शायद सुन लिया जाएगा। उसने दुबारा कहा, "ऐ बाबा, शाम में बना दूँगा, अभी निकलने दीजिये। ''

जंगी ने सिकुमार को छोड़ उसके पिता दुल्लह से मुखातिब होना बेहतर समझा, हँसते हुये कहा, उस हंसी में एक धमकी थी, "देख रहे हो दुल्लह, जबान लड़ा रहा है।'' कोई जवाब न मिलता देख जंगी बाबा को लगा कि उनका पैंतरा फ़ेल मार रहा है इसलिए उन्होंने पुराना एक किस्सा उघाड़ दिया। बताने लगे कि कैसे दुल्लह की बुआ ने धान के बोझे बनाते हुये एक बोझा चुरा लिया था और जंगी के पिताजी ने सजा के बतौर उन लोगों का रास्ता रोक दिया था।

यह सीधी धमकी थी।

गाँव का मुख्य रास्ता उनके दुआर से होकर जाता था। चमटोला का एक रास्ता दक्खिन होकर भी निकलता था लेकिन जगह की कमी और परिवार बढ़ने के साथ नित नई बनती झोपड़ियों में वह चकरोड भी जाता रहा था।

सिकुमार को लगा कि हो न हो यह बुड्ढा उसका भी रास्ता रोकेगा। वह झगड़ने के हैसियत में नहीं था लेकिन उसे पिता के साथ अपनी उपस्थिति का मरजाद भी रखना था, इसलिए पूरे घटनाक्रम को मामूली बनाते हुये हँसी का रुख दिया, कहा, "बाबा, बीस रुपए लगेंगे"।

जंगी ने भी हँसते हुये, लेकिन विजेता स्वर में कहा, "तोर बाप त आज ले पईसा मंगबे न कईलन, तोरा के पईसा चाहीं, भाग सारे।'' अलबत्ता उन्होंने दुल्लह को यह जरूर कहा कि ताल पर जो खेत है वह चाहें तो बटाई बो सकते हैं। इस बात का भी कोई जवाब न आता देख जंगी इंतजार करने लग गए।

बेमन से नहीं बल्कि पूरे मनोयोग से सिकुमार अपने काम पर लग गया। उसे जल्दी थी। फुर्ती के साथ अपने औज़ार निकाल लिए। ब्रश धोया। क्रीम लगाने के पहले पानी हाथ में लेकर दाढ़ी पर फेरा। उल्टे और सीधे पंजे से दाढ़ी को नरम किया। क्रीम मलते हुये उसके मन में आया कि झाग भरा ब्रश ही जंगी बाबा के मुँह में घुसेड़ दे। जब झाग उनके चेहरे पर उभर आया तब उसने उस्तरा निकाला। एक हाथ की दो उँगलियों के बीच पकड़ कर ब्लेड तोड़ दिया और आधा हिस्सा उस्तरे में लगा लिया। खत को अंदाजन नापते हुये उस्तरे का पहला छेव लगाया।

इसके बाद महज चार से पाँच मिनट लगने थे लेकिन बादल सिकुमार से भी जल्दी में थे। उस्तरे का काम शुरू ही किया था ताबड़तोड़ बारिश शुरू हो गई थी। दुल्लह घर के भीतर भागते भर में भींग गए थे।

सिकुमार के लिए यह बारिश किसी 'पोएटिक जस्टिस' की तरह आई थी। उसे भी भरपूर बहाना मिल गया था। वह भी हजामत बनाना छोडकर भीतर भाग सकता था। यहाँ तक कि बारिश शुरू होते ही जंगी भागना चाहते थे।

लेकिन सिकुमार के मन में जाने क्या चल रहा था।

उसने बारिश की आड़ लेने से इंकार कर दिया। जब जंगी कुर्सी से उतर कर भागना चाहते थे, उनके बगल में खड़े सिकुमार ने उनके दोनों कंधे दबा दिये थे। ठीक वैसे जैसे किसी को बिठाने के लिए दबाया जाता है। जंगी को इस घनी बारिश में भी यह अचंभा समझ में आ रहा था। बारिश में उनके चेहरे का साबुन रूपी नकाब भी उतर गया था फिर भी भींग कर लथपथ होने के साथ-साथ सिकुमार उनकी दाढ़ी खींचता रहा।

जंगी पूरी तरह भींग चुके थे लेकिन कंधे से बिठाये जाने को वे संयोग न मानकर अपना अपमान मान रहे थे इसलिए उन्होंने उसी बारिश में दुबारा एक कोशिश की। हजामत बनवाने का कार्यक्रम रोकने के लिए उन्होंने सबसे पहले सिकुमार के हाथ को पकड़ लिया और फिर उठने लगे। इस बार सिकुमार गालों के निचले हिस्से की दाढ़ी निकालने के क्रम में थोड़ा पीछे हट चुका था। इसलिए भी शायद गिरते पानी के कारण जिस आईने में आदमी का चेहरा भी स्पष्ट नहीं दिख रहा था, सिकुमार की मंशा जंगी को दिख गई।

उसने दुबारा दुगनी ताकत से उनके कंधे को दबाते हुये बैठा दिया और इस बार एक नया काम भी किया। गले के बीचों बीच घाँटी होती है। उसके बारे में कहा जाता है कि वहाँ मारने से आदमी मर जाता है। यह भी कहा जाता है कि जरा सा भी कट जाये तो आदमी मर जाता है। सिकुमार ने ऐसा कुछ भी नहीं किया।

उसने यह किया कि उस्तरा घाँटी के पास रख दिया और दवाब बनाना शुरू किया। उसका हाथ मँज गया था इसलिए उसने उस्तरे के ठीक ऊपर हाथ रख कर दवाब नहीं बनाया। उस तरह जंगी की आत्मा का खून छलक सकता था। सिकुमार ने उस्तरे के हेंडल पर दवाब बनाना शुरू किया। कुछ इस तरह कि ब्लेड का दवाब बनता रहा लेकिन खून की एक बूँद भी नहीं छलकी।

इस अंदाज में जंगी एक बार सिकुमार का चेहरा नए आईने में देखना चाहते थे। लेकिन साथ ही, सिकुमार भी कुछ ऐसा ही चाहता था। इसी चाहत में उसने दो सवा दो पल तक वह दवाब बनाए रखा था। आईना इन दोनों को अपना-अपना और एक दूसरे का गुस्सा मन ही मन महसूस कराने पर आमादा था।

बारिश कहाँ खतम होनी थी।

लेकिन दाढ़ी बनवाने के बाद बिना कुछ कहे-सुने जंगी बाबू वहाँ से चले गए थे। शुरू की तमतमाहट में वे सोचते रहे कि रास्ता बंद कर देंगे लेकिन जब बारिश ने उन्हें जम कर भिंगो दिया तब उन्होंने सोचा कि हजामत बन जाने के बाद वे रास्ता बंद करने का बहाना क्या गढ़ेंगे?

इधर सिकुमार को नोमा के अपने सैलून जाने की हड़बड़ी थी। उसने तर बतर अपने सारे कपड़े उतारे। पिता से कहे बिना ही उनके कंधे से अंगोछा उतारकर माथा और शरीर पोछना शुरू कर दिया। इतना भींगा था कि गमछा भी पानी-पानी हो गया था। उसे निचोड़ा और दुबारा अपने आप को पोछना शुरू करते हुये अपनी माँ को आवाज दिया, "माई रे, दूसर कपड़ा ले आव।"

इससे पहले की माँ की कोई हरकत उस बारिश में सुनाई-दिखाई देती, वह खुद ही घर के भीतर चला गया था। एक कमरे के अपने घर में कदम रखते हुए दरवाजे की साँकल उसके हाथ में छू गई, तब एक पल के लिए उसने साँकल को उस अंदाज में पकड़ लिया था जिस तरह कुछ देर पहले उस्तरा थामे हुये दवाब बना रहा था।

सम्पर्कः 53, Manjunath layout, Arekeremico layout, Bannerghatta Road, Bangalore-560076
मो. 9901822558

ख़्वाब-सफ़र और सहरा

आयशा आरफ़ीन

प्रोफ़ेसर श्रीनिवास, कमिश्नर साहब और बंदगी के कमरे में खून से लथपथ, मृत पाए गए।

प्रोफ़ेसर श्रीनिवास के पुरखे गोरखपुर के रहने वाले थे। उनके दादा ने सवाई माधोपुर की एक औरत से शादी की और ज़ात बाहर कर दिए गए। तब से यहीं घर-दामाद हो कर रह गए। श्रीनिवास के पैदा होते ही उस घर में जैसे धन की वर्षा होने लगी, इसलिए उसका नाम श्रीनिवास रखा गया। उसका बचपन भी इसी शहर में बीता। बाद में पढ़ाई कई जगहों से की। कम उम्र में ही एक जानामाना नाम हो चुका था। गोरा उदास चेहरा, हल्के घुँघराले बाल, लम्बा क़द, गठीला बदन, अधखुली लाल आँखें जैसे किसी शराबी की होती हैं या फिर किसी शायर की, या नींद की कमी के कारण। सुना है दिल्ली की जिस यूनिवर्सिटी में पढ़ाते थे, उससे पहले मैसाचुसेट्स में पढ़ा चुके थे। नामचीन लेखक भी थे, कई अकादमिक किताबें लिखी हैं जो खूब पढ़ी और सराही भी गई हैं।

खैर! श्रीनिवास मर गया, मगर पुलिस को शक है कि उसका क़त्ल हुआ है।

कुछ महीनों से श्रीनिवास का दिल्ली से जयपुर आना जाना लगा ही रहता था। मगर वह कमिश्नर साहब की ग़ैर मौजूदगी में ही उनके घर आता था। कभी मीरा के साथ तो कभी अकेले। मीरा कमिश्नर साहब और बंदगी की इकलौती औलाद थी जो दिल्ली की उसी यूनिवर्सिटी के उसी विभाग में पढ़ती थी जहाँ श्रीनिवास पढ़ाता था। वह बहुत ज्यादा बोलने वाली, खुश मिज़ाज लड़की थी। खूबसूरत, मगर अपनी माँ जितनी नहीं। होठों के ऊपर हल्के-हल्के रोयें और दाएँ तरफ़ एक काला तिल; भूरे घुँघराले बाल; और बड़ी ही मासूम गुलाबी आँखें। वह उससे दोस्तों की तरह पेश आती थी। मगर यह बात उस वक़्त उसके चौकीदार सागर को भी अजीब नहीं लगी, क्योंकि बक़ौल सागर, मीरा तो समानता की ही बात करती रहती। न उम्र का फ़र्क़ करती थी, न ज़ात का, न धर्म का, न लिंग-भेद, हर वक़्त बस समानता का झंडा लिए फिरती थी।

सागर कमिश्नर साहब के घर पर तब आया था जब वह चौदह साल का था। उस ज़माने में, बाक़ी चौकीदारों और नौकरों के लिए पान-पुड़िया ले आता या कभी माली के साथ बाग़ीचे में पानी दे देता था। फिर कुछ सालों बाद चौकीदारी करने लगा और अब कमिश्नर साहब का ख़ास कहलाता है।

कमिश्नर साहब बाड़मेर के रहनेवाले थे। उनकी माँ उनको जन्म देते ही मर गई और उनके पिता का देहांत उनके पैदा होने के सात महीने पहले हो चुका था। बचपन उनका बाड़मेर में अपने दादा-दादी के पास ही बीता। मगर नवीं कक्षा में वह अपने चाचा-चाची के पास जयपुर आ गए थे। वहीं से किसी तरह आगे की पढ़ाई की। चाचा-चाची के घर का सारा काम भी किया, उनकी डाँट और मार भी खाई मगर उफ़्फ़ न की। कमिश्नर साहब को जानने वाले कहते हैं कि वह दिखने में भले ही मामूली हों, मगर इस ओहदे पर खूब जँचते हैं। क्योंकि उनका जैसा मिज़ाज है, वैसा सैंकड़ों में एक का मिलेगा। इसी मिज़ाज के चलते ही वह अपने पसंदीदा शहर में रहे। वर्ना अफ़सरों का तो तबादला होता ही रहता है। ख़ानसामा बताता है कि इतना शांत स्वभाव अपनी पूरी ज़िंदगी में किसी साधू का भी नहीं देखा उसने। कोई नेता मुंह पर गाली दे जाता, मगर साहब चुपचाप, चेहरे पर बिना किसी भाव के खड़े रहते। छोटी मोटी बातों को नज़रंदाज़ कर देते थे, मगर कोई निजी जिंदगी में घाव दे गया हो तो, उसको नहीं बख़्शते थे। ऐसा सानेहा लेकिन उन पर कम ही गुज़रा था। साहब को इसलिए क़रीब के लोग, बाँडी साँप भी कहते थे। हिंदी में इसे फुरसा साँप कहा जाता है। इस साँप के जिस्म पर गेहूँ के दाने सी पपड़ी होती है। आँखों की पुतली में एक सीधी लकीर होती है। इसको देखकर लगता ही नहीं कि इससे कोई ख़तरा भी हो सकता है, इतना छोटा और पतला होता है कि हाथ की हथेली में फिट हो जाएगा लेकिन पलक झपकने के एक चौथाई वक़्त, में ही यह साँप एक दफ़ा काट कर दूसरी बार काटने को तैयार हो जाता है। इसको एक छोटा-सा मामूली साँप समझने की भूल करने वालों के पास पछताने तक का मौक़ा नहीं रहता।

बहरहाल! एक और क़ाबिल-ए-ज़िक्र बात कमिश्नर साहब की यह है कि उनको, जितना भी उनके मुलाज़िमों ने इतने सालों में जाना है, उससे यही लगता है कि उनको आज भी मेमसाहब की तवज्जो का इंतज़ार है। साहब चाहते थे मेमसाहब उनकी दोस्त भी बन जाए, मगर बंदगी सिर्फ़ उनकी बीवी बनकर रह गई।

मीरा का एम.ए. लगभग पूरा हो गया था, बस इम्तेहान बाक़ी थे। उसको कहीं विलायत पढ़ने के लिए भेजने की बात हो रही थी। श्रीनिवास ने उसको यूनिवर्सिटी में पाँच साल पढ़ाया। जब वह मीरा के साथ उसके घर आता था, तब चौकीदार सागर को लगता कि कमिश्नर साहब से कोई सिफ़ारिश वाला काम करवाना होगा, इसलिए आता है। मगर जब अकेले आने लगा तब सागर को कुछ अटपटा-सा लगा। कई बार मीरा और कमिश्नर साहब दोनों ही घर पर मौजूद न होते। चौकीदार सागर बार बार मेमसाहब के कमरे की खिड़की, जो बाग़ीचे में खुलती है, से कमरे में झाँक आता। मगर मेमसाहब और श्रीनिवास, दो कुर्सियों पर बैठे बातें करते रहते (मेमसाहब की पीठ ही दिखाई देती चौकीदार सागर को), कभी कभी बहस भी कर रहे होते, यह श्रीनिवास के चेहरे से पता चलता, आवाज़ तो सागर को कुछ भी सुनाई नहीं देती। वे लोग बहस भी धीमी आवाज़ में करते। और चौकीदार सागर सोचता, 'बड़े लोग, बड़ी बड़ी बातें'!

उस दिन माँ-बेटी दोनों ही घर पर थीं, साहब दोपहर को किसी काम से आए, मगर जल्द ही वापस चले गए। उसके बाद श्रीनिवास आया और सीधे बंदगी के कमरे में गया।

सागर ने वक़्त बर्बाद ना करते हुए बाग़ीचे का रुख़ किया। मगर थोड़ी ही देर में गोली की आवाज़ सुनाई दी। चौकीदार सागर तुरंत बंगले के मेन गेट पर गया। बाकी, चौकीदार से इस आवाज पर हैरानी जताई। फिर वह घर के दरवाज़े तक हिचकिचाते हुए, अकेला पहुँचा। मेमसाहब ने सागर को हाथ के इशारे से वहीं ठहर जाने के लिए कहा। इस तरह कहना बंदगी की आदत में शुमार था, वह किसी को भी अपने कमरे तक नहीं आने देती थी। मगर सागर कमरे तक किसी तरह पहुँच ही गया। फिर जल्द ही वह अपने मुँह को हाथ से दबाते हुए, जैसे उल्टी रोक रहा हो, बाहर निकल आया। बंदगी, वहीं फ़र्श पर लहराकर गिर गयी।

यह हादसा दोपहर के तीन बजे के आस-पास हुआ था। बंदगी मेमसाहब के कमरे से बाहर निकलने के बाद, सागर ने मीरा को पुकारा, जिसका कमरा अन्दर की तरफ़, दूसरे जानिब था। किसी की कोई आवाज़ नहीं आई। सागर थोड़ा और अन्दर गया। तब तक कोठी पर तैनात बाक़ी पुलिस और चौकीदार, सब आ पहुँचे। सागर को परेशान देखकर, उन पुलिसवालों में से एक ने कमिश्नर साहब को फ़ोन कर बता दिया था कि शायद घर में कोई हादसा पेश आया है। अभी तक सागर ने मगर किसी को कुछ नहीं बताया था। कमिश्नर साहब थोड़ी ही देर में घर पहुँच गए। फिर कुछ देर बाद वे तीनों, कमिश्नर साहब, मेमसाहब और मीरा गाड़ी में बैठकर कहीं निकल गए। थोड़ी देर बाद कमिश्नर साहब वापस आ गए, साथ में पुलिस थी। तब सब पर राज़ खुला।

मीरा को उसकी एक दोस्त के यहाँ ठहराया गया। उसको गहरा सदमा पहुँचा था, उसे कुछ समझ नहीं आ रहा था कि आख़िर लोग कह क्या रहे हैं। उसने कईयों के मुँह से सुना कि प्रोफ़ेसर श्रीनिवास मर गए। उसके तो जैसे होश-ओ-हवास ही गुम हो गए।

जब मीरा अपनी सहेली, तराना के घर पर थी, किसी दिन उसके साथ श्रीनिवास के घर गई। तराना का श्रीनिवास के घर आना जाना था, दोनों के परिवारों की पहले से जान पहचान थी। मीरा मगर श्रीनिवास के घर पहली बार जा रही थी। उसके जिंदा रहते कभी नहीं जा पाई, अब मरने के बाद कम से कम उसका घर देख लेने की ख़्वाहिश थी, जहाँ श्रीनिवास ने अपना बचपन बिताया। उन दिनों तो श्रीनिवास का अपने इसी घर पर रुकने का सिलसिला बढ़ गया था।

श्रीनिवास के घर के बाहर पुलिस की गाड़ी मौजूद थी, साथ ही दो पुलिसवाले घर के दरवाज़े पर तैनात कर दिए गए थे। लड़कियों को आगे जाने से रोका गया। तराना पुलिस के पास रुक गई और मीरा को उसने आगे घर के अन्दर जाने को कह दिया। मीरा घर के लोगों को पहचानती न थी, इसलिए धीमे धीमे क़दम उठा रही थी। उसके इतने धीमे चलने के बावजूद तराना उस तक न पहुँच पाई। वह अभी तक उस पुलिस वाले से कुछ बात कर रही थी और मीरा घर के आँगन तक पहुँच गई। वह मन ही मन सोच रही थी कि आख़िर घर के लोगों से क्या बोले, क्या बोलना होता है ऐसे में, कुछ बोले भी या नहीं...तभी उसे एहसास हुआ कि घर में कोई नहीं है। आगे नज़र आई पांच छोटे क़द की लाशें। क़तार में बिछी हुई, सफ़ेद कपड़े में लिपटी हुई लाशें।

यह देख, उसके पैर लरज़ने लगे। उसने फिर पीछे देखा, बरामदे के उस कोने से तराना भी नहीं दिखाई दे रही थी। अब अगर वह पीछे मुड़ जाए, तभी घर का कोई फ़र्द अन्दर से निकल आए, तो उसे कैसा महसूस होगा? यह सोचकर वह वहीं खड़ी रह गई।

उसने देखा बरामदे में एक पलँग रखा है, जिस पर कोई गद्दा या चादर नहीं है। ठीक जहाँ पलँग ख़त्म होता है, वहीं वो लाशें कतार से रखी हैं। पलँग की तरफ़ शायद लाशों के

सर हैं और खुले आँगन की तरफ़ उनके पैर। मगर इन छोटे, मासूम बच्चों को किसने मारा होगा? अपने आप से तो पाँचों नहीं मर गए। और वैसे भी इस घर के एक शख़्स की पहले से ही मौत या क़त्ल हो चुका है, वह भी सिर्फ़ छः रोज़ पहले। फिर कहाँ गए घर के लोग? कहाँ गईं घर की औरतें जिनकी चीख़ें ऐसी सूरत-ए-हाल में अब तक तो पूरे शहर को वापस अपनी कोख़ में ले जातीं? मीरा के ज़ेहन में यह ख़याल आया।

वह ख़ुद भी रो नहीं पा रही थी। श्रीनिवास चला गया इस बात का उसे अब तक यक़ीन नहीं हो पाया था, उसने उसकी लाश जो नहीं देखी। ऊपर से श्रीनिवास के घर पर ये क़हर। मीरा के आँसुओं को शायद अब उसकी हैरानी ने पी लिया था।

तभी तराना उसके पास आई और उसने उसे बताया कि यहाँ कोई नहीं है। सारे लोग दूसरे घर पर हैं, जो यहाँ से ज्यादा दूर नहीं है। अब तक मीरा ने उस दूसरे घर में जाने का इरादा तर्क कर दिया था, मगर तराना से वह यह बोल नहीं पाई, लिहाज़ा दोनों पहुँच गईं श्रीनिवास के दूसरे घर। रास्ते भर, मीरा मगर सोचती रही कि क्या तराना ने वो पांच लाशें नहीं देखी? उसको बताए? उस से कुछ पूछे? मगर वह जैसे जड़ हो गई थी।

दोनों लड़कियाँ श्रीनिवास के दूसरे घर पहुँच गईं। यह घर पुराना मालूम हो रहा था। घर में दाख़िल होते ही मुल्तानी मिट्टी जैसी मुश्क आ रही थी। इस घर में कोई नए तरीक़े का इंटीरिअर नहीं था। घर में खुली अलमारियाँ थी, आँगन था, आँगन के बरामदे में कई खाटें और एक खाट पर कम्बल और लिहाफ़ बेतरतीब ढंग से एक के ऊपर एक रखे हुए थे जैसे अमूमन गाँव के घरों में होता है। आँगन के चारों तरफ़ कमरे और अन्दर और भी कमरे। एक कमरे से निकलता हुआ दूसरा कमरा। दरवाज़ों और छत की मुंडेरों पर नक्क़ाशी की हुई थी।

जब लड़कियाँ घर में दाख़िल हुईं, एक औरत उन्हें अन्दर के कमरे में ले गई। यह कमरा काफ़ी अन्दर था और ठंडा भी था। वह औरत उनसे ऐसे बात करने लगी जैसे कुछ हुआ ही न हो। मीरा को कुछ बातें करने के बाद मालूम हुआ कि यह औरत श्रीनिवास की भाभी है। उसके कमरे की ग्रिल वाली खिड़की, जो पीछे गली में खुलती थी, से घर के पीछे का मंज़र साफ़ नज़र आता था। घर बाज़ार के बीचों बीच था। घर के पीछे, खिड़की के नीचे एक नाली थी। एक आदमी मोटर साइकल से अड़ कर खड़ा था। एक और आदमी नाली के पास पान की पीक थूकने आया। फिर वहीं से दूसरे आदमी को बोला, "बड़ा आदमी था, खूब पैसे थे। अब कुछ ले दे कर मामला रफ़ा-दफ़ा कर रहे हैं"।

दूसरा आदमी बोला, "मामला रफ़ा-दफ़ा कर रहे हैं, मतलब? मारने वाला घर का ही था क्या?"

पहला आदमी उसके पास पहुँचते हुए बोला, "कमिश्नर साहब की बीवी से चक्कर था।"

दूसरा बोला, "ओह! घणी चोखी है, भाई। मेरी बेटी के स्कूल के किसी समारोह में चीफ़ गेस्ट थी। सब उसी को देखते रह गए थे। कार्यक्रम कब ख़त्म हुआ पता ही नहीं चला।"

भाभी, जिनको लड़कियाँ 'आंटी' कह कर संबोधित कर रही थीं, के कानों में बात पड़ते ही उन्होंने खिड़की बंद कर दी। श्रीनिवास की मौत के बारे में सिर्फ़ दो जुमले कह कर भाभी दूसरी बातें करने लगी। मीरा परेशान हालत में तराना को कोहनी मारती रही कि पूछो बात क्या थी? मगर भाभी उस टॉपिक पर आई ही नहीं फिर। तराना भी उठ खड़ी हुई। उसको उठते देख मीरा को भी उठना पड़ा।

गई थीं ग़म ग़लत करने मगर वहाँ तो सब ऐसे पेश आ रहे थे जैसे किसी बात की पर्दादारी हो। और मीरा सोचने लगी कि उन बच्चों की बात तो की ही नहीं किसी ने। इस

घर के आँगन में कुछ और बच्चे मज़े से खेल रहे थे। मीरा और तराना पूरी राह चुपचाप बिना बात किए, जयपुर वापस आ गईं। जयपुर पहुँचते ही तराना को पता चला कि उसे थाने बुलाया गया था, सो उन्होंने घर के बाहर ही से गाड़ी मोड़ कर थाने का रुख़ किया ताकि उसके घरवाले न थाने पहुँच जाएँ।

तराना पर मीरा को काफ़ी गुस्सा आ रहा था, और साथ में रोना भी। उसने अपने रोने को क़ाबू करते हुए, उसे ज़रा डाँट कर कहा, 'तुमने कुछ पूछा क्यूँ नहीं? क़त्ल था या क्या? यह सब कब हुआ, एग्ज़ेक्टली किस वक़्त? कुछ भी नहीं पूछा तुमने।'

तराना भी अब गुस्से में ही कुछ कहने वाली थी, मगर कुछ कहने की बजाय, उसने गाड़ी की रफ़्तार तेज़ कर दी। थाने के अहाते में पहुँच कर तराना ने मीरा को गाड़ी से थोड़ा हट कर खड़े होने के लिए कहा। जब बाहर खड़े एक पुलिसवाले ने उससे मीरा का नाम पूछा, तो उसने पुलिसवाले को उसका नाम ग़लत बताया। मीरा को हैरानी हुई आख़िर उसने ऐसा क्यूँ किया? वैसे मीरा खुद भी पुलिसवाले को देख कर काफ़ी घबरा गई थी। मगर ऐसा क्यूँ हुआ, यह उसकी भी समझ से परे था। शायद वह घर पर बिना बताए श्रीनिवास के घर गईं थीं, इसलिए। या शायद कुछ पल के लिए वह भूल गई थीं कि वह हादसा उसी के घर पर पेश आया था। फिर दोनों पुलिस स्टेशन के अन्दर जाने को हुईं। तराना ने मीरा को बाहर ही रुकने को कहा। तराना को इस लिए थाने बुलाया जा रहा था क्यूँकि श्रीनिवास के यहाँ से तराना के हाथ से लिखे प्रेम पत्र पाए गए थे। वह मीरा को शायद इसलिए बाहर रुकने के लिए कह रही थी ताकि मीरा को न पता चले कि बचपने में उसने ऐसा कुछ किया था। उसने पुलिस को बताया कि मीरा सिर्फ़ उसके साथ आई है और श्रीनिवास के घरवालों को नहीं जानती।

तराना से पुलिसवाले पूछ रहे थे कि क्या श्रीनिवास का किसी शादीशुदा औरत के साथ अफ़ेयर था? तराना ने पुलिस को बताया कि उसे इस बात की कोई जानकारी नहीं है। बाद में, तराना ने क़बूला कि बचपन में श्रीनिवास पर उसको क्रश था और यह तक़रीबन दस-बारह साल पहले की बात है और यह कि श्रीनिवास उसको 'बेटा' कह कर संबोधित करता था।

मीरा बाहर तराना का इंतज़ार कर रही थी, तभी उस ने देखा उसकी माँ बंदगी, किसी खम्बे के पीछे छुप कर रो रही है। उसकी माँ जिस तरह रो रही थी, वह उसे गले लगाना चाहती थी। उसकी माँ ने उसे देख लिया था और वह पूरी कोशिश कर रहीं थीं कि मीरा उसको किसी तरह न देख पाए। मगर थोड़े ही वक्फे में दोनों आमने-सामने थीं। बंदगी की नज़रें मीरा से कह रही थीं कि पुलिस को न पता चले कि वह उसकी माँ है लिहाज़ा मीरा अपने चेहरे के सारे भाव को ऐसे निगल गई जैसे बंदगी उसके लिए कोई ग़ैर हो।

श्रीनिवास के घर जाने की ज़िद मीरा ने ही तराना से की थी। तराना को शुब्हा था कि मीरा को श्रीनिवास से इश्क़ था। जब यह बात वह श्रीनिवास को न कह पाई, इन पाँच सालों में, तो भला तराना को क्या बताती? वैसे भी तराना कोई उसकी पक्की सहेली तो थी नहीं। मीरा ने दोस्ती ही उस से इस गरज़ से की थी कि कभी उसके साथ, बहाने से, श्रीनिवास के घर जाने का मौक़ा मिल जाएगा।

उसने श्रीनिवास से कई दफ़ा कहना चाहा था मगर उस वक़्त जैसे लफ्ज़ हलक़ से निकलने का रास्ता ही भूल जाते थे। दूसरे पल यह भी महसूस हुआ करता था कि आख़िर यह भी कोई कहने की बात है। उसे यक़ीन था श्रीनिवास उसके दिल की बात समझता है। वह उस से शर्माती थी, उसके ख़्वाब देखती थी, उसके नाम के साथ सोती थी। ख्वाबों में वह उसके

साथ होता, उसके नाम के साथ जागती थी। हर दिन, पाँच साल तक यह ही मशग़ला था मीरा का। फिर ऐसा क्यूँकर मुमकिन है कि अगले तक उसके दिल की ख़बर ही न जाए? पांच साल, दिन रात, चौबीस घंटे, हर लम्हा, साँस लेने और साँस छोड़ने के दरम्यान उसे वही याद आता रहा था, उसकी ज़िन्दगी प्रोफ़ेसर के ख़याल से आबाद थी, फिर ऐसा कैसे हो सकता है कि उसकी तन्हा रातों के किसी बेचैन ख़याल ने प्रोफ़ेसर के शऊर, तहतस शऊर या लाशऊर (चेतन, अवचेतन या अचेतन) का दरवाज़ा न खटखटाया हो? इम्तेहानों से पहले, उसने अपने काफ़िर सनम के सामने जा कर मोहब्बत का इज़हार करने का फ़ैसला किया था।

और अब वह रो भी नहीं पा रही थी। उसके जाने का यक़ीन ही नहीं हो रहा था उसे।

मीरा ने अपनी डायरी में लिखा, "मुझसे बेहतर तो मेरी माँ है जो मेरे सामने ही रुदाली की तरह रो रही थी। नहीं, रुदाली की तरह नहीं...किसी बच्चे की तरह। मुझे क्या हो गया है? एक ही वक्त माँ पर गुस्सा आ रहा है, और तरस और प्यार और दुलार और पता नहीं क्या क्या जज़्बे उभर रहे हैं। माँ ने किसी के बारे में नहीं सोचा? अब भी नहीं सोच रही। क्या होता गर पापा उन्हें किसी पराए मर्द के लिए रोते देख लेते? मगर रो भी लिया तो क्या गुनाह कर दिया? क्या इंसान का अपने रोने पर भी इख्तियार नहीं, क्या इतना भी वह आज़ाद नहीं? और क्या श्रीनिवास माँ के लिए पराया था?"

मीरा ने आगे लिखा, "माँ एक निहायत ही खूबसूरत औरत है। ऐसा लगता है किसी सधे हुए हाथ से बना हुआ बुत, कहीं कोई नुक्स नहीं। परफेक्ट। उनका पहनावा, उनके चलने की अदा, उनके बोलने में जो आत्मविश्वास और ठहराव है, ऐसा कम ही हो पाता है कि कोई उनके सामने टिक सके। मगर उनको कोई अट्रेक्ट कर सके, ऐसा कम ही देखा गया है। फिर प्रोफ़ेसर श्रीनिवास में ऐसा क्या था जो माँ को भा गया? कितना मामूली तो था वह माँ के सामने। उस में माँ ने ऐसा क्या देख लिया?"

अगले ही पल वह सोचने लगी, "फिर मैं दीवानों सी बातें करने लगी हूँ। यह वही श्रीनिवास है जिसके इश्क़ में मैं खुद पांच साल से गिरफ़्तार हूँ। वह मर गया है मगर कमबख्त मेरे ज़ेहन से छः दिन पहले तक तो नहीं गया था।"

अब ज़ेहन से निकल गया या नहीं, नहीं मालूम। दरअसल उसके बारे में सोचने से ज्यादा मीरा को कोई और ही बात परेशान कर रही है।

आधी रात निकल चुकी है और श्रीनिवास का मातम करने के बजाय मीरा अपनी माँ के श्रीनिवास के साथ बिताए पलों को तसव्वुर कर रही है। उसके तख़य्युल ने न जाने कैसी कैसी इमेजरी में अपनी माँ को श्रीनिवास के साथ देखा। कुछ देर के बाद मगर आत्मग्लानि होने लगी, लिहाज़ा उसने अपने ध्यान को भटकाया। उसने अपने आप को धिक्कारा कि अपना इश्क़ इश्क़ और माँ का इश्क़ सिर्फ़ हवस? सिर्फ़ जिस्म की बात होती तो उसकी माँ सबके सामने, किसी की परवाह किये बग़ैर, इस तरह न रोतीं। उसने मरनेवाले से और अपनी माँ से मन ही मन माफ़ी माँगी। फिर सोने की कोशिश की।

लेटे लेटे वह सोचती रही, "माँ एक ऐसा बुत थी जिसको सब पूजना चाहते थे, उसके क़दमों में फूल चढ़ाना चाहते थे, मगर श्रीनिवास ने उसे छू कर, अपने इश्क़ से उस बुत में जान फूँक दी थी... शायद...।

इश्क़ और हवस में जो पतली दीवार होती है, वह दरअसल सिर्फ़ हमारे मन का भ्रम है। इश्क़ और हवस दोनों एक दूसरे के साथी हैं, एक की कमी में दूसरा बेकार। इश्क़ और हवस एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, सिक्के का एक पहलू ख़ाली हो, तो वह खोटा सिक्का

ही कहलाएगा। जहाँ जिस्म जलता है, वहाँ अक्सर दिल भी जल जाया करते हैं और जहाँ दिल जलता है, वहाँ जिस्म को भी जलना होता है। एक की नामौजूदगी में दूसरा शून्य है। मगर क्या शून्य जैसी भी कोई शय होती है? शून्य क्या है? कोई भी चीज़ कुछ न कुछ तो होती ही है। और क्या कुछ न होना और किसी चीज़ से ख़ाली होना दोनों एक ही बात है? चलो, मान लेते हैं कि इश्क़ और हवस का स्वतंत्र अस्तित्व है। मगर इस स्वतंत्र अस्तित्व का क्या महत्त्व है? कुछ नहीं।

फिर कुछ नहीं? कुछ न कुछ तो होता ही है। दूसरे तरीक़े से देखा जाए तो यह है कि इश्क़ हवस के बिना और हवस इश्क़ के बिना हो तो मौत तक पहुँचता है। दोनों एक दूसरे के पीछे भागते भागते थक जाते हैं और एक दूसरे से मिलने के इंतज़ार में थक हार कर वे दोनों मर जाते हैं।

मौत क्या है? मौत के बाद क्या शेष रह जाता है? शुक्र है इसका जवाब कुछ नहीं, नहीं है। मौत के बाद यह रह जाता है जो मेरे साथ अब हो रहा है। श्रीनिवास मरा है या मेरे अन्दर कुछ मर गया है? उसकी ज़िंदगी जब यहाँ पूरी हुई तो मेरे अन्दर ख़ला का एहसास क्यूँ पैदा हो गया? मौत के बाद क्या शून्यता होती है? किसी एक की मौत से किसी दूसरे की जिंदगी शून्य कैसे हो सकती है? और शून्य क्या है?

क्या मैं भ्रमित हो रही हूँ? कौन थे उसके घर पर वे पाँच बच्चे? वे कैसे मर गए?"

यह सब सोचते सोचते न जाने कब मीरा को नींद आ गई। घंटे भर बाद वह ख़्वाब के घेरे में थी।

ख़्वाब में वह किसी सुरंग में थी। सुरंग में गीलापन था। पानी का हल्का-हल्का शोर भी था। अँधेरे में वह अपनी माँ को पुकार रही थी। उसको उसकी माँ नहीं मिल रही थी। फिर उसे किसी तरह पीली-सी एक रस्सी दिखाई दी, वह उसके सहारे, उसको पकड़ कर आगे बढ़ने लगी। उसका पैर कई दफ़ा फिसला भी, मगर वह रस्सी के सहारे चलती रही, रास्ता ढूँढती रही, माँ को पुकारती रही। आगे एक गहरी खाई थी। खाई में इतना अँधेरा था कि पीली रस्सी अब नज़र नहीं आ रही थी। काली गहरी खाई से डर कर, वह फिर दूसरी तरफ़ उसी रस्सी के सहारे चलने लगी। यहाँ बहुत फिसलन थी। इस दफ़ा किसी लचीली चीज़ से उसका सर टकराया, मगर रास्ता यहाँ भी नहीं मिला। एक तरह से, सुरंग के इधर भी रास्ता बंद और उधर भी। उसे माँ फिर याद आई। उसे पुलिस स्टेशन में रोती अपनी माँ याद आई। मगर वह जहाँ खड़ी होकर माँ को देख रही थी, उस जगह कोई नहीं दिखाई दिया। वो जगह ख़ाली थी, मीरा ख़ुद वहाँ से ग़ायब थी।

"इसका मतलब मेरी माँ मुझे खा गई? वह गर्भवती जैसी क्यूँ लग रही हैं?" यह बोलते हुए पसीने से तर बतर, मीरा हड़बड़ा कर उठी और उसने सोचा, "क्या था यह सब?"

आज कई रोज़ गुज़र जाने के बाद, सागर को हुक्म मिला है कि वह मीरा को उसकी सहेली के घर से कमिश्नर साहब के फार्म हाउस पर ले जाए, जहाँ बंदगी मेमसाहब अकेली ठहरीं हैं।

सागर ने भी महसूस किया कि मीरा को वाक़ई में कुछ हो गया था। वह अपने आप में नहीं थी। सारी राह वह सागर से कुछ नहीं बोली। बोलती भी क्या?

फिर फार्म हाउस आ गया। वह गाड़ी का दरवाज़ा खोल सामने ताकते हुए ऐसे ही सीधे-सीधे निकल गई। उसने अपना बैग भी सीट पर छोड़ दिया था। इस बैग को इससे पहले उसने कभी अपने आप से जुदा नहीं किया था। सागर ने थोड़ी देर में जाकर उसका बैग मेमसाहब

को दिया मगर उसने उस बैग से मीरा की डायरी निकाल ली।

मीरा की डायरी श्रीनिवास के नाम से भरी पड़ी थी। उसने लिखा था :

"न जाने कैसी मुश्क है प्रोफ़ेसर श्रीनिवास के जिस्म की जब भी सामने से गुज़रते हैं, तो जैसे मीलों तक ऊद की खुशबू बिखर जाती है, आवाज़ का सुरूर यह है कि जैसे कहीं दूर पहाड़ी पर जलतरंग बज रही हो। मालूम नहीं यह प्यार है या क्या? मगर पर्वत से लेकर सागर तक, आसमान से लेकर धरती तक, रंगों से लेकर फूलों तक, फूलों से लेकर खुशबूओं तक, खुशबूओं से लेकर ख़्वाबों तक, ख़्वाबों से लेकर बदलते मौसमों तक, सात सुरों से लेकर ख़ामोशी तक, महलों से लेकर खंडहरों तक, जंगलों से लेकर सहराओं तक, तकमील से लेकर ख़ला तक, पूरी कायनात में मुझे प्रोफ़ेसर श्रीनिवास ही नज़र आते हैं।"

मीरा की डायरी से सागर को मीरा के दिल का हाल तो मालूम हुआ, मगर ऐसी बहुत बातें थी जो अभी तक न सागर जानता था और न ही मीरा।

प्रोफ़ेसर श्रीनिवास राय और मीरा की माँ, बंदगी, कॉलेज के दिनों से एक दूसरे को जानते थे। खाटू श्याम में उनकी मुलाक़ात हुई थी। मालूम हुआ, जयपुर में एक ही कॉलेज में पढ़ते थे और फिर उनकी मुलाक़ातें बढ़ने लगीं। लोग कहते हैं एक दूसरे से मोहब्बत करते थे। ख़बर में कितनी सच्चाई है, हमें नहीं मालूम। मगर बंदगी ऐसे घर से थी, जहाँ गाँव के सारे लड़के गाँव की लड़कियों के भाई कहलाते थे; अपने गोत्र, अपनी माँ के गोत्र, अपनी दादी के गोत्र और अपनी नानी के गोत्र में भी शादियाँ नहीं हो सकतीं थीं। अपनी ज़ात में गोत्र वगैरह देख-दाख कर ही ब्याह होता था। फिर श्रीनिवास राय का तो सवाल ही कहाँ पैदा होता था। बस लोग यह जानते थे कि उत्तर प्रदेश का है, सो बिराना है। उसकी जाँच पड़ताल करने का कोई सवाल था ही नहीं। जब बंदगी के घरवालों को उन दोनों के इश्क की ख़बर हुई, तो जल्दबाज़ी में उसकी शादी एक ऐसे लड़के से करवा दी जो अभी पढ़ ही रहा था, घर भी इस लड़के का कोई ख़ास नहीं था। दिखने में भी बड़ा ही साधारण। बंदगी बला की खूबसूरत थी ही, देखते ही लड़के के घरवालों ने हाँ कर दी। बंदगी की शादी के बाद श्रीनिवास अपने दोस्तों में बंदगी को बेवफा कहता रहा। उसने बंदगी से कोई राब्ता न रखा। फिर धीरे-धीरे उसका ज़िक्र बंद कर दिया।

आज, जैसा कि हम जानते हैं, बंदगी का पति एक अच्छे ओहदे पर है।

श्रीनिवास को जब मालूम हुआ कि मीरा बंदगी की बेटी है, और उसे चाहती भी है, तब उसने उससे क़ुर्बत का ढोंग किया था। वह बस बंदगी से एक बार बात करना चाहता था। मीरा श्रीनिवास को एक बार अपनी माँ की गैर हाज़री में घर ले आई। वह वैसे तो न आता। मगर सिर्फ़ बंदगी को जलाने के लिए वह मीरा के साथ आया। बंदगी को घर पर न पा कर वह मायूस हो गया था। मगर मीरा के ज़ोर देने पर वह उसके कमरे तक आया। वह बातें करता रहा। मगर उसका ध्यान दरवाज़े पर ही था। इस बात पर मीरा ने उस वक़्त ध्यान नहीं दिया था।

जब दरवाज़े पर आहट सुनाई दी, तो वह मीरा के ऊपर ज़रा झुक गया। मीरा घबराहट के मारे एक क़दम पीछे हट गई मगर उसकी आँखों में पानी तैर आया, गले में कुछ ऊपर नीचे होने लगा। ऐन इसी वक़्त खिड़की से माली के रेडियो से सुनाई दिया, "जिया तो ये चाहे तोहे अंग लगाऊँ...लाज निगोड़ी मोरी रोके है पैय्याँ।" सारी फ़िज़ा में जैसे मोहब्बत की शहनाईयाँ बज उठी थीं!

मगर फिर बंदगी ने उन दोनों को एक कमरे में देखा। श्रीनिवास को अपनी बेटी के

साथ देख उसका चेहरा गुस्से से लाल हो गया। श्रीनिवास से उसे यह उम्मीद न थी। उसने श्रीनिवास को उसी वक़्त घर से निकल जाने के लिए कहा। अपनी माँ को इतने क्रोध में मीरा ने कभी नहीं देखा था। श्रीनिवास मगर एक तंज़ भरी मुस्कराहट के साथ बंदगी की आँखों में आँखें डालते हुए यह कहकर निकल गया, 'बहुत बे-आबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले... ।'

उसके बाद मीरा ने अपनी माँ को और श्रीनिवास को कई दफ़ा मिलते देखा। उसे हैरानी हुई। मगर फिर श्रीनिवास कोई न कोई बहाना बना ही दिया करता। उसने मीरा से या मीरा ने उस से वैसे कभी मोहब्बत का इज़हार नहीं किया था। उनमें वो उस्ताद-शागिर्द वाला फ़ासला किसी तरह बरक़रार था। वह कभी तो बहुत प्यारी बातें करता मगर ज़्यादातर काम की ही बात किया करता था। सारी लडकियाँ उस पर फ़िदा थीं, मगर श्रीनिवास मीरा से ही बात किया करता, उस वक़्त यही मीरा के लिए काफ़ी था।

कुछ ही महीनों से श्रीनिवास मीरा के घर आने लगा था, बंदगी और उसके गिले शिकवे दूर हुए थे या नहीं, कह नहीं सकते। दूर से देखकर लगता था श्रीनिवास बंदगी को अपने जाल में फाँस रहा है, कभी लगता मीरा को फँसा रहा है। और कभी लगता दोनों को एक साथ फँसा रहा है। फिर ऐसे ही किसी दिन इस घर में वह हादसा हुआ जब श्रीनिवास राय खून से लथपथ मरा हुआ पाया गया।

बंदगी को श्रीनिवास के क़त्ल के इल्ज़ाम में गिरफ़्तार कर लिया गया। वह अब ज्युडिशियल कस्टडी में थी।

क़त्ल का मुक़द्दमा अदालत में विचाराधीन था।

मीरा को अदालत, पुलिस के सवाल जवाब वगैराह से दूर रखा गया। घर की मुलाज़्मा ने बयान दिया था कि मीरा दोपहर को अपने कमरे में तेज़ आवाज़ में टेप रिकॉर्डर पर गाना सुन रही थी। गोली चलने की आवाज़ से ठीक दस मिनट पहले वह उसको चाय दे कर आई थी। कमिश्नर साहब की मौजूदगी में ही एक पुलिसवाले ने मीरा से बड़े ही नर्म लहजे में पूछा था, ऐसे जैसे बातों ही बातों में पूछ रहा हो, "आपको गोली की आवाज़ नहीं सुनाई दी, बेटा?"

सवाल सुनकर भी जब मीरा पुलिसवाले को मायूस घूर रही थी, तब मुलाज़्मा ने टेबल पर चाय-नाश्ता रखते हुए बताया, "साहब यहाँ आस-पास इस तरह की आवाजें आती रहती हैं, कुछ लोग परिंदों का शिकार छुपते-छुपाते कर ही लेते हैं और अभी तो वैसे भी दिवाली के बचे हुए पटाखे बच्चे फोड़ रहे होंगे। हमने तो खुद ही ध्यान नहीं दिया। मगर जब चौकीदार दौड़ा तब एहसास हुआ।"

'मगर दिवाली तो छब्बीस या सत्ताईस अक्तूबर की थी। ये तो जनवरी है, अब तक पटाखे कौन फोड़ता है?' पुलिसवाले ने त्योरी चढ़ा कर कहा।

'ओह, मेरा मतलब है नए साल के पटाखे। अब हमें तो दिवाली के पटाखे ही याद रहते हैं, साहब।'

पुलिसवाले ने मुलाज़्मा को ज़रा गुस्से से घूरा, तो मुलाज़्मा ने कमिश्नर साहब को एक नज़र देखा और उनका इशारा पाकर अन्दर चली गई। मीरा वहीं बैठी रही मगर ऐसे जैसे वह वहाँ मौजूद ही नहीं है। कमिश्नर साहब ने सरगोशी से पुलिसवाले को बताया, "पहले कभी ये खून-वून के क़िस्से किताबों और फ़िल्मों में ही सुना है बिटिया ने। फिर श्रीनिवास साहब तो उसके प्रोफ़ेसर थे। हमारी बीवी के घरवालों से भी अच्छे तालुक़ात रहे हैं उनके।"

पुलिसवाला यह सुनकर और असमंजस में पड़ गया। मगर उसने अपने भाव छुपा लिए।

"जी सर! मैं समझता हूँ", यह कहकर पुलिसवाला जाने के लिए उठा तो कमिश्नर साहब

ने आगे बढ़कर उससे हाथ मिलाया और गाड़ी तक भी छोड़ा।

फिर कमिश्नर साहब फ़ार्म हाऊस से कहीं जाने के लिए निकलने लगे। मीरा उनसे लिपट कर रोने लगीं। कमिश्नर साहब ने कहा, "कुछ नहीं होगा तुम्हारी माँ को या तुम्हें, मैं हूँ न, कुछ नहीं होने दूँगा।"

अदालत में, बंदगी पर श्रीनिवास के क़त्ल का मुक़द्दमा शुरू हो गया। डिफ़ेन्स का वकील भी कमाल का था। कोई केस आज तक नहीं हारा था। उसके बारे में कहा जाता था कि वह अपना सारा वक़्त मर्डर मिस्ट्रीज़ पढने में लगा देता था।

डिफ़ेन्स के वकील को साबित करना था कि यह एक आत्महत्या का मामला है।

अदालत की ज़रूरी कार्यवाही और कुछ बहस होने के बाद डिफेंस बोला, "हूज़ूर-ए-आला! तो मेरा कहना यह है कि ऐसे कई लोग हैं जिन्होंने अपने सीने में गोली मार कर आत्महत्या की है। वान गॉग ने भी तो अपने सीने में गोली मार कर आत्महत्या की थी। फिर यह कोई निराली बात तो नहीं है।"

इस पर अदालत में खुसर-फुसर होने लगी। वैसे तो डिफ़ेन्स ने कई और उदहारण भी दिए कि फलाना फलाना इस तरह मरा था, मगर चौकीदार सागर यह सोच रहा था कि वान गॉग कौन साहब थे जिनको अदालत में मौजूद ज़्यादातर लोग जानते हैं बस वह ही इस नाम से बेख़बर है। उसने लोगों से दरयाफ्त किया तो पता चला था वे एक महान चित्रकार थे।

ठीक है, उसे नहीं पता था, कोई बात नहीं। कई बातें सागर को भी पता हैं जो अदालत में मौजूद लोगों को नहीं मालूम।

डिफ़ेन्स लॉयर ने अपनी बात में जोड़ा, "आटॉप्सी रिपोर्ट के मुताबिक़ गोली बहुत ही क़रीब से चलाई गई है। दाएँ हाथ से छाती के बाएँ तरफ़ गोली चली है जिससे लोअर थर्ड स्टरर्नम, राईट हार्ट एट्रिअम और वेंट्रिकल और इन्फ़ीरियर कावल वेन में गोली से नुक़सान हुआ है। एक्ससांगगुईनेशन, यानि खून की क्षति से, श्रीनिवास राय की मौत हुई।"

डिफ़ेन्स लॉयर कुछ रुके फिर बोले, "मैं बंदगी साहिबा से कुछ सवालात करना चाहूँगा।" सवाल तो क्या वह बंदगी के ज़रिए अदालत को कुछ बताना चाहता था।

बंदगी का नाम सुन कर अदालत में मौजूद लोगों की धड़कनें रुक गईं।

बंदगी ने आसमानी रंग की लहरिया साड़ी पहन रखी थी, जिस पर थोड़ा-बहुत गोटा पट्टी का काम था, हाथ में एक-एक सोने के कड़े, माथे पर गहरे गुलाबी रंग की छोटी-सी बिंदी जो अबरू के बिल्कुल बीचों बीच वाली जगह से थोड़ा ऊपर की तरफ़ थी, और अपने लम्बे बालों को उसने शायद क्लचर से बाँध रखा था, साड़ी का पल्लू उसने सर पर लिया हुआ था और पल्लू के बचे हुए हिस्से को छाती के आगे से लेकर बाईं काँख में दबा रखा था, पैर में भूरे रंग के कोल्हापुरी चप्पल। सब ने बारीकी से हर बात पर गौर किया था।

बंदगी कटघरे में आई। डिफ़ेन्स ने पूछा, "गोली चलने से पहले आप कहाँ थी?"

जी, मैं प्रोफ़ेसर श्रीनिवास से अपने कमरे में बात कर रही थी। श्रीनिवास का नाम लेते वक़्त उसकी ज़बान कुछ थर्राई थी, मगर डिफ़ेन्स के अलावा इस बात पर किसी का ध्यान नहीं गया।

"मेरा मतलब है ठीक गोली चलने से पहले यानि गोली चली तो आप कहाँ थीं?"

"जी, मैं बाथरूम में थी"।

इस बात से डिफ़ेन्स अदालत को बताना चाह रहे थे कि बंदगी गोली चलने पर कमरे में मौजूद थीं ही नहीं।

पब्लिक प्रोसिक्यूटर की बारी आई। उन्होंने पूछा, "बाथरूम कहाँ है?"

बंदगी बोली, "कमरे में ही।"

बाथरूम में जाने के कितनी देर बाद गोली की आवाज़ आई?

"एक-दो मिनट के अन्दर ही।"

"क्या मरनेवाले को पता था कि पिस्तौल बिस्तर के सिरहाने वाले ड्रावर में मौजूद है?"

"जी, मुझे पता नहीं।"

"मतलब?"

"मैंने तो नहीं बताया और अमूमन कमिश्नर साहब वहाँ रखते नहीं हैं। उसी दिन छूट गई थी।"

"वाह क्या इत्तेफ़ाक़ रहा!", पब्लिक प्रोसीक्यूटर बोला।

बंदगी ने सर झुका लिया।

"ऐसी क्या बात हुई थी कि अचानक बात करते-करते श्रीनिवास साहब को आत्महत्या का ख़याल आया? आपने ऐसा क्या कह दिया? कैसे उकसाया उनको कि आपके बाथरूम में पहुँचते ही उन्होंने बिस्तर के पास रखे ड्रावर से पिस्तौल निकाली और अपने आपको मार लिया? वह भी सीने में? आपको नहीं लगता कि कनपटी पर गोली चला कर आत्महत्या करना आसान होता? या फिर मुँह में गोली मार कर?

बंदगी परेशान हो गई, और उसे रोना आ गया।

ऑब्जेक्शन! डिफ़ेन्स बोला।

"इनको क्या लगता है रहने दीजिये, आप बस सवाल पूछिए", जज बोला।

"बाथरूम, कमरे में बेड पर, जहाँ श्रीनिवास बैठा था, उसके पीछे है। क्या ऐसा मुमकिन नहीं कि मुल्ज़िम के हाथ में पहले ही पिस्तौल हो और बाथरूम जाने का बहाना किया हो। फिर पीछे से आ कर बाएँ हाथ से गर्दन के नीचे से होते हुए दाएँ कंधे को पकड़ा हो और दूसरे हाथ से श्रीनिवास के सीने में गोली मार दी हो।"

तभी अदालत में एक और रिपोर्ट आ गई जिसमें लिखा था की गोली सामने से, कुछ फ़ासले से, चलाई गई है।

प्रोसीक्यूटर साहब बोले, "यह तो फिर आसान है। इस तरह ख़ुदकुशी कैसे हो सकती है? ख़ुदकुशी का कोई मोटिव भी अभी तक अदालत के सामने नहीं आया है। मुल्ज़िमा को हो सकता है श्रीनिवास ब्लैकमेल कर रहा हो, या कोई और बात हो जिस पर मुल्ज़िमा ख़ुद प्रकाश डालें तो अच्छा है, जिसके चलते ग़ुस्से में आ कर इन्होंने उस पर गोली चला दी।"

"रिपोर्ट कहती है पिस्तौल पर बंदगी के फ़िंगर प्रिंट्स नहीं हैं, मगर प्रोफ़ेसर श्रीनिवास के हैं।" डिफ़ेन्स ने बीच में टोक कर कहा।

दो-दो रिपोर्ट्स के आने से अदालत में हल्ला होने लगा और अदालत कुछ देर के लिए मुल्तवी की गई।

लोग बाहर आ गए। कुछ बंदगी की ख़ूबसूरती के बारे में बात कर रहे थे। कुछ कह रहे थे वे आए ही उसे देखने के लिए थे, अब कल से अपने काम-धंधे में लग जाएँगे और कुछ लोग केस को लेकर अपनी राय दे रहे थे।

उधर कमिश्नर साहब ने दस मिनट अलग से तन्हाई में बंदगी से बात की। बंदगी ने कमिश्नर साहब को बताया कि उसेअब याद आ रहा है कि जब वह, गोली की आवाज़ सुन कर, बाथरूम से बाहर निकली तो उसने बिस्तर पर पड़े श्रीनिवास के हाथ में कोई पिस्तौल

नहीं देखी थी। कमिश्नर साहब ने कहा, "ऐसा अदालत में हरगिज़ न कहना, वरना केस कमज़ोर हो जाएगा। सारी उंगलियाँ आपकी तरफ़ होंगी। मैं जो कह रहा हूँ वही बोलना है आपको बस।"

उनमें क्या बात हुई यह किसी को नहीं मालूम, मगर इसके बाद केस में अचानक से तेज़ी आ गई थी। बंदगी में पहले से ज्यादा आत्मविश्वास नज़र आया और उसका बुझा चेहरा अचानक से, खिल तो नहीं गया, मगर कुछ सहज ज़रूर हो गया था। साथ ही साथ बंदगी के चेहरे पर एक तंज़ भरी या न जाने कौन से भाव लिए एक अजीब सी मुस्कराहट थी, जिसका राज़ किसी को समझ नहीं आया।

कमिश्नर साहब ने जिंदगी में, कुछ किया हो या न किया हो, मगर उनका 'सोशल कैपिटल' या सामाजिक पूँजी काफ़ी संपन्न थी। लोग उन्हें जानते थे, उनको किसी चीज़ की मदद आज तक नहीं माँगनी पड़ी, लोग खुद ही हाज़िर रहते थे।

केस कुछ और दिन चला। चौकीदार सागर का बयान था कि जब वह दौड़ता हुआ कमरे में पहुँचा था तो उसने श्रीनिवास के हाथ में पिस्तौल देखी थी। बाक़ी चौकीदारों ने बयान दिया कि जब गोली चली थी, तो सागर वहीं उन्हीं के आस-पास ही था और बंदगी को बाइज्ज़त बरी कर दिया गया।

अगले दिन अख़बारों में था, "कथित तौर पर प्रोफ़ेसर श्रीनिवास राय को जब मालूम हुआ कि उनकी पूर्व प्रेमिका से उनको एक बेटी है और इसी बेटी से एक तरफ़ा इश्क में वह पूरी तरह गिरफ्तार थे, इसलिए अपराध-बोध के चलते उन्होंने खुदकुशी कर ली।"

लोगों के हिसाब से इतनी खूबसूरत औरत क़त्ल कैसे कर सकती थी? श्रीनिवास ने अपने सीने में गोली मार कर कैसे खुदकुशी की, यह बात अटपटी थी, मगर लोगों को अब उसकी मौत से कोई सरोकार नहीं था। लोगों को अब एक नई कहानी मिल गयी थी, एक नई जिज्ञासा के उमंग में थे लोग। ये कहानी आने वाले कई सालों तक बाज़ार में गर्म रही।

मीरा को सबसे ज़्यादा झटका लगा। वह दीवानों-सी बातें करने लगी। कोई भी ऐसे हालात में पागल हो जाता। आख़िरी बार सुना गाना, जो उस दिन वह टेप रिकॉर्डर पर फुल वॉल्यूम में सुन रही थी, उसके कानो में गूँजने लगा, "कहे तोसे सजना, ये तोहरी सजनिया...।" इस गाने की लाइन, "जिया तो ये चाहे, तोहे अंग लगाऊं", जैसे उसके लिए जहन्नुम के दरवाज़े खोल रही थी। जब चौकीदार सागर कुछ बात करने गया, तो हाथ जोड़कर बोली, 'मैं बहुत तकलीफ़ में हूँ, सागर। तुम मेरी तकलीफ़ नहीं समझ सकते, मेरी तकलीफ़ कोई नहीं समझेगा। यह सब मेरे लिए अज़ीब है। मैं घुट रही हूँ। मुझे तन्हा छोड़ दो। मैं किसी से नहीं बात करना चाहती।'

सागर उसकी तकलीफ़ समझता था। उसने उसकी डायरी जो पढ़ ली थी। मगर उसको बता नहीं पाया कि वे दोनों ही एक ऐसी नाव में सवार हैं, जिसका कोई मल्लाह नहीं। उनकी नाव शायद अब कभी पार नहीं लग सकती। वह खुद तिल-तिल मर रहा है। उसने तो खुद अपनी नज़रों में अपना तमाशा बना लिया है।

कमिश्नर साहब भी शायद नहीं जानते थे कि मीरा श्रीनिवास के बारे में क्या सोचती थी। अख़बारों का असर समझ, मौक़े की नज़ाक़त को देख कर उन्होंने उसको लद्दाख भेजना ठीक समझा। मीरा खुद ग्रेजुएशन के दिनों से दो लद्दाखी बच्चों की पढ़ाई को स्पांसर करती रही थी। वह उन बच्चों से लदाख जा कर मिलना भी चाहती थी, मगर किसी तरह अपनी पढ़ाई के चलते नहीं जा पाई। अब मौक़ा था। और उसका यहाँ से जाना ज़रूरी भी था।

आई तो वह कुछ दिनों के लिए थी, मगर अब इरादा था कि कभी घर न लौटे। इस इरादे के चलते वह वहीं एक बुद्धिस्ट इंस्टीट्यूट में पढ़ाने लगी। तनख्वाह तो नहीं मिलती थी, मगर रहना, खाना मुफ़्त था। सुबह और शाम को सैर के लिए निकलती। उन अंजान रास्तों पर, जो बाद में उसको गली जैसे ही महसूस होने लगे, चलती और खूब चलती। अब डायरी नहीं लिखती। अकेले शाम के वक़्त डूबते सूरज को देखते वक़्त उसकी पथराई आँखें न जाने किसका इंतज़ार करती थीं? वह जैसे जड़ हो गई थी। यहाँ का मौसम भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाया। खुदा जाने उसके अन्दर की वीरानी ज़्यादा ख़तरनाक थी या इस बर्फ़ीले रेगिस्तान की!

बंदगी ने मीरा से बात करने की बहुत कोशिश की, उससे मिलने लद्दाख़ भी आई मगर मीरा ने उससे मिलने या बात करने से इन्कार कर दिया था। रफ़्ता-रफ़्ता बंदगी कमिश्नर साहब की दोस्त बन गई थी। कमिश्नर साहब को यही चाहिए था। वह बेहद खुश नज़र आते।

मीरा को लदाख़ में अब चार साल हो गए थे। एक रोज़ उसने ख़्वाब में उन पाँच बच्चों की लाशों को फिर देखा, मगर इस दफ़ा उन लाशों के ऊपर श्रीनिवास राय पेशाब कर रहा था और फिर उन बच्चों के मुर्दा जिस्म से धुआँ उठने लगा, बच्चे राख में तब्दील हो गए। राख में चिंगारियाँ मगर अभी बाक़ी थी।

उसको अपना ख़्वाब कुछ हद तक समझ आ गया था। सो उसने देर न करते हुए, अगले दिन किसी तरह आर्मी बेस से, सुबह-सुबह तराना से फ़ोन पर बात की और उससे पूछ ही लिया, "क्या तुमने प्रोफ़ेसर राय के घर, बच्चों की लाशें देखी थी या इस तरह का कोई ज़िक्र सुना था?"

तराना को उसके फ़ोन से खुशी या कोई और अनुभूति नहीं हुई। उसने उसका हाल चाल पूछा और उसके सवाल के जवाब में कहा कि ऐसा कुछ नहीं देखा या सुना था उसने। फिर कुछ ख़ामोशी के बाद, तराना ने फ़ोन रख दिया।

उसके बाद उसने अपनी माँ को भी वहीं आर्मी के एक अफ़सर की ऑफिस से फ़ोन मिलाया क्यूँकि उस ज़माने में उस इलाक़े में फ़ोन की सुविधा नहीं थी। मीरा की आवाज़ सुनने के लिए उसकी माँ के कान तरस गए थे। बंदगी से बहुत देर तक कुछ बोला ही न गया। अपनी माँ की चुप्पी को समझ, इधर मीरा रोने लगी। मीरा की सिसकियों की आवाज़ ने बंदगी के इतने सालोंसे जमा आँसुओं के बर्फ़ के समुंदर को पिघला दिया। फिर दोनों रोईं और दोनों में बहुत बातें हुई। मीरा ने पहले यह नहीं पूछा कि श्रीनिवास उसका बाप था या नहीं। उसने यह पूछा, "क्या आप प्रोफ़ेसर श्रीनिवास से उस वक़्त भी मोहब्बत करती थीं?"

बंदगी ने बताया कि उसने श्रीनिवास के बारे में सोचना तक बहुत पहले ही छोड़ दिया था और यह कि वह कमिश्नर साहब को पसंद करने लगी थी। श्रीनिवास और उसमें जो बातें होती थीं वो मीरा को लेकर ही हुआ करती थीं। उससे मिलकर बंदगी को उसके साथ बिताए पुराने दिन तक याद नहीं आए।

मीरा ने हैरानी से पूछा, "आप पापा को पसंद करती थीं? फिर आप लोग ख़ामोश क्यूँ रहते थे?"

बंदगी बोली, "कमिश्नर साहब कमतरी के एहसास में मुब्तला थे। मेरा उनको चाहना भी उनकी फ़ितरत नहीं बदल पाया। नई-नई शादी के दिनों में हम जब बाहर जाते, वह हमेशा बेचैन ही रहते, जैसे उनका कुछ चुरा लिया गया हो। फिर उन्होंने मुझे घर में ही क़ैद कर लिया।"

"आप तो अपनी मर्ज़ी से बाहर नहीं जाती थीं...", मीरा ने पूछने के अंदाज़ में बोला।

"बाहर जाना किसे पसंद नहीं? अकेले उन्होंने मुझे कभी बाहर जाने नहीं दिया। हाँ, कभी पहाड़ों पर जाते तो जंगलों में बाहर अकेले टहल आने को कहते, लोगों में कभी अकेले नहीं जाने दिया। मैं समझ गई, ये शख़्स कमतरी के एहसास के बोझ तले दबा हुआ है। मैं कमिश्नर साहब के बदलने के इंतज़ार में घर में ही पड़ी रही और बूढी हो गई", बंदगी ने यह कहकर कुछ पल के लिए ख़ामोशी इख्तियार कर ली।

मीरा अपनी माँ के दुःख से दुखी हो गई। उसको अफ़सोस हुआ कि माँ कितनी तन्हा थी। काश कि वह उनकी सहेली होती।

फिर मीरा ने पूछ ही लिया, "क्या अख़बारों में सही लिखा था, माँ?"

बंदगी ने जवाब में कहा, "क्या फ़र्क़ पड़ता है कि तुम्हारा बाप कौन है? श्रीनिवास मर चुका और हर मर्द, चाहे वह बीस साल का हो या अस्सी साल का, चाहे उसका आपसे कोई क़रीबी नाता हो या न हो, एक पोटेंशियल प्रेमी होता है। रोकते तो हमें अपने समाजी क़ानून हैं। और जो हो चुका उसे मिटाया तो नहीं जा सकता। अगर यह कहूँ कि वह तुम्हारा बाप था तो तुम कुछ और वक़्त तक गिल्ट में मुब्तला रहोगी कि तुम्हें उसी शख़्स से क्यूँ प्यार हुआ। हो सकता है कोई ग़लत क़दम भी उठा लो। अगर यह कहूँ कि वह तुम्हारा बाप नहीं था, तो तुम कुछ और वक़्त तक उसके मरने का ग़म करोगी, उसके बारे में सोचोगी कि वह चाहता क्या था, वह ग़लत आदमी था या सही, उसको किसने मारा वगैरह। यह भी मुमकिन है कि तुम बाद में सोचो कि वह तुम्हारा बाप ही था मगर माँ ने इस डर से झूठ तो नहीं कह दिया कि कहीं यह बात जानकर मैं डिप्रेशन में न चली जाऊँ। तो मेरा यहाँ कुछ भी कहना बेमानी है। वैसे भी बाप क्या होता है? एक माँस का लोथड़ा, जो घर में पड़ा भर रहे तो बाहरवालों की नज़रों से आप महफ़ूज़ रहती हैं। बापों का होना न होना बराबर है, बस उनकी जुत्तियाँ आँगन में होनी चाहिए जैसे कमिश्नर साहब के नाम की तख्ती अपने घर के बाहर है। इसी से घर की औरतें महफ़ूज़ हैं। मर्द के नाम की तख्ती मर्द से बचने के लिए! पैसे कमाने तो आज हर तबक़े की औरत जाती है। बाप जब कुछ करेगा तो उसको वह जायज़ मुक़ाम दिया जाएगा। अब बताओ क्या तुम जानना चाहती हो तुम्हारा बाप कौन है?"

मीरा मुस्कुरा दी। और बोली, "ठीक है माँ, फ़ोन रखती हूँ। वापस अपने ठिकाने पर जाना है। ठण्ड बढ़ रही है। फिर बात होगी।"

बंदगी ने अब उसे घर लौटने को नहीं कहा। वह जानती थी, मीरा अब घर लौटेगी।

कुछ दिन और बीत गए और फिर वही ख्वाब। इस बार राख से चिंगारियाँ बुझ गई थीं।

मीरा ने शायद अपने ख़्वाब की सही-सही ताबीर कर ली थी। अपनी माँ से कैंप से फ़ोन पर बात की और फिर उसी दिन घर लौट गई।

घर आकर माँ बेटी एक दूसरे से लिपट कर रोने लगीं।

कुछ महीनों बाद मीरा ने पूछा, "प्रो. राय का क़त्ल किसने किया, माँ?"

"उसी ने जिसका सबसे ज़्यादा फ़ायदा हुआ। ज़रूरी नहीं गोली चलाने वाला ही क़ातिल हो। गोली चलाने वाले बेचारे के पास तो कोई मोटिव भी नहीं था", एक उदास और फिर तंज़ भरी मुस्कराहट के साथ बंदगी ने कहा।

"आपको कोई दुःख नहीं हुआ? उसकी मौत से? क़ातिल कौन है यह जान कर?"

"जब किसी पर क़त्ल का इल्ज़ाम लगता है और मुक़द्दमा चलता है, तब उसके लिए मामला सरवाइवल का हो जाता है। ग़म करना, किसी तरह भूल जाता है आदमी। बाद में

फिर सोचता है, बहुत कुछ सोचता है, मगर ग़म? उसका वक़्त निकल चुका होता है। अब मुझे किसी बात का दुःख नहीं होता। कोई भी जब हमारी जिंदगी में आता है, उसका कोई न कोई मक़सद होता है। मैं पहले सोचती थी श्रीनिवास को मेरी कहानी से हटा भी दिया जाता तो भी मेरी ज़िंदगी मुकम्मल थी। उसका क़त्ल हुआ तब पता चला वह मेरी ज़िंदगी में क्यूँ आया था। ऊपरवाले ने सब हिसाब किया होता है और क़ातिल पर मुझे तरस आता है। सोचती हूँ उसके हिस्से की ज़िंदगी में अब क्या लिखा है!"

"अगर दुःख नहीं हुआ, तो फिर आप रो क्यूँ रही थीं माँ, उस दिन पुलिस स्टेशन के बाहर?"

"पहली बार मैं इसलिए रोई, क्यूँकि एक आदमी मरा था। वह आदमी जिसे मैं क़रीब से जानती थी! उस दिन पुलिस स्टेशन में मैं इसलिए रो रही थी क्योंकि तुम नहीं रो रही थी। उसके बाद भी मैं कई बार रोई थी। इसलिए कि मुझे पता चला, एक आदमी ने दूसरे आदमी को मारने की साज़िश की। फिर इसलिए कि एक आदमी ने दूसरे आदमी को मारा और वजह, हमेशा की तरह, औरत ही कहलाएगी।" बंदगी ने अपनी बात ख़त्म की और फिर बहुत देर तक दोनों कुछ नहीं बोलीं।

वे दोनों आख़िर बार बरामदे में लगे झूले पर लेटीं, बात करतीं, नज़र आईं थीं। उसके बाद उन दोनों को किसी ने नहीं देखा। लोग कहते हैं, मीरा विलायत पढ़ने गई है और उसके इसरार पर उसकी माँ भी साथ चली गई।

मगर ज्यदातर लोगों का मानना है, और इनमें कमिश्नर साहब भी शामिल हैं, कि वे दोनों 'मिरा' के दरख़्त (गुग्गल वृक्ष) में तब्दील हो गईं। उनकी मीठी और कड़वी यादें गोंद बनकर इस दरख़्त से निकलती हैं। इस गोंद से दुनिया की सबसे असरदार और सुहानी मुश्क बनती है, जिसका नाम 'मिर्र' है। यह मुश्क फैल कर दुनिया के सारे सहराओं तक पहुँच गई। मगर इस दरख़्त से अब कोई एडोनिस पैदा नहीं होगा।

संपर्क : 801, सी-ब्लॉक, पालम ग्रीन्स सुपरटेक, दिल्ली रोड, मुरादाबाद-244001 (उ.प्र.), मो. : 7452005251

यह जो यथार्थ का सच है

शशांक

मूल्य और सार्वभौमिकता

विशाल भारत में जहाँ पर एक समय में कम से कम बीस समाज चल रहे हों, मैं नहीं मानता कि एक ही समय-काल का समाज हमारे यहाँ है। यदि आप किसी गाँव में जाएँ, पिछड़े हुए गाँव में जाएँ, वहाँ से लेकर दिल्ली और मुम्बई तक जाएँ, तो पाएँगे कि एक ही समय में बीस या इससे भी अधिक समाज एक साथ जी रहे हैं। हमारे पास बाहर सौ से अधिक भाषाओं का उपयोग, जिसमें ढाई हज़ार बोलियाँ हैं, कम से कम तीस से अधिक प्रान्तों और उपप्रान्तों जैसी अवधारणाओं में जीवन शैलियाँ हैं और इन जीवन शैलियों में लोग अपने मूल्यों के साथ अपने जीवन को सकुशलता के साथ आगे ले जा रहे हैं।

यह हमारा सौभाग्य ही है कि इस दिशा की बहुत विपरीत, बहुत अलग-अलग विभिन्नताओं के साथ, हमने अपने जीवन को सकुशलता के साथ, अब तक, यहाँ तक लेकर हम आए हैं। निश्चित रूप से एक ताकत हमें मिलती है। यह ताकत एक ग्राम का मूल्य, एक शहर का मूल्य, एक प्रान्त का मूल्य, अनेक प्रान्तों के संविदाओं के वेल्यू और पूरे देश के मूल्य का समुच्चय है। कह सकता हूँ कि तीन तरह से मूल्यों की बात हमें करनी चाहिए। एक मूल्य जो आपके और आपके परिवार के हैं, एक मूल्य जो आपके मोहल्ले और आपके जिले के हैं, आपके शहर के हैं, आपके भारत के हैं। इसलिए हम किसी एकरैखिक रूप से मूल्यों की बात नहीं कर सकते और शायद इसकी खूबसूरती, इसकी सुन्दरता, इसका सौन्दर्य भी इसी में है कि हम अपने मूल्यों को एक साथ बाँधकर देखते हैं।

कभी-कभी बात होती है कि चेखव हों या गोर्की हों या प्रेमचन्द हों—आज तक हम उन लेखकों को क्यों याद रखते हैं? हम पाते हैं कि हमारी आन्तरिक मानवीय मूल्यों की संवेदना उन कहानियों को बार-बार पढ़कर अपने मूल्यों पर आस्था के लिए, नये आयाम खोलने की बात सोच सकने के लिए ताकत देती है। लेखकों का, चित्रकारों का, मूर्तिकारों का शायद यही

महत्त्व है। जब हम मन्दिरों में जाते हैं और नाना प्रकार के जीवन संघर्ष के बाद ईश्वर की अवधारणा में हम अपनी शान्ति को पाते हैं तो हम देख पाते हैं कि हमारी कला हमारे जीवन की ऊर्जा तक ले जाती है।

मैं एक उद्धरण रवीन्द्रनाथ जी का दूँगा—'दुनिया का सत्य बौद्धिक पदार्थों का संग्रह नहीं बल्कि उसकी सार्वभौमिकता है। उसका संग्रह करने वाले लोग आते हैं ओर चले जाते हैं मगर उसका उपयोग जो करते हैं, वह हमेशा अपने आगे के परिवारों को कुछ देकर जाते हैं। तो उनमें एक मूल्य भी उनके लिए शामिल होता है, जो एक रंगीली चीज की तरह उनके साथ चलता है।' ईमानदारी, मेहनत करना और दूसरों का भला करना—इसका समुच्चय ही आपके मूल्य को आगे बढ़ाता है।

मुझे जगदलपुर, बस्तर में नौकरी करने का मौका मिला। वहाँ के कलेक्टर के साथ मुझे एक जगह दौरे में जाने का मौका मिला, कि मैं इसकी रिकार्डिंग करूँ आकाशवाणी के लिए। रास्ते में एक औरत रो रही थी, हम लोग रुके, उसे बताया। उसको पैसे की ज़रूरत थी, बीमारी थी। उसे पैसे दिए। हम लोग दो दिन बाद जब लौटकर आ रहे थे तो हमने उस आदिवासी महिला को उसी जगह पर खड़े हुए देखा और वह बाकी बचे हुए पैसे लिये हुए थी, जो उसके काम के बाद बच गये थे। बहुत ही सीमित आय रखने वाला परिवार होगा, उसमें वह पैसा बचाकर कितने घण्टों से खड़ी होगी। उसे क्या मालूम कि हम कब आएँगे, दूसरे-तीसरे दिन! उसने अपना सारा समय उसमें बिता दिया।

वहाँ पर एक उच्चाधिकारी (निदेशक, जेल) थे। एक आदमी के बारे में उन्होंने बताया कि यह व्यक्ति है जिसने अपनी पत्नी को मारा, पत्नी का सिर लेकर थाने में आया और इसके बाद यह यहाँ है, आजीवन कारावास उसको मिला है। मगर इसको जब इन्द्रावती तालाब के आगे हम ले गये तो यह छूट गया था। एक दिन बाद पैदल-पैदल यह आया और उसने यह शिकायत की—आजीवन कारावास का कैदी कि आप हमें छोड़ आए हैं। तो गाँव में ये जो नैतिकता, जो मूल्य का यह बहुत बड़ा हिस्सा है, वह अभी भी धूमिल नहीं हुआ है।

हम बहुत सारी बातें कर रहे हैं, वे निराशा से पैदा हुई बातें हैं। आशा से पैदा हुई बातें हम कम करते हैं। हम एकदम पाँच हजार साल पहले चले जाते हैं, जबकि मुझे ऐसा लगता है कि मूल्य निरन्तर परिवर्तनशील हैं। वे अब दस साल नहीं बल्कि पाँच साल में बदलेंगे। टेक्नोलॉजी के तमाम उपकरण जब बदलेंगे तो उन उपकरणों के साथ जो नयी चीजें आ रही हैं, जिसका व्यवहार आप कर रहे हैं, उसकी जो सारी अनुगूँज आप पा रहे हैं कि ऐसा नहीं होना चाहिए, ऐसा होना चाहिए। कोर्ट उसमें अपना हस्तक्षेप करता है। कोर्ट को अब वैसी चीजों पर भी हस्तक्षेप करना पड़ रहा है, जो उसके दायरे के लिए मजबूरी हो सकती है। मगर हम वहाँ भी जाते हैं और टेक्नोलॉजी से हम अपनी चीजों को, अपने जीवन को भी अब निर्धारित करना चाहते हैं।

विदेश की सैंकड़ों फिल्में हैं जो आपको यह बताती हैं कि रोबोट हो जाने के बाद क्या आप खुद चलेंगे या आपको रोबोट चलाएगा। अन्ततः हमारे अन्दर की जिजीविषा कहती है कि लाख आर्टिफीशियल इंटेलीजेन्स हो जाए, मगर संचालित करने वाला व्यक्ति मानव ही होगा। हमारा दिमाग कम्प्यूटर से आगे कितनी बातों को संकलित करता है, उसका कैटेगराईज़ेशन-वर्गीकरण करता है और उसके बाद जो चीज निकालता है वह मूल्य आधारित आपके निष्कर्ष होते हैं। निष्कर्ष को एक-दूसरे से जोड़कर, नेटवर्किंग करने अपने जीवन की बहुत-सी चीजों को तय करते हैं।

तमाम तरह की टेक्नोलॉजी है, आपका सृजन है और आपके साथ जुड़े हुए लोग हैं, इनमें बदलाव आएगा। अपने मूल्यों का पुनरीक्षण करना होगा। ऐसे समय में जहाँ इस देश में भयंकर बेरोजगारी है, उसके ऊपर दिल्ली और मुम्बई की खुशनुमा रेव पार्टी की आप बात नहीं कर सकते?

गाँव में जाएँ तो अधिकांश बच्चे काम नहीं करते दिखेंगे। दुनिया भर की बातें करते दिखाई पड़ेंगे। उनके पास जो भाषा है, उनके पास जो सोच है, वह बहुत तीक्ष्ण है और वह आपसे बहुत कटुता से और सृजनात्मकता से भी बात कर सकते हैं। मगर उसकी अनुगूँज हमें सुनाई नहीं पड़ती!

एक मीडिया में होने के नाते जहाँ हम सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की बात करना चाहते हैं, बहुतों के हित में और बहुतों के सुख के लिए बात करना चाहते हैं, हमारे लिए यह एक चुनौती का विषय है। आपको मैं बताना चाहूँगा कि आज जबकि आठ सौ से अधिक चैनल हैं और तमाम तरह की, हर छोटी-छोटी चीज के लिए आगे लिखते हैं कि बड़ी बहस है और आपको किन चीजों के बारे में भटकाया और लटकाया जाता है, उसे देखने की आवश्कता है।

मुझे ट्रेन में एक सूफी संत के साथ सफर करने का मौका मिला। बातचीत होती रही। दो चीजें मैंने उनसे कहीं। बहुत लम्बी बात थी। मुस्लिम थे मगर उनका बहुत अधिक अच्छा अध्ययन हिन्दू धर्म में था और उन्होंने बहुत अच्छी बातें मुझसे कहीं। जब उन्हें मालूम पड़ा मैं मीडिया का हूँ, तो उन्होंने मुझसे पूछा कि यह बताइए कि सबसे ज्यादा बड़ी समस्या इस समय क्या है?

जिसे आप चौथा स्टेट—चौथा स्तम्भ—कहते हैं, मीडिया। मीडिया याने समाचार-पत्र, इलेक्ट्रानिक मीडिया और साथ में इण्टरनेट या इण्टरनेट संचालित सोशल मीडिया। ये सभी एक मीडिया को मानते हैं। यह अब घर में लाँघ चुका है। इसकी सीमाएँ देश के आगे से हैं और नहीं मालूम है कि विचार और मूल्यों को किस तरह सामने लेकर आ रहा है।

आकाशवाणी और दूरदर्शन ने अपनी संहिता सूची बनायी, यह उसका मूल्य है कि मित्र देशों की आलोचना न करें, अश्लील और अवमाननापूर्ण न हों, हिंसा को बढ़ावा न दें, कानून-व्यवस्था को चुनौती न दें, राजनैतिक पार्टियों के नाम किसी व्यक्ति को क्रिटिसाइज न करें, राज्य और केन्द्र के होस्टाईल होने, संविधान के खिलाफ जाने और लोगों से धन इकट्ठा न करने की बातें हैं—ये बस न हों।

इसका उल्लंघन कितने मीडिया कर रहे हैं? जो मीडिया आपके लिए मूल्य लेकर आ रहा है, वह किस तरह हिंसा को आपके घर की एक आदत बनाना चाहता है, यह बहुत बड़ी चुनौती है। यह मूल्य के लिए भी चुनौती है। क्योंकि आपका जीवन टीआरपी, जिसके आधार पर उन्हें विज्ञापन मिलते हैं, इस पर नहीं होता है। बीस हजार करोड़ के विज्ञापनों का लेन-देन प्रतिवर्ष होता है, साठ हज़ार करोड़ का मनोरंजन उद्योग है और सारी फ़िल्में, वे फ़िल्में जो गुण्डों और तस्करों पर होती हैं, जिनमें अधिकांश पैसा तस्करों का लगता है, एक चुनौतीपूर्ण मजेदार फ़िल्म देते हैं। साथ हजार करोड़ का मनोरंजन करते हैं और दस अरब का टी.वी. उद्योग है। ये बड़ा खतरा है जो आने वाले समय के मूल्यों को टक्कर देगा। क्योंकि यह कहा गया है कि, 'बहिर्जगत के शत्रु साम्राजी शासन और आर्थिक शोषण को तो हम अच्छी तरह जानते हैं और हम आसानी से नहीं देख सकते, जिनसे लड़ना है।' मीडिया एक दूसरे रास्ते पर ले जाते हैं और इसमें धर्म एक है। महात्मा गाँधी ने कहा था कि—'मेरी अपने धर्म पर गहरी आस्था है, लेकिन यह मेरा व्यक्तिगत मामला है।' आप रोज देखते होंगे टेलीविजन में

किसी धर्म के चैनल्स चल रहे हैं कुछ चमकदार लेकिन छुपे एजेण्डे लेकर। मगर गाँधी यह कहते हैं कि–'राज्य का मेरे धर्म से कोई संबंध नहीं है। राज्य के सभी कल्याणकारी काम हैं, जैसे स्वास्थ्य, संचार, विदेश, मुद्रा। लेकिन धार्मिक मामलों में यह राज्य नहीं पड़ेगा। यह निजी मामला है। स्वतंत्र भारत हिन्दू राज्य कदापि नहीं बनेगा। वह भारतीय राज्य होगा।' पुनर्विचार करें कि मीडिया आपके इस देश के मूल्यों की बात करते हुए–क्या सचमुच गाँधी की सुन रहे हैं?

यथार्थ का सच मनुष्य का सच नहीं है

हिन्दी कविता के वर्तमान में प्रवेश कर हम पाते हैं कि पाठक और कवि के बीच के आत्मीय तन्तु कुछ कम हुए हैं। भौतिक पटल पर बहुतेरे कवि हैं, पाठकनुमा साहित्यकार हैं, नए-नए प्रकाशक हैं और संजाल पन शब्दों के खेल हैं। नए पन के पैंतरे आधुनिक बोध को समझने की कोशिश करते हैं। कवि अपनी कविता में नए पाठ्यक्रम को क्रमानुसार जमाता है। कविता संग्रह को शक्ल देता है। पिछले बीस वर्षों की कविता नए विषय उठाती है परन्तु उसका कलेवर अपने प्राण सहित अपनी परंपरा से, उसकी लय को पकड़ने और गठजोड़ करने से विमुख होती जाती है।

कुछ कवि इसे समझते हैं और शब्द की ताकत को तौलते हैं। कथाकार और कवि रामकुमार तिवारी अपने कविता संग्रह 'अपनी परछाई में लौटता हूँ चुपचाप' में मौन को व्यर्थ नहीं जाने देते। वे बहुत कीमत चुकाते हैं। व्याकुलता और व्यग्रता की हदों को वे पहचानते हैं। वे शब्दों की ताकत को तौलते हैं :

मुझे तुम्हारे सामर्थ्य पर विश्वास है
लेकिन तुम्हारी भाषा पर नहीं
जो तुम बोलते हो
सामर्थ्य तुम्हारा
तुम्हारे काम आ रहा है
लेकिन जो विश्वास मैं
तुम्हारी भाषा में खो रहा हूँ
मेरा दुख है (जानता हूँ)

वे छले गए लोगों को चिरपरिचित संज्ञाओं से नहीं पुकारते। रूढ़ हो गए शब्दों से परे जाकर रम गई जनता को पहचानते हैं :

कैसा हठी!
निष्प्रयोजन गाए ही जा रहा है
या अपनी धुन के आगे
स्तर झूलती इस दुनिया को
झुकाना चाह रहा है (एक हठी का गान)

राम कुमार इस दुख को कविता बनाने के लिए उसकी संरचना में अतिरिक्त प्रयास नहीं करते हैं। मेरा साहित्य में शब्द के भूगोल पर, विविधरंगी होने पर बहुत भरोसा है। राजेन्द्र यादव जी से बहस होने लगी। उनका कहना था कि मध्यप्रदेश एक सोया प्रदेश है इसलिए

वहाँ साहित्य में गरमी नहीं है। मैंने कहा कि सोया प्रेदश जरूर है लेकिन सोयाबीन बहुत उगाया जाता है। रही बात साहित्य की तो हरिशंकर परसाई और शरद जोशी के साहित्य (जानबूझ कर व्यंग्य नहीं कर रहा) का ताप झकझोरता है। यादव जी चुप हो गए। राजस्थान की रेत पर कथा के हरे केसरिया रंग और परिधान की मैंने याद दिलाई। भूगोल में शब्द के संस्कार और रचनात्मकता के अजीब रिश्ते हैं। अब देखिए! एक दिन सुबह सोकर उठा तो पता चला मध्यप्रदेश दो हिस्सों में बँट गया। छत्तीसगढ़ के वृक्षों को गिनने में तो जिन्दगी पूरी हो जाएगी। इसी तरह प्रदेश के खाँचे में साहित्य और लेखक आ गए। मुक्तिबोध, श्रीकांत वर्मा, प्रमोद वर्मा, विनोद कुमार शुक्ल, सतीश जायसवाल, मनोज रूपड़ा, आनन्द हर्षुल और राम कुमार तिवारी के साहित्य को पढ़ने पर पता चलता है कि जन और प्रकृति को देखने का तरीका यहाँ भिन्न है। बहुत आधुनिक होकर बहुत सादगी, सरलता भरे छत्तीसगढ़ के जीवन में वे प्राणतत्त्व ढूँढ़ते है। विसंगतियों की मिट्टी तीखे औजारों से साफ करते हैं।

रामकुमार तिवारी की इन कविताओं में तयशुदा परिपत्रों के साथ नहीं जाया जा सकता। ये जानते हैं :

जो छूट गया है
किसी प्रयोग के बहाने
अपनी ही नियति बन
इस शून्य में
उस छूटे हुए को वे ढूँढ़ निकालते हैं :
जहाँ अभी कोई जगह नहीं है
इस आवाज के लिए कि
'यह जो यथार्थ का सच है
मनुष्य का सच नहीं है' (विनोद दुआ के बहाने)

रामकुमार बने बनाए सच का लगभग त्याग कर दरअसल वर्तमान साहित्य की स्वर लिपि को भंग करने का साहस दिखाते हैं। वर्षों से बनाई गई लेखक की संस्कृति एक विश्वास को जन्म देती है। विश्वास के बहुत से हिस्से कठोर हैं। इसे अपनाने में लेखक को आसानी होती है। किन्तु रामकुमार इसे जीवन में घटित होते देखना चाहते हैं रामकुमार का विश्वास बहुत आसान नहीं है, यह उनकी कविता को पाने में दिक्कत पैदा करता है। विरल अनुभवों को अपने में पाठक समो ले उसके लिए पढ़ने की पूर्व आदत को सावधान करना होगा। क्योंकि :

बड़े आदमी छोटी आदमी की औकात जानते हैं
लेकिन छोटे आदमी बड़े आदमी को बिल्कुल जानते हैं (जानते हैं)

शहर इतना जलसा है कि
कुछ भी कहना असभ्यता है (धरती पर जीवन सोया था)

यह समय मेरा है
अपराधी हूँ
मुझे सभा नहीं सजा चाहिए (पर समय मेरा है)

इसके लिए कवि जानता है उसे क्या करना है। और यही बात उसे वायवीय होने से बचाती है :

मुझे अपनी सजा
स्वयं तय करनी है (यह मेरा समय है)

मुझे श्रीकांत वर्मा का गुस्सा याद है। उस समय की कविता का तापमान ज्यादा था। कविता में यह लय के साथ बहती थी। फिर बहुत से कवि जाने जाते थे गुस्से के लिए। कविता अलग, गुस्सा अलग। श्रीकांत वर्मा ने नया रंग दिया :

क्या कहूँ! लिपि की नियति
थी—
तुममें से होकर भी
बस कर भी,
संग संग रहकर भी
बिल्कुल असंग (एक और ढंग/ माया दर्पण)

रामकुमार की कविता में यह गुस्सा निजी नहीं है। सामूहिक विफलता का परिणाम है। कवि में व्यग्रता के अनेक रूप हैं। उसे पहचानने और उसके स्पंदन को हम तक पहुँचाने के लिए के प्रकृति की विशालता के कुछ अनमोल हिस्से लेकर आते हैं। यहाँ उनकी कविता की संरचना मदद करती है। वे उपमानों और व्यंजना से कविता को भटकाते नहीं हैं। यहाँ कविता की नब्ज़ थमी हुई है। सम गति। अपने गुस्से को जन का गुस्सा बताते हुए संयत जीवन के विवरण देना। यह कविता में जीवन को अलग बिल्कुल अलग देखना है :

रात सोई चिड़िया की नींद
सुबह बहेलिया जागता है (जीवन होता)

असभ्यता हमारे अवैज्ञानिक होने में है (देखते रहिए)

तकनीकी दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि हमें
बाजार नहीं चीज़ें दबोच रही हैं (देखते रहिए)

रामकुमार की कविता में पहाड़, समुद्र, वृक्ष और असहाय व्यक्ति के साथ हैं। लेकिन वे जानते हैं :

निरावृत्त होते जाना
अकेले होते जाना है (किसी इतर के लिए)

शहर में
पेड़ की जगह ऊपर
नया घंटा घर बन रहा है
अब गुजर रहे लोगों के ऊपर
समय बजा करेगा (उसी समय)

प्रकृति के पास जाने के लिए जाना होगा! चलना होगा। रामकुमार की कविता के विवरण प्रकृति की गाथा भर नहीं है। वे व्यक्ति के लिए जाते समय को लिख कर एक बड़ा दृश्य बनाते हैं :

कविता नया रंग लेती है।
शहर से बाहर
टीले पर ढलती उदास शाम
याद की याद है (नाव की तरह)

बचे रहना
डूब जाने की विपरीत दिशा है (नाव की तरह)

रामकुमार की कविता में आवाजाही बहुत है। संभवतया यह गति उनकी विकलता को साथ करती है। दुख का शब्द यहाँ दुबका होता है। कविता की संपूर्णता के लिए यह जरूरी है। उस कवि के लिए और भी अधिक जो शहर को वास्तव में शहर नहीं कहता। उनकी कविता में जाना या पहुँचना किसी के जीवन में प्रवेश करना होता है। सूक्तियों का अर्जन है यह :

इस पल
मेरा कहा भर रहा है आकाश में
और अनकहा
समुद्र में घुल रहा है
जिसमें मैं
कभी पक्षी हूँ
कभी मछली हूँ (समुद्र तट पर)

मैं झील में अपना अक्स छोड़
सूनी डगर में लौट रहा हूँ (जाग रहा है मौन)

रामकुमार की कविता में रेल की आवाज उसे आकर्षित करती है :

एक उम्र से मैं
आवाज करता हुआ
रेल की तरह चल रहा हूँ (रेल की तरह)

रेल आते न आते
इतना थक गए
कि सफ़र के लायक नहीं रहे
मृत्यु प्लेटफार्म पर हुई
जीवन रेल की प्रतीक्षा में खड़ा था (समय पास होता है)

'अपनी परछाईं में लौटता हूँ चुपचाप' राम कुमार तिवारी की कविताओं में समय को चारों तरह से देखने, महसूस करने और सार्थक बनाने का अभिनव सृजन है। उनमें कविता को पाठक में नए तरह से बने रहने की जिद है। इसीलिए वे आशा करते हैं :

एक दिन दिशाओं से उमड़े बादलों में
कल्पना देखेगी साकार
वे सब विलुप्त सोते, झरने, झील और आकार
धरती पर फिर-फिर बरसते हुए।

दिल के अपने कारण

ई.एफ. शूमाकर की पुस्तक 'भ्रमित आदमी के लिए एक किताब' हमारी सोच के लिए नया ईंधन देती है। दार्शनिक व अर्थशास्त्री शूमाकर की यह किताब चार दशकों से हमारी बुनियादी संघर्षों, प्रकृति, विज्ञान सरणियों के परस्पर संबंध और मनुष्य के अंतर्बोध के सवालों को ही साफ सुथरा कर भ्रमों को हटाने के लिए बारंबार इंगित करती है।

वे कहते हैं, 'हमारे पूर्वज दुर्भाग्य से विकासवाद के सिद्धांत से परिचित नहीं थे इसलिए उन्होंने ऊटपटांग किस्म के मिथकों और काल्पनिक कथाओं को ईजाद किया।'

वे कहते हैं, 'जीवनी शक्ति, चेतना और आत्मबोध में वस्तुतः फर्क है और वह सिर्फ दरजे का फर्क नहीं है। इन शक्तियों का कुछ छोटा-सा हिस्सा शायद निचले स्तर पर भी उपस्थित हो जो हमें दिखता न हो। या हो सकता है कि यह उचित अवसरों पर, 'वाह री दुनिया' की शक्तियों द्वारा, निचले स्तर पर प्रविष्ट करा दिया जाता हो।'

'उच्चतर' का मतलब और उसके अर्थ, हर समय 'ज्यादा भीतरी' 'ज्यादा आंतरिक' 'ज्यादा गहरा' और 'ज्यादा घनिष्ट' होता है जबकि 'निम्नतर' का अर्थ और मतलब 'ज्यादा बाह्य' उथला और 'कम घनिष्ठ' होता है।' 'हमारी सारी इच्छाएँ, लालसाएँ, भूख, संवेदनाएँ, हमारी पसंदगी और नापसंदगी हमारे प्रेम और हमारी घृणा ये सब अदृश्य रहते हैं। यही 'व्यक्ति' का निर्माण करते हैं।'

पास्कल (1823) को उद्धत करते हुए वे कहते हैं, 'दिल के अपने कारण हो सकते हैं जिसे बुद्धि नहीं जानती।' मनुष्य के पास संज्ञान लेने के लिए बहुत सारे उपकरण हैं, क्योंकि मनुष्य स्वयं ही अपने आप में एक संपूर्ण उपकरण है।

'जैसे-जैसे हम अस्तित्व की शृंखला में ऊपर चढ़ते हैं, मात्रा का महत्त्व कम होता जाता है और गुणों का महत्त्व बढ़ता जाता है।''

'आत्मबोध के स्तर पर विचार की जगह है, लेकिन पर उसके अंतर्गत है।'

'एक आधुनिक प्रोग्राम का महत्त्वपूर्ण हिस्सा यह है कि वह (प्रोग्रामर जो सो रहा है) धर्म को सड़ती नैतिकता, घिसी हुई उत्सवी क्रियाओं और सिद्धांतों का प्रतीक मानता है और इस तरह उस ताकत को ही खारिज कर देता है, जो शायद एकमात्र ताकत थी जो हमें जाग्रत कर रही थी।

वे कहते हैं, 'अपने भीतरी विश्व की खोज (ज्ञान का पहला क्षेत्र) एक दूसरे के भीतरी विश्व की खोज (ज्ञान का दूसरा क्षेत्र) यह जानना कि दूसरे मुझे किस तरह जानते हैं (ज्ञान का तीसरा क्षेत्र) है। ज्ञान के इस तीसरे क्षेत्र को जाने बिना ज्ञान का पहला क्षेत्र हमें बहुत

ही स्थूल और विध्वंसकारी विभ्रमों की ओर ले जा सकता है।' 'पूरी प्रकृति और कुछ नहीं बल्कि अनुभवातीत यथार्थ का एक प्रतीक है।' 'किसी भी सभ्यता के लिए बचना तब तक मुश्किल है जब तक उसका किसी आधार पर, अर्थ पर और मूल्यों पर विश्वास न हो।' 'अपनी इच्छाओं और अनिच्छाओं तथा अपने सारे आत्मकेंद्रित कार्यों से दूरी हासिल करना। वह इसमें जितनी सफलता हासिल करेगा उतना ही वह बाहर से निर्देशित होना बंद हो जाएगा और स्वयं से निर्देशित होना शुरू करेगा। वह स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेगा।'

शूमाकर की इस पुस्तक को फूको की 'द आर्डर ऑफ थिंग्स' और विवेकानन्द की 'राज योग' के साथ पढ़ने पर और आनंद आएगा। शूमाकर हमारे अंतर्बोध को प्रमुख बनाने में एक नयी कीमियागरी व तर्क का उपयोग करते हैं। यह न हमें विचार के लिए उत्तेजित करती है बल्कि धर्म संबंधी बनावटी या कहें थोथे उपक्रमों से परे हटने की सलाह भी देती है। आपको खट् से वर्तमान समय याद आएगा। शूमाकर प्रासंगिक लगेंगे ओर एक मैनुअल की तरह आपके सम्मुख होंगे।

श्री संतोष चौबे ने उचित समय में इस किताब का अनुवाद किया। उनकी सरल और प्रवाहमय अनुवाद को उपरोक्त उद्धरणों में महसूस किया जा सकता है। टेरी इगल्टन, जेमसन, बेंजामिन व इलाइटिस के साहित्य सैद्धांतिकी के अनुवाद करके संतोष जी ने यथार्थ की आधुनिक भाव भूमि से परिचित कराया है। शुमाकर की यह पुस्तक अनुवाद की इस शृंखला में, विचार उत्तेजना को नयी निगाह देगी।

संपर्क : 41, आकाश नगर, कोटरा, सुल्तानाबाद, भोपाल-462003 (म.प्र.) मो. : 8085443397

मैं मृत्युमुखी जीना चाहता हूँ
(सुकान्त भट्टाचार्य के सात पत्र)

अनु. : मीता दास

सुकान्त भट्टाचार्य औपनिवेशिक गुलामी के दौर में बंगाल के एक क्रांतिकारी कवि थे। उन्हें बहुत कम उम्र मिली। इक्कीस साल से भी कम। इतनी छोटी-सी उम्र में ऐसी भाषा, ऐसा जीवन-दर्शन, प्रखर साम्यवादी सोच का होना हमें अचंभित करता है। कवि सुकान्त भट्टाचार्य, जो मानव चेतना से प्रेरित थे, बंगाली कविता के पारंपरिक संदर्भ को मौलिक रूप से बदलने में सक्षम हुए थे। अंग्रेज शासित देश में शोषित जनता एवं साधारण जन के दिल में उन्होंने विद्रोह का बीज बो दिया था। समाजवादी तत्त्व और सोच के साथ उनकी कविताओं में उस समय के अकाल और महायुद्ध की जो मानवीय त्रासदी उभर कर सामने आती है, वह अलहदा है। उनको लोग 'किशोर विद्रोही कवि' और 'युवा नज़रूल' कहने लगे थे। उनकी कविताएँ, लेख, नाटक 'किशोर वाहिनी' के लिए और देश के कोने-कोने में क्रांतिकारियों के लिए विद्रोह की चिनगारी साबित हुए।

सुकान्त एक उजले धूप का नाम है। सुकान्त के जीवन-दर्शन की छाप उनकी कविताओं और पत्रावलियों में साफ नजर आती है। कविताओं की तरह उनके पत्र भी राजनीतिक और मानवीय मूल्यों की गरिमा से भरे हैं। हमें उनके पत्रों के माध्यम से एक अनजान किंतु अनोखे सुकान्त से रू-ब-रू होने का मौका मिलता है जो अधिक मूल्यवान है। वे एक अच्छे संगठनकर्ता भी थे। उन्हें खेलकूद के अलावा प्रकृति से बड़ा प्रेम था जो उनकी कविताओं और पत्रों में समाहित है। **'पक्षधर'** के पाठकों के लिए यहाँ उनके कुछ पत्र दिए जा रहे हैं।—**अनुवादक**

(एक)

कलकत्ता

श्रद्धेय माताश्री,

माँ, सबसे पहले आप से माफ़ी माँग लेना बेहतर होगा। क्योंकि मेरे अपराध असाधारण हैं—आपकी तरफ़ से विश्वासघात का अभियोग है। मेरे प्रतिवाद करने योग्य जब कुछ है ही नहीं, तब यही उचित है कि आपके सामने सब खोलकर रख दूँ। पारिवारिक प्रतिकूलता ने मुझे यहाँ बाँधकर रखा है, नहीं तो आप से माफ़ी माँगने की कोई आवश्यकता नहीं होती। मुझ पर जो अपराध लगाए गए हैं वे स्वीकार योग्य नहीं हैं। लेकिन जब माफ़ी माँगने के सिवाय कोई विकल्प ही नहीं है तो फिर और कर ही क्या सकता हूँ। घर का कोई भी सदस्य, ऐसे दुर्दिनों में मुझे आँखों से ओझल नहीं करना चाहता। अतएव, यहाँ भी जो सुरक्षित नहीं है,

ये वे सब जानते हैं, पर जानते हुए भी बोलते हैं, मरेंगे तो सब एक साथ मरेंगे। वाह क्या विचार है! असली बात तो यह है कि भले समूल विनाश हो जाए, मैं जैसे इस संसार से मुक्त नहीं होऊँ।

...जहाँ भी जाता हूँ, बस यही देखता हूँ; अश्लीलता और गंदगी। एक अनिर्वार ग्लानि में डूबा हुआ हूँ। आप को इतनी बातें कह रहा हूँ क्योंकि आप से सांत्वना व आश्वासन की चाहत है; आपका आशीर्वाद चाहिए ताकि इस दूषित वातावरण से पार पा सकूँ। आजकल आप मुझे बहुत ज्यादा याद आ रही हैं, ठीक इस समय अगर पवित्र सानिध्य प्राप्त होता, तो मैं अपने आप को इतना असहाय महसूस नहीं करता। चिट्ठी लिखने का दूसरा कारण यही है।

वास्तव में, मैं कहीं भी चला जाना चाहता हूँ, निरुद्देश्य होकर मिल जाना चाहता हूँ...। गहरे अरण्य में, या किसी निर्जन प्रदेश में, जहाँ कोई इंसान न हो, हो तो बस सूर्य की रोशनी, हिंसक जीव और निरीह प्राणी और अशेष प्राकृतिक संपदा...। इसकी भी आवश्यकता नहीं होती अगर सम्पूर्ण रूप से आप लोगों के पास आ पाता, तो भी, गंभीर आनंद की प्राप्ति होती, उन्मुक्त वन का आनंद। सारे संसार के साथ मेरा घोर असहयोग चल रहा है। इस जघन्य कौटिल्य ने मेरे मन को ऐसा बेस्वाद बना दिया है कि मुझे इस जीवन का कोई लोभ ही नहीं है। एक अज्ञात उत्साह-हीनता मुझमें समा गई है। सारे संसार के प्रति नीरस वैराग्य पैदा हो गया है, पर कोई धर्म भाव पैदा नहीं हुआ। मन की इस शोचनीय दुरस्था के कारण मेरी रचना शक्ति भी क्षीण हो गई। हर एक को माफ़ करने के सिवाय आज मेरे लिये और कोई रास्ता नहीं। अच्छा, क्या ऐसा मनोभाव हर किसी की जिंदगी में आता है, एक ख़ास समय में?

अच्छा छोड़ो, बकवास करके और तंग नहीं करूँगा। मुझे फिर याद नहीं था कि आप अस्वस्थ हैं। आपका बेटा क्या पाबना गया है? उसे एक चिट्ठी भेजी है, अगर नहीं गया हो तो, उसे समझाना यह कह कर कि यह—'तुम्हारे लिए सुकान्त की आखिरी चिट्ठी है।' अच्छा, कुछ दिन पहले एक चिट्ठी आई थी। चिट्ठी पर पते की जगह एक कागज चिपका दिया गया था और उसके ऊपर पता लिखा था, वह चिट्ठी बैरंग हो गई थी। क्या वह आप लोगों में से किसी की चिट्ठी है? मूर्खतावश बैरंग होने के कारण मैंने, बिना देखे ही, वह चिट्ठी लौटा दी थी। अगर वह आप लोगो में से किसी की है तो यह अफ़सोस की बात है। मेरी हर समय आप लोगों के पास आने की इच्छा रहती है, लेकिन मौका मिलना ही असंभव सा है। अगर मौका मिले तब ही मुझे आप लोग अपने सामने देख पाएँगे? पत्र का उत्तर देंगे तो खुशी होगी। नहीं देंगे तो दुःखी भी होऊँगा। अपने प्रति मेरी श्रद्धा स्वीकार करना। यहाँ पर बाकी सभी अच्छे हैं।

श्रद्धा-सहित इति,
सुकान्त भट्टाचार्य

(दो)

12 अनंतपुर, पो.ऑ. हिनू, राँची

अरुण,

अनेक झड़-वृष्टि का सामना कर, अनेक अविश्वास और असंतोष साथ में लिए, अन्ततः सचमुच राँची आ पहुँचे। आने के रास्ते में कुछ भी उल्लेखनीय नज़र नहीं आया, केवल पूर्णिमा की अस्पष्ट रोशनी में शांत गहरी बराकर नदी का सामना हुआ।

गहरी रात (शायद रात समाप्त होने ही वाली थी) और उसी रात की गहराई उभर रही

थी उस मौन मूक बराकर नदी के जल में। न जाने कैसी-कैसी भाषाएँ इन सभी को मिली थीं। उस बहती जलधारा ने और एक बहुत दूर स्थित विशाल गंभीर पर्वत ने मेरी आँखों में क्षणिक स्वप्न की रचना कर दी।

बराकर नदी के एक ओर बंगाल और दूसरी ओर बिहार और इनके बीच स्वयंस्फूर्त बहती बराकर नदी; क्या अद्भुत, कितना गंभीर? और कोई भी नदी (शायद, गंगा भी नहीं), मेरी आँखों में इतना मोह उत्पन्न नहीं कर पाई।

और अच्छा लगा था गोमो स्टेशन। ट्रेन बदलने के लिए वहाँ रात्रि का शेष समय बिताना पड़ा था। पूर्णिमा की परिपूर्णता की उपलब्धि मुझे वहाँ हुई। ऐसे शांत स्टेशन पर, उस चाँदनी रात की अस्फुट सौन्दर्यता मेरे चिरजीवन की एक यादगार छबि बन गई।

उसके बाद सवेरा। एक अपरिचित सवेरा। छोटे-छोटे पर्वत, छोटी-छोटी विशुद्ध (पवित्र) नदियाँ, और पत्थरों के टुकड़ों से बिछे हुए लाल लाल रास्ते, आसपास अनजाने पेड़ों के झुंड आदि को देखते-देखते रेलवे लाइन समाप्त हो गयी।

उसके बाद सड़क, जहाँ बस में सवार हो राँची के लिए निकल पड़े। बस ऐसी दौड़ी जैसे टूटे सींग वाली गाय! वह तेज गति से दौड़ने लगी पहाड़ी रास्तों पर। हजारों फुट ऊँचे स्थानों से चलते-चलते, आवेग में उछलते कूदते, सोचने लगा इन अद्भुत नज़ारों को केवल मैंने ही देखा है; इस वेग और आवेग ने केवल मुझे ही आनंदित किया है! हो सकता है कई लोगों ने यह दृश्य देखा हो, किन्तु क्या पता किसी को इस तरह से अभिभूत किया हो?

राँची आ पहुँचा। हमलोग जहाँ रहते हैं, वह राँची नहीं, राँची से कुछ दूर—इस स्थान नाम है डोरंडा। हमारे घर के सामने से बहती है, सँकरी (पतली जलधारा वाली) सुवर्णरेखा नदी और उसके किनारे पर दिखाई देता है एक समाधि स्थल। जिसे देख-देखकर मैं बीच-बीच में आत्मविस्मृत हो जाता हूँ। उस समाधि स्थल पर एक बरगद का पेड़ है, वह केवल मुझे ही नहीं, यहाँ के सभी लोगों को प्रिय है। उस बरगद पेड़ के ऊपर और नीचे कितनी ही ख़ास दोपहरें बीती हैं।

बीते शुक्रवार सुबह से सोमवार दोपहर तक हमारे हर क्षण अनिर्वचनीय आनंद से बीते—क्योंकि, इस समय हम लोगों का सदस्य दल भारी था। रविवार दोपहर हमलोग राँची से अठारह मील दूर 'जोन्हा प्रपात' देखने निकले। ट्रेन में बैठने के थोड़ी देर बाद मूसलाधार बारिश होने लगी, और ट्रेन में वर्षा का ऐसा आनन्द मेरे लिए जिंदगी में पहली बार हुआ। दोनों ओर पहाड़—जंगल, वर्षा के जल की धारा से धुँधले दृश्यों ने हमें रोमांचित कर दिया।

किन्तु और भी आनंद बाकी था—जोन्हा पहाड़ की तराई क्षेत्र की सुंदरता हम लोगों की प्रतीक्षा कर रही थी। बरसात में भीगकर काफ़ी दूर चलने के बाद उस पहाड़ के शिखर क्षेत्र में स्थित एक बौद्ध मंदिर के सामने आकर हम खड़े हो गए। मंदिर के चौकीदार ने आकर हम लोगों के लिए दरवाज़े खोल दिये। मंदिर में सौम्य गम्भीर वातावरण के बीच निःशब्द धीर पदचाप के साथ हमने प्रवेश किया। मंदिर से संलग्न कई लोहे के दरवाजे और खिड़कियों से बने कक्ष थे। जिन्हें हम लोगों ने घूम-घूमकर देखा, फूल तोड़े, और मंदिर की घंटी बजाई। वह ध्वनि पहाड़ों की सीमाओं के बीच ही सीमित रही, बाहरी दुनिया तक नहीं पहुँची।

साँझ हो आई थी। ऐसे जंगल से घिरे पहाड़ों में बाघ का भय भी बहुत अधिक था। इसलिए हम लोगों ने मंदिर में ही आश्रय लिया। फिर हम लोग नजदीक के जलप्रपात को देखने गए। और वहाँ जाकर जो देखा, उस दृश्य ने मेरी स्नायु व चेतना को अभिभूत कर डाला। दिन भर से हो रहे, अनवरत बारिश से वह प्रपात सचमुच में प्रलयंकारी दिखाई पड़ा।

इसलिए मुग्ध सुकान्त एक कविता लिखे बिना न रह सका। वह कविता मेरे पास है, लौट के तुम्हें दिखाऊँगा। जोन्हा, जिसने भी देखा हो, उसके लिए छोटा नागपुर आना सार्थक होगा। यद्यपि हुंडरू एक प्रसिद्ध विख्यात जलप्रपात है, परंतु हुंडरू प्रपात का दर्शन करने व आनन्द लेने की इतनी सुविधा नहीं थी—यहाँ इस बात को मैं जोर देकर कहना चाहूँगा। तथा जिसने भी जोन्हा प्रपात देखा हो, वह मेरी बात पर अविश्वास नहीं करेगा। जोन्हा सर्वदा इतना सुंदर व उपभोग्य रहता हो, ऐसा नहीं, कहना चाहूँगा अगर हमलोग एक दिन भी पहले पहुँचते तो इतना मनोरम दृश्य देखने से निश्चिय ही वंचित हो जाते।

जलप्रपात देखने के पश्चात, शाम को हमलोगों ने बुद्धदेव की वंदना की। उसके बाद गप्पें हाँके, अंत में रात्रि भोजन समाप्त कर उस निस्तब्ध गहरे जंगल पहाड़ी पर स्थित जोन्हा जलप्रपात की कल-कल ध्वनि सुनते सुनते सो गए।

जोन्हा प्रपात सारी रात, विपुल वेग से, अपनी स्वर्ण जलधारा निष्ठुर भाव से कठोर पत्थरों के ऊपर पटक पटक कर गिराने लगा, आघात पर आघात जर्जर जल धाराओं के हृदय में जागने लगा—लाल रक्त और बंद कमरों में सुनाई देने लगी हम लोगों को क्लांत निःश्वास। उदार वात्सल्य लिए ध्यानमग्न पर्वत प्रहरी के समान जगा रहा और उस विराट पैरों पर हमलोगों ने भी अपनी समस्त भावनाओं को समर्पित कर दिया।

दूसरे दिन रहस्यमयी जोन्हा को, उसके स्फूर्ति भरे रूप के प्रति हमेशा अपना गहरा प्यार समर्पित किया। फिर धीरे-धीरे अनिच्छा के बावजूद आ गए। आते वक्त जो वेदना जागृत हुई थी, विदाई के लिए वह और न बन पाई। उसी दिन हमारे आधे सदस्य दल को विदाई दे दिया गया, जिससे यह वेदना दीर्घ और स्थायी बन गई। जोन्हा से लौटते वक्त मन ही मन प्रार्थना की थी, हमारी यह यात्रा अंतहीन हो। किन्तु पथ भी सम्पन्न हुआ, और हमलोग भी जोन्हा को छोड़कर, उस बुद्ध मंदिर के आश्रय को छोड़कर, राँची चले आए। इससे यह जरूर समझ आया कि, किसी का भी आना एक स्वप्न है और जाना एक कठोर वास्तविकता। बहुत कम चींजें ही पास आती हैं; किन्तु खोना पड़ता है प्रायः सब कुछ। जोन्हा इसका सब से बड़ा सबूत है।

राँची से लौटने के बाद, हमारे सदस्य दल के आधे हो जाने से, हमारी खुशियाँ भी उनके साथ विदा लेने लगीं। फिर भी इसी बीच हमलोग राँची पहाड़ गए थे, एवं उल्लसित हुए थे। इस पहाड़ से राँची शहर काफी खूबसूरत दिखता है। ऐसा लगता है मानो लिलिपुटों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया हो। शहर के बीच एक झील है, वातावरण के साथ-साथ उसके दृश्य पटल बार-बार बदलते रहते हैं, मुझे ऐसा लगता है शहर की सुंदरता के लिये यह तालाब ही जिम्मेदार है।

राँची पहाड़ के शिखर पर एक छोटा शिव का मंदिर है। उसी मंदिर में खड़े होकर दिखाई देता है कि छोटानागपुर की दिशाएँ पहाड़ों से घिरी हुई हैं, औऱ एक गुफा भी है, वह भी कोई कम दर्शनीय नहीं। और सब कुछ मिलकर दिखाई देती है राँची की अखंड सत्ता, जिसे एक मात्र राँची पहाड़ से ही देख पाना संभव है।

'डुरान्टा बाँध' नामक एक स्थान है, जिसमें मैंने एक दिन स्नान किया है एवं जिसे एक शाम हृदय की गहरी अनुभूति से अनुभव किया है। इसे तालाब कहना ही ठीक है, अधिक से अधिक दीघा कह सकते हैं। किंतु सभी इसे लेक कहते हैं। जो भी हो, जलाशय के हिसाब से, मुझे यह बड़ा अच्छा लगा। और, इसके अलावा डूरण्टा का रास्ता, मैदान, जंगल सभी अच्छे

लगे। एक वाक्य में बोला जाए तो कहूँगा, यहाँ का सब कुछ अच्छा है। केवल अच्छा नहीं है तो यहाँ के पड़ोसी, बाजार की दूरी, और मिलिट्री का आधिपत्य।

यहाँ इस समय बीच-बीच में वर्षा हो रही है। यद्यपि वर्षा यहाँ इतनी शोभा नहीं दे रही, फिर भी इस वर्षा ने एक असाधारण काम किया, सँकरी (पतली जलधारा वाली) नदी सुवर्णरेखा के हृदय में यौवन उत्पन्न किया है। उसके कल्लोल मयजल के उछाल से उसकी धारावेग में उत्पन्न तरंगों की मस्ती से हमारे तन-मन में सिहरन का संचार हो गया। कारण था, कल सुबह जब सुवर्णरेखा नदी के बीच खड़े थे तब पैर के पंजे भी नहीं भींगे थे।

जो भी हो, राँची के अनेकों स्थानों को अभी भी नहीं देखा। मगर जो कुछ भी देखा उससे मैं संतुष्ट हूँ—अर्थात राँची मुझे अच्छा लगा। यद्यपि राँची की विचित्रता क्रमशः मेरे पास कम होती जा रही है, और आजकल वैसे भी सब स्थानों के रूप-रंग प्रायः एक जैसे लगते हैं। अतएव विदाई!

सुकान्त भट्टाचार्य।

पुनश्च—मुझे लौटने में बहुत देर होगी। उतने दिन ... दया कर भाई की देखभाल करना। कारण, यहाँ के प्राकृतिक आकर्षण से, पारिवारिक आकर्षण ज्यादा महत्त्वपूर्ण है; कब जाऊँगा, उसका कोई पता नहीं। 'वन्या का काम और कितना समय लेगा? पत्र का उत्तर देना।

(तीन)

बेलेघाटा
16 अप्रैल 1940

भूपेन,

एक पत्र लिख रहा हूँ। अत्यंत अनिच्छा अथवा अज्ञानता का विचार भले मन में न आया हो फिर भी बहुत ज्यादा दिल लगाकर यह पत्र नहीं लिख रहा हूँ। एक सुयोग की लालसा वश यह पत्र लिखने को बाध्य हुआ हूँ; क्यों कुछ मालूम नहीं। तुम्हें पत्र लिखने की इच्छा करती रहती है, उसका मैं दमन नहीं कर सकता। तब भी लिख कर मन तृप्त नही होता, मन में लालच और ज्यादा बढ़ जाता है। अभी-अभी चिट्ठी लिखी है। फिर हो सकता है तुम्हें देखने की इच्छा हो। आग में शायद पतंगा कूदना चाहेगा; चंचल मन का अंचल शायद बसंत की हवा में हिलोरें लेना चाहेगा, मन की मादकता थोड़ी और बढ़ेगी, किन्तु पतली कमजोर शाखाओं के हिलोरों से सुख भरे दिन सूखे पत्तों की तरह झड़ जाएँगे। आजकल बीच-बीच में अव्यक्त अभिलाषाएँ रेंगने वाले जीव की तरह सारे शरीर में रेंगकर मन को आक्रांत करना चाहती हैं। मैं ये सब नहीं सह पाता। मेरे चारों ओर की विषाक्त साँसें मुझे ही झुलसाने दौड़ आते हैं, और उनका यह रोमांच से भरा हुआ विश्वास मुझे लुब्ध करता रहता है। आशा की चिता में मेरे मृत्यु के दिन सन्निकट हैं। इसलिए चाहता हूँ अपना निर्वासन। तुम लोगों से दूर रहना चाहता हूँ; तुम लोगों को भूल जाना चाहता हूँ; दीन हीन होकर जीना चाहता हूँ। अतएव, सुखी दिनों को भूलकर, तुम लोगों से सीखे हुए 'मारण मंत्र' को भूलकर, ध्वंस के प्रतीक स्वप्न को भूलकर, मैं मृत्युमुखी जीना चाहता हूँ। किन्तु यह मुझसे न हो पायेगा—मेरा ध्वंस—अनिवार्य (निश्चित) है। आज समझ में आया इतना दुख लोगों को क्यों होता है? सब सही रास्ते में क्यों नहीं चल पाते? भभकता यौवन, जीवन में दिशाभ्रम उत्पन्न करता है। अचानक स्वप्नाकाश में स्वाभाविक (वास्तविक) मेघ आपस में जुड़ कर खड़े हो जाते हैं, झुण्ड में, हाथों में रहता

है प्रबल भूखा धारदार हथियार (खड्ग) और अक्षमता की काठ की हाँडी में उनके सर कट जाते हैं। यही तो जीवन है। प्रथम यौवन के आलस और सतर्कहीन मुहूर्त में हमलोग ही अपनी श्मशान की चिता सजाते हैं, आनंद भरे दिनों को परोसने में। अशिक्षा हमारे देश में यौवनों में दुर्भिक्ष लाएगा ही और इसलिए उनकी अग्नि भरी भूख हमारे मन को तिक्त, अतृप्त, विकृत बना देती है। जीवन में अनैतिकता आ जाती है, जीने की शक्ति समाप्त हो जाती है, काम में अड़चन आता है, तब ही हम सीखते हैं, धोखे देना और उसके बाद ही आता है जीवन छोड़ कर, चुपचाप गुप्त मकसद करने का पक्का इरादा।

यात्रा के आरंभ में ही सर पर हाथ पकड़कर बैठ गई है मेरी कर्मशक्ति, इस धूल-धूसरित कोहरे से भरे पथ पर। थकावट की शून्यता ही बता देती है, पथ कितने अधिक हैं, परंतु पेट्रोल नहीं। क्या तुम बता सकते हो इस पेट्रोल की ख़ोज? कई दिनों से अव्यावहारिक स्टेयरिंग में जंग लग गया है, वह अब हिलना नहीं चाहता, मुझे सही पथ पर नहीं चलाता। क्या तुम लोग उस मलिनता को साफ़ कर सकते हो, क्या सँवार सकते हो उसकी अक्षमता?

छोड़ो, पहले लिखे गए पत्र का उत्तर क्यों नहीं दिया? पाँव पड़कर मिन्नत नहीं की इसलिए, या मुझ जैसे नकारे व्यक्ति की ये अतिशय आशा है इसलिए? रॉबिन के पत्र के साथ उसी के खर्चे पर पत्र भेज रहा हूँ। मेरे पत्र का जवाब भले न दो, पर रॉबिन के पत्र का जवाब देना। हमलोंगो की परीक्षा 28 अप्रैल को है। पुरस्कार समारोह 19 को है; उस दिन आ सकते हो। खोकोन को कहना मुझे पत्र लिखे। घेलू की क्या खबर है?

इति,
सुकान्त

(चार)

बेलेघाटा,
17/4/42

प्रियवर अरुण,

आज फिर तुम्हें पत्र लिखने की इच्छा जागी। आज के पत्र में मेरी बातें ही विशेष रूप से उल्लेखित होंगी। इसलिए रुष्ट तो नहीं होगे? क्योंकि आज मैं बताऊँगा तुम्हें अपनी समस्याओं की बात, मेरी अपनी विप्लवी अन्तर जगत की बातें। मेरे इस पत्र पर शुरू से अंत तक...इन बातों का ही सम्पूर्ण विवरण रहेगा। एक बार जब तुमने मेरे आदि और अंत को जानने की उत्सुकता दिखाई है, तब तुम्हें धैर्य पूर्वक इस पत्र को पढ़ना ही होगा और मेरे लिए अपने विचार और उद्देश्य लिखकर भेजने होंगे।

आज अभी-अभी...तुम्हारे ही बारे में सोच रहा था, सोचते-सोचते सोचा, तुम्हें ही पुकारा जाय, परामर्श और समस्याओं के समाधान के लिए। किन्तु उसके पहले जानना चाहूँगा, मेरे इस प्रेम की आस्था और सहानुभूति ने, तुम्हारे हृदय के किसी कोने में कोई घर बनाया है कि नहीं? अगर न बनाया हो, तो यह पत्र पढ़ना अभी इसी वक्त बंद कर सकते हो। वैसे भी एक बार कौतूहल जताकर तुमने उस दौरान, मेरे मन के गुप्त कमरे के दरवाजे को तोड़ दिये हैं, फिर भी तुमसे पूछना चाहता हूँ, मेरी इस समस्या पर किंचित मात्र दर्द तुम्हें महसूस हुआ है कि नहीं। अगर महसूस हुआ है तो सुनो :

मेरी प्रमुख समस्या यह है कि, मैं आज भी नहीं जानता वो मुझे प्यार करती है कि

नहीं। कितने ही दिन मैंने सोचा कि उसके पास जाकर आमने-सामने पूछूँगा, इस बात का जवाब चाहूँगा, पर हिम्मत नहीं हुई। एक दिन आगे बढ़ा था, किन्तु उसकी शांत आँखों की ओर देख कर, मेरे बोलने की शक्ति खो गई थी, चेतना शून्य हो गया था।

मुझसे प्यार करती है कि नहीं यह तो नहीं जानता, पर सम्मान करती है, यह अच्छे से मालूम है।

मुझे संदेह है, शायद वो मुझे प्यार करती है, और मैं भी उसे चाहता हूँ यह उसे मालूम है। किन्तु सोचने पर उसकी उसकी प्रेमहीनता की अनुभूति होती है।

वास्तव में, मेरे प्रेम की वेदना अभिनय जैसी है। हो सकता है जिस सीढ़ी से मैं ऊपर जा रहा हूँ, देखा कि उसी सीढ़ी से वह नीचे उतर रही है, नीचे उतरते समय उसकी क्षणिक दृष्टि मेरी आँखों से टकराती है तो मेरे हृदय में मधुर प्रेम की सिहरन जाग उठती है। थोड़ा सा आनंद, किन्तु अनुभवहीन वेदनाओं में उलझ जाता हूँ। एक घर में कई लोग हों, उनके बीच जब मैं बातें करता हूँ, तब अगर देखता हूँ, वह मेरी ओर देख कर मेरी ही बातें सुन रही है, तब मेरे बोलने का चातुर्य और ज्यादा बढ़ जाता है, मैं खुशी से व्याकुल हो जाता हूँ, ऐसा है, उसके प्रति मेरा प्रेम। किन्तु बड़ी व्यथा है।

साल भर पहले, उसके साथ बात करने का मौका मिला था, और मैंने भी अवसर नहीं गँवाया। अवश्य ही इससे पहले भी...उसी की कोशिशों से अस्वाभाविक रूप से उससे बातें करनी पड़ी थी। इस घटना के संबंध में एक बार तुम्हें बताया था, फिर भी एक बार और बता रहा हूँ—एक सभा का आयोजन किया गया, उसमें वह उपस्थित थी...! उस सभा में हमें बात करना पड़ा। पहले तो वह लज्जावश बात कर ही नहीं रही थी, अन्त में उसने पूछा, सिगरेट पीने से क्या नुकसान है? मैं अब तक उदास हो (अर्थात मुँह बनाए) आयोजकों के कार्यक्रम देख रहा था, अब अति कष्ट से जवाब देने लगा, उस दिन बातचीत और आगे नहीं बढ़ी।

इधर मैं मन ही मन उससे बात कर अमृत प्राप्त कर रहा था। इसके बाद उससे बातें करने की तृष्णा असीमित हो गई, वह तृष्णा आज भी दूर न हो सकी।

इसके माह भर बाद ही एक और मौका मिला। हम लोगों के बेलेघाटा में किसी कारणवश वह आई। सारे दिन वह यहाँ रही, किन्तु मैंने उससे कोई बात नहीं की। किन्तु शाम के बाद एक ऐसा समय आया जब हम दोनों एक कमरे में अकेले रह गए। दोनों रेडियो सुन रहे थे। रेडियो पर गाना बज रहा था 'प्रिय आज भी नहीं, आज भी नहीं'। किन्तु गाने पर मेरा ध्यान नहीं था, और ध्यान देने योग्य मेरी हालत भी तब नहीं थी। क्योंकि वह पास, बहुत नजदीक बैठी थी, दूसरी ओर मुँह फेर कर एकांत मन से गाना ही सुन रही थी और मैं मोहित हो उसे देख रहा था, अत्यंत सुंदर पोशाक में सजी हुई, वह मुझे बड़ी प्यारी लगी। सोचा, दोनों का एक घर में अकेले होकर भी बातें न करना नितांत अशोभनीय लगेगा। तब बड़े समय बाद मन में शक्ति संचय कर उसे पुकारा '...' किन्तु गले से अत्यंत क्षीण कम्पित आवाज निकली, जो वह सुन न पाई। अब कुछ जोर की आवाज से पुकारा, उसने वह सुन लिया। चमक कर मेरी ओर देखते। मैंने भी अब तक की याद की हुई बातें किसी प्रकार (एक साँस में) लगातार बोल दी, 'अगर चाहो तो तुम मुझसे बातें कर सकती हो।'

उसने सर झुकाया, पर कुछ नहीं बोली। ऐसा लगा जैसे वह पसीने से भीगी जा रही थी। वह दिन मेरी जिंदगी का शुभ दिन था, जी भर के उस दिन उसकी बातें सुनी थीं। उसके बाद भी महीने भर बाद आया था आखिर शुभ दिन उस दिन कोलकाता में प्रायः एक मील का रास्ता हम दोनों को साथ चलना पड़ा था। मोटर गाड़ी में बैठकर हम दोनों उपक्रमनिका

के घर गए थे। उसकी तमन्ना थी, उस दिन उपक्रमनिका का के साथ मेरी बातें करवानेकी। सौभाग्यवश मोटरगाड़ी हम लोगों को वहीं उतारकर लौट गई और हमलोगों को भी वहाँ से लौटती बेर साथ-साथ चलने का अनुभव मिला। उस दिन एक नशा सा उत्पन्न हो गया था उसके साथ साथ बातें करते-करते और चलते-चलते। मन में सोच कर देखो, कोलकाता के राजपथ पर एक सुंदरी—सुवेषा लड़की के साथ, पास-पास चलना क्या काम सौभाग्य की बात है! उसके बाजू में चलकर, उसके इतने नजदीक रहकर, जो आनंद मुझे उस दिन मिला, वह मेरे बाकी जिंदगी की एक यादगार निशानी बन गया। वो अब हवाई हमले के भय से चली गई सुदूर.... में, और मैं विरह विधुर, तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ, और सोच रहा हूँ रवीन्द्र नाथ टैगोर की लिखी दो लाइन :

मेरी दूसरी समस्या और भी ज्यादा भयंकर है। अगर पह मेरी बातें आत्मीयता ये जान पाए, तो शायद मेरे तिरस्कार की स्थिति नहीं रहेगी। विशेषतः, मेरे विश्वासघात पर.....अवश्य ही अमर्ष का त्याग करेगी। अतएव अब मुझे क्या करना चाहिए, चिट्ठी मिलते ही मुझे बताना।

''पास जब थे, तो पास न जा सका
दूर जब गए, तो लगी उसकी हवा।''

इति,

सुकान्त भट्टाचार्य

पुनश्च : माँ को बोलना इसबार और उन्हें कोई पत्र नहीं लिखा, पर जल्दी ही एक बड़ा लेख उनके समक्ष प्रस्तुत होगा और वे निश्चय ही उनकी बड़ी बहू को देखकर चौंक जायेंगी।

(पाँच)

रेड-ऐड क्योर होम
12/9/1946

भूपेन,

...अब मैं अपनी बात कहता हूँ। तीन हफ्तों से ज्वर से पीड़ित हूँ। पिछले एक हफ्ते से पार्टी के हॉस्पिटल में दिन बीत रहें हैं—और कितने दिन गुजारने होंगे क्या पता? यद्यपि यह पार्क-सर्कस का अंचल है, मगर दँगा फसाद का डर नहीं।

कहा जाय तो एक ही जैसे दिन कट रहे हैं, यद्यपि विभिन्नता (वैचित्र्य) का अभाव नहीं। अनंत सिंह, गणेश घोष छूटकर हमलोंगो के पास आये थे—कहा जाय तो वह एक विचित्र बात है। उस दिन जब डायनिंग रूम में बैठकर खाना खा रहे थे, उसी समय कॉमरेड जोशी घर में घुस आये और हमारे भोजन की जाँच की। इसे भी विचित्र कहा जा सकता है।

मगर, कल मेरी जिंदगी का सबसे यादगार दिन बीता। मुक्त विप्लवी जन सदलबल (अनन्त सिंह को छोड़कर) सभी लोग हमारे यहाँ आए थे। अनुष्ठान के बाद वो लोग मेरे पास आए थे, मुझे शुभेच्छा देने। विप्लवी सुनील चटर्जी ने मुझे गले लगा लिया और एक दूसरे विप्लवी ने अपने गले की माला निकाल कर मुझे पहना दी। गणेश घोष बोले—''मैं आपको बहुत अच्छी तरह जानता हूँ।'' अम्बिका चक्रवर्ती व अन्य बन्दीजन, सभी लोगों ने मेरा अभिनंदन किया—मैं तो आनंद से भाव-विभोर हो गया। सच बात कहूँ तो इतना ज्यादा गर्वित मैंने अपने आप को कभी भी महसूस नहीं किया। फ्रांस और अमेरिका में मेरी जीवनी निकलेगी जिस दिन उस दिन भी इतनी सार्थकता नहीं मिल पाएगी मेरे इस रोग जीर्ण अशिक्षित जीवन को। 11 सितम्बर की यह संध्या मेरे लिए अविस्मरणीय है।

हॉस्पिटल में रहने के निर्धारित दिन धीमी रफ़्तार से बीत रहे हैं। बिस्तर में सोये हुए

सुबह की झिलमिल धूप को दोपहर में देवदार के वृक्ष के पत्तों पर खेला करते देखता रहता हूँ। मंद-मंद गति से सारे दिन यहाँ हवा बहती रहती है। बिस्तर पर रात में चाँद की रोशनी सुशोभित हो उठती है। डलहौजी स्क्वायर के ऑफिस में बैठ कर ऐसी आश्चर्य भरी निस्तब्धता किसी भी दिन (कभी भी) अनुभव नहीं कर पाओगे। अभी दोपहर का वक्त है, किन्तु चारों ओर है इस वक्त रात की निःशब्दता; केवल बीच-बीच में मुर्गों की बाँग याद दिला देती है, ये रात नहीं—दिन है।

भले रेडियो, पुस्तकें, खेल कूद इत्यादि—समय व्यतीत करने के कई साधन हैं, किन्तु मुझे सबसे अच्छे लग रहें हैं देवदार वृक्ष में धूप की झिलमिल। हवाओं में उड़ते हुए खंड-खंड मेघ के टुकड़ों को देखते रहना मन को बहुत ही दर्शनीय लगता है। ऐसे चुप रह कर, लगता है कई युग, कई शताब्दी बिताई जा सकती हैं।

जाने दो, अब और नहीं। अस्वस्थ शरीर की वजह से बहुत ज्यादा भावुक हो उठता हूँ, कुछ बुरा न मानना।

मँझले भाई से सुना कि तुम प्रायः 'स्वाधीनता' पत्रिका खरीद कर पढ़ रहे हो? सुन कर बड़ी खुशी हुई। 'स्वाधीनता' को अगर नियमित कर लोगे तो और भी ज्यादा खुशी होगी...

—सुकान्त

(छह)

जादवपुर टी बी हॉस्पिटल

सात दिन हो गये यहाँ आये। यहाँ बड़ा अकेलापन महसूस होता है। सारे दिन चुपचाप गुजारना पड़ता है। शाम को किसी के आने पर आनंद से पागल सा हो जाता हूँ। मँझले दादा नियमित रूप से आते हैं, किन्तु सुभाष नियमित रूप से नहीं आता। कल मँझली भाभी और मौसी को लेकर मझले दादा आये थे। उनके चले जाने के बाद मन बड़ा उदास हो गया। वास्तव में श्याम बाजार के रहन सहन को छोड़कर, यहाँ पर नियमित कष्ट हो रहा है।

तू क्या दंगे के अवरोध में फँसा हुआ है? क्या कलकत्ता आना जाना हो रहा है? जो भी हो, मौका मिलने पर मुझसे मुलाकात अवश्य करना। मिलने का समय है शाम 4 बजे से 6 बजे तक। सियालदाह से ट्रेन से आ सकते हो या बस से भी। यहाँ 'लेडी मेरी हरबर्ट ब्लॉक' में एक नम्बर बेड पर हूँ। आशा है मेरी चिट्ठी मिलेगी। अगर मिलने में देरी हो तो चिट्ठी भेजना।

5/4/1947

—सुकान्त

(सात)

Red–Aid Cure Home
10 Rawdon Street
Park Street P O
Calcutta 16
3/10/1946

भूपेन,

चौकीदार जी को धन्यवाद—धन्यवाद पोस्ट ऑफिस के कर्मी और चपरासी को। तुम्हारी पहली तारीख की चिट्ठी आज तीन तारीख को मिली।

कलकत्ता में क्या स्वाभाविक रूप में चल रहा है?

अस्वस्थता के बीच चिट्ठी मिलने पर और चिट्ठी लिखने पर अच्छा ही लगता है। यद्यपि इस वक्त मेरा ज्वर 100 डिग्री के ऊपर है, फिर भी, सोये-सोये चिट्ठी लिखने में बहुत अच्छा महसूस हो रहा है।

तुम जो मुझसे मिलने नहीं आए, इससे मुझे खुशी ही हुई है। जब मैं तुमको चिट्ठी भेज रहा था, उस वक्त भी कलकत्ता की हालत इतनी बुरी नहीं हुई थी, इन अप्रत्याशित घटनाओं के बावजूद, समाचार पत्र बंद नहीं हुए।

मैंने सिर्फ तुम्हारा सान्निध्य पाने के लिए तुम्हें यहाँ नहीं बुलाया था, बल्कि अभी-अभी छूटे चटगाँव शस्त्रागार लूट के वीर, काली चक्रवर्ती, के साथ तुम्हारी बात करवाने के लिए बुलाया था। शिशु की तरह सरल इस व्यक्ति से तुम्हारा परिचय तुम्हारे लिए एक खुशी की बात होती।

मेरे तो वो बहुत अच्छे दोस्त बन गए हैं। वास्तव में सब वीर पुरुष प्रायः शिशु की तरह हँसमुख, सरल और आमोद प्रिय होते हैं। इसके अलावा भी विख्यात् श्रमिक एवं कृषक नेतागण यहाँ अस्वस्थ अवस्था में एकत्र हुए हैं, उनके साथ भी परिचय कराने की मेरी लालसा थी। खैर जो भी हो, जब तक कोलकाता की हालत ठीक न हो जाये, तुमसे मुलाकात नहीं करना चाहता। इस बीच, मैं स्वयं ही छुट्टी मिले तो अचानक एक दिन तुम्हारे पास हाजिर हो सकता हूँ। फिलहाल कुछ कह नहीं सकता।

दिन अच्छे ही बीत रहे हैं यहाँ। सब लोग ही यहाँ मेरे अपने बन गए हैं, सभी मुझको चाहने लगे हैं। डॉक्टर और रोगी सभी मेरे संग मिलकर मजे लेते हैं। एक बार ऐसा ख्याल आता है कि बहुत अच्छा हूँ—शहर के रक्ताक्त शोरगुल से दूर इस निर्जन, श्यामल, छोटे से एक द्वीप जैसी जगह में बहुत अच्छा हूँ। किन्तु फिर भी मेरी जड़ें मजबूती से उग नहीं पायीं, बाहर की दुनिया की रूप, रस, सुगंध से समृद्ध लहराते हुए हाथ सुबह शाम तलवारों की तरह झलक उठती हैं। अब हूँ, बंद-झीलों की दुनिया में; जहाँ से इच्छा होती है कि मछली की तरह कूद कर गिरूँ इस कर्म चांचल्यमय पृथ्वी के स्रोत में। सुबह की आश्चर्य अद्भुत धूप किसी-किसी दिन दिनभर केवल यही मंत्रणा देती है निकल पड़ो; और शहर की सीमाओं को छोड़कर गाँव की हरियाली में मुँह छुपाने के लिए देती है अवांछित परामर्श। सच में ऐसे समय मन को, असहनीय सा लगता है कलकत्ता।

उपन्यासों के संदर्भ में तुम्हारे दुस्साहसिक धैर्य ने मुझे सचमुच प्रेरणा दी है।

पूजा में कहाँ-कहाँ लिखा है, तुम जानना चाहते हो? पता चला है, एकमात्र पूजा विशेषांक 'स्वाधीनता' व 'परिचय' एवं किशोरों की वार्षिकी 'शताब्दी के लेख' में मेरा लेख छपा है। इसके अलावा इन समाचार पत्रों एवं संकलन में भी लेख निकलने की बात है (1) शारदीय वसुमती (2) शारदीय आजकल (3) उज्जैनी— संकलन (4) मेघना—संकलन (5) क्रान्ति—संकलन (6) विमला प्रसाद मुखोपाध्याय सम्पादित एक संकलन और (7) पूजा की 'रंग मशाल'।

तुम कैसे हो, कभी चिट्ठी में नहीं लिखते हो, कोई सवाल भी नहीं किया। तुम लोगों की इस बार की पूजा कैसी रही, लिखना। खोकन, ऐसा चुप सा क्यों है? मेरे मामा के पद से तो उसे पदच्युत नहीं किया गया। विजया की शुभेच्छा और प्यार।

संपर्क : 63/4, नेहरू नगर वेस्ट, भिलाई नगर–490020 (छ.ग.) मो. 9329509050

चार कविताएँ

आर. चेतन क्रांति

इतवार

इस दिन कोई नहीं होता
इस दिन अपने अँधेरे में चेहरा छिपाकर
निश्चिंत तुम सो सकते हो चाहे जितनी देर

इतिहास में बहुत पीछे
और भूगोल में बहुत गहरे जाकर
किसी बड़े दिमाग ने सोचा होगा इसे

सोचा होगा
कि हर किसी को
कम से कम एक दिन तो मिलना ही चाहिए
आराम के लिए
डराने के शौकीनों को भी डरने के अभ्यासियों को भी
गुलामी के खूँख्वार सिपाहियों को भी
आजादी के तलबगार तिलचट्टों को भी

इस दिन तुम किसी डरावने ख्याल को अपने जेहन में नहीं आने देते
हर भय से आजाद
सिर्फ अपने आसमान में रहते हो

नीले उसके रंग में
हवा जैसे पारदर्शी
सारे मैल से फारिग
अपनी आशंकित इच्छा के आगोश में नग्न, अनाथ पर पूरे

यही वह क्षण है
जिसके बारे में बार-बार ग्रंथ लिखे गए हैं
यही वह घड़ी है
जिसके लिए दुनिया के सारे युद्ध लड़े गए हैं
जिसके लिए इतने वीरों ने अपना कंबल जैसा मोटा लहू बहाया है

यही इतवार
जो इस भूतहा कैलेंडर में
एक खिड़की की तरह खुला
तुम्हें देख रहा है

तुम जो तपती दोपहर के आसमान तले
परदों के नीमअँधेरे में
खाना खाते हुए अचानक ठिठक जाते हो
और रोटी को देखने लगते हो जो तुम्हें पराई लगती है
किसी और की दी हुई।

इलाज से पहले

अच्छे खासे चलते फिरते आदमी का पड़ जाना बीमार

बेशक यह कोई रासायनिक पेचीदगी होगी
या हवा में उड़तीं कारस्तानियों का कारनामा
या ब्रह्मांड में भटकते ग्रहों के आपसी झगड़े का नतीजा

लेकिन
इलाज शुरू करने से पहले यह जरूर देख लें
कि लगातार
किसी और के लिए चुकने थकने
लगातार किसी और के इशारों पर उठने-बैठने
किसी और की इच्छा से सोने-जागने
की प्रतिक्रिया में तो उसने स्वास्थ्य से मुँह नहीं मोड़ लिया!

देख लें कहीं उसकी नसें
उन इनकारों से तो रुद्ध नहीं हो गयीं
जिन्हें वह बार-बार करना चाहता था
पर कर नहीं पाया

उसके भीतर दवाइयाँ झोंकने से पहले
टटोलकर देख लें कि वह अब भी शरीर है
या पहले ही मिट्टी हो चुका है!

कि उसे जो हुआ है वह तुमसे उसका प्रतिरोध तो नहीं
क्या मालूम वह सिर्फ निजात पाना चाहता हो तुमसे

उसकी देह को खोलकर देखने से पहले
एक बार उससे पूछ लें
कि वह देह उसे अब भी अपनी लगती है या नहीं
ऐसा न हो कि उसे तुम्हारी संपत्ति मानकर
वह खुद ही उसके खिलाफ हो बैठा हो।

पत्र

महोदय,
यहाँ कुल मिलाकर सब ठीक है
लोग सामान्यतः सिर झुकाए नजरें बचाए
आते जाते हैं

शोर-शराबा भी अब उतना नहीं रहा

जिनको नाराजगी है
धीरे-धीरे चुप रहना सीख रहे हैं

सुखी और उद्दंड लोग
जिनका आपने खास ध्यान रखने को कहा था
प्रसन्न हैं

सुबह उठकर आरती करते हैं
और शाम को वापस आकर भी
कहीं कोई व्यवधान नहीं

लेकिन लोहे के पुल के नीचे
एक खोखल है
उसमें एक मकड़ी जाला बुन रही है
उसके बारे में क्या करना है
मार्गदर्शन करें
आपके उत्तर की प्रतीक्षा में
हम आपके स्वयंसेवक।

घर

घर
जो पूरी दुनिया को बाहर कर देता है

जिसकी पहली दीवार
मेरे और तुम्हारे बीच खड़ी होती है
फिर दूसरी तीसरी और चौथी
और फिर एक छत
जो आसमान की कृपाओं के विरुद्ध
हमारा जवाब है

घर
जिसमें एक दरवाजा होता है
जहाँ हम कुत्तों और बिल्लियों के खिलाफ
डंडा लेकर खड़े होते हैं
और संसार भर में फैले
अपने शत्रुओं को ललकारते हैं

घर जिसमें एक खिड़की होती है
जहाँ से झाँककर हम
शत्रु-पक्ष की तैयारियाँ देखते हैं
और उँगली घुमाकर
हवा में उड़ता रक्त चखते हैं

घर
जिसकी चौखट पर हम एक बटन लगाते हैं
जिससे सुबह गायत्री मन्त्र बजता है
और शाम को हनुमान चालीसा

वह घर
जो भूमि-गर्भ में खौलते लावे की छाती पर
ठेंगे की तरह खड़ा है
उस घर को मैं
जिजीविषा का प्रतीक कहता
पर तुमने उसे जाने किस जादू से
लालसा का दुर्ग बना दिया
अकसर वहाँ घुसते हुए मुझे भय लगता है।

संपर्क : 125/6, चंदन विहार, संत नगर वेस्ट, बुराड़ी, दिल्ली-110084 मो. : 9891199861

पाँच कविताएँ

आशुतोष दुबे

विदेह

कभी नाखून काटना भी
पहाड़ की तरह लगता है
दाढी बनाना अजाब
आलमारी खोलने पर
कमीजों की हँसी सुनाई देती है
उस पहिये की आत्मा मेरे भीतर काबिज है
जिसे कोई बच्चा
एक डंडी से लुढ़का रहा था
और अब उस घूमते पहिए के पीछे
दौड़ते रहने से ऊब कर पीछे रह गया है
पहिए को साधे रखने वाली रफ़्तार
मायूस होकर जा चुकी
अब टेढ़ा मेढा होता हुआ
मैं ज़मीन पर गिरने ही वाला हूँ
भाड़ में जाएँ
न जाने किस तरफ़
भागते दौड़ते हाँफते लोग
उनके कदमों की आवाज़ भी
अब बहुत दूर चली जाए

मेरे ऊपर गिरते रहें सूखे पत्ते और धूल
जिनके ऊपर से सरपट गुज़र जाए गिलहरी

कोई भटकती हुई चींटी
मुझे टोहने चली आए
कभी हवा मेरा चेहरा देखने के लिए
ज़ोर से चले और उसे कुछ न दिखे
नाम और निशान
घुलते रहें बेआवाज़
पुँछते जाएँ मेरे तमाम पते
हर तरह की तख्ती से

शक्ति के नियम

विजेताओं की विनम्रता एक सुन्दर दृश्य बनाती है
विजय में विनय जैसे कुछ भला भला सा अजूबा
जैसे अफ़सर का आपको देख कर मुस्कुरा देना
हाकिम का पहचान लेना
क़ामयाब व्यक्ति का एक बार में ही फ़ोन उठा लेना
यही उसके भलेपन और सहजता की
तमाम कहानियों की कुल जमापूँजी है
बाकी असरदार द्वारा किए जाने वाले अपमान का क्या है वह तो इतना नियमित है
कि कुदरती है
अधीन को अपमानित न करना शक्ति के नियमों के खिलाफ जाना है

भूलना हमेशा एक फ़ैसला है

भूलना हमेशा एक फ़ैसला है
उसकी लगातार कोशिश
एक हार है
एक याद
हमेशा इस हार की याद है

बिल्लियाँ

बिल्लियों के पास मुहल्ले के तमाम घरों के राज़ हैं
भगाने वालों के लिए उनके पास

ख़तरे को तौलती चुनौती भरी भरपूर नज़र है
वे कुत्तों की तरह सरेआम नहीं करतीं प्यार
बल्कि आदमियों की तरह भी
दिखावे से भरा नहीं होता उनका अभिसार
उनमें एक अलग ही ठसक होती है
और घात की सतर्कता
वे चिड़ियों और चूहों की हलचल के हिसाब से
अपनी एक-एक मांसपेशी को हिलाती हैं
और ठीक क्षण के इंतज़ार में स्थिर और एकाग्र बनी रहती हैं
वे कहाँ अपना बुढ़ापा काटती हैं
कहाँ जाकर देह छोड़ती हैं
उन्होंने सफलतापूर्वक आदमी से
अपने मामले गोपन रखे हैं
बस वे अपने आपसी झगड़े
आपस में नहीं सुलझा पातीं
और न ही चुपचाप सिसक पाती हैं
वे घर घर में तरह तरह का दबा हुआ रोना सुनती हैं
और म्याऊँ तक नहीं करतीं

लेकिन उनका खुले गले का रोना
मनुष्यों को बिल्कुल बर्दाश्त नहीं
वे कह नहीं पातीं
कि अगर मार सको तो
ये पत्थर जो तुम हमें भगाने के लिए मार रहे हो
उससे शोक को नहीं
दुख को मारो

कुत्तों की नीद

कुत्तों की नींद
कुत्तों का स्वप्न है

सोते हुए उन्हें कोई उजबक पत्थर मार देता है
किसी अजनबी कुत्ते की आहट
उनके स्नायुतंत्र को उत्तेजना से भर देती है
उनकी ओर बिस्किट टोस्ट फेंकने वाले
किसी की परिचित पदचाप
उन्हें झिंझोड़ देती है

गर्मियों में वे पेडों की छाँह में सुस्ताते हैं
सर्दियों में उन्हें भट्टी की राख शरण देती है
नींद में उनकी देह अपनी साँस के झूले में झूलती है
कुत्तों की नींद
आदमी के प्राचीनतम भ्रमों में से एक है
जिसने उन्हें अपनी नींद की ख़ातिर
जागने के काम पर रखा हुआ है।

संपर्क : 6, जानकी नगर विस्तार, इंदौर-452001 (म.प्र.) मो. : 9826370577

तीन कविताएँ

जावेद आलम ख़ान

हाशिए के लोग

हम सूक्तियों में जीवन तलाशने वाले लोग
कभी व्याख्याओं में व्यक्त नहीं हो सके
हम तत्सम की गरिमा से निष्कासित
देशज बस्ती के बदतमीज बाशिंदे कहलाए
हमारा जीवन मुहावरों का कर्जदार है
मनुष्यता के रजिस्टर से बेदखल होकर
हमारा नाम जाति के कोष्ठक में दर्ज हुआ।

हमने चाक पर घड़े बनाए जिनमें ऋषि जन्मे
ऋषि ने समुद्र पिया और हम पानी से वंचित हुए
ऋषि ने व्यवस्था बनाई और हम बहिष्कृत हुए
हमारे घड़े उनके सर पर रहे और हम पददलित हुए।

हमने गंदगी साफ की और गंदे कहलाए
हवा में खुशबू बिखेरने के लिए हमने फूल खिलाए
और खुद अपनी चमड़ी को बच्चों की बिवाइयों पर सिलकर
दुर्गंध को समेटे धरती में खाद बनकर दब गए

हमें समझाया गया कि दुनिया में सिर्फ हम मुकम्मल ईमान हैं

एक सफ में नमाज पढ़ना हमारी पहचान है
हमारी उम्मत अशरफुल इंसान है
हमें ईमान में एक मस्जिद में एक बताकर
बाहर जुलाहे, दर्ज़ी और कसाइयों में बाँटा गया
हमें रोटी खिलाकर बेटी से वंचित किया गया।

हम अलग अलग अक्षरों की एक ही लिपि थे
असल में हम ही अनेकता में एकता की असली तस्वीर थे
हद दर्जे की कायरता छिपाए जलसे में उमड़ी धार्मिक भीड़ थे
हमारे सुख अलग-अलग थे मगर दुःख एक
हमारे सपने अलग-अलग थे मगर डर एक
हमारे दोस्त साधारण थे और दुश्मन अनोखा
जिसके शरीर अलग-अलग थे
मगर हर शरीर पर एक ही चेहरा था
उसकी आँखों में खून था रगों में पानी था
विदेशी शराब सा लाल।
क्रूरता की हद तक खानदानी था।

उदास रोशनी का सफरनामा

एक चमकीली रात में उदास तारों के साथ
मैं निकल जाता हूँ अक्सर किसी अनजान सफर पर
और देखता हूँ
नगरीकरण से प्रताड़ित गाँव का पुराना बरगद
छठ मैया के अर्घ्य को जोहता शहर की कृत्रिम झील का घाट
चौराहे पर लगी प्रतिमा को अपने डैनों में छिपाए
झपकी लेते काले रहस्यमयी परिंदे
आपबीती सुनाने को आतुर भाषा की तलाश करती
बंधन का अभिशाप झेलती ज़िंदा परछाइयाँ

घरों से बहुत दूर
म्यूजियम की भीड़ में खुद को तलाशता
अपना प्रतिबिंब खोजता कोई आदमकद आइना
उसी तरह उदास है
जैसे डाँट पड़ने के बाद खड़ा खामोश बच्चा
जैसे रमज़ान के बाद ख़ाली पड़ी मस्जिदों के अहाते
जैसे पतझड़ की रुत में

झड़े पत्तों को अपनी तलहटी में देखता
कोई नग्न बागीचा

न्यूज़ चौनलों पर चीखते एंकरों की उलटबांसियों में
गुम हुई आम आदमी की आवाज़
सन्नाटे पर तैरते हुए
पाँच बच्चों के लिए बनी अंडे की सब्जी के लालच में
बटलोई में शोरबे और आलुओं के बीच दबे
चार अंडों को ताकते पिता की चिंता में घुल जाती है
तमाम दफ्तरों में भटकती
सरकारी जुमलों में दफन हुई उम्मीदों की रूहें
रात में चमगादड़ बनकर पेड़ों पर उलटी लटक जाती है।

मोबाइल चलाते चलाते सोया हुआ किशोर बड़बड़ाता हुआ देश के गद्दारों को गोली
मारने का फरमान सुनाता है
और तमाम मेढक टर्राते हुए सन्नाटे की हत्या कर देते हैं
रात की खुमारी उन्माद में बदल चुकी है
मिथ्या गर्व के स्वप्नलोक में चक्कर काटती देशभक्ति
बंदूक बनकर अपनी ही कनपटी पर तनी है
और मुझे पृथ्वी की तलहटी पर मौजूद मिट्टी
बारूद में बदलती हुई जान पड़ती है।

मीलाद

मैं लौट जाना चाहता हूँ उस बच्चे के पास
जो सवाबो अज़ाब से बेखबर
जलेबी की फिराक में अगली सफ़ की तरफ
बढ़ता जाता है मीलाद के बाद

अपनी जगह छोड़ते बच्चों की अधीरता
नागवार लगती है पिछली पीढ़ी को
इधर बच्चा सरका
उधर कुछ आँखों का रंग बदला
आशंकाओं के तमाम बादल
उसके सर पर मँडराने लगे
अनगिनत आँखों से निकले साँप
उसके शरीर पर रेंग रहे हैं
डाँट अब पड़ी कि तब पड़ी

धड़धड़ होती स्पंदन की चक्की
वक़्त के पहिए के साथ
साँस रोके खड़ी है

बच्चा सरका, फिर बढ़ा
बादल उमड़ा, फिर भरा
भरते भरते भारी हुआ
फिर पिघला और खुलकर बरस पड़ा
वर्ल्ड कप की ट्रॉफी की तरह
हमजोलियों को जलेबी दिखाता
बच्चा मुस्कुरा उठा
मुस्कान चेहरे दर चेहरे फिसलती हुई
मस्जिद के आँगन गुंबद मीनारों को सहलाती हुई
अनुभवी आँखों में भी पसर गई
सागर मचल गए
हरसिंगार झर गए
रात की रानी महकने लगी।

वो महक और मुस्कान
मैंने सँभालकर रखी थी यादों की जेब में
पता नहीं किस गिरहकट ने हाथ की सफाई से
मुझे कंगाल कर दिया।

---

* मीलाद - एक छोटा सम्मेलन जिसमें हजरत मुहम्मद साहब की प्रशंसा में तकरीरें और नातें पढ़ी जाती हैं।

संपर्क : हाउस नंबर 380, थर्ड फ्लोर, पॉकेट 9, सेक्टर 21, रोहिणी, दिल्ली 110086, मो. : 9136397400

पाँच कविताएँ

संजीव कौशल

बाईपास

मेरे शहर की राह
जो तेरे शहर से गुजरती थी
एक बाईपास बन गया है वहाँ
जैसे चाँद की एक खाँप
दराँती से कटी हुई

तख्तियों पर टँगा तुम्हारा शहर
कँपकपाता रहता है हर वक़्त
बहुत तेज गुजरती हैं अब गाड़ियाँ
पलक झपकते ही छूट जाता है पुराना शहर
छूट जाती हैं
पहचानी हुई जगहें
पहचाने हुए चेहरे
मिठाई की दुकानें
चाट के ठेले
सदियों का जमा सारा स्वाद
छूट जाता है

और वह तारा

तुम्हारी लौंग के मोती सा टिमटिमाता
वह तारा भी
अब दिखाई नहीं देता
बाईपास में सब ओझल हो गया।

मज़दूरी की पाठशाला

त्योहार आते हैं
तो सुबह से ही चमकने लगती हैं
छोटे-छोटे बच्चों की आवाजें
कच्चे सुरों से
बजने लगती हैं बूढ़ी गलियों की किवाड़ें

पत्ती ले लो पत्ती
फूल माला ले लो फूल माला
पत्ती ले लो पत्ती
फूल माला ले लो फूल माला

गेंदे के पीले रंग
पीले चेहरों पर धूप से खिल जाते हैं
खेरीज गिनते छोटे छोटे हाथ
अदृश्य मालाओं में गुँथ जाते हैं

त्योहार आते हैं
तो बच्चे मज़दूरी सीख जाते हैं
दस बीस रुपए
उनका बचपन छीन ले जाते हैं

मज़दूर बनने की यह पहली स्टेज है
इंटर्नशिप इन लेबर
पहले उनकी झिझक छीनी जाती है
फिर हँसी
फिर मासूमियत
फिर जो भी है वह सब

रोज़ी रोटी की मायावी भूल भुलैया में
उतार दिया जाता है उन्हें
बाहर जाने के जहाँ रास्ते ही नहीं

वे जीवन भर वहीं छटपटाते रहते हैं

पहले आवाज़ लगाना सीखते हैं
फिर भाव करना
फिर गिड़गिड़ाना
और गिड़गिड़ाने के बाद कितना बचता है आदमी

चक्की के पाटों से बाँध दिए जाते हैं उनके पाँव
उनकी कच्ची आँखें
नहीं देख पातीं
दानों सा पिसता रेत होता बचपन
वे नहीं जान पाते
कि एक दिन
फूलों की तरह
तराजुओं पर तुल जाएँगे उनके सारे रंग
त्योहारों पर लटकी फूल मालाओं की तरह
चौखटों पर ही
सूख जाएगा सारा जीवन।

सरकार

हर जगह मौजूद है सरकार
वहाँ भी
जहाँ उसकी कोई उम्मीद नहीं होती
तभी
तड़के ही पहुँच गई
मालगाड़ी
मज़दूरों को लॉक डाउन के नियम समझाती हुई।

प्रेम गीत

मुँडेर पर बैठा
फ़ाख्ता
सबके सामने बे-झिझक
प्रेमिका को रिझा रहा है
उसके आगे गोल-गोल नाच रहा है
सर झुकाए
उसके पीछे-पीछे कैटवॉक कर रहा है

हर बार वह नज़र फेर लेती है
मगर वह हार नहीं मानता
गले में सारी चाशनी उतार
प्रेम गीत गा रहा है

शुक्र है
परिंदों ने लव-जिहाद नहीं सुना
वरना
यह जोड़ा
सुबह-सुबह बे-मौत मारा जाता।

इंतज़ार

जिनका कोई इंतज़ार नहीं करता
न घर
न व्यक्ति
न ख़्वाब
वे कहीं नहीं लौटते

रास्ते में गिर गए शब्दों की तरह
मौन में खो जाते हैं।

संपर्क : इंदिरा गाँधी शारीरिक शिक्षा विभाग एवं खेल विज्ञान संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय, बी. ब्लॉक, विकासपुरी, नई दिल्ली-110018, मो. : 9958596170

चार कविताएँ

मालिनी गौतम

रेजा

रेजा को स्वप्न में भी
दिखाई देते हैं बड़े-बड़े पत्थर
भूरे-लाल, काले-पीले, सफेद रंग के पत्थर,
नादान रेजा यह नहीं जानती
कि इन पत्थरों से बनेगा
लालकिला या ताजमहल
बुलंद दरवाजा या इंडिया गेट
या फिर ठेकेदार का शानदार मकान
उसे बस इतना पता है कि
उसके झोंपड़े की नींव में
नहीं डलते ये पत्थर।

जब पत्थरों पर उकेरे जा रहे थे
लोकार्पक या शहीदों के नाम
रेजा उकेर रही थी अपनी उँगलियों पर
बारह रुपए घंटे के हिसाब से
बारह अट्ठे छन्नू का पहाड़ा,
सौ में बस चार कम गिनते-गिनते
सौ वाट के बल्ब जितना

तेज छलका था उसके चेहरे पर
जिसके सामने धुँधला गया था
ताजमहल का नूर।

ताजमहल की तस्वीर देखकर
उसे याद आता है
अपनी साथी रेजा का
पत्थर के नीचे दबकर मर जाना
यूँ तो पत्थर के ढेर पर
दो घड़ी सुस्ताने बैठी
रेजा के सामने
कुछ झुका-झुका सा दिखता है बुलंद दरवाजा।

'पेट पर पत्थर रखना'
यह कहावत
बेमानी है रेजा के लिए
उसके लिए तो पत्थर पर ही खिलते हैं फूल
जब खिलखिलाता है उसका बच्चा
आधा पेट भात खाकर।
साँझ ढले कपड़ों से पत्थर की धूल और
महीन किरचें झाड़कर
भात पकाती रेजा
कई बार भात के किरकिराने पर भी
कर्कश नहीं होती।
इन दिनों अपनी हथेलियों पर
फफोलों के दाग सहलाती रेजा
बेहद उदास है
पत्थर-खदानों में काम बंद है
और बिना पत्थर
नहीं खिलते फूल
रेजा के जीवन में।

---

* रेजा—मजदूरी करने वाली स्त्रियों को रेजा कहते हैं।

लली का प्रेम

जब सब कर रहे थे जमीन तैयार
मक्की और धान के लिए

ताक रहे थे हुलस-हुलस बादलों को
लली ने कुछ धूप, कुछ छाँव में
छुपा दिया अपना प्यार
सबकी नजर बचाकर
जैसे छुपाए जाते हैं प्रेम पत्र
संदूक के किसी अँधेरे कोने में
छुपाई जाती है पीड़ा
हँसी के आवरण में
और छुपाई जाती है उमर
काले बालों में गूँथकर।

जैसे प्रेम अँधेरे कोने का जुगुनू है
पीड़ा हँसी की चमक
उमर काले बालों का नजरबट्टू
लली का प्यार
सुख का साया है
जिसका रंग हल्का गुलाबी, स्वाद तीखा और गंध मोहक है।

पूरे बरस सहेजती है लली अपना प्रेम
समेट लेती है अपने आँचल में
अतिवृष्टि, प्रचंड गर्मी, कँपकँपाती ठंड
और ओला-पाला की मार
भर गर्मी और उमस में
मिट्टी और खाद के नीचे दबायी हुई
अदरक की गाँठे ही
लली का प्यार है।
लली प्रेम में उसे आदू या आदा पुकारती है
गर वो जानती होती
तमिल, कन्नड़ या अंग्रेजी
तो संभव है इल्लाम, अल्ला या जिंजर भी पुकारती।

लली के सपने में आदू खिलता है
ब्रह्मकमल की तरह
आदू फूलता है महुए-सा
और पसारता है हाथ-पैर
किसी बाल-गोपाल की तरह
मन की आर्द्र जमीन पर।
लली को मंजूर है मोल-भाव
भिंडी, तुरई, लौकी-करेला

और जंगली कीकोड़े का
लेकिन एक पैसा कम नहीं करती वह
अदरक के भाव में।
पूछने पर हँसते हुए
बस इतना ही कहती है कि
मौसमी फ़सल नहीं है यह
साल भर सहेजा है इसे सपनों में
और सपनों का कोई
मोलभाव नहीं होता।

कविता की पुकार

जब भी कोई पुकारे तुम्हें
तो जवाब देना
'हाँ' में न सही तो 'ना' में देना।

देना जवाब
जैसे देती है माँ
घर के किसी भी कोने से
अपने बच्चे की पुकार का
देना जवाब
जैसे देता है गर्भस्थ-शिशु
हौले से लात मारकर
अपनी माँ की लाड़ भरी पुकार का।

धरती में सोया बीज
कुनमुनाकर देता है जवाब बारिशों को
और बारिशें मूसलाधार जवाब देती हैं
पेड़ों की पुकार का
लहरें आठों पहर टकराकर
किनारों को देती हैं जवाब
और नावें जवाब देने
दौड़ी चली आती हैं
लहरों के पुकारते ही।

देना जवाब
जैसे अतीत देता है जवाब वर्तमान को
सभ्यताएँ, इतिहास, प्रस्तर, जीवाश्म

सब उघाड़ते हैं पट
पुकार सुनकर,
धरती-आसमान, मिट्टी-पानी
फूल-पत्ती, तितली-चिड़िया
कोई चुप नहीं
सब देते हैं जवाब
तुम भी चुप मत रहना
जवाब देना।

जवाब इसलिए भी देना
कि पुकारने वाले को यह आश्वस्ति हो
कि अब भी दम है उसकी आवाज़ में
कि अभी उसकी आवाज़ नक्कारखाने में
तूती की आवाज़ नहीं है
कि अभी इस देश में
सिर्फ़ मुर्दा नहीं रहते,
तुम्हारा जवाब ही एक आवाज़ की उम्मीद है।

जवाब इसलिए भी देना
कि होती रहे तुम्हें भी तसल्ली
कि गूँगे और बहरों के देश में
अभी भी तुम्हारे कान चौकन्ना हैं
और जीभ तेज़
और तुम अभी भी बचे हुए हो
गूँगा-बहरा होने से।

जवाब देना
'हाँ' में न सही तो 'ना' में देना।

बस उतना ही

वह हर जगह
बस उतना ही रही
जितना उसे होना था।
बच्चों के छुटपन में
वह रही उनके साथ
चाशनी डूबे रसगुल्ले की तरह,
उनके केशौर्य में

उसने थामा उनका हाथ
अँधेरे और उजाले के मध्य की
दहलीज़ पर खड़े रहकर,
उनकी जवानी में वह रही
चुटकी भर नमक जितनी
कि रच-बस सके
जीवन में अन्य स्वाद।

उसकी मिठास और नमक को
प्रेमी ने जब-जहाँ किया नज़रअंदाज़
वह पानी की तरह तरल बन
बह निकली
रिश्ते में बनी तिराड़ों से
उन्हें गिराए या ढहाए बिना।
पति, माँ-बाप, बंधु-बांधवों के
जीवन में वह रही
नमकीन से कुछ अधिक
और मीठे से कुछ कम मीठा बनकर
कि न किसी को हो डायबिटीज
और न किसी को हो रक्तचाप
हर जगह
जरूरत जितना ही होने के
इस अभ्यास में
वह बची रही
दुःख में घुलने
खुशी में बहकने
और अनमनेपन में क्षीण होने से।

अपनी-अपनी फुर्सत में सबने सोचा
की ऐसा संतुलन साधकर
जीवन कैसे जिया जाता है?
पर बिना सम्मान और जरूरत के
कहीं भी
होने से अधिक
हुआ भी तो नहीं जाता न!

संपर्क : 574, मंगल ज्योति सोसाइटी, संतरामपुर, जिला-महीसागर-389260 (गुजरात) मो. : 9427078711

नेल्सन मण्डेला की चिन्तनपरक प्रशंसा
अथवा प्रतिबिंबन के नियम

ज़ॉक देरिदा
अनु. : रामकीर्ति शुक्ल

बीसवीं सदी के एक राजनीतिक-योद्धा पर बीसवीं सदी के ही एक महान दार्शनिक और चिन्तक का यह लेख अनुवादक के विस्तृत की-नोट के साथ।

जॉक देरिदा का यह लेख मण्डेला की प्रशंसा में लिखा गया है। लेकिन इस प्रशंसा के पीछे केवल भावुकता नहीं है। जहाँ भावुकता है, वह मण्डेला के संघर्ष और उनके राजनीतिक चिंतन-लेखन के सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण की ठोस ज़मीन पर टिकी हुई है। यह लेख जितना मण्डेला के राजनीतिक कर्म और चिंतन के बारे में है, उतना ही यह उन मूल्यों और आदर्शों को भी प्रतिबिंबित करता है जो स्वयं देरिदा की बौद्धिक पूँजी की निर्मिति में अनुस्यूत है। किसी न किसी रूप में ये मूल्य और आदर्श देरिदा के दार्शनिक लेखन मे भी प्रायः ध्वनित होते रहते हैं। रंगभेद के विरुद्ध मण्डेला का महाकाव्यात्मक संघर्ष उपनिवेशवाद के विरुद्ध ही संघर्ष नहीं है, यद्यपि उस रूप में इसके ऐतिहासिक महत्त्व को किसी भी तरह नजरअंदाज़ न तो किया जा सकता है और न ही किया जाना चाहिये। इस संघर्ष के महानायक के रूप में नेल्सन मण्डेला का नाम पहले ही इतिहास में दर्ज़ हो चुका है। जब 1987 में देरिदा का यह लेख प्रकाशित हुआ, उस समय मण्डेला अल्पसंख्यक श्वेत सरकार की जेल में बंद थे और उनकी दण्डावधि पूरी होने में अभी भी तीन वर्ष शेष थे। इस समय तक देरिदा अपने दार्शनिक कार्यभार के अतिरिक्त उभरती हुई तथाकथित नई दुनिया की, अब जिसे भूमण्डलीकृत दुनिया कहा जाता है, उसकी अंतःप्रकृति को भी बहुत पैनी निगाह से परखने मे लगे हुये थे।

बीसवीं शताब्दी धीरे-धीरे अपने अंत की ओर खिसक रही थी। इस शताब्दी के समग्र आकलन के लिये इतिहासकार तैयारी कर रहे थे। सत्तर का दशक आते-आते इसमें थकान के लक्षण दिखाई देने शुरू हो गये थे। कुछ ही वर्षों के अंतराल में इतिहास के अंत की भी घोषणा होने वाली थी। जिस नई वैचारिकी का उल्लेख ऊपर किया गया है, उसका एक सिरा फ्रैंकफर्ट स्कूल से सम्बद्ध प्रखर जर्मन दार्शनिक-समाजविज्ञानी जुर्गन हैबरमास द्वारा 1973 में प्रतिपादित ''वैधानिकता का संकट'' (legitimation crisis) से जुड़ा हुआ था जिसमें उन्होंने इस बात को प्रमुखता से रेखांकित किया था कि किस प्रकार आधुनिक राष्ट्र-राज्य अपने नागरिकों को पेंशन, शिक्षा तथा स्वास्थ्य जैसी बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने से लगाातार पीछे हटते जा रहें हैं और इस क्रम

में नागरिकों का विश्वास खोते जा रहे हैं। इसके कारण इन नागरिकों की निगाह में राज्य अपनी वैधता खोते जा रहे हैं। उपर्युक्त वैचारिकी का दूसरा सिरा ज्याँ ल्योतार द्वारा 1979 में प्रकाशित अपनी विख्यात पुस्तक ''द पोस्ट-माडर्न कंडीशन'' में प्रतिपादित 'इतिहास के महा-आख्यानों' (grand narratives of history) के प्रति समकालीन दुनिया की तथाकथित घटती हुई रुचि से जुड़ा है। यही वह समय भी है जब एक प्रखर दार्शनिक के रूप में ज़ॉक देरिदा दर्शन की पारंपरिक ज़मीन से धीरे-धीरे अपने समय की लगातार उलझती हुई पश्चिमी दुनिया (और इस तथाकथित पश्चिमी दुनिया का संचालक-निर्देशक अब संयुक्त राज्य अमरीका था और इस समय भी है) में न्याय, स्वतंत्रता, मानवीय गरिमा, विशेषकर 'अन्य' की गरिमा जैसे 'प्रबोधन युग के मूल्यों के क्षरण, पर विचार करने के लिए प्रेरित हुए। उन्होंने पाया कि कैसे एकाधिकारवादी राज्य सत्ताओं में विचारधारा, नस्ल, धर्म, जातीयता, परंपरा और पहचान के नाम पर किस प्रकार से बहिष्करण, प्रजातीय नरसंहार, आप्रवासन तथा शरण की तलाश में अनेक तरह से शोषण, अपवंचन और अपमान का सिलसिला चल रहा है।

यह ठीक है कि देरिदा मूलतः दार्शनिक थे लेकिन उनकी रुचि प्रारंभ से ही ऐसे विषयों में रही है जिन्हें दर्शन के हाशिये के विषय के नाम से पुकारा जा सकता है। 1982 में प्रकाशित उनकी एक पुस्तक का नाम ही (अँग्रेजी अनुवाद में) 'दर्शन के हाशिये' (Margins of Philosophy) है। लेकिन ये विषय ऐसे थे जो उनकी चेतना में हमेशा तैरते रहते थे। देरिदा के दार्शनिक विरासत के महत्त्वपूर्ण अंश अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रूपाकार ग्रहण करने वाले क्रांतिकारी वैचाारिक आंदोलन की प्रेरणा के पीछे थे जिसे 'इन्लायटेनमेंट प्रोजेक्ट' अथवा 'प्रबोधन परियोजना' के नाम से जाना जाता है और जिसके प्रमुख पुरस्कर्ता और सिद्धांतकार थे जर्मन दार्शनिक इमैनुएल काण्ट। इस जर्मन दार्शनिक को देरिदा ने अपने समस्त लेखन में सदैव ही सम्मान के साथ स्मरण किया है यद्यपि कई अवसरों पर देरिदा ने उनसे अपनी असहमति का भी जिक्र किया है। स्वयं देरिदा ने मार्क्स पर अपनी पुस्तक 'स्पेक्टर्स ऑफ मार्क्स' (1993) में जिस अभिनव इन्लायटेनमेंट की आवश्यकता पर बल दिया है, वह अपने संभावित रूपाकार तथा अंतर्वस्तु में पुराने इन्लायटेनमेंट से किंचित अलग भले ही हो, लेकिन उसकी मूल प्रेरणा निश्चित ही वहीं से आयी है। आज जब हम इतिहास के एक 'अशुभ' क्षण के आसन्न आगमन को लेकर चिंतित हो रहे हैं, तब इसके खिलाफ लड़ने से गुरेज़ नहीं किया जाना चाहिये, लेकिन साथ ही बौद्धिक स्तर पर कुछ सावधानियाँ भी बरतनी चाहिये। अपने एक साक्षात्कार में उन्होंने इस बात को स्पष्ट किया है, जिसकी कुछ पँक्तियाँ समीचीन हैं:

''एक प्रगतिशील, सोद्देश्य मानवतावादी तथा आलोची 'बुद्धिवाद' वास्तव में उस 'अशुभतम' की वापसी के खिलाफ जूझ रहा है, जिसे रोकने में शिक्षा और अतीत के प्रति जागरूकता, दोनों सक्षम होते हैं। यद्यपि 'प्रबोधन' का यह संघर्ष प्रायः निवारण और नकार ले लेता है, तो भी हमें इसमें सहकार करना चाहिये और मुक्ति के इस दर्शन की स्वीकृति करनी चाहिये। जहाँ तक मेरी बात है तो मैं इसके भविष्य के प्रति आश्वस्त हूँ और मैंने मुक्ति तथा क्रांति के महान विमर्शों के अंत की उद्घोषणाओं को कभी भी स्वीकार नहीं किया है लेकिन उनके प्रति निष्ठा की स्वीकृति अपने आप ही उन चीज़ों की वापसी का संकेत देती है जिन्हें रोकने के लिये यह संघर्ष कर रहा है।...हमारे समय के 'प्रबोधन' को अठारहवीं शताब्दी के 'प्रबोधन' में लघुकृत नहीं किया जा सकता। और फिर अशुभतम की वापसी के विरुद्ध 'संघर्ष' में दर्शन के पास एक और रास्ता, अपेक्षाकृत अधिक क्रांतिकारी रास्ता, मौजूद है। और इसमें शामिल है उस तत्त्व को सही ढंग से पहचानना (अस्वीकरण, अपवर्जन, अभिचार, अन्य अनेक उपाय जिन्हें विश्लेषित करने की आवश्यकता है) जिससे अशुभतम की वापसी की यह संभावना संरचित होती है।'' (*नेगोशियेशंस*, 2002, पृ. 106)।

इस प्रकार देरिदा बरास्ते 'प्रबोधन' मार्क्सवाद तक पहुँचते हैं क्योंकि वे इस तथ्य को रेखांकित

करना नहीं भूलते कि स्वयं मार्क्स के चिंतन और लेखन में 'प्रबोधन' की विरासत के स्वर आसानी से सुने जा सकते हैं। देरिदा ने अपने को कभी भी 'मार्क्सवादी' नहीं कहा लेकिन जिस अशुभतम की वापसी की आशंका की वे चर्चा कर रहे हैं, उसके विरुद्ध संघर्ष करने में वे मार्क्सवाद की सही समझ के साथ ही एक सजग, सावधान इतिहासबोध को अपरिहार्य मानते हैं। यहाँ अगर किसी को रामविलास जी की याद आ जाए, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। देरिदा कैसे मार्क्सवादी हैं, इसे भी वे छिपाते नहीं और संशोधनवादी ठहरा दिये जाने की संभावना को पहले ही स्वीकार कर लेते हैं :

''1960 के दशक में फ्रांस की स्थिति पर मेरे विमर्श को जो लोग समझते हैं, वे जानते हैं कि मैं मार्क्सवाद के साथ बोलता हूँ, कि मैं उत्पादन की मार्क्सवादी अवधारणा की व्याख्या करता हूँ। मेरे तत्कालीन विमर्श में मार्क्सवाद किसी न किसी रूप में आता रहता है। ऐसे रूढ़िवादी अथवा बने-बनाये मार्क्सवादी हैं जिनके प्रत्येक पृष्ठ पर मार्क्स को उद्धृत किया गया होता है जिसे पढ़ने में किसी की रुचि नहीं होती, या फिर जो मार्क्स को जानते हैं, वे भी (उक्त मार्क्सवादियों को पढ़ने के बाद) मार्क्स का नाम भूल जाते हैं। इस तरह के विमर्श लोगों में चिढ़ पैदा कर देते हैं, उदाहरणार्थ, पूर्वी योरोपीय देशों में जहाँ मार्क्स का नाम आते ही वहाँ के बुद्धिजीवी आक्रोशित हो जाते हैं—लोग मार्क्स का नाम ही नहीं सुनना चाहते। मेरी महत्त्वाकांक्षा है मार्क्स को एक नये पाठ के माध्यम से प्रस्तुत करना। मेरे पास प्रायः लोग आते हैं और कहते हैं, ''मार्क्स का क्या हाल-चाल है।'' या फिर, ''हाँ, मार्क्स में कुछ बात तो हैं...। हमें उन्हे भूलना नहीं चाहिये।''. ..मेरे लिये मार्क्स को पढ़ना-पढ़ाना उनके प्रति मेरा ऋण है लेकिन इस ऋण को कई तरीक़े से चुकाया जा सकता है और सर्वोत्तम तरीक़ा आवश्यक रूप से हमेशा उन पर प्रवचन देते रहना अथवा बात-बात पर कैपिटल को उद्धृत करते रहना नहीं है।'' (*नेगोशियेशन्स,* 2002, पृ. 185-6)।

उपर्युक्त पंक्तियाँ 1989 में देरिदा के एक साक्षात्कार से उद्धृत की गयी हैं। चार वर्षों के अंतराल के पश्चात् उन्हें मार्क्स के एक नये पाठ को प्रस्तुत करने का अवसर मिल ही गया। हुआ यह कि अप्रैल 1993 में कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में ''मार्क्सवाद किधर?'' विषय पर उन्हें दो व्याख्यान देने थे। यही व्याख्यान संशोधित-परिवर्द्धित हो कर उसी वर्ष पाँच अध्यायों की पुस्तक के रूप में फ्रेंच में प्रकाशित हुए और थोड़े ही समय के पश्चात् पुस्तक का अँग्रेज़ी अनुवाद भी 'स्पेक्टर्स ऑफ मार्क्स' शीर्षक के साथ प्रकाशित हो गया। उक्त व्याख्यानों का तात्कालिक संदर्भ था, 1992 में अमरीकी थिंकटैंक से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध विचारक और दार्शनिक फ्रांसिस फुकुयामा की पुस्तक 'द एण्ड ऑव हिस्ट्री ऐण्ड द लास्ट मैन' का प्रकाशन जिसमें लेखक ने बहुत ही उत्साही स्वर में यह प्रतिपादित किया था कि 1991 में सोवियत संघ के विघटन के साथ ही विचारधाराओं पर आधारित वाम और दक्षिण की राज्य सत्ताएँ विश्व के राजनीतिक क्षितिज से हमेशा के लिए ग़ायब हो गयी हैं और इस परिघटना के फलस्वरूप अथवा नैसर्गिक रूप से उदार लोकतंत्र का उदय हो गया है। इस उदार लोकतंत्र की वैधता को पूरी दुनिया ने स्वीकार कर लिया है।

फुकूयामा की पुस्तक की चर्चा करने का प्रमुख उद्देश्य देरिदा के राजनीतिक चिंतन के उस पक्ष को समझने की कोशिश करना है जिसे प्रायः उनके आलोचकों ने नजरअंदाज़ किया है और उनके द्वारा प्रवर्तित-व्याख्यायित 'डिकंस्ट्रक्शन' को और स्वयं देरिदा को दक्षिणपंथी राजनीति के हवाले कर दिया है। एक दूसरा भी कारण है कि देरिदा की राजनीति की वास्तविक दिशा जानने के लिये फुकूयामा की किताब की उनके द्वारा प्रस्तुत क्रिटीक बहुत सहायक होगी। अपनी पुंस्तक 'स्पेक्टर्स ऑफ मार्क्स' का पूरा एक अध्याय (तीसरा) उन्होंने इस पर लिखा है। यही नहीं, बल्कि जिस संगोष्ठी में उन्होने ये व्याख्यान दिये थे जो बाद में उक्त पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए, वह संगोष्ठी बहुत अंशों में 'दि एण्ड ऑव हिस्ट्री एंण्ड द लास्ट मैन' की बुनियादी राजनीतिक मान्यताओं की प्रतिक्रिया में आयोजित की गई थी।

यह सही है कि अधिकांश मार्क्सवादियों के विपरीत देरिदा मार्क्सीय आत्माओं की बहुलता में विश्वास करते हैं जिसके लिये अनेक मार्क्सवादियों ने उनकी आलोचना भी की है लेकिन तथाकथित उदार लोकतंत्र के साये में फलने-फूलने वाली जिस टेक्नो-वैज्ञानिक अर्थव्यवस्था के साथ ही टेलि-टक्नो-वैज्ञानिक सूचनातंत्र से लैस 'नई' भूमडण्लीकृत दुनिया की एक संक्षिप्त किंतु सटीक झाँकी देरिदा ने प्रस्तुत किया है, उससे शायद ही कोई विचारशील आदमी असहमत हो सकता है।

देरिदा उदार लोकतंत्र की दुनिया को व्याधिग्रस्त मानते हैं और इसकी नैदानिक परीक्षा करने के पश्चात् इन व्याधियों की पूरी सूची ही बना डालते हैं। इस संक्षिप्त टिप्पणी में इस सूची के विस्तार में जाना संभव नहीं लेकिन इस सूची में वह सब कुछ शामिल है जो हम आज अपने चारों ओर देख रहे हैं।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि देरिदा ने जिस अशुभतम से दर्शन के जूझने की बात कही है, उसका एक कमोबेश समाकलित रूप हमारी भूमण्डलीकृत दुनिया में मौजूद है और इससे जूझने में वे मार्क्सवाद को एक प्रभावी हथियार मानते हैं।

मार्क्स को और साथ ही कुछ अन्य लोगों को न पढ़ना, बार-बार न पढ़ना बहुत बड़ी भूल होगी। साथ ही यह भी ज़रूरी है कि मार्क्स के वैदुष्यपूर्ण 'पाठन' और 'बहस' से आगे जाया जाय। ऐसा न करना सैद्धांतिक, दार्शनिक और राजनीतिक उत्तरदायित्व से मुँह मोड़ना तो होगा ही लेकिन भारी भूल भी होगी। जब मतवादी मशीन और मार्क्सवादी विचारधारात्मक ढाँचे (राज्य, दल, प्रकोष्ठ, संघ अथवा संगठन, और सैद्धांतिक उत्पादन के अन्य स्थान) धीरे-धीरे लुप्त होने के क्रम में हों, तब इस तरह के उत्तरदायित्व से मुकरने के झूठे बहाने बनाने के अलावा कोई अन्य कारण हमारे पास नहीं है।। मार्क्स के बिना, मार्क्स की स्मृति और विरासत के बिना कोई भविष्य नहीं; अथवा मार्क्स के बिना, उनकी प्रतिभा के बिना, उनकी आत्माओं में से किसी एक आत्मा के बिना कोई भविष्य नहीं... मार्क्स की एक से अधिक आत्माएँ हैं, एक से अधिक आत्माओं का होना ज़रूरी है। (स्पेक्टर्स ऑफ मार्क्स. पृ. 14-15)।

इन पंक्तियों को देरिदा के आत्म-साक्ष्य के रूप में देखा जा सकता है यद्यपि देश और विदेश के अनेक मार्क्सवादियों ने इस पर आपत्तियाँ उठाई हैं और देरिदा ने अपने तरीके से उनका जवाब भी दिया है लेकिन उसके विस्तार में जाना यहाँ संभव नहीं। जिन पाठकों को इसमें रुचि हो, उनको 1999 में वर्सो से प्रकाशित और माइकेल स्प्रिंकर द्वारा संपादित किताब *घोस्टली डिमार्केशंस* देखना चाहिये। प्रस्तुत है मण्डेला पर उनका लेख :

प्रशंसनीय मण्डेला

पूर्ण विराम, किसी विस्मयबोधक चिन्ह के बिना। मैं विराम-चिह्नों का प्रयोग इस तरह इसलिए नहीं कर रहा हूँ ताकि मैं किसी अति-उत्साह अथवा आवेग को मद्धिम कर सकूँ। मण्डेला के सम्मान में बोलते (लिखते) समय मेरा प्रयास होगा कि मैं यथासंभव अतिरेक से बचूँ और अपने स्वर के आवेग को संयमित रखूँ।

उनके प्रति मेरा सम्मान और मेरा स्वर तब अपेक्षाकृत अधिक संतुलित तथा निष्ठायुक्त होगा जब आपको ऐसा प्रतीत हो कि यह प्रशंसा विश्लेषण की ऊष्णता के प्रति भी प्रयत्नशील रही है। प्रशंसा करते समय हम जो भी सोचते हों, सच्चाई यही होती है कि प्रशंसा तर्क करती है, यह अपनी व्याख्या को तर्क के साथ प्रस्तुत करती है, यह चकित करती है लेकिन यह सवाल भी पूछती है : कोई मण्डेला कैसे बन सकता है? वे जो भी सोचते और कहते हैं अथवा वे जो भी यातना भोगते हैं, उस सब में मण्डेला इतने उदाहरणीय, आदरणीय क्यों हो जाते

हैं? अपने आप में प्रशंसनीय और सब कुछ को *प्रमाणित* करते हुए। आत्माहुति। अपने लोगों के लिये आत्माहुति।

''मैं और मेरे लोग'', वे हमेशा कहते हैं लेकिन उनके स्वर में किसी राजा का दंभ नहीं होता।

वे प्रशंसा के लिये *विवश* क्यों कर देते हैं? यह शब्द एक प्रकार के प्रतिरोध का संकेत करता है, क्योंकि उनके प्रति शत्रु भाव रखने वाले भी उनकी प्रशंसा करते हैं यद्यपि वे इसे स्वीकार नहीं करते। उन्हें प्यार करने वालों के विपरीत ये लोग उनसे भयभीत रहते हैं। वे भयभीत रहते हैं, मण्डेला को प्यार करने वालों से, ख़ासकर मण्डेला की पत्नी विनी मण्डेला से जिन्हें इन लोगों ने मण्डेला से अलग रखा है, वह विनी जो उनसे अलग की ही नहीं जा सकतीं। यदि मण्डेला के उत्पीड़कों में से उनसे सर्वाधिक घृणा करने वाला गुप्त रूप से उनकी प्रशंसा करता है तो इससे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि मण्डेला अपने विरोधियों को अपनी प्रशंसा करने के लिये विवश कर देते हैं।

अब, सवाल यहीं खड़ा होता है। विवश करने की ताक़त कहाँ से आती है? यह जाती कहाँ है? इसका इस्तेमाल किया जाता है अथवा यह अपना इस्तेमाल करती है लेकिन किस पर? इसे यूँ भी कहा जा सकता है : वह क्या चीज़ है जो इसे सम्पुटित करती है? इस सम्पुटन में किस रूप की पहचान की जाय? कौन सी रेखा देखी जाय?

कोई और बात करने के पहले हम यह कह दें कि हम इसमें प्रथमतः एक प्रतिविंबन देखते हैं। सबसे पहले यह प्रतिबिंबन की ताक़त है। यह स्पष्ट है कि मण्डेला का राजनीतिक अनुभव अथवा भाव एक सैद्धांतिक प्रतिबिंबन से कभी भी अलग नहीं होता : इतिहास पर, संस्कृति पर, सर्वोपरि विधि (Law) पर। एक अनवरत चलने वाला विश्लेषण उनके क्रिया-कलापों, प्रदर्शनों, भाषणों, उनकी रणनीति के विवेकसम्मत होने पर प्रकाश डालता रहता है। कारागाार में बंद किये जाने के कारण सक्रिय आंदोलनात्मक गतिविधियों से अलग होने के लिये विवश होने के पूर्व भी—पच्चीस वर्षों के बंदी जीवन के दौरान भी—वे अपने संघर्ष के लिए काम करने और उसे दिशा देने में कभी भी पीछे नहीं रहे हैं। सभी महान राजनीतिज्ञों की तरह मण्डेला सदैव ही चिंतन-मनन करने वाले व्यक्ति रहे हैं।

लेकिन ''प्रतिबिंबन की शक्ति'' से अलग कोई चीज़ समझी जा सकती है, कोई ऐसी चीज जो दर्पण की यथार्थता तथा प्रतिबिंबन के दृश्य की ओर संकेत करती है। प्रतिबिंबन के भौतिक नियमों की ओर उतना नहीं जितना कि नियम के अनुभव में कुछ चमकीले विरोधाभासों की ओर। किसी दर्पण के बिना कोई नियम होता ही नहीं। और इसे सटीक रूप में उलटने तथा विस्मित करने वाली संरचना में हम प्रशंसात्मक क्षणों को कभी भी नजरअंदाज़ नहीं कर पाएँगे।

जैसाकि इस शब्द से ध्वनित होता है, प्रशंसा में कुछ बोला जाता है। नहीं, इसके नाम को और जो यह हमें हमेशा ही *देखने* के लिये देती है, उसे अगर हम छोड़ भी दें तो भी प्रशंसा मात्र देखने से ही जुड़ी नहीं होती। यह संवेग, विस्मय, आश्चर्य, प्रश्नाकुलता को उस चीज़ के पहले अनूदित कर देती है जो हमारे बोध को नकार देती है : रेन देकार्त (1596-1650) फ्रेंच दार्शनिक और बुद्धिवाद के प्रारंभिक प्रस्तोता, cogito ergo sum अर्थात् ''मैं सोचता हूँ, इसलिये मैं हूँ'' उनका अतिउद्धृत कथन है, के अनुसार ''असाधारण'' के पहले, और वे इसे मनोवेग ठहराते हैं और छः आदिम मनोवेगों के क्रम में इसे पहले स्थान पर रखते हैं, शेष मनोवेग हैं—प्रेम, घृणा, इच्छा, उछाह और दुःख। यह हमें बोध प्रदान करता है। देकार्त मानते हैं कि

इसके अतिरिक्त अज्ञान होता है, और यह ''आश्चर्य'' से अथवा ''आकस्मिक प्रभाव'' से ''अत्यधिक मात्रा में शक्ति'' ग्रहण करता है। प्रशंसात्मक दृष्टि अपने को विस्मित करती है, यह अपने सहजानुभव को प्रश्नांकित करती है, यह अपने को किसी प्रश्न के प्रकाश के प्रति खोल देती है लेकिन कोई ऐसा प्रश्न जो जितना प्राप्त किया जाता है उतना ही उठाया जाता है। यह अनुभव अपने को किसी प्रश्न की किरण द्वारा बेधित किये जाने की अनुमति देता है लेकिन इसी कारण यह इसे प्रतिबिंबित करने में अक्षम नहीं हो जाता। किरण का मूल स्रोत वही चीज होती है जो प्रशंसा को विवश करती है; एक ऐसे दीप्त क्षण में जो विचित्र ढंग से मोहक लगता है, यह प्रशंसा को विभाजित और साझा करता है।

मण्डेला प्रशंसनीय बन जाते हैं क्योंकि वे जान चुके है कि प्रशंसा कैसे पायी जाती है। और जो उन्होंने जाना है, उसे उन्होंने प्रशंसा में जाना है। वे मुग्ध करते हैं क्योंकि वे मुग्ध हुए हैं।

वह—जिसे एक निश्चित तरीक़े से हमें सुनना ही है—वही कहते हैं। वे वही कहते हैं जिसे वे करते हैं और जो उनके साथ घटित हुआ होता है। ऐसा प्रकाश, प्रतिबिंबित आड़ी-तिरछी रेखा, प्रश्न के आने और जाने का अनुभव, इस प्रकार किसी चीत्कार का एक स्वर भी होगा।

नेल्सन मण्डेला का स्वर—हमें क्या स्मरण कराता है? हमसे क्या चाहता है, हमें क्या आदेश देता है? दृष्टि से, प्रतिबिंबन से, प्रशंसा से इसका क्या संबंध हो सकता है? मेरा मतलब है इस स्वर की ऊर्जा, लेकिन उस एक की भी ऊर्जा जो इसके नाम पर गाता है (उनके लोगों का कोलाहल तब सुनिये जब वे उनके नाम पर प्रदर्शन करते हैं : मं-डे-ला।

नेल्सन मण्डेला की प्रशंसा, अथवा जिसे हम कह सकते है मण्डेला के प्रति भावावेश। मण्डेला की प्रशंसा, दोहरा संबंध कारक; वह जिसे वे प्रेरित करते हैं और वह जिसकी उन्हें अनुभूति होती है। दोनों का फोकस एक ही है, वे एक दूसरे को प्रतिबिंबित करते हैं। मैने पहले ही अपनी प्रस्थापना स्पष्ट कर दी है : अपनी सारी शक्ति के साथ प्रशंसा करने के कारण, और अपनी प्रशंसा को एक महनीय और दुर्दमनीय शक्ति बना लेने के कारण वे प्रशंसनीय हो जाते हैं, एक ऐसी शक्ति जो स्वयं विधि (Law) है, जो विधियों की विधि (Law of laws) है।

उन्होंने अंततः किसकी प्रशंसा की है? एक शब्द में : विधि की।

और उसकी बात की है जो इसे (विधि को) विमर्श में, इतिहास में, संस्था में, उत्कीर्ण कर देता है, अर्थात्, अधिकार की।

प्रथम उद्धरण - यह एक अधिवक्ता का आत्म-साक्ष्य है, एक वाद के दौरान, अपने वाद के दौरान, एक ऐसे वाद के दौरान जिसमें वे अभियोजित भी करते हैं, जिसमें वे अपने अभियोगकर्ताओं को अधिकार के नाम पर आरोपी बनाते हैं :

वर्तमान क्षण का प्राथमिक कार्य है नस्ली भेद-भाव की समाप्ति और *स्वतंत्रता का घोषणा पत्र* के आधार पर लोकतांत्रिक अधिकारों की प्राप्ति।

मार्क्सवादी साहित्य के अपने अध्ययन से और मार्क्सवादियों से अपनी वार्त्ताओं से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि कम्युनिस्ट विचारधारा के लोग पश्चिम की संसदीय लोकतांत्रिक पद्धति को अलोकतांत्रिक और प्रतिक्रियावादी मानते हैं। लेकिन इसके विपरीत, मैं *ऐसी पद्धति का प्रशंसक हूँ*। *'मैग्नाकार्टा'*, 'पेटीशन ऑव राइट्स' तथा 'बिल ऑव राइट्स' ऐसे दस्तावेज़ हैं जिनका दुनिया के सभी लोकतंत्रवादी सम्मान करते हैं।

ब्रिटिश न्याय व्यवस्था की स्वतंत्रता और निष्पक्षता सदैव ही मेरी प्रशंसा की पात्र रही है।

अमरीकी काँग्रेस और उस देश में अधिकारों के विभाजन के सिद्धांत के साथ ही उसकी

न्यायपालिका की स्वतंत्रता का मैं सदैव प्रशंसक रहा हूँ।[1]

वे विधि की प्रशंसा करते हैं, इसे वे स्पष्ट कर देते हैं; लेकिन वह विधि जिसे 'संविधान' और *घोषणापत्र* शासित करता है—क्या वह मूलतः पश्चिम की वस्तु है? क्या इसकी औपचारिक सार्वभौमिकता किसी ऐसे इतिहास से अपना महनीय संबंध बनाये रखती है जो योरोपीय है अर्थात् आँग्ल-अमरीकी है। यदि ऐसा होता तब इस विचित्र संभावना पर विचार करना आवश्यक होता : विधि का औपचारिक चरित्र इसकी औपचारिकता के लिए उतना ही ज़रूरी होता है जितना कि इतिहास के किसी सुनिश्चित क्षण एवं स्थान पर इसकी प्रस्तुति की घटना। फिर इस इतिहास को कैसे सोचा जाय? हर कहीं जहाँ यह घटित होता है और जिस रूप में इसे मण्डेला यहाँ प्रस्तुत और प्रतिबिंबित करते हैं, क्या रंगभेद के विरुद्ध संघर्ष एक दीप्त विरोध, एक ऐसा परस्पर-संहारक युद्ध होता है जिसे पश्चिम संचालित कर रहा है, अपने नाम पर संचालित कर रहा है? एक आंतरिक अंतर्विरोध जिसमें न तो कोई उग्र परिवर्तन होगा, न ही कोई विषममिति।

इस रूप में इस प्रकार की परिकल्पना मे अनेक अस्पष्ट पूर्वकल्पनाएँ शामिल होती हैं। आगे बढ़ने के क्रम में हम उनमें से कुछ की पहचान करने का प्रयास करेंगे। थोड़ी देर के लिये हम कुछ सीमित किंतु निश्चित तथ्य-बिदुओं पर ध्यान देंगे : मण्डेला जिसकी प्रशंसा करते हैं अथवा प्रशंसा करने की बात करते हैं, वह है अपने विभिन्न रूपों में *मैग्नाकार्टा,* मनुष्य के अधिकारों का घोषणापत्र द्वारा प्रवर्तित परंपरा (वे प्रायः 'मनुष्य की गरिमा', मनुष्य नाम के योग्य मनुष्य की गरिमा की बात करते हैं); वे संसदीय लोकतंत्र की प्रशंसा करते हैं और उससे भी अधिक सटीक रूप में अधिकारों के विभाजन के सिद्धांत, न्यायपालिका की स्वतंत्रता की प्रशंसा करते हैं।

लेकिन यदि वे उस परंपरा की प्रशंसा करते हैं, तो क्या उसी कारण वे उस परंपरा के उत्तराधिकारी, सहज उत्तराधिकारी भी हैं? इसका उत्तर हाँ और न दोनों दिया जा सकता है और यह निर्भर होगा इस बात पर कि हम दायभाग अथवा दायप्राप्ति से क्या समझते हैं? हम उस व्यक्ति में प्रामाणिक उत्तराधिकारी देख सकते हैं जो दायभाग के रूप में मिली वस्तु अथवा वस्तुओं को संरक्षित रखने के साथ ही उन्हें आगे भी बढ़ाता है लेकिन प्रामाणिक उत्तराधिकारी हम उसमें भी देख सकते हैं जो उस दायभाग की तर्कपद्धति का सम्मान इस सीमा तक करता है कि अवसर आने पर वह इसे उन लोगों के विरुद्ध उलट भी सकता है जो अपने को इस दायभाग का न्यासी मानने का ढोंग करते हैं। वह व्यक्ति इस सीमा तक इस दायभाग को ऐसे ढोंगियों के विरुद्ध उलट सकता है ताकि वह इसमें उस चीज़ को देख सके जो इससे पहले कभी भी देखी ही नहीं गयी थी—इस सीमा तक उलटना कि प्रतिबिंबन के अब तक अश्रुत कर्म द्वारा उसे जन्म दिया जा सके जिसका जन्म कभी हुआ ही नहीं था।

(दो)

प्रतिबिंबन का यह अनमनीय तर्क मण्डेला का भी अभ्यास था। इसके यहाँ कम से कम दो संकेत हैं :

1) ***पहला संकेत :*** अफ्रीकन नेशनल काँग्रेस, जिसके नेताओं में वे भी एक थे और जिसमें वे 1944 में शामिल हुए थे, साउथ अफ्रीकन नेशनल नेटिव काँग्रेस की उत्तराधिकारी थी। पहले ही यह स्पष्ट था कि इसकी संरचना पहले से ही अमरीकी काँग्रेस तथा ब्रिटेन के हाउस ऑव लॉर्ड्स को प्रतिबिंबित कर रही थी। ख़ास बात यह थी कि इसका भी एक ऊपरी सदन था। इस तरह जिस लोकतंत्र के लिए संघर्ष चल रहा था, उसका स्वरूप पहले से ही निर्धारित था

अर्थात् यह संसदीय लोकतंत्र होगा जिसके मण्डेला प्रशंसक थे। 1955 में जो फ्रीडम चार्टर (स्वतंत्रता घोषणापत्र) इसने जारी किया, उसमें भी जिन लोकतांत्रिक सिद्धांतों का उल्लेख किया गया था, वे भी 'युनिवर्सल डिक्लेरेशन ऑव ह्यूमन राइट्स' (मानवाधिकारों का सार्वभौमिक घोषणापत्र) द्वारा प्रेरित-अनुप्राणित थे। लेकिन तब भी, अपूर्व एवं उदाहरणीय साहस दिखाते हुए मण्डेला ने उन उदार श्वेतों के साथ किसी शुद्ध और सरल गठजोड़ से इन्कार कर दिया जो चाहते थे कि स्वतंत्रता संघर्ष को उस संवैधानिक दायरे में रखा जाय जो उस समय तक कार्यान्वित हो चुका था। मण्डेला वास्तविकता को प्रस्तुत करते हुए हमें याद दिलाते हैं : उस संवैधानिक विधि की स्थापना ने तथ्यतः और सदैव की भाँति एक, अकेले साहसिक सत्ताधिकारक क़दम का रूप तय कर दिया था, अर्थात् वह हिंसक कार्य जो एक ही साथ राष्ट्रीय एकता पैदा करता है और उसकी पूर्वकल्पना भी कर लेता है। इस मामले में वह साहसिक कार्य साहसिक कार्य *बना रहा है*, और इस प्रकार यह लक्ष्य से विरत हो गया है। यह उस विधि की असफलता है जो अपने को स्थापित करने में सफल नहीं रही है। वास्तव में यह विधि अपने लेखकों और लाभार्थियों के लिए केवल विशेष इच्छाओं, सीमित और सम्पन्न हितों और जनसंख्या अर्थात् श्वेत अल्पसंख्यकों का ही प्रतिनिधित्व करती थी। इसी अल्पसंख्यक श्वेत समुदाय, एकमात्र समुदाय, को ध्यान में रख कर उस संविधान-विरोधी संविधान की उक्त धारा की रचना हुई थी। इसमें संदेह नहीं कि शायद कोई कह सकता है कि इस प्रकार का हिंसक सत्ताधिकार किसी राष्ट्र, किसी राज्य, किसी राष्ट्र-राज्य के जन्म पर अपनी छाप छोड़ जाता है। ऐसी किसी संस्था की औचित्यपूर्ण *निष्पादी* क्रिया को उस चीज़ को अवश्य ही उत्पादित (उद्घोषित) करना चाहिए जिसे उत्पादित करने, तथा वर्णित करने का यह दावा, प्रतिज्ञा तथा संकेत करती है और यह सारा कुछ *अपरिवर्ती* 'constative' क्रिया के अनुसार करती है। कृत्रिमता अथवा कल्पना-कथा में इस तरह शामिल होता है उसे प्रकाश में लाना, *प्रकाशित* करना जिसे कोई इस पर ध्यान आकर्षित करने के लिए प्रतिबिंबित करने का दावा करता है, मानो यह उसे मन में रख लेने की बात हो, जो वहाँ घटित हुआ होगा, किसी राष्ट्र की एकता, किसी राज्य की संस्थापना, उस चीज़ की घटना जिसे कोई जन्म देने के उपक्रम में लगा हुआ है। लेकिन वैधता—वस्तुतः वैधानिकता—अपने को दीर्घ काल तक के लिये स्थापित कर लेती है, उद्भवगत् हिंसा को पूरी तरह ढँक लेती है, अपने को कुछ निश्चित दशाओं में भूलने देती है। वाक्-क्रिया 'speech act' का कोई सिद्धांतकार कह सकता है कि सभी निष्पादी क्रियायें 'performative acts' ''सुखी'' नहीं होतीं। यह उन तमाम स्थितियों और रूढ़ियों पर निर्भर करता है जो ऐसी घटनाओं को संदर्भ प्रदान करती हैं। दक्षिण अफ्रीका के संदर्भ में कुछ रूढ़ियों को नहीं स्वीकारा गया है; काफ़ी हिंसा हुई है, उस क्षण ख़ास तौर से *बहुत अधिक हिंसा* देखी गयी है जब नये अंतर्राष्ट्रीय दृश्य पर इसकी दृश्यमानता को प्रदर्शित किया गया। श्वेत अल्पसंख्यक अत्यधिक *अल्पसंख्यक* थे, लेकिन अल्पसंख्या के अनुपात में इनके पास *अत्यधिक* सम्पदा थी। इसीलिए वह हिंसा अतिरेकी और शक्तिहीन, अंततः अपर्याप्त और अपने ही अंतर्विरोध में गुम हो गई, उन राज्यों की तरह जहाँ जातीय नरसंहार अथवा नस्ल के नाम पर किसी जाति को लगभग नेस्तनाबूद कर दिया गया हो, दक्षिण अफ्रीका में हिंसा अपने को भूलने लायक बना ही नहीं सकती। इस देश में उद्भवगत हिंसा के लिए अनिवार्य है कि वह अपने को अनिश्चित काल तक दुहराती रहे और अपनी विधिसम्मतता का एक ऐसे कानूनी यंत्र के भीतर नकल उतारती रहे जिसकी अतिविरूपता अपनी पहचान छिपाने में असफल रहती है : न्यायिक कृत्रिमताओं (नियम, अधिनियम, संशोधन) का रोगग्रस्त विस्तार जिनका उद्देश्य था दक्षिण अफ्रीका और

दुनिया की एकमात्र नस्लवादी सरकार की जड़ों में मौजूद सामान्य से सामान्य नस्लवाद के छोटे से छोटे ब्योरों का सूक्ष्मतम विश्लेषण करना और उन्हें वैधानिकता से युक्त करना। इस तरह ऐसे राज्य का संविधान पर्याप्त सत्याभास के साथ किसी लोकसम्मत इच्छा को संदर्भित नहीं कर सकता। जैसाकि 'स्वतंत्रता का घोषणापत्र' स्मरण करता है : ''दक्षिण अफ्रीका उन सभी श्वेत, अश्वेत लोगों का है जो यहाँ के निवासी हैं और कोई भी सरकार न्यायतः तब तक प्राधिकार का दावा नहीं कर सकती जब तक कि यह सभी लोगों की इच्छा पर आधारित न हो।'' सामान्य इच्छा को संदर्भित करते हुए, जो ''सभी लोगों की इच्छाओं'' के रूप में न्यूनीकृत नहीं किया जा सकता, मण्डेला हमें प्रायः रूसो की याद दिलाएँगे, भले ही उन्होंने रूसो को कभी भी उद्धृत नहीं किया है और इस प्रकार क्या वे संविधान के प्राधिकार, उसकी वैधानिकता और संवैधानिकता पर सवाल उठाते हैं? वे इसीलिए उन उदार श्वेत लोगों के प्रस्ताव और गठजोड़ को ठुकरा देते हैं, जो वैधानिक ढाँचे का सम्मान करने के साथ ही रंगभेद के खिलाफ संघर्ष करने के लिये तैयार थे।

उदारवादियों का कहना है कि उनका उद्देश्य पूरा करने के लिए उनका दल ''केवल लोकतांत्रिक और संवैधानिक साधनों का ही इस्तेमाल करेगा और कम्युनिज़्म तथा फासीवाद सहित सभी प्रकार के अधिनायकवाद का विरोध करेगा।'' लोकतांत्रिक और संवैधानिक साधनों की बात का आधार केवल उन लोगों का यथार्थ होगा जो लोकतांत्रिक और संवैधानिक अधिकारों का आनंद उठा रहे है।

उस श्वेत अल्पसंख्यक समूह द्वारा हिंसक सत्ता-पलट की योजना का मण्डेला ने क्या विरोध किया जिसने एक जातीय-अल्पसंख्यक समूह के लाभ के लिए एक लोकतांत्रिक-सा दिखने वाले क़ानून की नींव रखी? ''सभी लोगों'' से मतलब था एक दूसरा जातीय-राष्ट्रीय समूह, एक दूसरा लोकप्रिय समूह जो श्वेत अल्पसंख्यकों सहित सभी समूहों द्वारा एकजुट होकर संगठित किया गया था और जो दक्षिण अफ्रीका के नाम से पुकारे जाने वाले परिक्षेत्र में निवास करते थे। यह दूसरा राष्ट्रीय समूह अपने को किसी निष्पादी क्रिया के माध्यम से ही ''दक्षिण अफ्रीका'' नामक राज्य अथवा वहाँ के संविधान के अधीन मान पाता अथवा मान पाएगा। और यह निष्पादी क्रिया किसी पूर्व-अस्तित्वमान आधारभूत विधि को सामान्यतया संदर्भित करने की बजाय केवल उस भौगोलिक कट-आउट की परंपरा को ही संदर्भित कर सकती है जिसे मुख्यतः श्वेत उपनिवेशीकरण ने निर्धारित किया है। यह तथ्य अमिट बना हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि ''सभी लोगों की इच्छा''—किसी भी रूप में सामान्य इच्छा—के लिए ज़रूरी है कि वह अपने को अनुभवाश्रित नियमन से संक्रमित होने से बचाये रखे। कम से कम यही है इसका नियामक आदर्श जो किसी अन्य स्थान की ही तरह यहाँ भी पहुँच के बाहर है। ''सभी लोगों'' की परिभाषा उस हिंसक सत्ता को पंजीयत या प्रतिबिंबित करती प्रतीत होती है जोकि श्वेत आधिपत्य रहा है और जो पुनः दक्षिण अफ्रीकी गणतंत्र की संस्थापना है। उस घटना की अनुपस्थिति में सामान्य इच्छा और जिसे ''स्वतंत्रता का घोषणापत्र'' ''सभी लोगों की इच्छा'' के रूप में अभिहित करता है, उसके बीच तनिक भी संबंध को कैसे पहचाना जा सकता है? विरोधाभासी तरीके से ''सभी लोगों की इच्छा'' अपने को उस हिंसा से एकत्र की हुई पाती है जो इसके प्रति की जाती है और वह हिंसा इसकी सर्वाधिक आभासी पहचान सहित इसे हमेशा के लिए घटित अथवा विसंरचित करने की प्रवृत्ति से युक्त होती है। और विउपनिवेशीकरण के बाद किसी भी राज्य की संस्थापना में यह परिघटना विद्यमान होती है। मण्डेला इसे जानते हैं : कोई भी राज्य कितना भी लोकतांत्रिक हो, और भले ही वह विधि के समक्ष सबकी समानता के सिद्धांत के अनुकूल

हो, इसका पूर्ण संस्थानीकरण उपनिवेश-पूर्व अपने पूर्ण रूप से *वैधानीकृत* राष्ट्रीय स्वरूप के अस्तित्व को आँख मूँद कर मान कर नहीं चल सकता। इसके पहले संविधान के लिये भी यह सच होता है। जनता की पूर्ण एकता पहली बार अपनी पहचान केवल किसी ऐसी औपचारिक अथवा अनौपचारिक, लिखित अथवा अलिखित संविदा में ही करती है जो किसी मौलिक विधि (लॉ) की आधारशिला रखती है। और फिर भी यह संविदा कल्पित ''सभी'' जनता के कल्पित प्रतिनिधियों द्वारा हस्ताक्षरित किए जाने के अतिरिक्त कभी भी हस्ताक्षरित नहीं की जाती। यह मौलिक विधि न तो अधिकार द्वारा, न ही तथ्यतः उस चीज़ की पूर्ववर्ती हो सकती है जो एक ही साथ इसका आरंभ और इसे कल्पित करती है - इसे प्रक्षेपित और प्रतिबिंबित करती है! यह इस असाधारण निष्पादी की भी पूर्ववर्ती नहीं हो सकती जिसके द्वारा कोई हस्ताक्षर, किसी पूर्व-स्थापित विधि के आदेश के बिना, अपनी पहल पर अपने को हस्ताक्षर करने के लिये प्राधिकृत—एक शब्द में, 'वैधानीकृत' करता है। स्वहस्ताक्षर की यह हिंसा और कहानी आत्मकथा में उसी मात्रा में सक्रिय देखी जा सकती है जिस मात्रा में राज्यों के ''ऐतिहासिक' उद्‌भव में। दक्षिण अफ्रीका के संदर्भ में कहानी इसके बाद आती है—यह कहानी के विरुद्ध कहानी है : ''सभी लोगों की एकता'' श्वेत अल्पसंख्यकों द्वारा प्रचलित कट-आउट से मिलती-जुलती नहीं हो सकती थी। इसे एक पूर्णयोग(श्वेत अल्पसंख्यक। दक्षिण अफ्रीका के सभी निवासी) की निर्मिति करनी थी जिसका संरूपण अपने को अल्पसंख्यकों की हिंसा के आधार पर ही निर्मित करने—किसी भी स्थिति में असल में समर्थ हो पाया है। यह श्वेत अल्पसंख्यकों का विरोध कर सकता है, उस असमाधानीय अंतर्विरोध को संशोधित नहीं करता है। ''सभी लोगों'', ''सभी राष्ट्रीय समूहों'' की एकता अपने को अस्तित्व और विधि की ताकत उसी क्रिया के माध्यम से ही दे सकती है जिसका ''स्वतंत्रता का घोषणापत्र'' आह्‌वान करता है। घोषणापत्र वर्तमान को संबोधित करता है ऐसा वर्तमान जिसकी नींव ऐसे अतीत के *वर्णन* पर रखी गयी है जिसे भविष्य में पहचाना जाना है, और साथ में यह भविष्य से भी संवाद करता है, ऐसा भविष्य जिसका मूल्य किसी *आदेश* (prescription) के जैसा होता है :

— कि दक्षिण अफ्रीका उन सभी श्वेत और अश्वेत लोगों का है जो इसके भीतर निवास करते हैं और कोई भी सरकार तब तक न्यायोचित रूप में प्राधिकार का दावा नहीं कर सकती है जब तक कि यह सभी लोगों की इच्छा पर आधारित न हो।

—जनता शासन करेगी (...)।

—सभी राष्ट्रीय समूहों को समान अधिकार प्राप्त होंगे! (...)

—विधि के समक्ष सभी समान होंगे।

''घोषणापत्र'' विधि के संस्थापनीय कर्म को खारिज़ नहीं करता, अपने में ऐसा विधि-निरपेक्ष कर्म जो दक्षिण अफ्रीका को पूर्णता में संस्थापित करता है और जो उस तथ्य के बाद ही विधिसम्मत हो सकता है, जब मुख्यतः यह अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के अधिकार द्वारा अभिपुष्ट कर दिया जाय। नहीं, ''घोषणापत्र'' दक्षिण अफ्रीका को पुनर्संस्थापित करता है—किसी भी स्थिति में संस्थापित करने के लिये प्रक्षेपित करता है—और इस क्रम में श्वेत अल्पसंख्यकों के विरुद्ध उन सिद्धांतों को प्रतिबिंबित करता है जिनके द्वारा यह समुदाय प्रेरित होने का होने का दावा करता है लेकिन *वास्तव में* जिनका यह हमेशा उल्लंघन करता रहता हैं। लोकतंत्र, निश्चित ही; दक्षिण अफ्रीका, बिल्कुल; ठीक, लेकिन इस बार, ''घोषणापत्र'' घोषित करता हैः ''सभी लोगों'' में सभी राष्ट्रीय समूह शामिल होंगे; यही है उस विधि की तर्कपद्धति जिसे संदर्भित करने का श्वेत अल्प संख्यक स्वाँग करते हैं। इस प्रकार परिसीमित परिक्षेत्र में, सारी मानव जाति, ''मनुष्य नामक संज्ञा के

योग्य सभी मनुष्य'' प्रभावी रूप से विधि के अधीन हो जायेंगे।

2) ***दूसरा संकेत :*** आँग्ल-अमरीकी तरह के संसदीय लोकतंत्र तथा अधिकारों के विभाजन के प्रति प्रशंसा-भाव, इस प्रकार के लोकतंत्र के सभी सिद्धांतों के प्रति ''घोषणापत्र'' की निष्ठा ऐसे उग्रीकरण की तर्क-पद्धति है जो उन्हीं सिद्धांतों को रंगभेद के पश्चिमी समर्थकों के विरोध में खड़ा कर देती है—यह सारा कुछ एक सरल, चमकदार विपर्यय के किसी हिंसक सत्ताधिकार के सदृश्य लग सकता है : ''अश्वेत'' समुदाय का (सभी अ-श्वेत समुदायों का) संघर्ष एक ऐसे मॉडल और ऐसी विधि के नाम पर किया जाएगा जो महत्त्वपूर्ण रहा है और जिसे प्रथमतः इसके मूल आयातकों (श्वेत अल्पसंख्यकों) द्वारा झुठलाया गया है। एक भयावह विषममिति। लेकिन यह अपने आप को न्यून अथवा प्रतिबिंबित करती प्रतीत होगी और इस सीमा तक ऐसा करती प्रतीत होगी ताकि यह सभी प्रकार के वस्तुनिष्ठ प्रतिनिधिकरणों से बच निकले : न सममिति न ही विषममिति। और ऐसा इसलिए क्योंकि अब आयात नहीं किया जाएगा, न ही विधि के उस इतिहास का कोई निर्धारित किया जा सकने वाला उद्‌भव होगा, होंगे तो केवल बिंबों के प्रक्षेपण, प्रक्षेप-पथ के प्रतिलोमन, इतिहास के प्रभावों की केवल एक प्रतिबिंबी युक्ति, उस विधि के लिए जिसकी संरचना और ''इतिहास'' में शामिल है उद्‌भव को ढोना। इस प्रकार की युक्ति—और इस शब्द से मेरा तात्पर्य केवल यह है कि यह चीज़ नैसर्गिक नहीं है जिसका मतलब आवश्यक रूप से मनुष्य के हाथों से आयी हुइ किसी कलावस्तु के रूप में इसे परिभाषित करना नहीं है—इस प्रकार की युक्ति वस्तुगत स्पेस में प्रतिनिधित किए जाने लायक नहीं है। और इसके कम से कम दो कारण हैं जिन्हें मैं प्रस्तुत संदर्भ में विवेचित-उल्लिखित करूँगा :

(अ) पहले कारण का स्रोत है उस विधि, सिद्धांत अथवा मॉडल की संरचना जिस पर हम इस समय विचार कर रहे हैं। इसकी निर्मिति, इसके रूपायन का, इसके प्रकट होने अथवा प्रस्तुति का ऐतिहासिक स्थान जो भी, जहाँ भी हो, ऐसी संरचना का झुकाव सार्वभौमिकता की ओर होता है। हम कह सकते हैं कि उसकी अंतर्राष्ट्रीय अंतर्वस्तु, उसका अर्थ यह अपेक्षा करता है कि यह तत्काल ही अपने उद्‌भव-स्थल की ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा भाषिक सीमाओं का अतिक्रमण कर जाय। प्रत्येक चीज़ का प्रारंभ उसके उन्मूलन से होना चाहिए। ऐसा होने पर सीमाएँ ऐतिहासिक संयोग बन जायेंगी। यह भी हो सकता है कि ये सीमाएँ तब उस चीज को छिपा लें जिसे सामने आने की वे छूट दे देती हैं। इस तरह यह सोचा जा सकता है कि दक्षिण अफ्रीका के ''श्वेत अल्पसंख्यक'' उन सिद्धांतों के मूल तत्त्व को छिपा लेते हैं जिसका हवाला वे देते हैं—उन सिद्धांतों का निजीकरण, विशिष्टीकरण, विनियोजन कर लेते हैं और इस प्रकार उनको उनके अस्तित्व में होने के तर्क के विपरीत, स्वयं तर्क के विपरीत अधिगृहीत कर लेते हैं। इससे अलग, रंगभेद के विरुद्ध संघर्ष के क्रम में वह ''प्रतिबिंबन'' जिसकी चर्चा हम यहाँ कर रहे हैं, उस राजनीतिक परिघटनात्मकता में अब दृश्यमान ही नहीं रह जाता है जिसमें श्वेतों की भूमिका प्रमुख है। जो अब तक दृश्यमान नहीं था अथवा जिसे अभी तक नहीं देखा जाना था, उसे देखना यह अनिवार्य बना देता है। यह श्वेतों की आँख खोलने की कोशिश करता है, यह दृश्यमान को पुनर्उत्पादित नहीं करता—यह इसे जन्म देता है। यह प्रतिबिंबन ऐसी विधि को दृश्यमान बनाता है जो, वास्तव में, प्रतिबिंबित करने से कुछ अधिक करता है, क्योंकि वह विधि अपनी परिघटना में अदृश्य थी—अदृश्य हो गयी थी अथवा अदृश्य बनी रही थी। और दृश्यमानता को अदृश्यमानता में धारण किये हुये यह प्रतिबिंबन दृश्यमान से अपनी यात्रा नहीं प्रारंभ करता अपितु बोध के मार्ग से गुजरता है। अधिक संक्षेप

में, यह हमें उसका बोध देता है जो बोध से आगे निकल जाता है और केवल तर्क को दिया जाता है। वह पहला तर्क, जबकि स्वयं तक था।

(ब) दूसरा कारण और अधिक समस्यामूलक है। यह अधिक सटीक रूप से उस परिघटनात्मक छायाभास से, लोकतांत्रिक विधि, सिद्धांतों और मॉडल के ऐतिहासिक संविधान से जुड़ा है। यहाँ भी घोषित प्रशंसा का अनुभव, इस बार ऐसी प्रशंसा का अनुभव जो *मुग्ध होने* का भी दावा करता है, किसी प्रतिबिंबन की पर्त का अनुसरण करता है। अब भी विधि का प्रतिबिंबन : मण्डेला परिलक्षित करते हैं, वे देखते हैं—कुछ लोग कह सकते हैं, वे *इसे बिना देखे प्रक्षेपित करते हैं, प्रतिबिंबित करते है*—अफ्रीकी समाज के अंतर्तम में इस विधि की उपस्थिति, ''श्वेत आदमी के आगमन के पूर्व से ही'' इसकी उपस्थिति।

इस विषय में मण्डेला स्वयं जो कहते हैं, उसके तीन अभिप्रायों को मैं रेखांकित करूँगाः

क) *मुग्ध होने* का अभिप्रायः दृष्टि के किसी ऐसे संकेंद्रण का स्थिर हो जाना, मानो किसी चीज के द्वारा वह रोक लिया गया हो और जो दृश्यमान हुए बिना आप की ओर देख रहा हो, पहले से ही आप से जुड़ गया हो, आपको समझता हो, और आप को प्रतिक्रिया देने तथा ध्यान से परखने के लिए और देखने वाली उस दृष्टि के लिए आपको उत्तरदायी बनाने के लिए, दृश्यमान के परे देखने के लिए आपको पुकार रहा हो।

ख) *बीज* का अभिप्रायः यह व्याख्या के लिए अपरिहार्य एक योजना उपलब्ध कराता है। यह किसी आभासिता जैसा होता है कि भले ही इसे ''श्वेत'' मनुष्य के हिंसक विस्फोटन के बाद प्रतिबिंबन की विधि से प्रकट अथवा विकसित किया गया हो लेकिन यह लोकतांत्रिक मॉडल पूर्वजों के समाज में अवश्य ही मौजूद रहा होगा, यद्यपि ''श्वेत'' व्यक्ति अपने को इसका संवाहक मानता है।

ग) दक्षिण अफ्रीका की उस *गृहभूमि* का अभिप्राय जो उन सभी जातीय समूहों का जन्मस्थान है जो गणतांत्रिक दक्षिण अफ्रीका की विधि के अनुसार वहाँ निवास करने के लिए अधिकृत हैं। यह गृहभूमि किसी राज्य अथवा राष्ट्र के साथ सम्मिश्रित नहीं की जा सकती।

कई वर्ष पहले जब मैं, अपने गाँव ट्रांस्केई में बालक था, तब मैं अपने बुजुर्गों से *श्वेत आदमियों के आने से पहले के* अच्छे पुराने दिनों की कहानियाँ सुना करता था। तब हमारे लोग अपने राजाओं और उनके पद और श्रेणी के हिसाब से राजाओं के बाद आने वाले उच्च पदस्थ अधिकारियों के लोकतांत्रिक शासन में शांतिपूर्वक रहते थे और आज़ादी तथा भरोसे से पूरे देश में घूमते थे। तब यह देश हमारा था।

मुझे तब आशा थी और मैने संकल्प लिया था कि मुझे जीवन जो कुछ खजाने दे सकता है, उसमें अपने लोगों की सेवा करने और उनके स्वतंत्रता संघर्ष में अपना विनम्र अवदान करने का अवसर अवश्य ही शामिल होगा।

इस देश में प्रारंभिक अफ्रीकी समाज की संरचना और उसका संगठन मुझे बहुत आकर्षित करता था और मेरे राजनीतिक दुष्टिकोण को इसने बहुत अधिक प्रभावित किया था। उस समय उत्पादन के साधन के रूप में भूमि पूरी जनजाति की मानी जाती थी और इसका व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं होता था। कोई वर्ग नहीं था, न कोई गरीब था, न ही किसी धनी मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण होता था। सभी मनुष्य स्वतंत्र और समान थे और सरकार का यही आधार होता था। यह सामान्य सिद्धांत 'इम्बिजो' अथवा 'पिट्सो', अथवा 'गोट्ला' आदि के नाम से पुकारी जाने वाली परिषदों के संविधान में भी स्वीकार किया जाता था जो जाति विशेष के

मामलों को शासित करती थीं।

ऐसे समाज में काफ़ी कुछ ऐसा था जो आदिम तथा असुरक्षित था और जो आज के दौर की तमाम आवश्यकताओं के लिए नाकाफ़ी था। लेकिन ऐसा समाज *क्रांतिकारी लोकतंत्र के बीज* सँजोये रहता है जिसमें कोई भी गुलामी अथवा दासता में जकड़ा नहीं होता और जिसमें गरीबी, अभाव और असुरक्षा नहीं रहेगी।

अफ्रीकी नेशनल कॉंग्रेस का यह भी विश्वास था कि सभी लोग, वे चाहे जिस जातीय समूह के हों और उनकी त्वचा का रंग जो भी हो, वे सभी लोग जो दक्षिण अफ्रीका को अपना घर मानते हैं तथा लोकतंत्र और सभी मनुष्यों की समानता में विश्वास करते हैं, अफ्रीकी माने जाएँगे, कि सभी दक्षिण अफ्रीकी सभी क्षेत्रों में अधिकार और अवसर की पूर्णतम समानता के आधार पर स्वतंत्र जीवन जीने के लिए अधिकृत हैं। (पृ. 149-50)

मुग्ध होने के क्रम में जो भी देखने के लिए उपलब्ध होता प्रतीत होता है और जो मण्डेला के आँखों को गति और स्थिरता प्रदान करता है, वह केवल संसदीय लोकतंत्र ही नहीं है जिसके सिद्धांत ने अपने को पश्चिम में उदाहरण के रूप मे ंतो प्रस्तुत किया होता लेकिन उदाहरणीय न होता। जो वास्तव में उदाहरणीय है अथवा होता, वह है संसदीय लोकतंत्र से क्रांतिकारी लोकतंत्र की ओर संतरण : एक ऐसा समाज जिसमें न तो वर्ग होगा, न ही व्यक्तिगत संपत्ति। इस प्रकार हमने अभी-अभी निम्नलिखित पूरक विरोधाभास को संज्ञापित किया है : संसदीय लोकतंत्र का, लोकतांत्रिक स्वरूप का प्रभावी, संतुष्टिपूर्ण कार्यान्वयन, औपचारिकता का यथार्थ में निर्धारण इस गैर-पश्चिमी समाज में केवल किसी आभासिता अथवा अलग शब्दों में, किसी ''बीज'' के ही रूप में *घटित हुआ होगा।* मण्डेला अपने को उस चीज़ के द्वारा *मुग्ध* किए जाने की छूट दे देते हैं, वे जिसे स्वयं अपने को पहले से ही प्रतिबिंबित करते हुए देख लेते है, जो वहाँ देखे जाने के लिए नहीं होता, वह जिसे वे पहले ही देख लेते हैं : ऑंग्ल-अमरीकी पश्चिम स्वयं उस क्रांतिकारी लोकतंत्र का केवल संकुचित, आधा-अधूरा, औपचारिक और *इस तरह संभावी रूप से शक्तिशाली* बिंब ही दे सकता था अर्थात शक्ति के विरुद्ध शक्ति। क्योंकि मण्डेला पश्चिम की संसदीय पद्धति की सर्वाधिक ''प्रशंसा'' करते हैं, इसलिए वे इसके प्रति अपनी ''प्रशंसा'' की घोषणा भी करते हैं, और यहाँ फिर उन्ही का शब्द—वे इसकी प्रशंसा ''इस देश में प्रारंभिक अफ्रीकी समाजों की संरचना और संगठन'' के लिए करते हैं। सवाल है उसी तर्कपद्धति और उसी वाग्मिता के आधार पर ''बीज'' और उसके स्फुटन का। अफ्रीकी समाज का चित्र पहले आता है, देखने के लिये अग्रिम रूप से उसे प्रस्तुत कर देता है जो अपनी ऐतिहासिक परिघटना में अभी भी अदृश्य है, ''वर्गविहीन समाज'' और ''मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का अभाव''।

''आज मैं एक वर्गविहीन समाज के विचार के प्रति मुग्ध होता हूँ, एक ऐसी मुग्धता जो अंशतः मार्क्सवादी अध्ययन से और अंशतः इस देश के प्राचीन समाजों की संरचना और संगठन के प्रति मेरे प्रशंसा-भाव से उत्पन्न हुई है। तब उत्पादन के एकमात्र साधन के रूप में समस्त भूमि पूरी जनजाति की होती थी। उन समाजों में ग़रीब-अमीर का भेद नहीं होता था और न ही मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण।'' (पृ. 175-6)

(तीन)

इस तरह मण्डेला इस शब्द के सभी अर्थों में विधि (लॉ) के अनुगामी रहे। उन्होंने सदैव ही विधि सम्मत न्याय की गुहार लगायी है, भले ही कभी-कभी उन्हें इस या उस प्रकार की वैधानिकताओं का विरोध करना पड़ा हो और भले ही किन्हीं न्यायाधीशों ने उन्हें विधि-तोड़क

की संज्ञा दी हो।

लेकिन वे *स्वभाव* से विधि का सम्मान करने वाले व्यक्ति हैं। एक ओर, वे हमेशा विधि की गुहार लगाते हैं; दूसरी ओर, उन्होंने सदैव विधि की ओर आकर्षण महसूस किया है, उसकी आवाज़ सुनी है, वह विधि जिसके समक्ष आना सदैव उनकी इच्छा रही है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने उस विधि के समक्ष उपस्थित होना स्वीकार किया है, भले इसके लिए उन्हें बाध्य किया गया रहा हो। वे ऐसे सुअवसरों को जाने नहीं देते है। हम अवसर नहीं कह सकते। अपने ''पक्ष'' में दिये गये उनके बयानों को पढ़िये जो वस्तुतः अभियोगपत्र हैं। इसमें आपको एक राजनीतिक आत्मकथा भी मिल जायेगी, उनकी अपनी आत्मकथा और उनके लोगों दोनों की और ये दोनो आत्मकथाएँ एक दूसरे में गुँथी हुई हैं। इस आत्मकथा में ''मैं'' अथवा ''मुझे'' अपने को संस्थापित करता है और उसका औचित्य प्रस्तुत करता है, यह बहस करता है और ''हम'' के नाम से हस्ताक्षर करता है। वे हमेशा ''हमारे लोग'' कहते हैं, विशेष रूप से तब जब वे *विधि के समक्ष* उत्तरदायी कर्ता की बात करते हैं :

''मुझ पर आरोप है कि मैंने विधि के विरुद्ध विरोध प्रदर्शन करने के लिए लोगों को उकसा कर एक अपराध किया है, एक ऐसी विधि जिसे तैयार करने में मेरी अथवा मेरे लोगों की कोई भूमिका नहीं थी। वह विधि जिसके खिलाफ विरोध किया जा रहा है, एक ऐसी विधि है जिसके माध्यम से दक्षिण अफ्रीकी संघ में एक गणतंत्र की स्थापना की गयी थी। लेकिन इस तरह के अपराध के लिए दण्ड निर्धारण करते समय सरकार को उत्तरदायित्व के प्रश्न पर अनिवार्यतः विचार करना चाहिए कि क्या मैं इसके लिये उत्तरदायी हूँ अथवा इस उत्तरदायित्व की बहुत विशाल मात्रा का भार उस सरकार के कंधे पर डाला जा सकता है जिसने इस विधि का कार्यान्वयन यह जानते हुए भी किया कि मेरे लोग जो इस देश की जनसंख्या में बहुसंख्यक हैं इस विधि के विरोध में थे और साथ में यह भी जानते हुए कि विधिसम्मत विरोध के सारे रास्ते पहले ही कानून पारित कर और सरकारी प्रशासनिक कार्यवाही द्वारा बंद कर दिए गए हैं।'' (पृ. 148)

वे अपने को स्वयं अपने लोगों के माध्यम से *विधि के समक्ष* प्रस्तुत करते हैं। एक ऐसी विधि के समक्ष जिसे वे निस्संदेह चुनौती देते हैं लेकिन यह चुनौती एक श्रेष्ठ विधि के नाम पर दी जाती है, उसी विधि के नाम पर जिसकी प्रशंसा करने का वे दावा करते हैं और जिसके समक्ष *अपने को उपस्थित* करने के लिये वे सहमत हो जाते हैं। इस तरह की स्व-उपस्थिति में वे अपने इतिहास के स्मरण के माध्यम से अपना औचित्य सिद्ध कर देते है—वह इतिहास जिसे वे एक ही फोकस में प्रतिबिंबित कर देते हैं, एक अकेले और दोहरे फोकस में अपना इतिहास और अपने लोगों का इतिहास। सह-उपस्थिति : वे साथ-साथ उपस्थित होते हैं, विधि के समक्ष उपस्थित होने में वे अपने को एकत्र कर लेते हैं, विधि का वे उतना ही आह्वान करते हैं जितना कि विधि उनका। लेकिन वे अपने को किसी ऐसे *औचित्य के कारण* से नहीं प्रस्तुत करते जो अब आने वाला है। वे अपने को किसी विधि की *सेवा* में नहीं उपस्थित करते, यह साधन नहीं है। इस इतिहास का प्रयोग एक *औचित्य-प्रतिपादन* है, यह केवल विधि के समक्ष ही संभव है और इसका कोई अर्थ संभव है। वे वही हैं जो वह हैं, वे अर्थात नेल्सन मण्डेला, वे और उनके लोग, वे केवल न्याय की गति में ही उपस्थित होते हैं।

किसी अधिवक्ता के संस्मरण और उसकी आत्म-स्वीकृतियाँ। अधिवक्ता ''प्रभावी रूप'' में अपने को खोलता है और पूरे समय किसी वैधानिकता के उल्लंघन को उचित ठहराते हुए और उस उल्लंघन के उत्तरदायित्व को स्वीकार करते हुए ऐसा करता है। साक्षी के रूप में सारी

मानवता का आह्वान करते हुए, वे अपने को सार्वभौमिक न्यायाधिकरण को संबोधित करते हैं, उन सभी न्यायाधीशों की उपस्थिति में ऐसा करते हैं जो वहाँ उनके मुकदमे की सुनवाई कर रहे होते हैं। इसी में अनुस्यूत है विरोधाभास : इस हुतात्मा की कहानी के आर-पार हम एक प्रकार के उल्लास की अंतर्ध्वनि सुन सकते हैं। और कभी-कभी इन आत्म-स्वीकृतियों में हमें रूसो के स्वर की प्रतीति होती है, एक ऐसा स्वर जो *अंतःकरण के स्वर* की, न्याय की तत्काल और अडिग अनुभूति की, विधियों की उस विधि के स्वर की अभ्यर्थना करना कभी बंद ही नहीं करता, जो हमारे पहले ही हमारे भीतर ध्वनित होने लगता है, क्योंकि यह हमारे हृदयों में उत्कीर्ण होता है। इसी परंपरा में यह स्थल होता है अनुल्लंघनीय आदेशक का, ऐसी नैतिकता का जो शर्तबद्ध अनुमानों और स्वार्थ की रणनीतियों के साथ वैसे ही असंयोज्य होती है जैसे इस या उस नागरिक विधि के स्वरूपों के साथ :

''मान्यवर, मैं नहीं मानता कि इस न्यायालय को उन अपराधों के लिए मुझे दण्डित करते समय, जिनमें मेरा विश्वास है, इस मान्यता से प्रभावित होना चाहिए कि दण्ड मनुष्यों को उस मार्ग पर चलने से विरत कर सकता है, जिसके बारे में वे आश्वस्त होते हैं कि यह ठीक है। इतिहास बताता है कि दण्ड उस समय उनको मार्ग से विरत नहीं कर सकता है जब उनका अंतःकरण उद्वेलित हो जाता है।'' (पृ. 158)

''मान्यवर, इस न्यायालय ने जिस अपराध का दोषी मुझे पाया है, उसके लिए आप जो भी दण्ड मुझे देंगे, (उस संदर्भ में) मैं इस न्यायालय को आश्वस्त करना चाहता हूँ कि जब भी मेरी दण्डावधि समाप्त होगी, तब भी मैं उन सभी लोगों की ही तरह जो अपने अंतःकरण का अनुसरण करते हैं, अपने लोगों के विरुद्ध किये जाने वाले नस्लीय भेदभाव के प्रति घृणा से ही प्रेरित होऊँगा, अपनी सर्वोत्तम संभव शक्ति सहित उन अन्यायों के विरुद्ध तब तक संघर्ष करता रहूँगा जब तक कि उन्हें अंततः सदैव के लिए समाप्त नही ंकर दिया जाता।'' (पृ. 159)

''यह विधि की अवमानना का कार्य था। हम यह जानते थे कि यह ऐसा था लेकिन तब भी वह कार्य हमारे ऊपर जबर्दस्ती, हमारे न चाहते हुए भी, चढ़ा था और हमारे पास विधि के अनुपालन, अपने अंतःकरणों के बीच चुनाव करने के अलावा कोई विकल्प नहीं था।'' (पृ. 151)

''यहाँ हमारा सामना *विधि और हमारे अंतःकरण के बीच* इस द्वंद्व से था। प्रस्तावित गणतंत्र को लेकर हमारी गंभीर आपत्तियों तथा हमारे द्वारा सुझाए गए समाधानों पर विचार करने, यहाँ तक कि उन पर अपनी प्रतिक्रिया देने में सरकार की पूर्ण विफलता की स्थिति में हम क्या कर सकते थे? क्या हम उस विधि को लागू करने की छूट दे देते जिसका उद्देश्य यह है कि आप विरोध प्रदर्शन के द्वारा, इसका उपयोग करते हुए हम अपने अंतःकरण और विश्वास के साथ धोखा करने का अपराध नहीं करेंगे? यह समस्या हमारे सामने थी और इस समस्या के कारण ईमानदार लोगों, उद्देश्ययुक्त लोगों तथा सार्वजनिक नैतिकता और अंतःकरण में विश्वास रखने वाले लोगों की एक ही प्रतिक्रिया हो सकती है। उन्हें अपने *अंतःकरण के आदेश* का पालन करना चाहिये, और उन परिणामों की चिंता नहीं करनी चाहिए जिनका सामना उन्हें इसके चलते करना पड़ सकता है। हम कार्य परिषद के सदस्यों ने और इस परिषद का सचिव होने के नाते विशेष रूप से मैंने अपने *अंतःकरण का अनुसरण किया* है।'' (153-4)

अंतःकरण और चेतना, दोनों एक ही हैं। स्व-उपस्थितिकरण और अपने लोगों का उपस्थितिकरण, एक ही प्रतिबिंबन में दोनों एक ही इतिहास हैं। जैसाकि हम कह चुके हैं, दोनों स्थितियों में इकहरा और दुहरा फोकस। और यह प्रशंसा का फोकस है, क्योंकि चेतना विधि

के समक्ष अपने को प्रतिबिंबित करने के क्रम में अपने को उपस्थित, एकत्रित और संपुटित कर लेती है। और हम यह कहना न भूलें कि ऐसा प्रशंसा में होता है।

प्रशंसा का यह अनुभव भी *दुहरी अंर्तस्थता* वाला होता है। यह प्रतिबिंब को प्रतिबिंबित करता है और इससे सारी शक्ति लेता है और उस शक्ति को यह अपने पश्चिमी न्यायाधीशों के विरुद्ध घुमा देता है, क्योंकि यह नाटकीय ढंग से दुहरे अंतरस्थकरण से निकलता है। सर्वप्रथम मण्डेला विधि के एक ऐसे आदर्श विचार को अंतरस्थ करते हैं, अपने भीतर बैठा लेते हैं जो पश्चिम से आया हुआ प्रतीत होता है। लेकिन उसी समय वे ईसाई पश्चिम द्वारा इसको दिए गए रूप में *अंर्तस्थता के सिद्धांत* को भी अंर्तस्थ कर लेते हैं। इसके सारे के सारे लक्षण योरोप में प्रमुख स्थान बनाये हुए दर्शन, राजनीति, न्यायव्यवस्था तथा नैतिकता में पाए जा सकते हैं : विधियों की विधि अत्यधिक निकटस्थ चिंताओं अथवा आग्रहों में निवास करती है, अंततः किसी को भी आशयों, सदिच्छाओं, इत्यादि का फैसला करना होता है। सभी न्यायिक, राजनीतिक विमर्शों के पहले, सकारात्मक विधि के पाठों के पहले, विधि हमारे अंतःकरण के स्वर में बोलती है अथवा हृदय की गहराइयों में अपने को उत्कीर्ण करती है।

मण्डेला अपनी इच्छा से तो विधि के व्यक्ति हैं ही, वे पेशे से भी विधि के व्यक्ति हैं। हमें मालूम है कि पहले उन्होंने अफ्रीकी नेशनल काँग्रेस के तत्कालीन सचिव वाल्टर सिसुलू की सलाह पर विधि का विधिवत् अध्ययन किया था। उन्हें विशेष रूप से पश्चिमी न्याय प्रणाली को आत्मसात करना था अर्थात उस हथियार के बारे सब कुछ जान लेना था जो दमनकारी सत्ता की ओर उन्मुख था। क्योंकि अंत में यही दमनकारी सत्ताधीश ही अपने सारे न्यायिक कौशल के बावजूद वास्तविक विधि पर कुनिर्णय देते हैं और विधि की आत्मा के विरुद्ध घालमेल करते हैं, उसका बलात् उल्लंघन करते हैं, उससे छल करते हैं।

इस प्रकार न्यायिक व्यवस्था में अपना स्थान लेने के लिए और प्रथमतः विधि संकाय में अपना स्थान लेने के लिए मण्डेला *पत्राचार* पाठ्यक्रम का माध्यम चुनते हैं। वे पहले साहित्य में उपाधि लेना चाहते थे। इस प्रसंग को हमें रेखांकित करना चाहिए। आमने-सामने कहने-सुनने की सामान्य सुविधा के अभाव में ही कोई पत्राचार का माध्यम चुनता है। बाद में मण्डेला इसके बारे में शिकायत करेंगे। संदर्भ लेकिन अलग होगा, लेकिन अभी भी वाक् की राजनीति और लेखन की राजनीति, जो ''ज़ोर'' से बोला जाता है और जो लिखा जाता है, के बीच अंतर की राजनीति, ''बोले गये स्वर'' और ''पत्राचार'' के बीच की राजनीति यहाँ दाँव पर लगी हुई है। देरिदा के अनुसार पश्चिमी दर्शन के इतिहास में वाक् और लिपि के बीच द्वंद्व का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि पश्चिमी दर्शन का इतिहास। इस इतिहास का पारिभाषिक लक्षण है इसके केंद्र में गहरे जड़ जमाये हुये 'वाक्केंद्रवाद' (logocentrism), जिसे वे 'उपस्थिति की तत्त्वमीमांसा' (metaphysics of presence) की संज्ञा देते हैं। विस्तार के लिये देखिये देरिदा की पुस्तक *Of Grammatology* का गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक द्वारा अंग्रेजी अनुवाद, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन से प्रकाशित।

देरिदा मण्डेला के बारे में कहते हैं, ''इस देश में श्वेत सरकार के इतिहास ने हमें यह मानने के लिए अनुकूलित कर लिया है कि जब भी अफ्रीकी लोग अपनी किसी माँग को इस ताक़त के साथ उठाते हैं कि सरकार को उसके मान लिए जाने की आशंका होने लगती है, तभी उनको अर्थात् श्वेत सरकार को अपने बल और आतंक की याद आ जाती है और वे उस माँग को भोथरा बनाने के लिए अपनी भरपूर ताक़त लगा देते हैं। यह बात अफ्रीकी लोगों

को हमने सिखाई नहीं हैं; अपने कड़वे अनुभव से वे इसे स्वयं जानते हैं।

इस देश में पहले से ही ऐसे संकेत मौजूद हैं कि मेरे अफ्रीकी लोग, जानबूझ कर सरकार के विरोध में हिंसक गतिविधियों और बल प्रयोग की ओर झुकाव रखते रहे हैं ताकि वे सरकार से अपनी बात उस एकमात्र भाषा में समझा सकें जिसका प्रयोग यह सरकार करती और समझती है।

दुनिया में अन्यत्र, कोई न्यायालय मुझसे कहेगा, 'तुम्हे पहले सरकार के पास अपनी समस्या का प्रतिवेदन भेजना चाहिए था।' लेकिन मुझे विश्वास है कि यह न्यायालय ऐसा नहीं कहेगा। मेरे पहले अनेक लोगों ने न जाने कितनी बार प्रतिवेदन दिए हैं। इस मामले में मैंने भी प्रतिवेदन दिया है, मैं फिर से प्रतिवेदन देने के अनुभव को दुहराना नहीं चाहता। इन प्रतिवेदनों और समझौता-वार्ताओं की प्रक्रियाओं के प्रति अफ्रीकी लोगों के मन में सम्मान की भावना बढ़ने की अपेक्षा अदालत ऐसे समय न करे, जब सरकार प्रतिदिन अपने आचरण के द्वारा यह साबित कर रही है कि यह इन प्रक्रियाओं को बड़ी हेय दृष्टि से देखती है, इन पर आक्रोश करती है और इनमें उसकी कोई रुचि नहीं है। मेरा यह भी विश्वास है कि न्यायालय यह कहेगा कि इन परिस्थितियों मेरे लोग कुछ न कहने और कुछ न करने के लिये अभिशप्त हैं।'' (पृ. 155-56)

सुनवाई न करनी पड़े, इसलिए श्वेत सरकार का कहना है कि सब कुछ लिखित होना चाहिए। लेकिन ऐसा करने में इसका आशय होता है उत्तर न देना और प्रथमतः आवेदनों को न पढ़ना। यहाँ मण्डेला अफ्रीकी नेशनल काँग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष अलबर्ट लुटुली द्वारा प्रधान मंत्री स्ट्रिजडॉम को संबोधित पत्र को याद करते हैं। यह पत्र वास्तव में स्थिति का विस्तृत अध्ययन था और उन्होंने उस पर संवाद करने का निवेदन था। उत्तर था मौन।

''मेरे लोगों और उनकी आकांक्षाओं के प्रति दक्षिण अफ्रीकी सरकार का सुपरिचित व्यवहार हमेशा वह नहीं रहा है जो इसे होना चाहिए और न ही इसका वह स्तर रहा है जो उच्चस्तरीय वार्ता के क्रम में दो *सभ्य* लोगों के बीच होना चाहिए। प्रधान मंत्री के कार्यालय ने उस पत्र के लेखक के प्रति शिष्टता दिखाने के लिए भी इसे नहीं संज्ञापित किया।'' (पृ. 153)

श्वेत अधिकारी किसी बात का उत्तर देने के लिए अपने को विवश नहीं मानते और न ही अश्वेत लोगों के प्रति अपने को ज़िम्मेदार मानते हैं। लौटती डाक से अथवा मौखिक रूप से अथवा आँख से अथवा किसी अन्य संकेत के माध्यम से जवाब आश्वासन नहीं मिलता। ऐसा कुछ भी नहीं किया जाता जिसके आधार पर कोई ऐसा भाव अश्वेत लोगों के मन में पैदा हो सके कि उन्हें किसी न किसी रूप में जवाब मिल जाएगा। लेकिन श्वेत प्राधिकार जवाब न देने मात्र से ही संतुष्ट नहीं हो जाता। यह कुछ ऐसा भी कर जाता है जो उससे भी बदतर होता है : यह उनके पत्रों को संज्ञान ही नहीं लेता। लुटुली प्रसंग के बाद मण्डेला स्वयं वही प्रयोग करते हैं। उन्होने अभी-अभी वेररवोर्ड को उस कार्य परिषद के एक फैसले के बारे में सूचित करने को लिखा है जिसके वे (मण्डेला स्वयं) सचिव थे। उन्होंने उस फैसले द्वारा निर्धारित तिथि के पहले बैठक बुलाने का भी निवेदन किया है। कोई उत्तर नहीं, न ही पत्र प्राप्त होने का कोई संज्ञापन।

''किसी सभ्य समाज में सरकार के प्रधान द्वारा *पत्र प्राप्त करने की सूचना देने में असफल होना किसी को भी आक्रोशित कर सकता है* और देश के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समुदाय के प्रतिनिधियों तथा नेताओं के ऐसे निवेदन को वह सर्वथा उचित मानेगा। एक बार फ़िर मेरे

लोगों से उचित व्यवहार करने का सरकार का स्तर *सभ्य संसार* की अपेक्षा के स्तर से नीचे गिर गया। हमारे पत्र पर किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं, उसका कोई जवाब नहीं और न ही कोई ऐसा संकेत कि इस पर किसी प्रकार का विचार अथवा कार्यवाही हुई है। यहाँ हम अफ्रीकी लोगों के सामने *विधि और हमारी अंतःकरण के बीच द्वंद्व उपस्थित था।*'' (पृ. 153)

पत्रों की प्राप्ति को संज्ञापित न करना शिष्टाचार के नियमों का उल्लंघन करना है, लेकिन प्रथमतः यह सभ्य आचरण के नियमों का उल्लंघन है, एक असभ्य व्यवहार, प्रकृति की ओर वापसी, किसी समाज के पूर्व चरण की ओर वापसी जब विधि का जन्म ही नहीं हुआ था। आखिर यह सरकार इस प्रकार के असभ्य व्यवहार क्यों करती है? क्योंकि यह देश के बहुसंख्यक जनसंख्या को, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संख्या वाले समुदाय को असभ्य, विधि-पूर्व अथवा विधि से शून्य समझती है। अपने इस कृत्य से, पत्रव्यवहार को बाधित करने से, श्वेत व्यक्ति अपनी ही विधि की अवमानना करता है। स्पष्ट तथ्य के प्रति वह स्वयं को अंधा बना लेता है, कोई प्राप्त पत्र यह संकेत होता है कि पत्र-लेखक अपने समुदाय के अधिकारों की माँग कर रहा है। अपनी ही विधि का असम्मान करके श्वेत व्यक्ति उस विधि को निंदनीय घोषित कर रहा है :

''शायद न्यायालय यह कहेगा कि विरोध प्रदर्शन करने, आपत्ति उठाने, अपनी बातों के सुने जाने के हमारे अधिकार के बावजूद, हमें विधि की सीमाओं के भीतर रहना चाहिए। श्रीमान जी, मैं कहना चाहूँगा कि यह सरकार और उसका प्रशासन है जो *विधि को इस प्रकार निंदनीय बनाता है* और उसे अपमानित करता है कि इस देश में कोई भी विधि के प्रावधानों की सीमा में नहीं रहना चाहता। मैं अपने अनुभव से ही इसे प्रमाणित करूँगा। सरकार ने विधि की प्रक्रियाओं के माध्यम से ही मेरे निजी जीवन में, मेरे राजनीतिक जीवन में, मेरी राजनीतिक गतिविधियों में इस प्रकार बाधा पहुँचाई है जो मेरे विचार में *जान-बूझ कर विधि को निंदनीय बनाने के लिए ही उपयोग किया गया है।*'' *(156)*

विधि का यह अपमान (काण्ट के अनुसार नैतिक विधि के सम्मान का समानुपातिक विलोम) उनका, (मण्डेला का) अपमान नहीं है। अश्वेतों पर आरोप लगाना, उनके पत्रों का उत्तर न देना, पत्रों की प्राप्ति-सूचना न देनाः ये सारी बातें न्यायालय के समक्ष कहते समय मण्डेला मानो श्वेतों द्वारा अपनी ही विधि के अपमान करने को प्रतिबिंबित कर रहे हैं। यह प्रतिबिंबन हमेशा होता है। जिन्होंने एक दिन मण्डेला को विधि से बाहर रख दिया, उन्हे ऐसा अधिकार था ही नहींः इस कृत्य के द्वारा उन्होंने अपने द्वारा अपने को ही विधि के बाहर रख दिया था। विधि से वहिष्कृत व्यक्ति के रूप में अपनी स्थिति का उल्लेख करते हुए मण्डेला उस विधि के ही विधि से बहिष्कृत होने को विश्लेषित और प्रतिबिंबित करते हैं जिसके नाम पर उन पर फैसला न दिया जाकर उन्हें उत्पीड़ित किया जाएगा, पहले ही उन पर निर्णय ले लिया जाएगा, उन्हे अपराधी घोषित कर दिया जाएगा, किसी अपराध के पहले ही उन्हे बंदी बना लिया जाएगा, मानो इस अंतहीन न्यायिक परीक्षण में मुक़दमा पहले ही ख़त्म हो गया था, उस जिरह के पहले ही जिसे अंत के बिना ही स्थगित किया जा चुका था :

''मैं विधि के द्वारा अपराधी बना दिया गया था, उसके लिए नहीं जो मैंने किया था, बल्कि उसके लिए जिसका प्रतीक मैं था, जो मैं सोचता था, अपने अंतःकरण के लिए। क्या इससे किसी को आश्चर्य होना चाहिए कि ऐसी स्थितियाँ समाज में किसी भी आदमी को विधि के विरुद्ध विद्रोही बना सकती हैं? क्या इस बात पर आश्चर्य किया जा सकता है कि इस

तरह के आदमी को, जिसे सरकार ने जिसे विधि-बहिष्कृत घोषित कर दिया है, विधि-बहिष्कृत जीवन बिताने के लिए तैयार रहना चाहिए जैसाकि न्यायालय के सामने प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर मैं विता रहा हूँ? लेकिन इस तरह का समय आता है, जैसाकि मेरे जीवन में आया है जब किसी आदमी को सामान्य जीवन जीने से वंचित कर दिया जाता है, जब वह किसी विधि-बहिष्कृत का ही जीवन जी सकता है क्योंकि सरकार ने उसके ऊपर विधि-बहिष्करण थोपने के लिए विधि को अधिकृत कर दिया है।'' (157)

इस प्रकार मण्डेला श्वेत सरकार पर अश्वेतों की किसी भी शिकायत का जवाब न देने का *आरोप लगाते हैं।* उनका यह भी आरोप है कि एक ओर सरकार अश्वेतों की शिकायतों का जवाब नहीं देती लेकिन दूसरी ओर उन्हें चुप रहने और केवल पत्र-व्यवहार के माध्यम से ही अपनी शिकायतों को सरकार के पास पहुँचाने की सलाह देती है। और यह पत्र-व्यवहार हमेशा ही इकतरफ़ा होने के लिए अभिशप्त होता है।

सुरसंगति की अशुभ विडंबना : आरोपित होने के बाद मण्डेला प्रिटोरिया के सेंट्रल कारागार में दिन के तेईस घण्टों के लिये एकाकी बना दिए जाते हैं। उन्हे डाक के झोले सिलने का काम सौंप दिया जाता है।

(चार)

स्वभाव से ही विधि का पालन करने वाले मण्डेला अपने व्यवसाय को, अपने व्यवसाय के कर्तव्यशास्त्र को, इसके मूलतत्त्व और इसके अंतर्विरोधों को उसी प्रतिबिंबन के हवाले सौंप देते हैं। किस प्रकार यह विधिवेत्ता, ''देश की विधियों का तथा साथ ही परंपराओं और रीति-रिवाजों का अनुपालन करने में'' अपने कर्तव्यशास्त्र के नियमों से बँधा, उसी देश की सरकार की नीतियों के विरुद्ध अभियान चलाता है और हड़तालें करने के लिए उकसाता है? न्यायाधीशों के सामने मण्डेला स्वयं इस सवाल को उठाते हैं। इस सवाल का जवाब देने के लिए मण्डेला के जीवन की कथा से कम किसी और चीज़ से काम नहीं चल सकता। पेशे के कर्तव्यशास्त्र के किसी नियम का पालन करना अथवा न करना कर्तव्यशास्त्र की सीमा के भीतर नहीं होता। यह प्रश्न कि ''पेशागत कर्तव्यशास्त्र का क्या किया जाय? इसका सम्मान करना आवश्यक है अथवा नहीं?'' पेशागत व्यवस्था का हिस्सा नहीं होता। इस प्रश्न के उत्तर में किसी को एक निर्णय लेना पड़ता है, जिसमें शामिल होता है अपने नैतिक, राजनीतिक, और ऐतिहासिक आयामों सहित पूरा का पूरा अस्तित्व। इसीलिए मण्डेला द्वारा किसी पेशागत नियम के उल्लंघन को स्पष्ट करने के अथवा इसका औचित्य सिद्ध करने के लिए एक प्रकार से उनकी जीवन-कथा के पन्नों को पलटना आवश्यक हो जाता हैः

''जो मनःस्थिति मुझे इस तरह की कार्यवाही की ओर प्रेरित करती है, उसे इस न्यायालय के समक्ष बोधगम्य बनाने के लिए मेरे लिए अपने राजनीतिक रुझान के विकास की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करना ज़रूरी है ताकि यह न्यायालय उन कारकों से अवगत हो सके जिन्होंने मुझे इस कर्म को निष्पादित करने के निर्णय में मुझे प्रभावित किया।'' (पृ. 149)

क्या मण्डेला अपने पेशागत उत्तरदायित्वों को बहुत हल्के में लेते हैं? नहीं, वे अपने पेशे को, जो उनके लिए अनेक पेशों में एक पेशा भर ही नहीं है, सोचते हैं। वे नीतिशास्त्र के नीतिशास्त्र को प्रतिबिंबित करते हैं, नीतिशास्त्रीय विधियों की आत्मा और उनके गहन अर्थों को प्रतिबिंबित करते हैं। और एक बार फिर प्रशंसा सहित सम्मान के साथ वे नीतिशास्त्र के नीतिशास्त्र के

नाम पर जोकि नीतिशास्त्र के परे एक नीतिशास्त्र, वैधानिकता के परे एक विधि है, उसके नाम पर प्रतिज्ञा करने का निर्णय लेते हैं। लेकिन इस प्रतिबिंबित का विरोधाभास (नीतिशास्त्र *का* नीतिशास्त्र), जो जिसे यह प्रतिबिंबित करता है, उसके *परे* ले जाता है, यह है कि उत्तरदायित्व पेशागत सामग्री के *आभ्यांतर में* अपना अर्थ पुनः प्राप्त कर लेता है। प्रकट रूप से पेशागत नियमावली के विपरीत, उत्तरदायित्व अपने को वहाँ पुनर्उत्कीर्ण कर लेता है, क्योकि मण्डेला अधिवक्ता का अपना काम वहाँ शुरू करने का निर्णय करते हैं जहाँ वे (श्वेत अधिकारी) उन्हें ऐसा करने से रोकना चाहते थे। ''अधिवक्ता के अपने पेशे के ठीक अनुरूप'', वे अधिवक्ता के रूप में अपना काम *नियमावली के विरुद्ध नियमावली के भीतर* ही करते हैं और इस प्रकार नियमावली को *प्रतिबिंबित* करते हैं लेकिन साथ ही वे इस नियमावली में उसे भी दर्शा देते हैं जिसे उस समय प्रभावी नियमावली ने अपठनीय बना दिया था। एक बार फिर उनका प्रतिबिंबन वह प्रदर्शित कर देता है जिसे प्रतिभासिता तब भी छिपा लेती थी। यह उसे पुनर्उत्पादित न कर उत्पादित करती है, जो दृश्यमान है। प्रकाश का यह उत्पादन न्याय है—नैतिक अथवा राजनीतिक। क्योंकि प्रतिभासी छिपाव को किसी नैसर्गिक प्रक्रिया के साथ संभ्रमित नहीं किया जाना चाहिए; इसमें कुछ भी तटस्थ, निर्दोष अथवा नियतिबद्ध नहीं होता। इस क्रम में यह प्रतिभासिता श्वेतों की हिंसा को अनूदित कर देती है, यह विधि की उनकी (श्वेतों की) व्याख्या अर्थात विधि की आत्मा को ढँक लेने वाली इसके शब्दों की न्यायिक उद्घोषणाओं के प्रचुरोद्भवन का अनुसरण करती है। उदाहरण के लिए, अपनी त्वचा के रंग तथा अफ्रीकी नेशनल काँग्रेस से संबंध होने के कारण मण्डेला अपने वैधानिक पेशे के लिए नगर के व्यावसायिक परिसरों में स्थान नहीं पा सकते। प्रत्येक श्वेत अधिवक्ता के विपरीत, 'नगरीय क्षेत्र अधिनियम प्राधिकरण' ने ऐसा करने से उन्हें रोक दिया था। फिर एक छूट जिसका नवीनीकरण नहीं किया गया। इस तरह मण्डेला अपना अधिवक्ता का कार्य एक आरक्षित स्थान से ही कर सकते थे जहाँ वे लोग बहुत कठिनाई से पहुँच पाते थे जिन्हें मण्डेला से सलाह लेने की जरूरत होती थी :

''इसका मतलब था कि हम लोग अपना अधिवक्ता का पेशा बंद कर दें, अपने लोगों की कानूनी सेवा करना बंद कर दें जिसके लिए हमने अपने को प्रशिक्षित करने में वर्षों का समय ख़र्च किया था। ऐसा करने के लिए कोई ऐसा अधिवक्ता तैयार नहीं हो सकता है जो *अधिवक्ता कहलाने के योग्य हो।* इसलिए कुछ वर्षों तक हम गैरकानूनी तरीक़े से नगर में अपने स्थानों पर क़ाबिज़ रहे। कानूनी कार्यवाही और उस स्थान से हटाये जाने का भय आक्रमक रूप से हमारे ऊपर उस दौरान छाया रहता था। यह *विधि की अवहेलना का कार्य* था। हम यह जानते थे लेकिन तो भी, यह हमारी इच्छा के विपरीत हमारे ऊपर जबर्दस्ती थोप दिया गया था और हमारे सामने विधि का आदेश मानने तथा अपने अंतःकरण का आदेश मानने के बीच चुनाव करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं था।...मैं इसे अपना कर्तव्य मानता था और इसके लिए मैं केवल अपने लोगों के समक्ष ही नहीं अपितु अपने पेशे, विधि के अभ्यास और *सारी मनुष्यता के लिए न्याय के उद्देश्य* के समक्ष भी प्रतिश्रुत था कि मैं अपनी पूरी शक्ति से इस भेद-भाव के विरुद्ध अपना आक्रोश व्यक्त करूँ, जो मूलतः अन्यायपूर्ण है और जो उस न्याय के प्रति हमारे दृष्टिकोण के आधार के ही विरुद्ध है जो इस देश में विधि के प्रशिक्षण की परंपरा का अंश है।'' (पृ. 151)

विधि से प्रतिबद्ध व्यक्ति : यदि हम यह कहते हैं कि वे (मण्डेला) विधि के प्रति अन्य किसी स्पष्ट आदेशक को पेशागत कर्तव्यशास्त्र के ऊपर वरीयता देते हैं तो हम काफ़ी कुछ

का सरलीकरण करते हैं। यह पेशा अर्थात ''विधि का अभ्यास'' किसी अन्य पेशे की तरह एक पेशा भर नहीं होता। हम कह सकते हैं कि यह उसे एक पेशा बना देता है जिसके प्रति हम इस पेशे से न भी जुड़े होने के बावजूद आबद्ध होते हैं। कोई विधिवेत्ता सम्मान अथवा प्रशंसा का विशेषज्ञ होता है। वह अपने को आँकता है और अपने को न्यायिक निर्णय के प्रति किंचित दृढ़ता के साथ समर्पित करता है; किसी भी स्थिति में ऐसा करना उसका उत्तदायित्व होता है। इस प्रकार मण्डेला को पेशागत कर्तव्यशास्त्र के *भीतर* उस विधान को भंग करने के सर्वोत्तम कारण की तलाश करना ही है, जो *शुभ* पेशागत कर्तव्यशास्त्र के सभी सिद्धांतों की अवहेलना करता है। मानो प्रतिबिंबन के माध्यम से उन्हें वहाँ उस कर्तव्यशास्त्र की क्षतिपूर्ति करना, पूरक प्रस्तुत करना, उसे पुनर्निमित करना, उसे अकृत करना है जहाँ श्वेत अंततः अपनी चूक प्रकट कर देते हैं।

दो बार वे (उन्हीं के शब्दों में) ''विधि की अवहेलना'' को स्वीकार करते हैं ताकि वे अपने विरोधियों तक उस दर्पण को ले जा सकें जिसमें वे उनके प्रति अपनी ही अवहेलना अथवा अपमान का प्रतिबिंबन देख सकें। लेकिन *प्रतिलोमन की इस पूरकता के साथ* मण्डेला की ओर, विधि का यह अपमान विधि के प्रति अत्यधिक सम्मान का संकेत करता हुआ प्रतीत होता है।

लेकिन फिर भी मण्डेला अपने न्यायाधीशों पर आरोप नहीं लगाते, तत्काल नहीं और तब तो नहीं ही जब वे न्यायाधीशों के समक्ष उपस्थित होते हैं। निस्संदेह, उन्हें सर्वप्रथम न्यायाधीशों को अयोग्य ठहराना हैः और उसका कारण है कि न्यायालय में एक भी अश्वेत न्यायाधीश नहीं है और इस प्रकार ऐसा न्यायालय निष्पक्षता की आवश्यक शर्त नहीं पूरा करता... (वास्तविकता यह है कि जहाँ तक लोगों का सवाल है तो उनके लिए विधि के समक्ष समानता है ही नहीं और इसके विपरीत जो कथन अथवा वक्तव्य हैं, वे निश्चित ही असत्य और भ्रामक हैं); और दूसरे यह कि अध्यक्ष न्यायाधीश सुनवाई के बीच सुरक्षा पुलिस से बराबर संपर्क बनाए रहते थे। लेकिन एक बार फिर न्यायाधीशों द्वारा मण्डेला की आपत्तियों को स्वभावतः अस्वीकार कर दिए जाने पर मण्डेला न्याधिकरण को अब कटघरे में खड़ा नहीं करते। प्रथमतः वे अपने अंतर्तम में न्यायाधीशों की दृष्टि में उदाहरणीय प्रकार्य संपादित करने वालों के प्रति और न्यायाधिकरण के प्रति सम्मानयुक्त प्रशंसा का भाव बनाए रखते हैं। फिर नियमों के प्रति सम्मान उस आदर्श वैधानिक प्राधिकार की संपुष्टि करने का मार्ग प्रशस्त कर देता है जिसके समक्ष उन्हें भी *उपस्थित होने की* आवश्यकता होती है। मण्डेला एक बार फिर इस अवसर का, इस परीक्षण का, बोलने के लिए, अपने व्याख्यान की अनुगूँज को ऐसा खुला स्थल प्रदान करने का लाभ उठाना चाहते हैं, जो *सार्वजनिक* और आभासी तौर पर सार्वभौमिक हो। यह आवश्यक है कि ये न्यायाधीश सार्वभौमिक प्राधिकार से युक्त हों। और इस प्रकार मण्डेला अपने को उन न्यायाधीशों के प्रति भी उसी समय संबोधित कर लेंगे जबकि वे इनके परे भी बोल रहे होंगे। इस प्रकार का दुहरा प्रावधान मण्डेला के लिए अपने और अपने लोगों के इतिहास को प्रस्तुत करने का रास्ता खोल देता है ताकि वे इसे एक सुसम्बद्ध कथा के रूप में व्यक्त कर सकें। मण्डेला को अपने लोगों से एकाकार करने वाले बिंब का रूप-निर्माण इस दुहरे संकेंद्रण में होना चाहिए जो एक ही समय इसे उपलब्ध करता है, इसे स्मृति में लाने के क्रम में इसे एकत्र करता है और सर्वोपरि इसे संरक्षित, हाँ, संरक्षित करता है : उन्हें उस समय सुन रहे नयायाधीश और उनसे आगे तथा उनसे परे सार्वभौमिक न्यायाधिकरण। और एक क्षण के भीतर

हम इस न्यायाधिकरण के व्यक्ति और दार्शनिक का साक्षात्कार कर लेंगे। एक बार हम दोनों का लाभ उठा लेंगे—वाचिक संबोधन और पत्र-व्यवहार, उनके (मण्डेला के) निवेदन का लिखित पाठ, जोकि एक पाठ और साथ ही एक अभियोगपत्र भी हैः यह हमारे पास भी पहुँच गया है; यह रहा हमारे हाथ में; हम तत्काल ही इसे पढ़ रहे हैं।

(पाँच)

यह पाठ जो अद्वितीय होने के साथ ही उदाहरणीय भी है—क्या यह कोई *इच्छापत्र* है? बीस सालों के अंतराल में इसका क्या हो गया है? इतिहास ने इसको क्या बना दिया है, इतिहास इसका क्या बना देगा? इसके उदाहरण का क्या होगा? और स्वयं नेल्सन मण्डेला का? उनके जेलर, उनकी अदला-बदली की बात का साहस कर रहे हैं, उनकी मुक्ति पर समझौते की बात कर रहे हैं! उनकी मुक्ति पर, सखारोफ की मुक्ति पर मोल-भाव कर रहे हैं!

इच्छापत्र प्राप्त करने के कम से कम दो रास्ते हैं—पत्रलेखक को पत्रों की प्राप्ति की सूचना देना, उन्हे संज्ञापित करने के उपरांत आवश्यक कार्यवाही करना। कोई इसे उस ओर मोड़ सकता है, जो केवल किसी अतीत का ही *साक्ष्य लिए रहता* है और उसे प्रतिबिंबित करने के लिए अपने को अभिशप्त जानता है, जिसे लौटना नहीं है : एक प्रकार का सामान्य रूप से पश्चिमी विश्व है, उस यात्रा का अंतिम-बिंदु जो किसी प्रदीप्त स्रोत, एक युग के अंत से, उदाहरण के लिए ईसाई योरोप से विदा लेता प्रक्षेप-पथ है (मण्डेला इसकी भाषा बोलते हैं; यह एक ईसाई अँग्रेजी है)। लेकिन दूसरा मोड़—यदि इच्छापत्र सदैव ही साक्षियों के समक्ष, बनाया जाता है तो यह खुला भी होता है, यह दूसरों को किसी आने-वाले के प्रति उत्तरदायित्व के लिए आदेशित करता है, उन्हें (वह उत्तरदायित्व) सौंप देता है। साक्ष्य देना, कोई इच्छापत्र छोड़ जाना, प्रमाणित करना, विरोध करना मण्डेला के लिये केवल साक्षियों के समक्ष अपने को प्रस्तुत करना, अपने को सामने लाना, अपनी उपस्थिति को सार्वजनिक करना, अपने को और अपने लोगों को प्रस्तुत करना ही नहीं था; यह उस आने-वाले के लिए विधि को पुनर्स्थापित करना था, जैसे कि मानो यह कभी घटित ही नहीं हुआ हो, जैसे कि मानो कभी भी सम्मान न पाने के बाद यह आद्य-पुरातन चीज़ कभी उपस्थित नहीं रही अर्थात् स्वयं भविष्य ही अदृश्य बना रहा हो। पुनः आविष्कृत किये जाने के लिए।

इच्छापत्र के दोनों मोड़ परस्पर विरोधी नहीं हैं; वे तब उदाहरण की उदाहरणीयता में एक दूसरे से मिलते हैं, जब यह इच्छापत्र विधि के प्रति सम्मान का संस्पर्श करता है। काण्ट कहते हैं कि किसी व्यक्ति के प्रति सम्मान प्रथमतः अपने को विधि के प्रति संबोधित करता है, जिसका वह व्यक्ति एक उदाहरण भर होता है। सच बात तो यह है कि सम्मान की अधिकारिणी केवल विधि ही होती है, जो इस सम्मान का मूल कारण होती है। लेकिन फिर भी—और यही विधि है—हमें अन्य का उसके लिए, उसकी अ-स्थानापन्नीयता के लिए सम्मान अवश्य ही करना चाहिए। यह सच है कि एक व्यक्ति के रूप में, एक बुद्धिसम्पन्न जीव के रूप में, अपनी एकवाचिकता में वह सदैव ही विधि के प्रति सम्मान के साक्ष्य का वहन करता है। इस अर्थ में वह अन्य उदाहरणीय होता है और सदैव ही उसी दृश्यता के अनुरूप, दृष्टि के बिंबों के अनुरूप प्रशंसा और सम्मान का प्रतिबिंबन करते हुए। कुछ लोगों को मण्डेला में अतीत के साक्षी अथवा शहीद का दर्शन करने का लोभ हो सकता है। उन्हें अर्थात् मण्डेला को अपने को पश्चिमी दृष्टि से देखे जाने (अक्षरशः बंदी बना लिए जाने) की छूट दे देते हैं जैसे कि

उन्हें इसके (पश्चिम के) प्रतिबिंबी तंत्र की दुरभिसंधियों का शिकार बनाया गया थाः उन्होंने विधि को अंतःस्थ ही नहीं किया है बल्कि जैसा कि हम कह रहे थे, उन्होंने (ईसाई, रूसो, काण्ट आदि) की इच्छापत्रीय परंपरा की अंतरस्थता के सिद्धांतों को अंतरस्थ कर लिया हैं।

लेकिन इसका विलोम भी कहा जा सकता है : उनका प्रतिबिंब हमें एक अत्यंत ही एकवाची भू-राजनीतिक संयोग में, मानवता के पूरे इतिहास के उस सर्वाधिक अतिसंकेंद्रण में, जो आज उदाहरण के लिए, ''दक्षिण अफ्रीका'', अथवा ''इजरायल'' के नाम से पहचाने जाने वाले स्थानों के रूप में जाने जाते हैं, उस प्रतिश्रुति की झलक दिखायी पड़ रही है, जो आज भी उस विधि में देखी अथवा सुनी नहीं गई है जिसने अपने को पश्चिम में, पश्चिम के सीमांत में केवल इसलिए उपस्थित किया है ताकि यह वहाँ से तत्काल खिसक जाय। जिसका निपटारा इन ''स्थानों'' के नाम से पहचाने जाने वाले देशों में किया जाएगा,—और ये ''स्थान'' सशक्त लाक्षणिक नाम भी हैं—वही सब कुछ निपटाएगा, यदि निपटाए जाने के लिए तब भी कुछ शेष बचा रहता है।

अतः उदाहरणीय साक्षी प्रायः वही होते हैं जो विधि और विधियों के बीच, और तत्काल अंतःकरण से संवाद करने वाली विधि के प्रति सम्मान और (ऐतिहासिक, राष्ट्रीय, एवं सांस्थानिक) विधि के समक्ष समर्पण के बीच अंतर करते हैं। अंतःकरण केवल स्मृति नहीं होता अपितु यह प्रतिश्रुति भी होता है। उदाहरणीय साक्षी, जो उस विधि को सोचते हैं जिसे वे प्रतिबिंबित करते हैं, वे होते हैं जो कुछ विशेष स्थितियों में विधियों का *सम्मान नहीं करते*। कभी-कभी वे अंतःकरण और विधि के बीच विभाजित हो जाते हैं, कभी-कभी वे अपने-अपने देशों के न्यायालयों द्वारा निंदित किये जाने के लिए अपने को छोड़ देते हैं। *सभी देशों में* कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि विधि के लिए छाया अथवा सूत्रीकरण का स्थान इसके प्रथम उन्मूलन (deracination) का भी स्थान होता है। उदाहरण के लिए, इस प्रकार *सभी देशों* में, योरोप में, इंग्लैण्ड में और सभी दार्शनिकों के बीच ऐसे लोग होते हैं। मण्डेला द्वारा चुना गया उदाहरण उन सभी साक्षियों के बीच सर्वाधिक उदाहरणीय साक्षी, जिसे वे न्यायालय में उपस्थित करना चाहते हैं, वह एक अँग्रेज दार्शनिक है, ब्रिटेन और पश्चिमी दुनिया के संसदीय लोकतंत्र का एक अत्यंत ही सम्मानित और प्रशंसनीय व्यक्तित्व जो कुछ स्थितियों में विधि का सम्मान नहीं करता तथा जो ''अंतःकरण'', ''कर्तव्य'', ''उद्देश्य में विश्वास'' को ''विधि के सम्मान'' के ऊपर रखता है; जो सम्मान के कारण सम्मान नहीं करता, जो सम्मान का सम्मान करता है। क्या कोई किसी दृश्यमान मॉडल को किसी ऐसी चीज़ के ऊपर वरीयता दे सकता है जो इस प्रकार की संभावना की प्रतिश्रुति देती हो। बरट्रैण्ड रसेल के प्रति मण्डेला का प्रशंसा-भाव :

''मान्यवर, मैं कहना चाहूँगा कि इस देश में किसी भी सोचने-विचारने वाले अफ्रीकी का पूरा जीवन उसे निरंतर एक ओर अपने अंतःकरण और दूसरी ओर विधि के बीच द्वंद्व की ओर ढकेलता रहता है। यह द्वंद्व इस देश के लिए ही कोई विशिष्ट बात नहीं है। यह द्वंद्व अंतःकरण वाले किसी भी व्यक्ति के सामने उपस्थित हो सकता है, ऐसे व्यक्तियों के सामने जो प्रत्येक देश में गहराई से सोचते-विचारते हैं। अभी हाल ही में ब्रिटेन में, साम्राज्य के एक सम्मानित व्यक्ति पश्चिमी दुनिया के संभवतः सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक, 'बट्रैण्ड रसेल' को ठीक उसी प्रकार की गतिविधियों में संलग्न होने के आरोप में दंडित किया गया था जिनके लिए मैं आज आपके समक्ष खड़ा हूँ अर्थात् अपने अंतःकरण का अनुसरण करते हुए विधि का उल्लंघन करने के कारण। अपनी ही सरकार की आणविक हथियार की नीति के विरोध में रसेल अपने अंतःकरण का अनुसरण करते हुए विधि का उल्लंघन कर रहे थे। उन्होंने जनता के प्रति अपने कर्तव्य

और उद्देश्य के अपरिहार्य औचित्य की नैतिकता में अपने दृढ़ विश्वास की रक्षा में विधि का उल्लंघन किया और इस प्रकार *विधि के प्रति अपने उच्च सम्मान* में श्रेष्ठता के उच्च आसन पर विराजमान हो गये। विधि का विरोध करने और उसके परिणामों के लिये दंड भुगतने के अतिरिक्त उनके सामने कोई विकल्प नहीं था। यह विकल्प न मेरे सामने है और न ही इस देश में अफ्रीकियों के सामने। जिस रूप में यह विधि लागू की जाती है, जिस रूप में इतिहास के एक लंबे दौर में इसे विकसित किया गया है, और विशेषकर नेशनलिस्ट सरकार द्वारा इसे लिखा और स्वरूप दिया गया है, उस रूप में यह, हमारे विचार में, अनैतिक, अन्यायपूर्ण और असहनीय है। हमारे अंतःकरण हमें आदेश देते हैं कि हम अवश्य ही इसके खिलाफ विरोध-प्रदर्शन करें, इसका विरोध करें और इसे बदलने का प्रयास करें।'' (152)

अपने को विधि के विरोध में खड़ा करना, इसे बदलने के लिए तत्काल कार्य प्रारंभ कर देना, एक बार निर्णय ले लिए जाने के बाद हिंसा के माध्यम का चुनाव किसी माप और किसी व्यवस्था के बिना नहीं हो सकता। मण्डेला सावधानी पूर्वक इस रणनीति, इसकी सीमा, इसकी प्रगति तथा इस पर चौकसी रखने की योजना बनाते हैं। ''प्रथमतः इस रास्ते का एक चरण ऐसा होगा जिसके क्रम में, सभी प्रकार के वैधानिक विरोध के प्रतिबंधित होने के कारण, उल्लंघन अथवा प्रतिरोध अहिंसक होना चाहिए। इस सिद्धांत के प्रति विरोध व्यक्त करने के सारे विधिसम्मत रास्ते विधान के माध्यम से बंद कर दिए गए थे और हम सभी ऐसी स्थिति में डाल दिए गए थे जिसके तहत या तो हमें अपनी हीनता को सदैव के लिए स्वीकार कर लेना था अथवा सरकार के आदेश का उल्लंघन करना था। हमने विधि के उल्लंघन का मार्ग चुना। इसके लिए हमने पहले विधि का उल्लंघन ऐसे किया जिसके अंतर्गत हिंसा के लिए कोई स्थान ही नहीं था।''

''प्रतिरोध ने अभी भी तथाकथित विधियों में सम्मान व्यक्त किया। लेकिन इसे यहीं छोड़ देना असंभव था। क्योंकि उन अहिंसक प्रतिरोधों के दमन के लिए सरकार ने नए वैधानिक तरीक़ों का आविष्कार कर लिया था। इस हिंसक प्रतिक्रिया के सामने, जो एक अ-प्रतिक्रिया थी, हिंसा की ओर जाना एकमात्र संभव प्रतिक्रिया थी, प्रतिक्रिया न देने के प्रति प्रतिक्रिया।

''जब इस प्रतिक्रिया के विरोध में वैधानिकता का सहारा लिया गया और फिर जब सरकार ने अपनी नीतियों के विरोध को कुचलने के लिए बल प्रयोग का सहारा लिया, केवल तब ही हमने हिंसा का जवाब हिंसा से देने का निर्णय लिया।'' (पृ. 162)

लेकिन यहाँ भी हिंसा का सहारा कठोर विधि की कसौटी पर कसा गया, ''दृढ़ता से नियंत्रित की गई हिंसा।'' मण्डेला इन शब्दों पर आग्रह करते हैं, उन्हें रेखांकित करते हैं, 1961 में ''राष्ट्र का बरछा'' (Spear of Nation) की व्याख्या करते हैं। इस सैन्य संगठन की संस्थापना के माध्यम से वे इसे अफ्रीकी नेशनल काँग्रेस के राजनीतिक निर्देशों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहते हैं, जिसकी धाराओं में हिंसा का निषेध किया गया है। अपने न्यायाधीशों के सामने मण्डेला विस्तार से उन आंदोलनकारियों के लिए निर्धारित किए गए नियमों, रणनीतियों तथा उनके द्वारा किये गए उपायों तथा उनकी सीमाओं का विस्तृत ब्योरा प्रस्तुत करते हैं जिन्हें तोड़-फोड़ के काम की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी थी। उन्हें यह कठोर आदेश दिये गए थे कि अपनी तैयारियों और उन्हें सौंपी गयी ज़िम्मेदारियों के निर्वहन में उन्हें जैसी भी स्थितियों का सामना करना पड़, वे किसी भी स्थिति में किसी को न तो चोट पहुँचाएँगे और न ही किसी की हत्या करेंगे। उन्हें हथियार रखने की भी मनाही थी। यदि वे ''तोड़-फोड़ करने की तैयारी की योजना''

को संज्ञापित करते हैं तो ऐसा वे न तो ''साहस-प्रदर्शन'' के उद्देश्य से करते हैं, न ही ''हिंसा के लिए हिंसा के प्रति प्रेम'' के कारण। इसके विपरीत, वे उस चीज़ को रोकना चाहते थे जिसे न जाने क्यों ''हिंसा-चक्र'' कहा जाता है, जिसके अंतर्गत हिंसा प्रति-हिंसा को उत्तेजित करती है क्योंकि यह प्रति-हिंसा पहली हिंसा का उत्तर देती है, उसे प्रतिबिंबित करती है और उसे उसका बिंब वापस करती है। तोड़-फोड़ करने वालों के क्रियाकलापों को नियंत्रण में रखने का उद्देश्य था, इन क्रियाकलापों के कारण होने वाली किसी संभावित विस्फोटक घटना को रोकना। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए वे एक अन्य साधन का भी सहारा लेते हैं जिसे उन्होंने स्थिति का ''प्रतिबिंबी'' विश्लेषण कहा है।

'Spear of Nation' नामक संगठन की स्थापना के चार महीने बाद 1962 में उन्हें बंदी बना लिया जाता है। मई 1964 में रिवोनिया मामले के मुक़दमे के बाद उन्हें आपराधिक गतिविधियों के संचालन का दोषी पाया जाता है और आजीवन कारावास का दण्ड दे दिया जाता है।

पुनश्च : यह पुनश्च आने-वाले के लिए है—उसके लिए, जो आज सर्वाधिक अनिर्णीत है। क्योंकि मैं उसके बारे में बात करना चाहता था, जो नेल्सन मण्डेला को लेकर होने वाला है, जो किसी भी दर्पण के माध्यम से अपना पूर्वानुमान नहीं लगाने देता है, जो अपने को पहुँच से बाहर रखता है, अपने को घेरे में नहीं आने देता है, मैं उसके बारे में बात करना चाहता था। नेल्सन मण्डेला कौन हैं?

कोई भी उनकी और उनकी प्रशंसा की प्रशंसा करने से नही थकता। लेकिन कोई अभी भी नहीं जानता कि उनमें वह किसकी प्रशंसा करे—उसकी जो अतीत में अपनी प्रशंसा का बंदी रहा होगा अथवा वह जो अग्रवर्ती भविष्य में सदैव स्वतंत्र (विश्व में सर्वाधिक स्वतंत्रत और इस बात को हम पूरी गंभीरता से कहें) इसलिए रहेगा क्योंकि मण्डेला के पास प्रशंसा करने का धैर्य था और पूरी भावप्रवणता के साथ यह जानने के लिए भी कि वह क्या है जिसकी प्रशंसा करना उनका कर्तव्य है। एक बार फिर, बीते हुए कल तक—सशर्त मुक्ति को नकारने के बिंदु तक।

क्या लगभग एक चौथाई शताब्दी के लिए उनकी प्रशंसा में उन्हें कारागार में डाल दिया गया होता? क्या सारा *उद्देश्य* ही पहुँच का, जाँच-परख के अधिकार का नहीं था?—मैं इसे किसी प्रकाशवैज्ञानिक युक्ति अथवा फोटोग्राफ़ी की युक्ति के अर्थ में लेता हूँ। क्या उन्होंने अपने को बंदी बनाये जाने की छूट दे दी? क्या उन्होंने स्वयं ही अपने को बंदी बना लिया? क्या इस स्थिति में यह कोई संयोग है? शायद यह जरूरी है कि हम अपने को उस बिंदु पर अवस्थित कर लें, जहाँ ये सारे विकल्प अपना अर्थ खो देते हैं और नये प्रश्नों के शीर्षक बन जाते हैं। इस तरह, इन प्रश्नों को हम अभी भी दरवाज़ों की तरह खुला रहने दें। और इन प्रश्नों में जो अभी आने वाला है (और ये प्रश्न केवल दार्शनिक अथवा सैद्धांतिक ही नहीं है) वह मण्डेला की छवि भी है।

अभी तक हमने उन्हें शब्दों के माध्यम से देखा है, जो देखने के उपकरण बन सकते हैं, जो किसी भी स्थिति में ऐसे बन जाते हैं, यदि हम इसके बारे में सावधान न रहें। अनुमान करने से बचने के प्रयास के क्रम में जिस चीज़ का उल्लेख हमने किया है, वह था एक प्रकार का भव्य ऐतिहासिक बुर्ज। लेकिन कोई भी चीज इस प्रतिबिंबन के प्रकाश की, इसकी एकवाची विधियों की, स्वयं विधि की, इसकी संस्थापना, प्रस्तुति अथवा इसके प्राकट्य की, पश्चिम के नाम में जिस चीज को हम तुरंत ही एकत्र कर लेते हैं, उसकी एकरूपता और उससे भी कमतर

उसकी वैधता को यूँ ही स्वीकार कर लेने की छूट नहीं देती। लेकिन एकरूपता की धारणा —क्या यह धारणा प्रभाव जैसी कोई चीज़ उत्पन्न नहीं करती (मैं 'प्रभाव' शब्द के प्रति आकर्षित नही हूँ) जिसके विनियोजन के प्रयास में हमेशा ही तमाम शक्तियाँ लगी रहती हैं, एक ऐसा प्रभाव, जो किसी दर्पण की तरह दृश्य और अदृश्य तथा किसी कारागार की दीवारों जैसा कठोर होता है?

वह प्रत्येक चीज़ जो अभी भी नेल्सन मण्डेला का हिन्दी अनुवाद को हमसे छिपा लेती है।

('एडमिरेशन ऑफ नेल्सन मण्डेला ऑर
दि लॉज ऑफ रिफ्लेक्शंस' का हिन्दी अनुवाद)

संदर्भ और टिप्पणियाँ :

सभी उद्धरण निम्नलिखित दो पुस्तकों से—

1. मण्डेला, ''द शिफ्टिंग सैंड्स ऑव इल्यूज़न्स'', *नो इज़ी वाक टु फ्रीडम,* ऑक्सफोर्डः हाइनमान, 1965
2. नेल्सन मण्डेला, *द स्ट्रगल इज़ माय लाइफ,* न्यू यॉर्क, एनवॉय पाथफाइण्डर, 1990

संपर्क : 27, कोसलेश नगर, सुंदरपुर वाराणसी-221005 (उ.प्र.) मो. : 9451585423

वे शुरुआती दिन

सिमॉन द बोउवा
अनु. : उर्वशी शर्मा

सन् 1949 में प्रकाशित 'द सेकंड सेक्स' की लेखिका सिमॉन द बोउवा विश्व स्त्रीवाद की वह मशालची थीं जिन्होंने स्त्री के भी मनुष्य होने की घोषणा की थी। आधुनिक स्त्रीवादी वैचारिकी और अध्ययनधारा की अगुआ सिमॉन बौद्धिक-राजनैतिक ही नहीं बल्कि व्यक्तिगत स्तर पर, निजी जीवन में भी एक असाधारण व्यक्तित्व थीं। जीवन को अपनी शर्तों पर जीने वाली सिमॉन को बतौर व्यक्ति जानना भी उतना ही रोमांचक, दिलचस्प और बेहतरीन अनुभव है जितना कि एक समाजवैज्ञानिक-चिंतक के रूप में। उनका विपुल आत्मकथात्मक लेखन, उनके तमाम मानवीय संबंधों-सरोकारों को और यायावरी के अनुभवों को जानने का बेहतरीन ज़रिया है। सन 1958 में, मूलतः फ्रेंच भाषा में प्रकाशित पुस्तक 'मेमॉआर्स ऑफ़ अ ड्यूटीफुल डॉटर' उनका एक ऐसा ही आत्मकथ्य है जिसमें सिमॉन के व्यक्तित्व की गढ़न को उनके समय, समाज, चुनौतियों, इतिहास, राजनीति, मनो-सामाजिकी, शिक्षा इत्यादि के बीच से आकार लेते हुए देखा-समझा जा सकता है। उनके लेखन का अनुवाद दुनिया भर की अनेक भाषाओं में हो चुका है। उनका व्यक्तित्व और कृतित्व हिंदीभाषी सुधी पाठकों तक भी पहुँचाने के उद्देश्य से यह प्रयास किया जा रहा है

सिमॉन द बोउवा को प्रथमतया उनके 'द सेकंड सेक्स' के मूलपाठ के लिए जाना जाता है, जो वाकई स्त्रीवादी आंदोलन की गीता के रूप में स्त्री-समुदाय की अनेक पीढ़ियों को उत्प्रेरित करता रहा है। 'मेमॉआर्स ऑफ़ अ ड्यूटीफुल डॉटर' उनके चिंतन के अपेक्षाकृत कम चर्चित पहलुओं को सामने लाता है; उदाहरण के लिए, चर्च जैसी संस्था के आरोपित स्वरूप, उनके समय में लगातार परिवर्तित हो रही राजशाही पर उनकी प्रतिक्रिया आदि। 1958 में प्रकाशित यह किताब, 1908 में उनके जन्म से लेकर उनके 21 वर्ष की होने तक के विवरण को समेटे हुए है। इसमें उनके बचपन, स्कूली शिक्षा और विश्वविद्यालय के बरसों का लेखाजोखा लिपिबद्ध है तो साथ ही परिवार और मित्रों के साथ उनके संबंधों पर भी ये प्रकाश डालती है। एक रूढ़िवादी कॅथोलिक परिवार के भीतर सिमॉन जैसी स्वतंत्र विचारों वाली चिंतक का नीति, धर्म और समाज संबंधी आतंरिक द्वंद्व उनके उदारवादी

विचारों के विकासपथ की तरफ मुड़ता हुआ स्पष्टता के साथ अभिव्यक्ति पाता हुआ देखा जा सकता है। जिस तरह से वे उत्तराधिकार के वंशानुगत हस्तांतरण, धर्मनिरपेक्ष मामलों में पोप के हस्तक्षेप, निम्नवर्ग के लोगों को मताधिकार से वंचित किए जाने, किसानों, मज़दूरों और गरीबों के जीवन की दुश्वारियों का वर्णन करती हैं, वह वर्ग, धर्म और राजनीतिक चेतना आदि के प्रति उनकी बदलती हुई अंतर्दृष्टि का रोचक विवरण प्रस्तुत करता है। ख़ास तौर पर, उनकी उक्त किताब का यह अनुवादांश उस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थिति का वर्णन करता है जिसमें एक ओर उनके अभिभावकों की प्रतिगामी सोच है, ख़ास तौर पर उनके पिता की और दूसरी ओर समतावादी समाज के साम्यवाद प्रेरित विचार हैं। –**अनुवादक**

पेरिस लौटकर मैं एक बार फिर बड़ों की देखरेख में थी। बिना कोई हील-हुज्जत किए मैंने अब भी दुनिया को देखने-समझने का उन्हीं का तरीका अपनाया हुआ था। जो शिक्षा मैंने पायी थी उससे अधिक सांप्रदायिक शिक्षा की कल्पना कर पाना भी नामुमकिन था। स्कूल की मेरी प्रारंभिक किताबें, पाठ्यपुस्तकें, पाठ, बातचीत—सभी एक तरफ झुके हुए थे। भले ही दूर से ही सही, किसी चीज़ के दूसरे पहलू को जानने की अनुमति मुझे कभी नहीं दी गयी।

कभी ये कल्पना किए बिना ही कि अतीत की घटनाओं को देखने का एक से अधिक नजरिया भी हो सकता है, मैंने इतिहास को उतने ही प्रश्नातीत रूप से जाना-सीखा था जितना कि भूगोल को। जब मैं बहुत छोटी थी तब एक बार हम म्यूज़े ग्रेवें देखने गए जहाँ मैं ये जानकर बहुत द्रवित हुई कि जाँबाज़ बहादुरों को शेरों के सामने बलि चढ़ा दिया जाता था; मारी अंतानुएत की सदय मुखभंगिमा भी प्रभावी लगी थी। वे सम्राट मुझे शैतान के सबसे घिनौने अवतार प्रतीत हुए थे, जिन्होंने ईसाईयों, स्टॉकिंस बुननेवालों और फ्रेंच क्रांति के साँ क्यूलोत[1] को तरह-तरह के कष्ट दिए थे। अपने स्कूली पाठों में मुझे पोप और धर्म परिषदों के बारे में पढ़ाया जाता लेकिन उन दिनों मैं अपने देश की नियति को जानने के लिए अधिक उत्सुक रहा करती थी; हमारे घर पर देश के अतीत, उसके वर्तमान और भविष्य को लेकर अनेक चर्चाएँ छिड़ी रहती थीं। मेडलिन लेनॉत्र और फ्युन्क ब्रेन्तानो का लेखन पापा को आनंदित किया करता था। ढेरों ऐतिहासिक गाथाएँ, रोमांस और मदाम कारेत्त के संस्मरणों का संशोधित संस्करण मुझे पढ़ने को दिया गया था। लगभग नौ बरस की उम्र तक मैं लुइस सत्रहवें के दुर्भाग्य पर रो चुकी थी और ब्रेतों-समर्थकों के नायकोचित उदय की प्रशंसा करने लायक हो गयी थी। लेकिन हाँ, राजशाही को मैंने शीघ्र ही खारिज कर दिया था। ये मुझे कतई बेतुका महसूस हुआ था कि उन आनुवंशिक शासकों को सत्ता हस्तांतरित की जाए जो लगभग जड़बुद्धि थे। इसके बजाए मुझे ये ज़्यादा स्वाभाविक लगता था कि सब तरह से अधिकतम सक्षम लोगों को ही सरकार में प्रशासन सँभालना चाहिए। दुर्भाग्य से, हमारे देश में ऐसा नहीं था। बतौर शासक हम दुष्ट नेताओं को भुगतने के लिए अभिशप्त थे; और इसलिए बुनियादी रूप से बाकी सभी देशों से श्रेष्ठतर होते हुए भी, फ्रांस को दुनिया में उसकी असली जगह नहीं मिल पायी थी। पापा के कुछ दोस्त अब भी इस मत पर कायम थे कि जर्मनी की बजाए इंग्लैंड हमारा परम्परागत शत्रु था; लेकिन ये सब बस बहसबाजी में उनका मतवैभिन्न्य बने रहने तक चलता। इस बात पर वे सहमत होते थे कि अपनी धरती पर किसी भी बाहरी देश की उपस्थिति न केवल हास्यास्पद है बल्कि खतरनाक भी। फ्रांस, जो कि विल्सन के आपराधिक आदर्शवाद का शिकार था, जिसका भविष्य बॉश और बोल्शेविक के क्रूर यथार्थवाद से आक्रांत था, दरअसल बर्बादी की ओर अग्रसर हो रहा था क्योंकि उसके पास सुदृढ़ नेतृत्व का अभाव था। मेरे पिता जो धीरे-धीरे अपनी पूँजी हजम करते जा रहे थे, इस ध्वंस को इंसानियत के ठीक सामने खड़ा,

उसकी ओर घूरता हुआ पाते। मम्मा ने भी उनके सुर में सुर मिलाकर अपनी सहमति जाहिर की थी : 'एक तरफ साम्यवादियों का खतरा था तो दूसरी तरफ जापानियों का; जल्द ही धरती के चारों कोनों से और समाज के निम्नतम वर्ग से बर्बरता की एक लहर उठने वाली है। क्रांति की उथलपुथल दुनिया को बिलकुल गर्त में ले जाएगी।' मेरे पिता एक आवेशभरी पुष्टि के साथ इन आपदाओं की भविष्यवाणी करते थे जो मुझे घबराहट से भर देने वाली हुआ करती थी। भविष्यकाल की ये तस्वीर जो उन्होंने भयावह रंगों से उकेरी थी, मेरा भविष्य था। मैं ये स्वीकार नहीं कर सकती थी कि आने वाला कल निराशा भरे मातम से भरा हुआ हो; मुझे ज़िन्दगी से प्यार था। एक दिन, रोज़ रोज़ के ऐसे शाब्दिक प्रलयों और विध्वंसक छवियों को अपने ऊपर हावी होने देने के बजाए मैंने इसका जवाब ढूँढ निकाला : मैंने कहा—'चाहे जो भी हो, अंततः विजयी इंसान ही होंगे।' मेरे पिता[2] को सुनने के बाद कोई भी सोच सकता था मानो विकराल राक्षस, मनुष्यता को चींथ डालने का इंतज़ार ही कर रहे हों। हालाँकि दोनों तरफ के आपस में विरोधी पक्ष इंसानों के ही होते। मैं सोचती थी कि जो पक्ष बहुसंख्या में होगा, अंतिम जीत उसी की होगी; असंतुष्ट तो अल्पसंख्या में ही होंगे। अगर खुशी अपना पाला बदल लेती है तो भी प्रलय नहीं हो पाएगी। मैं समझ नहीं सकी कि क्यों जो दूसरा पक्ष था वह अचानक मुझे राक्षस का प्रतिरूप नज़र आना बंद हो गया; क्यों पूर्व अनुभव के रूप में मेरे यानी कि औरतों के हितों को पुरुषों के हितों की अपेक्षा ज़्यादा तरजीह दी जा रही है। मुझे फिर से राहत की साँस आने लगी। आखिरकार अब, दुनिया खतरे में नहीं थी। एक मानसिक क्लेश ने मेरे अंदर बवंडर सा मचा दिया था। मैंने अपने नैराश्य से बाहर निकलने का रास्ता ढूँढना चाहा क्योंकि मैं प्रबल रूप से ऐसा करना चाहती थी; और मैंने उसे ढूँढ निकाला था। लेकिन मेरी सुरक्षित जदों और सुविधावादी भ्रमों ने मुझे सामजिक समस्याओं के प्रति उदासीन बना दिया था। फिर ऐसे में, मान्यताओं के स्थापित रूपों से उलझने की मेरी अवस्था भी नहीं थी।

बड़बोली बने बिना कहूँ तो, मुझे लगता था कि संपत्ति का अधिकार एक पावन अधिकार था। मैं समझती थी कि उसमें मालिक और उसकी संपत्ति के बीच एक अभिन्न जुड़ाव होता था, ठीक वैसे ही जैसे मैं मानती थी कि शब्द और अर्थ एक दूसरे के अभिन्न हिस्से हैं। जब मैं कहती—मेरा पैसा, मेरी बहन, मेरी नाक, तब इन तीनों मामलों में मैं एक ऐसे बंधन को सुदृढ़ कर रही होती थी जिसे किसी की मर्ज़ी नष्ट नहीं कर सकती थी क्योंकि वे तमाम औपचारिक धारणाओं से ऊपर और परे थे। मुझे बताया गया कि यूज़ेर्ष (प्रान्त) में रेलवे लाइन बिछाने के उद्देश्य से राज्य प्रशासन द्वारा खासी संख्या में छोटे किसानों और वहाँ की रिहायशी आबादी की संपत्ति को कब्ज़े में ले लिया गया था। इसके लिए अगर किसी वजह से उन्हें अपना खून भी बहाना पड़ता तो मैं कम ही भयाक्रांत होती।

दूसरी ओर, मैं ये स्वीकार करती थी कि संपत्ति सम्बन्धी इस बेरहम तथ्य के द्वारा किसी को किसी की संपत्ति ले लेने के इस ख़ास अधिकार की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए और न उसके मालिक को अनावश्यक प्रतिष्ठा से ही नवाज़ा जाना चाहिए। गॉस्पेल[3] गरीबी में बढ़ोतरी करता था जबकि मैं इंसानों की विशुद्ध समानता में विश्वास करती थी। मैं अपनी आया लुइस की इज़्ज़त किसी भी रईस औरत से कहीं ज़्यादा करती थी। जबकि अपनी कज़न मेडेलिन पर मैं क्रुद्ध हुई थी जब ला ग्रिलिएर में उसने ठेलागाड़ियों पर अपनी ब्रेड बेचने आये नानबाई को गुडमॉर्निंग करने से मना कर दिया था। वह बोली थी, 'पहले उन्हें मेरा अभिवादन करना चाहिए।' एक बार मेरीन्याक में गर्मियों के दौरान मैंने एक किताब पढ़ी जो सार्वभौम मताधिकार[4] की पैरवी करती थी; उसे पढ़कर मेरा माथा ठनका था। मैं पापा से बोली, 'लेकिन ये तो शर्मनाक

बात है कि गरीबों को वोट डालने का अधिकार नहीं होना चाहिए।' इस पर पापा मुस्कुराए, उन्होंने मुझे समझाया कि राष्ट्र निजी सम्पत्तियों का संकलन होता है। इन सम्पत्तियों के मालिक ही स्वाभाविक रूप से इसे शासित करने का काम करते हैं। विषय का समाहार करते हुए उन्होंने मेरे सामने गीज़ो का सूत्र वाक्य उद्धृत किया—'अमीर बनो'। समस्या की उनकी इस व्याख्या ने मुझे उलझन में डाल दिया। अमीर बनने में पापा सफल नहीं हुए थे—तब क्या वे स्वयं अपने मत देने के अधिकार से वंचित होना पसंद करते? अगर मैं इस ख़ास अन्याय का विरोध करती तो ये उन्हीं मूल्यसमूहों के खिलाफ होता जिसकी शिक्षा उन्होंने मुझे दी थी। वे स्वयं ये स्वीकार नहीं करते थे कि किसी के गुणों को उसके बैंक में पड़े हुए पैसों से आँका जा सकता था।

वे हमेशा 'नए रईसों' का मज़ाक उड़ाया करते थे। उनके अनुसार कुलीन वे थे जिनके पास बुद्धिमत्ता, संस्कार और ठोस शिक्षा थी। उन्हें भाषा का सही ज्ञान होना चाहिए और साथ ही सही विचारोंवाला होना चाहिए। मैं उनसे फौरन सहमत हो गई थी जब उन्होंने कहा कि सार्वभौम मतदान के लिए उनकी आपत्ति का आधार ये तथ्य था कि अधिसंख्य मतदाता बेअक्ल और अपढ़ थे; इस सन्दर्भ में केवल प्रबुद्ध लोगों द्वारा अपनी राय रखी जानी चाहिए। चूँकि यह अनुभवसिद्ध सच था, अतः उनके तर्क के सामने मैं नतमस्तक हो गयी—'प्रबोधन' बूर्जुआ वर्ग का ख़ास लक्षण था। निम्नवर्ग के कुछ व्यक्ति भले ही अपने बौद्धिक ओज का कमाल दिखा सकें लेकिन उनमें कुछ न कुछ अवशेष अपनी मूल निम्न स्थिति का रह ही जाता है। और फिर आम तौर पर तो वे दोषपूर्ण विचारोंवाले लोग होते हैं। दूसरी तरफ, हर वह व्यक्ति जो अच्छे परिवार से ताल्लुक रखता था खुद में 'कुछ ख़ास बात' वाला होता था जो उसे बाकी रेवड़ से अलग करती थी। इस बात से मुझे ज़्यादा झटका नहीं लगा कि व्यक्तिगत श्रेष्ठता हमारे जन्म के संयोग पर निर्भर करती थी, क्योंकि ये ईश्वर की इच्छा ही होती थी जो ये तय करती थी कि हमारी नियति क्या हो! खैर, तब मुझे ये साफ़ साफ़ लगने लगा था कि नैतिक रूप से और इसलिए पूरी तरह से, मैं जिस वर्ग से सम्बद्ध हूँ वह बाकी समाज की बनिस्पत कहीं उच्चतर है। जब कभी मैं मम्मा के साथ दादाजी के बँटाईदार किसानों से भेंट करने जाती तो खाद की तीखी दुर्गन्ध, गंदे कमरे, खरोंचने की सी आवाज़ करती मुर्गियाँ और उनके फर्नीचर का गँवारूपन मुझे उनकी चेतना की स्थूल अनगढ़ता को प्रतिबिंबित करता हुआ प्रतीत होता था।

मैं उन्हें खेतों में श्रम करते, कीचड़ में सने हुए, पसीने और धरती की गंध से गंधाते हुए, गौर से देखा करती थी। वे कभी एक क्षण के लिए भी रुककर प्राकृतिक दृश्यों की खूबसूरती को नहीं निहारते थे; वे सूर्यास्त के वैभव से अनभिज्ञ थे। वे कुछ भी पढ़ते नहीं थे, उनके कोई आदर्श नहीं थे। पापा, यद्यपि बिना किसी बैर भाव के ही, कहा करते कि वे 'डंगर' हैं। जब उन्होंने मुझे गॉबिनो का निबंध—'एस्से ऑन द इनक्वॉलिटी ऑफ़ द ह्यूमन रेसेस' पढ़कर सुनाया था, मैंने तत्परता से उनके इस विचार को आत्मसात कर लिया था कि निम्न वर्गों के दिमाग हमसे कुछ अलग बने होते हैं।

मुझे देहात इतने पसंद थे कि किसानों का जीवन भी मुझे खुशहाल ही लगता था। अगर कभी श्रमिकों के जीवन और रहन-सहन की एक झलक देख पाती तो अपनी कल्पना की सच्चाई पर शक न करती। लेकिन मैं उस जीवन के बारे में कुछ नहीं जानती थी। लिली आंटी, जिनके पास शादी से पहले कोई अपना काम नहीं था, अपने समय को 'अच्छे कामों' में बिताती थीं। कभी-कभी वे मुझे विशेष तौर पर चिह्नित वंचित बच्चों को खिलौनें बाँटने अपने साथ ले जाया

करतीं। वहाँ कई दयालु लोग उन बच्चों के लिए दान देते और सेंट विन्सेंट द पॉल की सिस्टर्स ने तो विशेष तौर पर स्वयं को उनके लिए समर्पित किया हुआ था। गरीबों में कुछ ही थे जो असंतुष्ट थे—हालाँकि, ये भविष्य में भी गरीब ही होते; ये वे लोग थे जो क्रिसमस पर ठूँसठूँस कर भुनी हुई टर्की अपने पेट में भर लेते थे या फिर वे दुष्ट जो नशे में धुत्त होते थे। डिकेंस के उपन्यास और हेक्टर मेलेट की 'साँ फामिए' जैसी कुछ कृतियाँ हैं जिनमें गरीबों के कठोर जीवन का वर्णन है।

मैं उन खदान मज़दूरों के दारुण हालातों के बारे में सोचा करती जो सारा दिन गहरे गड्ढों में धँसे रहते और जो अचानक किसी चट्टान के लुढ़क पड़ने की दया के भरोसे थे। लेकिन फिर, मुझे भरोसा दिलाया गया कि अब हालात पहले से बदल गए थे। जब से मज़दूर संघों का उदय हुआ, असली पीड़ित तो खान मालिक हो गये थे। वे मज़दूर हमसे कहीं अधिक खुशकिस्मत थे जिन्हें आडम्बर नहीं पालने पड़ते थे और इसलिए वे हर इतवार को चिकन भूनकर खाने का आनंद ले सकते थे। उनकी पत्नियाँ बाज़ार में उपलब्ध बढ़िया फैशनेबल काट के कपड़े खरीदतीं थीं और सिल्क के स्टॉकिंस तक खरीदने की कूवत रखती थीं। वे लोग कड़ी मेहनत करने और गंदे घरों में रहने के आदी थे। ये बातें उन्हें उस तरह परेशान नहीं करती थीं जैसे कि हमें। उन लोगों के प्रत्यारोप तथ्यों से पुष्ट नहीं थे। मेरे पिता अपने कंधे उचकाते हुए कहते—'और फिर, ये लोग कोई भूखों नहीं मर रहे हैं!' अगर श्रमिक, बूर्जुआ वर्ग से नफरत करते थे तो इसलिए कि अपनी अंतरात्मा में वे हमारी उच्चता के प्रति सचेत थे। साम्यवाद और समाजवाद ईर्ष्या के परिणाम थे। 'और ईर्ष्या कोई अच्छी चीज़ नहीं है', मेरे पिता आगे जोड़ते।

जीवन में सिर्फ एक बार मेरा संपर्क वास्तविक बदहाली से हुआ था। लुइस और उसका पति, जो स्लेट (के टाइल) बिछाने का काम करता था मदार्म यु में एक इमारत की छत पर बने अटारीनुमा कमरे में रहते थे। उसके बच्चा पैदा हुआ था और मैं अपनी माँ के साथ उससे मिलने गयी थी। इससे पहले मैंने कभी छठी मंज़िल पर पैर नहीं रखा था। एक बहुत बोसीदा सी उतराई पर हम पहुँचे जिसमें चारों तरफ दर्जनों एक जैसे दरवाज़े देखकर मेरा दिल बैठ गया था। लुइस के छोटे से कमरे में एक पीतल का पलँग, एक पालना और एक मेज़ थी जिस पर तेल से जलनेवाला एक छोटा स्टोव रखा था; वह इसी चार दीवारी के अंदर सोती, पकाती, खाती और अपने बच्चे व पति के साथ रहती थी। चौकनुमा उतराई वाली जगह के चारों ओर अनेक परिवार इसी तरह के दमघोंटू, छोटे बिलों में रहते थे। तुलनात्मक रूप से, मैं एक स्वच्छंद और बड़ी जगह पर रहती थी और बुर्जुआ जीवन की एकरसता मेरे मन को घोट देती थी। लेकिन यहाँ मैंने एक ऐसी दुनिया की झलक पायी थी जहाँ साँस लेने वाली हवा में भी धुएँ की गंध थी; रोशनी की कोई किरण तक कभी उस गन्दी और मैली जगह को नहीं छूती थी। अस्तित्व यहाँ एक धीमे मरण जैसा था। इसके बाद ज़्यादा दिन नहीं बीते कि लुइस का बच्चा मर गया। मैं घंटों रोई। ये पहली दफ़े था कि बदकिस्मती को मैंने करीब से जाना था। मैं लुइस के बारे में सोचती जो उस सुखविहीन कोठरी में अपने बच्चे के बिना और बिना किसी सुविधा के रहती थी। इस भीषण कष्टमयी स्थिति से सारी दुनिया को हिल जाना चाहिए था। कई दिनों तक मैं सिर्फ उस दिवंगत बच्चे के लिए ही नहीं बल्कि उस छठी मंज़िल के बारे में भी सोचती रही थी। फिर आखिर, मैंने समाज को कठघरे में खड़ा किए बिना ही अपने आँसू पोंछ डाले।

स्वयं अपने लिए आलोचनात्मक रूप से सोच पाना मेरे लिए बहुत मुश्किल था, क्योंकि

जो मूल्यबोध मुझे प्राप्त हुआ था वह एकांगी और असंबद्ध, दोनों था। अगर मेरे माता-पिता की राय में भिन्नता होती तो मैं उन दोनों की तुलना कर के निष्कर्ष निकाल सकती थी; अथवा, विषय की एक पुख्ता दिशा मुझे इस बारे में जानने का बेहतर आधार देती। लेकिन कॉन्वेन्ट शिक्षा के नैतिक मूल्यों और पैतृक रूप से मिले राष्ट्रवाद के बीच पली बढ़ी मैं, हमेशा विरोधाभासों में फँस जाती थी। न तो मेरी माँ और न ही मेरी शिक्षिकाओं को, एक क्षण के लिए भी ये संदेह हुआ कि पोप का चुनाव पवित्र आत्मा द्वारा किया जाता था। और इस पर, मेरे पिता सोचते थे कि पवित्र आत्मा को सांसारिक मामलों में दखलंदाजी नहीं करनी चाहिए। माँ भी इससे सहमत होती थीं। पोप लिओ- तेरहवें ने 'सामाजिक मामलों' पर अपना ज्ञानवर्धक परिपत्र जारी करके अपने संतई मिशन का उल्लंघन किया था। पिअस दसवाँ जिसने इस बारे में कभी एक शब्द भी नहीं कहा, एक (सच्चा) संत था। इसलिए मुझे इस मिथ्याभास को गले उतारना पड़ा कि ईश्वर द्वारा इस धरती पर अपने प्रतिनिधि के रूप में चुने गए व्यक्ति को पार्थिव विषयों से अपना कोई सरोकार नहीं रखना था। रोमन कैथोलिक चर्च के लिए फ्रांस बड़ी बेटी के सामान था। उसे माँ के प्रति आज्ञाकारिता का निर्वाह करना था। तथापि, राष्ट्रीय मूल्य कैथोलिक धर्माचरण के ऊपर हो गये। 'केंद्रीय यूरोप के निराहार, भूखे बच्चों' के लिए जब संत सल्पीस की ओर से धन एकत्र किया गया था तब मेरी माँ नाराज़ हुई थीं और उन्होंने 'बोचे'[5] के लिए कुछ भी देने से इंकार कर दिया था। लेकिन चाहे जो हो, राष्ट्रवाद और स्थापित परिपाटियों को बनाए रखने का सरोकार ईसाई धर्म से ज़्यादा अहम था। झूठ बोलना ईश्वर के प्रति पाप था, फिर भी पापा दावा कर सकते थे कि जालसाज़ी करते हुए भी कर्नल हेनरी ने एक सच्चे और ईमानदार आदमी की तरह बर्ताव किया। हत्या एक अपराध था लेकिन मृत्युदंड को बरकरार रखा जाएगा। इस तरह मुझे छुटपन से ही लफ़्फ़ाज़ी और कुतर्क के बीच समझौतावादी होने की शिक्षा दी गयी थी, ईश्वर और सीज़र के बीच स्पष्ट विभेद करने और प्रत्येक उसको जिसे जो देय है वो देने के लिए प्रशिक्षित किया गया था। लेकिन मुझे ये जानना बहुत विचलित करता था कि सीज़र का पलड़ा ईश्वर पर भारी रहता था। जब हम दुनिया को ईसा मसीह के उपदेशों के ज़रिए देखते थे और उसी समय समाचार जगत के दैनिक कॉलम के नज़रिए से भी, तो दृश्य धुँधला प्रतीत होता था। तब मैं इसके सिवाए कुछ नहीं कर सकती थी कि किसी ज्ञानी की देखरेख में जाकर उसकी शरण ग्रहण कर, अपना सर नवा देती।

वह एक विवेकशून्य परवशता का दौर था। लश्आक्सियों फ्रांसे और ला देमोक्राति नूवेल के बीच विवाद फूट पड़ा था। पहले ये सुनिश्चित करके कि वे एक के अनुपात में दस हैं, रॉयलिस्ट्स ने मार्क सेन्येर के समर्थकों पर हमला बोल दिया और उन्हें बाध्य किया कि वे अरंडी के तेल की पूरी की पूरी बोतल पी जाएँ। इस प्रकरण पर पापा, उनके मित्र बहुत हैरान हुए थे और इसकी खिल्ली उड़ाई थी। मैंने सीखा था कि हँसना तब चाहिए जब दुष्ट पराजित हों; बिना इस पर वाकई विचार किए, मैं अपने पिता की इस बात पर सहमत हो गई कि ये सारा मामला ध्यान हटाने वाला एक मज़ाक था। एक दिन यु सेंट-बेनुआ पर ज़ाज़ा[6] के साथ टहलते हुए, मैंने इस सन्दर्भ का ज़िक्र मज़ाकिया तौर पर उससे किया तो इस पर उसका चेहरा सख्त हो आया था। 'कितना कुत्सित काम किया गया है' उसने चिढ़ते हुए कहा था। एकाएक मुझे समझ नहीं आया कि क्या जवाब दूँ? एक झेंप के साथ मुझे महसूस हुआ कि ये मेरा अपना सोचा-समझा हुआ भाव नहीं था बल्कि बिना विचारे हुए, अपने पिता का नक़ल किया हुआ नजरिया था। ज़ाज़ा भी अपने परिवार की ही राय व्यक्त कर रही थी। उसके पिता, चर्च द्वारा निन्दित किये जाने से पहले डेमोक्रेटिक कॅथोलिक समूह - ल सिलिओं के सदस्य

थे। वे अब भी ये विचार रखते थे कि कॅथोलिक अनुयायियों की अपनी बंदिशें हैं और उन्होंने मॉरास[7] के सिद्धांतों को ख़ारिज कर दिया था। मॉरास के विचार इतने सुसंबद्ध थे कि एक चौदह साल की लड़की भी बिना किसी उलझन के उनके साथ जुड़ सकती थी। ज़ाज़ा का गुस्सा और हिंसा का उसका भय जायज़ था। मैं, जो एक रट्टू तोते की तरह अपने पिता की राय को दोहरा चुकी थी, अब मेरे पास उसकी पुष्टि का कोई आधार नहीं था। मुझे ज़ाज़ा के तिरस्कार से निश्चित ही चोट पहुँची थी लेकिन जो बात मुझे कहीं अधिक चिंतित कर रही थी वह थी उसके और मेरे पिता की राय के बीच का अंतर। मैं ये सोचना नहीं चाहती थी कि उन दोनों में से कोई एक गलत हो सकता है। मैंने इस बारे में पापा से बात की थी लेकिन उन्होंने बस कंधे उचका दिए और बोले कि ज़ाज़ा तो निरी बच्ची है। पहली बार मैं कोई पक्ष लेने के लिए चालित हुई थी; लेकिन मैं इस मामले में कुछ भी नहीं जानती थी और इसलिए कोई फैसला नहीं ले सकी थी। हाँ, इस घटना से एक निष्कर्ष मैंने निकाला था : ये बिलकुल संभव था कि मैं अपने पिता की राय से अलग राय रखती होऊँ। मुझे मालूम पड़ा कि सत्य क्या है, हो सकता है किसी को ये निश्चित नहीं हो।

उदारवाद की ओर मेरा झुकाव वॉलेबल के 'हिस्ट्री ऑफ़ द टू रेस्टोरेशन्स' को पढ़कर हुआ था। दादाजी की लाइब्रेरी में मैंने गर्मियों की अपनी दो छुट्टियाँ इसके सात खंड पढ़ने में बिताईं थीं। नेपोलियन की हार को पढ़कर मैं रोई। राजशाही, रूढ़िवाद, प्रगतिविरोध के प्रति मेरे मन में घृणा पैदा हुई। मैं चाहती थी कि लोग तर्क द्वारा शासित हों। मैं लोकतंत्र के बारे में उत्साही थी और सोचती थी कि वह सबको समान अधिकार और स्वतंत्रता सुनिश्चित करेगा। कुल यहाँ तक मैं सोच पाई थी। परोक्ष और दूरस्थ राजनैतिक व सामाजिक सरोकारों में मेरी रुचि काफी कम थी बनिस्बत उन समस्याओं के जो मुझे निजी तौर पर प्रभावित करती थीं— जैसे नैतिक आदर्श, मेरा आध्यात्मिक जीवन, ईश्वर से मेरा सम्बन्ध। मैंने इन सब बातों के बारे में बहुत गहराई से सोचना शुरू किया था।

['मेमायर्स ऑफ अ डयूटीफुल डॉटर' का शुरुआती अंश]

सन्दर्भ :

1. बिना जांघिया वाले—निम्नवर्गीय, अति साधारण लोग।
2. सिमॉन के पिता श्री जॉर्ज बॉर्तरीं द बोउवा, जो विधि सचिव थे और बतौर रंगमंच के शौकिया अभिनेता जिन्होंने अभिनय में भी हाथ आज़माया था।
3. ईसाई धर्म सम्बन्धी शिक्षा।
4. फ्रांस में 23 दिसम्बर, 1789 में मतदान का अधिकार तो दे दिया गया था, लेकिन यह केवल संपत्ति मालिकों के लिए ही था। इसके अंतर्गत फ्रेंच नागरिकों को तीन श्रेणियों—प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष और इलेक्टर्स में बाँट दिया गया था। अप्रत्यक्ष नागरिकों को मतदान का अधिकार नहीं था और न ही सरकारी निकायों में उन्हें कोई प्रतिनिधित्व ही प्राप्त था।
5. जर्मन सैनिक।
6. सिमॉन की सहपाठी जो दस वर्ष की उम्र में, स्कूल में उनसे मिलती है और शीघ्र ही उन्हें अपनी प्रतिभा और मुखर व्यक्तित्व से इतना प्रभावित करती है कि वे दोनों अभिन्न मित्र बन जाती हैं।
7. चार्ल्स मॉरास—फ्रेंच लेखक, राजनीतिज्ञ।

सपंर्क : आचार्य, हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर 302004 मो. 9829050419

पाँच कविताएँ

अशीष कुमार तिवारी

द्रोण कटघरे में हाज़िर हों

कलाओं और रोमांच से भरा एकलव्य
जिसकी प्रत्यंचा की टंकार से ही
लक्ष्य भरभरा पड़ता था
एक द्रोण के हाथों लुट गया।

गुरु मान लिया था उसने द्रोण को
लेकिन वह राजपुत्रों के सड़े बदन पर लेपन करता था
उन्हें सुंदर और दिव्य बनाने के लिए

द्रोण इतिहास में एक और अंगुलिमाल बने
जिन्हें कलाओं को रचने वाले हाथों की उंगलियाँ पसंद थीं
और उन्हें काट लेना चाहते थे
और काटा भी।

संसार के तमाम एकलव्यों की माताएँ
युगों से प्रतीक्षारत हैं कि
किसी न्यायालय के कटघरे में
लुटेरे द्रोणों को क्यों नहीं खड़ा किया गया...?
एकलव्यों का पक्ष

असंख्य सभ्यताओं के प्रवाह के बावजूद
क्यों आज भी खाली है...?

एकलव्यों के इस महादेश में
द्रोणों को कब तक जमानत मिलती रहेगी...?

सभ्यताओं से निवेदन है कि द्रोण को कटघरे में खड़ा करें...।

कोई ताज्जुब नहीं

खिलौने बच्चों को प्रिय होते हैं
काठ के खिलौने
मिट्टी के खिलौने
बाँस के खिलौने
धातुओं व प्लास्टिक के खिलौने
तरह-तरह के खिलौने...

गरीबों के बच्चे तिनगोड़िया गाड़ी
पुराने फटे कपड़ों के गुड्डे-गुड़िया
हाथी-घोड़े और पक्षियों की बनावट के होते हैं
उनके खिलौने धनवानों के बच्चों की तरह
हथियारों की नकल नहीं होते
जिनमें गोलियाँ भरी हों।

उनके खिलौनों की माँग में लड़ाकू विमान नहीं होते।
उनकी माँग कभी बाँसुरी की होती
कभी सीटियाँ होतीं
जिनसे बेसुरा ही सही
पर एक राग गूँजता।

उनके बच्चे नकली गाड़ियों पर बैठने के बजाय
पिता के कंधे पर चढ़ने की जिद करते
माँ की गोद में उनकी जिद होती...
उनकी दुनिया सीमित थी
पर हिंसक माँग न थी
क्योंकि उनके पिताओं का कारोबार
हिंसा से कभी न था।

उनके पिता मिट्टी, लकड़ी, बाँस का काम करते थे
सुंदर डोलचियाँ बनातें
हाथों से तराशकर मूर्तियाँ बनाते
जिनमें मुस्कराते चेहरे उभर आते
उन्होंने रुलाने और डराने की चीजें नहीं बनाईं

जिनके धन लाचारों के आँसुओं की कीमत पर कमाए गए
उन्होंने अपने बच्चों को
बंदूकों की धाँय-धाँय करती आवाजों के खिलौने दिए
खौफ फैलाती साइरनों की आवाज़ वाली गाड़ियाँ दीं
हत्यारे सिपाहियों के खेल वाली रिमोट दिए

उन्हीं बच्चों ने आज हत्या को अपना समर्थन दिया...
ताज्जुब की बात है क्योंकर।

मानचित्र पर नक्शे नहीं, फूल हों तो...?

कभी ऐसा हो
हम अंतरिक्ष यात्रा पर निकलें
और नीचे पृथ्वी की ओर देखें तो वह
किसी गुब्बारे वाले की साइकिल की हैंडिल से बँधा
नीला गुब्बारा दिखे
छींटदार सफेद रंगों के साथ
और छोटे-छोटे बच्चे उसे
पकड़ने की ज़िद में पैर पटककर
नाराज़गी ज़ाहिर कर रहे हों।

हम अंतरिक्ष से लाएँगे एक सूरज का पौधा
ताकि धरती पर अंधकार न होने पाए
चाँद का एक फूल तोड़कर
माँ की शृंगारदानी में रख देंगे
ताकि माँ के पास खुद का एक चाँद हो
जिससे किसी व्रत या त्यौहार पर
उसे चाँद के उगने का इंतज़ार न करना पड़े।

काश! ऐसा हो
जब हम अंतरिक्ष से लौटें तो
देश के नक्शे फूल जैसे बन गए हों

पूरे मानचित्र पर फूल ही फूल दिखें
और हम खुशी-खुशी
उनमें बस जाएँ।

फिर भी जी लेंगे हम

इन दिनों
मृत्यु बाँह पकड़कर
प्रतिदिन मौत के नगर के समीप
घसीटकर ले जाती है
और
तड़पते छटपटाते हमें
छोड़ देती है
हम भागकर लौट आते हैं
अपने दीवारों के घर में

ऐसा हर दिन, हर क्षण हो रहा है
हम रोज बच आते हैं;

जिंदगी की छोटी-छोटी आशाएँ
बचा लेती हैं हमें
लाशों से समृद्ध उस नगर का कैदी बनने से

हमारी जिंदगियों को
सँवारने का दावा करने वाले
हमारे रहनुमा
मौत के नगरों के दलाल बन चुके हैं।

हम इस दुनिया की, उस दुनिया की
लाशें घोषित होने की
नियति के साथ जी रहे

जीवन केवल
हमारी छोटी-छोटी आशाओं में बचा है।

तैरती पीड़ाओं का सागर

दुनिया जब से बनी है
असंख्य पीड़ाएँ फैल चुकी हैं ब्रह्मांड में
मैं उनके कोई दस्तावेज तो नहीं पाता
लेकिन
कविता के शब्द मुझे
किसी सुबकते और टूटते इंसान के सामने
पालथी मारकर बैठने और सुनने का अवसर देते हैं।

सोचता हूँ अलग-अलग कविताओं के
टूटते पात्रों को
कहीं इकट्ठा कर दूँ
और दिखा दूँ
कि इस अँधेरी रात में
लोगों से दूर अकेलेपन में केवल तुम नहीं टूट रहे
टूटता हुआ तुम्हारा कोई साथी भी है
सभी मिलकर बाँट लेंगे
असंख्य तैरती पीड़ाओं को
और मैं
उनके जुड़ने की एक कविता लिख दूँ
ताकि पीड़ा की कविताएँ अकेली न रहें
पीड़ा जीने के लिए
उनका भी कोई साथी हो जाए।

संपर्क : शोधार्थी, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़, 202001, मो. 9696994252

कोई हयात ज़माने को है अज़ीज़ बहुत
(उर्दू शायर फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की जीवनी)

पंकज पराशर

यह एक अज़ीब इत्तफ़ाक है कि जिन दिनों उर्दू के तरक्कीपसंद शायर फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की 'सवानिहे हयात' यानी जीवनी का अँगरेज़ी से हिंदी में अनुवाद हो रहा था, तकरीबन उन्हीं दिनों निहायत ग़लत वज़हों से उनका नाम हिंदुस्तान की ख़बरों में था! इंतकाल के पूरे सैंतीस बरस बाद फ़ैज़ की नज़्म 'हम देखेंगे' की चर्चा निहायत जहालत और ग़लाजत भरी ज़बान में की जा रही थी! ख़बरों के नाम पर 'ज़िंगोइज़्म' फैलाने के लती सहाफियों और सियासतदानों ने फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की लानत-मलामत जिस फूहड़ और नफ़रत-भरी ज़बान में की, वह नाक़ाबिले-क़ुबूल थी! दरअसल नागरिकता संशोधन कानून के खिलाफ प्रदर्शन के दौरान फ़ैज़ की उर्दू नज़्म (नज़्म के साथ 'उर्दू' इसलिए लगाने की जरूरत आन पड़ी कि फ़ैज़ ने उर्दू के मुकाबले थोड़ा कम ही सही, पर लिखा पंजाबी में भी है) 'हम देखेंगे' पढ़े जाने पर विवाद खड़ा किया गया। भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (आई.आई.टी.), कानपुर के एक शिक्षक ने इस नज़्म की कुछ पंक्तियों मसलन, 'जब अर्ज़-ए-ख़ुदा के काबे से/ सब बुत उठवाए जाएँगे/ हम अहल-ए-सफ़ा मरदूद-ए-हरम/ मसनद पे बिठाए जाएँगे/ सब ताज उछाले जाएँगे/ सब तख़्त गिराए जाएँगे/ बस नाम रहेगा अल्लाह का/ जो ग़ाएब भी है हाज़िर भी' की मनमानी व्याख्या करते हुए इस नज़्म को कथित तौर पर हिंदू विरोधी बता दिया। जिस पर हफ़्तों तक बहसें चलीं, जाँच के लिए आई.आई.टी. ने कमिटी बना दी और उसके बाद खबरिया चैनलों के अखाड़े में जावेद अख्तर, गुलज़ार और फ़ैज साहब की बेटियों सलीमा हाशमी-मोनीज़ा हाशमी से लेकर अनेक 'चिंतकों' और 'विचारकों' को उतारा गया, लेकिन जब सारे फसाने में ऐसी बात का कहीं कोई ज़िक्र ही नहीं था, तो फिर नागवार गुजरते रहने की मियाद ज़्यादा लंबी थोड़े खिंच सकती है! सो, यह कथित बहस भी जल्दी ही ख़त्म हुई, मगर इस वज़ह से जो तल्ख़ी-ए-हालात पैदा हुए उसके असरात से बचा नहीं जा सका। फ़ैज़ साहब की छोटी बेटी मोनीज़ा हाशमी को दिल्ली में आयोजित पंद्रहवें एशिया मीडिया सम्मेलन में ख़ास तौर पर बुलवाया गया था,

लेकिन जब वे सम्मेलन में शिरकत के लिए पहुँचीं, तो उन्हें उसमें शिरकत करने से रोक दिया गया। फिर वे अपने स्तर पर किसी और होटल में रुकीं और उदास मन से अपने वालिद की इस पंक्ति को याद किया, 'लंबी है गम की शाम, मगर शाम ही तो है।'

जिन दिनों 'हिंदी प्रदेश' में यह 'नवजागरण' चल रहा था और कथित 'हिंदी जाति' बकौल क्रिस्टोफर किंग 'एक भाषा और दो लिपि' के एक मितभाषी शायर फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की नज़्म को इतने बरस बाद 'हिंदू धर्म' के विरोध में बता रही थी, उस जाति के वीर बालक अगर सन् 2016 में छपी फ़ैज़ साहब की अली मदीह हाशमी द्वारा लिखी गई जीवनी 'लव एंड रिवोल्यूशन : फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ : द ऑथराइज्ड बॉयोग्राफी' पढ़ लेते, तो शायद इतने बड़े पैमाने पर 'हिंदुस्थान' में उन्हें 'नवजागरण' की जरूरत भी शायद न पड़ती। गहमागहमी के इसी दौर में जनकवि नागार्जुन की जीवनी छपकर आई थी और हिंदी के महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक समीक्षक आचार्य नामवर सिंह की जीवनी भी, जिसके मुताल्लिक पता चला कि जीवनीकार ने बहुत 'खून फूँककर' वह जीवनी लिखी थी। बहरहाल, इन जीवनियों के संपूर्ण पारायण के बाद यह अफसोस और बढ़ गया कि हिंदी लेखकों की ज़मात में बांग्ला के कथा-शिल्पी शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय की जीवनी के लेखक विष्णु प्रभाकर का नाम-जाप करना एक बात है और उनके स्तर का काम कर पाना बिल्कुल दूसरी बात। कहना न होगा कि जीवनी लेखक को अपने नायक के संपूर्ण जीवन अथवा उसके यथेष्ट भाग की चर्चा जीवनी में करनी चाहिए। जीवनी असल में इतिहास, साहित्य और व्यक्ति के सम्मिश्रण से लिखी जाती है, लेकिन इसमें इतिहास की तरह घटनाओं का आकलन नहीं होता, बल्कि इसमें मनुष्य के जीवन की व्याख्या एवं उसके व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन प्रत्यक्ष और वास्तविक रूप से मिलता है। जबकि उपन्यास और कहानी में जीवन की व्याख्या तो होती है, लेकिन परोक्ष और कल्पना मिश्रित होती है। वास्तविक जीवनी वही है, जिसमें जीवन प्रामाणिक और सम्यक जानकारी पर आधारित हो।

इसी साल 2021 में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की छोटी बेटी मोनीज़ा हाशमी के बेटे अली मदीह हाशमी द्वारा सन् 2016 में लिखी गई जीवनी 'लव एंड रिवोल्यूशनः फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ : द ऑथराइज्ड बॉयोग्राफी' का हिंदी तर्जुमा छपकर आया। इसका हिंदी अनुवाद लंबे समय तक 'इंडिया टुडे' (हिंदी) और 'शुक्रवार' में काम कर चुके सुप्रसिद्ध पत्रकार अशोक कुमार ने 'प्रेम और क्रांति : फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ (अधिकृत जीवनी)' के नाम से किया, जिसे छापा सेतु प्रकाशन ने। मज़े की बात यह है कि अली उर्दू या अँगरेज़ी के कोई पूरावक़्ती लेखक नहीं हैं। वे लाहौर शहर में प्रैक्टिस करने वाले एक पेशेवर मनोचिकित्सक हैं, बावजूद इसके अली हाशमी ने इस जीवनी को फ़ैज़ साहब की अधिकृत जीवनी कहा है और इस आत्मविश्वास की वाज़िब वज़हें भी हैं। बेहतरीन ज़बान और दिलकश अंदाज़ में दास्तान-ए-फ़ैज़ सुनाने वाले अली ने सावधानी से ख़ुद को नाना और नवासे के रिश्ते से दूर रखा और बहुत तटस्थ होकर उनको एक शायर की तरह देखने की कोशिश की। चूँकि अली मानव मन की गुत्थियों को सुलझाने वाले एक पेशेवर मनोचिकित्सक हैं, इसलिए बहुत 'कन्विंसिंग' तरीके से वे फ़ैज़ की ज़िंदगी और उनकी रचना-प्रक्रिया की जटिल स्थितियों को समझने का प्रयास करते हैं। इतना ही नहीं, अली ने शहीद माहली द्वारा संपादित पत्रिका 'मयार' के 'फ़ैज़ अंक', सहबा लखनवी और कशिश सिद्दीकी द्वारा संपादित संकलन 'अफ़कार' के फ़ैज़ विशेषांक, वज़ीर आग़ा के संपादन में प्रकाशित 'मयार' के 'फ़ैज़ और उनकी शायरी' अंक का गहन अवगाहन के करने अलावा लुडमिला वासिलिएवा द्वारा लिखित 'परवरिश-ए-लौह-ओ-कलाम : फ़ैज़ हयात और तख़्लीकात' को बारीकी से देखा-पढ़ा है। फिर अपनी माँ मोनीज़ा और ख़ाला सलीमा हाशमी के किस्सों को मिलाकर बहुत निरपेक्ष

होकर लिखने की कोशिश की है।

उर्दू की अदबी दुनिया ही नहीं, हिंदी में भी फ़ैज़ जैसे महान् और अंतरराष्ट्रीय ख्याति के शायर के बारे में जानने की उत्सुकता लोगों में स्वाभाविक है। यह ठीक-ठीक कह पाना आसान नहीं कि फ़ैज़ के चाहने वाले पाकिस्तान में ज़्यादा हैं कि हिंदुस्तान में, पर फ़ैज़ साहब जब-जब हिंदुस्तान तशरीफ लाए, उन्हें खूब इज्ज़त और शोहरत मिली। पाकिस्तान, जो तकसीम के बाद उनका अपना मुल्क हो गया, वहाँ उन्हें अलावा शोहरत के खूब तकलीफ़ें मिली। अपने देश पाकिस्तान में कभी वे वहाँ के सांप्रदायिक, कट्टरपंथी और सैनिक तानाशाहों के हामी नहीं रहे और अपनी अपनी खुली और उदारवादी सोच के लिए उन्हें आज़ाद पाकिस्तान में भी एक लंबा अरसा जेल में रहना पड़ा। उनकी ज़िंदगी बेहद दिलचस्प मोड़ों से होकर गुजरी थी। वामपंथी झुकावों के बावजूद सन् 1942 में द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान वे बरतानवी फौज में कैप्टन के तौर पर भर्ती हो गए। सन् 1943 में उन्हें दिल्ली में 'पोस्टिंग' मिली। रैंक बढ़ता गया और 1943-44 में वे 'मेजर' और फिर उसके बाद लेफ्टीनेंट कर्नल हो गए। चूँकि फ़ैज़ पंजाब के जिला नैरोवाल के कस्बा काला कादर में पैदा हुए थे और इसके आसपास ही उनके सारे रिश्तेदार वगैरह भी रहते थे। लिहाजा हिंदुस्तान के बँटवारे के बाद फ़ैज़ ने रहने-बसने के लिए मुल्क के तौर पर पाकिस्तान को चुना। सन् 1947 में अपने वतन पाकिस्तान जाने से पहले सेना की नौकरी से इस्तीफा दे दिया। लोगों ने उन्हें इतना मान दिया कि काला कादर कस्बे को अब फ़ैज़ नगर के नाम से जाना जाता है। लाहौर के मॉडल एफ ब्लॉक में मकान नंबर 126 के बाहर एक तख्ती पर अँगरेज़ी और उर्दू में दर्ज़ है, 'फ़ैज़ घर'। यह मकान फ़ैज़ साहब ने अपनी माली तंगदस्ती के दौर में शायद बेच दिया था, लेकिन बाद में जिस शख्स ने उनसे उनका मकान ख़रीदा था, उसी शख्स ने यह मकान 'फ़ैज़ फाउंडेशन' को महज एक रुपए की लीज पर दे दिया।

फ़ैज़ की दोनों बेटियों ने 2009 में 'फ़ैज़ फाउंडेशन ट्रस्ट' के बैनर तले उसे औपचारिक रूप से शुरू किया। वैसे इस घर का नाम शुरू से ही 'फ़ैज़ घर' रहा है, जिसके अंदर दाख़िल होने के लिए जूते उतारने पड़ते हैं। चूँकि यह घर फ़ैज़ का घर है, इसलिए वहाँ तकरीबन रोज़ शायरी, मौसीकी, पेंटिंग और 'योगा' पर चर्चा होती है। इस घर में एक बड़ा-सा हॉल भी है, जो शायद पहले 'फ़ैज़ ड्राइंग रूम' हुआ करता था। एक तरफ फ़ैज़ की 'लाइब्रेरी' है, जिसके रख-रखाव के लिए पाकिस्तानी पंजाब की सूबाई सरकार माली मदद भी देती है। फ़ैज़ और उनकी बेगम एलिस की कुछ पुरानी चीजें भी एक 'म्यूजियम' की मानिंद वहाँ सजा कर रखी गई हैं। जहाँ अब 'ध्यान योग' के सेशन चलते हैं और पिछले दो सालों से वहाँ 'फ़ैज़ इंटरनेशनल फेस्टीवल' भी आयोजित किये जाते हैं। यह उस बंगले के करीब ही है, जहाँ फ़ैज़ अपने अंतिम दिनों में रहे थे। यह उस बंगले के करीब ही है, जहाँ फ़ैज़ साहब अपने आख़िरी दौर में रहे थे। 'फ़ैज़ घर' अभी ज़रा तंगहाली का शिकार है। उनकी बेटी मोनीज़ा हाशमी चाहती हैं कि पाकिस्तान के हर छोटे-बड़े शहर में 'फ़ैज़ घर' की तामीर हो फ़ैज़ के ख़यालों और उनकी सोच से जुड़े लेखकों की रचनाएँ 'फ़ैज़ फाऊंडेशन ट्रस्ट पब्लिशिंग हाउस' के बैनर तले छापी जाएँ। इसी कड़ी में इस ट्रस्ट ने हाल के दिनों में कुछ सक्रियता दिखाई है, ताकि मुसलसल कुछ प्रोग्राम्स होते रहें और इस नेक काम के लिए कुछ पैसा इकट्ठा किया जा सके। फ़ैज़ की ज़िंदगी और उनकी किताबों से जुड़े ये कुछ ऐसे किस्से हैं, जो अली की जीवनी से बाहर के किस्से हैं, तो सोचा जब आप उनकी जीवनी से गुजरें तो फिर आपको ये किस्से भी बताते चलें।

यह बात दीगर है कि फैज़ अहमद फ़ैज़ को नोबेल पुरस्कार नहीं मिल पाया, लेकिन वे भारतीय उपमहाद्वीप के संभवतः ऐसे दूसरे शायर थे, जिनका नाम नोबेल के लिए नामित हुआ था। रूमानियत और बग़ावत के शायह फ़ैज़ को अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता के कारण अपनी उम्र का एक लंबा अरसा पाकिस्तान की जेलों में बिताना पड़ा। पाकिस्तान को एक इंसाफपसंद समाज बनाने के लिए अपने कलम को हथियार बनाकर वे वहाँ के किसानों, मजदूरों, डाककर्मियों और महिलाओं के लिए ता-उम्र लड़ते रहे। सन् 47 में मिली आज़ादी और अचानक वजूद में आए नये मुल्क पाकिस्तान के सियासी लोगों ने जिस अंदाज़ में शासन चलाया, उसने जल्दी ही फौज़ी हुकूमत के लिए रास्ता साफ कर दिया।

1955 में पाकिस्तान के तत्कालीन प्रधानमंत्री सुहरावर्दी ने हालाँकि उनकी सज़ा माफ़ की, लेकिन कुछ वक्त के लिए उन्हें मुल्क छोड़ने का हुक्म दिया गया। मजबूरन उन्हें पाकिस्तान छोड़कर ब्रिटेन जाना पड़ा और कुछ साल लंदन में बिताने के बाद जब वापस लौटे, उनके रचनाओं को वामपंथी नजरिए से लिखी गई रचना बता कर फिर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। जनरल जियाउल हक के दौर में उनके ऊपर बहुत जुल्म ढाए गए। यूँ तो जनरल जिया से पहले जनरल अयूब खाँ और जनरल याह्या खाँ के शासन काल को पाकिस्तान के लोग देख चुके थे, लेकिन जियाउल हक ने पूरे पाकिस्तान की बनावट को ही जैसे बदल डालने की जुनून से भरा हुआ था। सियासी दुनिया के दोस्त जुल्फिकार अली भुट्टो ने जब फ़ैज़ साहब के मामले में दख़ल दिया तो आख़िरकार सन् 1958 में उन्हें रिहा कर दिया गया। रिहा होने के बाद कुछ बरस ब्रिटेन और तत्कालीन सोवियत संघ में गुजारने के बाद सन् 1964 में फ़ैज़ पाकिस्तान लौटे और कराची जाकर बसे। जिन दिनों वज़ीरे-आज़म जुल्फीकार अली भुट्टो थे उन्हें पाकिस्तान के संस्कृति मंत्रालय में बतौर सलाहकार नियुक्त किया गया था, लेकिन तख़्ता-पलट करने के बाद वहाँ की सत्ता में जब जनरल जियाउल हक आए, तो फ़ैज़ ने चुपचाप मुल्क छोड़ देना ही बेहतर समझा। पनाह मिली बेरुत (लेबनान) में। लेकिन परायी धरती पर जी न लगा तो सन् 1982 में फिर लौट आए। बाकी ज़िंदगी लाहौर में ही गुजारी। इसी बीच फ़ैज़ आधा दर्जन बार भारत आए। कहते थे, लगता है 'सगे रिश्तेदारों से बगलगीर होने आया हूँ।' उन्हें 'लेनिन शांति पुरस्कार' और कुछ अन्य सम्मान जीते-जी मिले, लेकिन उनके अपने देश पाकिस्तान में उन्हें 'निशान-ए-इम्तियाज' से मरणोपरांत ही नवाजा जा सका। पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में अब भी 'फैज़' एक काव्यमय मुहावरा बने हुए हैं।

उम्र का लंबा हिस्सा जेलों में काटना पड़ा। फ़ैज़ का जन्म 13 फरवरी, 1911 में मौजूदा पाक-पंजाब के जिला नैरोवाल के कस्बे काला कदर में हुआ था। अब उस कस्बे का नाम भी फ़ैज़ नगर पड़ गया है। पिता सुल्तान अहमद खान बैरिस्टर थे और ब्रिटिश शासन की खिदमत में थे। साथ ही कलम पर भी उनकी अच्छी पकड़ थी। उन्होंने उन दिनों में शाही अफगानिस्तान के एक अमीर सामंत अमीर अब्दुर्रहमान की जीवनी लिखी थी, जिसकी खूब चर्चा हुई।

फ़ैज़ के घर में मुसलिम धर्म को लेकर कट्टरपंथी रुझान था, मगर उनकी परवरिश खुले माहौल में हुई थी। उन दिनों परंपरा यही थी कि बच्चे को शुरुआती तालीम के लिए मौलवी के पास भेजा जाता था। फ़ैज़ को अरबी, फारसी, उर्दू और विशेष रूप से कुरान के अध्ययन के लिए मौलवी मुहम्मद इब्राहीम मीर रियालकोटी के पास भेजा गया। बाद में एक इस्लामिक स्कूल में भेजा गया। कुछ वक़्त 'स्कॉच मिशन स्कूल' में भी छोड़ा गया। मैट्रिक तक की शिक्षा के बाद उन्हें 'मरी (Murray) कॉलेज सियालकोट' में दाखिला मिला। इंटर के बाद वे गवर्नमेंट

यूनिवर्सिटी कॉलेज लाहौर चले गए। 1926 में बीए के बाद वहीं से अंग्रेजी साहित्य में एमए किया। फिर 1932 में वहीं से अरबी में भी मास्टर डिग्री प्राप्त की। उन्हीं दिनों वे वामपंथी विचारक एमएन राय से मिले, फिर उनकी ज़िंदगी और सोच की दिशा ही बदल गई।

उन्हें पाकिस्तान से निष्कासित भी किया गया, लेकिन जुल्फिकार अली भुट्टो के विदेश मंत्री बनने के बाद उनकी वतन वापसी हुई। भुट्टो की फाँसी के बाद फ़ैज़ ने 1977 में सैन्य शासक जिया उल हक के शासन के खिलाफ 'हम देखेंगे' नज़्म लिखी थी। फैज को भुट्टो का करीबी माना जाता था।

मुसलमानों पर नमाज़ फ़र्ज है और फ़र्ज हमेशा अदा किया जाता है। अता नहीं। इसी तरह फजीर नहीं फ़ज्र। नुक़्त कुछ शब्दों में है तो बाकी में क्यों नहीं।

इसे पत्रकारों, सम्पादकों की लापरवाही कहा जाए, भूल कहा जाए या जानबूझ कर की जा रही शरारत कहा जाए कि कुछ हिंदी, अंग्रेजी और उर्दू शब्दों का लगातार गलत प्रयोग किया जा रहा है और हद यह है कि बार बार ध्यान दिलाए जाने पर भी इस में सुधार नहीं किया जा रहा है। ऐसा एक मामला नमाज़ के बारे में है, जब भी कभी ईद, बकरीद, जुमा अलविदा या किसी की नमाज़े जनाज़ा के बारे में ख़बर दी जाती है तो अधिकांश हिंदी के बड़े अखबार नमाज़ अदा करने के स्थान पर, 'नमाज़ अता करना' लिखते हैं।

नमाज़ इस्लाम के पाँच स्तंभों में से एक है, जो हर मुसलमान पर फर्ज़ है जिसे अदा करना हर मुसलमान के लिए अनिवार्य है। आज से नहीं बल्कि बरसों से अखबार नमाज़ अता कराने की गलती करते आ रहे हैं। अपने को एनसीआर का बड़ा खबार कहने वाला नवभारत टाइम्स पहले 'नमाज़ अदा की' ही लिखता था, मगर अब काफी समय से वह भी 'नमाज़ अता करना' लिख रहा है। अमर उजाला भी 'नमाज अता कराता' था, जब गोविंद सिंह एनसीआर के सम्पादक थे तो उनका ध्यान इस ओर दिलाया गया तो कुछ समय के लिए ठीक लिखा जाने लगा, मगर उनके जाते ही फिर नमाज़ अता की जाने लगी और ध्यान दिलाने के बाद भी इस गलती को नहीं सुधारा गया। दैनिक जागरण ने तो तय ही कर रखा है कि वह बार-बार ध्यान दिलाने के बाद भी गलती का सुधार नहीं करेगा और नमाज़ अता ही कराता रहेगा।

उर्दू का एक और शब्द 'ख़िलाफ़त' है जिस का हिंदी वाले विरोध के लिए प्रयोग करते हैं। खिलाफत का संबंध खलीफा की परंपरा से है न कि विरोध से। आजादी की लड़ाई के दौरान खिलाफत आंदोलन इतिहास में दर्ज है, जिस में गाँधी जी ने भी सक्रिय भागीदारी की थी। विरोध के लिए 'खिलाफ' शब्द का प्रयोग तो ठीक है मगर खिलाफत किसी भी दशा में उचित नहीं है, क्योंकि 'खिलाफत' लिखने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। असल में हम ने 'खिलाफ' के आधार पर 'खिलाफत' शब्द बना लिया है जबकि इस के लिए उर्दू में 'मुखालिफत' है जो कठिन शब्द है। इसलिए अच्छा यही है कि विरोध के लिए 'खिलाफत' शब्द का प्रयोग ही न किया जाए।

नवभारत टाइम्स सरल हिंदी शब्दों के लिए भी अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करता है, मगर सरल अंग्रेजी शब्दों का उसे सही पता शायद नहीं है। सीवर का 'मैन होल' होता है मगर नवभारत टाइम्स सहित लगभग सभी हिंदी अखबार इसे 'मेनहोल' लिखते आ रहे हैं, कई बार 'मेनहाल' भी लिख दिया जाता है। अखबार ही नहीं अब तो खबरिया चौनलों के कई नासमझ पत्रकार भी 'मेन होल' कहने लगे हैं। पिछले दिनों गाजियाबाद में एक बच्चा सीवर के 'मैनहोल' में गिर गया। न्यूज रूम में बैठी एंकर बार-बार 'मैनहोल' कह रही थी मगर मौके पर मौजूद संवाददाता ने एंकर के उच्चारण पर भी ध्यान नहीं दिया और अंत तक 'मेनहोल' ही बोलता

रहा, ऐसा उस ने एक बार ही नहीं बल्कि चार-पाँच बार किया था।

युगल और जोड़ा पर्यायवाची शब्द हैं, मगर हमारे कुछ मित्र खबर लिखते समय 'प्रेमी युगल जोड़ा' ही लिखते आ रहे हैं। एक संवाददाता का ध्यान जब इस ओर दिलाया गया तो उसका कहना था कि क्या करें 'युगल जोड़ा' लिखने की आदत पड़ गई है, अब इस आदत को ठीक तो नहीं कहा जा सकता। अपने एक मित्र 'जमीन पर गिरने' और 'धराशायी होने' में अंतर न मान कर खबर में लिखते हैं कि पुलिस द्वारा पानी की बौछार छोड़ने पर नेता जी जमीन पर गिर कर धराशायी हो गए। 'औरत' उर्दू का शब्द है और इस का बहुवचन मस्तूरात होता है मगर हम हिंदी वाले प्रायः 'औरतें' लिखते हैं जो अनुचित है। अच्छा यही है कि हम 'औरत' न लिख कर 'महिला' लिखें और अगर हिंग्रेजी से ही प्रेम है तो 'लेडी' भी लिखा जा सकता है।

मुझे याद है नवभारत टाइम्स में जब माथुर जी संपादक थे तो वह इस प्रकार की तथा वर्तनी की अन्य अशुद्धियों पर बहुत ध्यान देते थे तथा इन अशुद्धियों का शुद्ध रूप लिख कर नोटिस बोर्ड पर लगा देते थे। माथुर साहब के इस प्रयास का परिणाम यह हुआ था कि अखबार में हिंदी, उर्दू तथा अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग शुद्ध रूप में होने लगा था, मगर उन के बाद किसी संपादक ने इस पर ध्यान नहीं दिया। अन्य अखबारों में तो यह परंपरा विकसित ही नहीं हो सकी और अब हिंग्रेजी का मोह इतना हो गया है कि ये बातें बहुत छोटी नजर आने लगी हैं।

कई पत्रकार-मित्रों से इस बारे में पूछा गया तो सब का यही कहना था कि ये तो छोटी-मोटी 'स्पैलिंग मिस्टेक' हैं, अब इन पर अखबार में कोई ध्यान नही नही देता। अब पाठक काफी समझदार हो गए हैं। वह समझ जाते हैं कि हम क्या कह रहे हैं। बात तो किसी हद तक ठीक है मगर पाठक के समझदार होने का मतलब यह तो नहीं कि हम नासमझ हो जाएँ और अपनी नासमझी के चलते नमाज को अता कराते रहें, मैनहोल को मेनहोल या मेनहाल लिखते रहें, 'औरतें' लिखते रहें और प्रमी युगल को युगल जोड़ा लिखते रहें। पाठक समझदार है, वह बात समझ जाता है मगर इस के साथ ही पाठक यह भी तो समझ जाता है कि गलती करने वाला पत्रकार कितना लापरवाह या मूर्ख है।

प्रेम और क्रांति : फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ (अधिकृत जीवनी) / अनु. अशोक कुमार / सेतु प्रकाशन, दिल्ली / 2021/ ₹ 450

संपर्क : हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़-20202 (उ.प्र.) मो. : 9634282886

प्रतिरोध और प्रतिबद्धता का आख्यान

राहुल सिंह

Writing a novel is the perfect way to capture the most fleeting essence of the present for the future. –Daniel Kehlmann

एक कथाकार अपने समय में कैसे और किन कारणों से सन्दर्भवान होता है? रणेन्द्र और उनका नया उपन्यास 'गूँगी रुलाई का कोरस' इस प्रसंग में विचारणीय जान पड़ते हैं। साहित्य की अलग-अलग विधाओं को लेकर उनके सर्जकों की अपनी सोच रही है। इससे उनके साहित्य विषयक सोच का पता चलता है कि अपने साहित्य के ज़रिए वे किन मूल्यों को समाज में प्रस्तावित करना चाहते हैं, किन मूल्यों के प्रति अपनी पक्षधरता प्रदर्शित करते हैं या साहित्य से उनकी अपेक्षाएँ क्या हैं? 'गूँगी रुलाई का कोरस' (2021 ई.) रणेन्द्र का तीसरा उपन्यास है। इसके पूर्व आदिवासी जीवन को केन्द्र में रखकर वे दो उपन्यास लिख चुके हैं। इनमें पहला 'ग्लोबल गाँव का देवता' है और दूसरा 'गायब होता देश'। पिछले दोनों उपन्यासों की तुलना में उनका नया उपन्यास बिलकुल अलग कथा भूमि पर विकसित हुआ है। लेकिन इन तीनों उपन्यासों में उनकी प्रतिबद्धता साफ़-साफ़ देखी जा सकती है। आज 'देश के इस दौर में' प्रतिबद्धता कोई बहुत प्रशंसनीय चीज नहीं रह गई है। इसके लिए आप लगातार 'ट्रोल' किये जा रहे हैं। सत्ता आपको अलग से 'मार्क' कर रही है। व्यक्तिगत जीवन में इसकी कीमत चुकानी पड़ रही है। सर्जक-आलोचक सब पर एक अनकहा-अघोषित सेंसरशिप आयत्त कर दिया गया है। कुछ अर्थपूर्ण रचने के लिए अन्य साहित्यिक गुणों के साथ साहस भी एक अपरिहार्य तत्त्व के तौर पर इस दौर में आ जुड़ा है। रणेन्द्र के इस उपन्यास को साहित्यिक कारणों से इतर अपने साहस के लिए भी याद किया जाना चाहिए या शायद बाद में इस कारण भी याद किया जाएगा।

प्रतिरोध केवल एक शब्द मात्र नहीं है। वह जीवनमूल्यों के पक्ष में अप्रतिहत आस्था का भी नाम है। जिन पर आँच आने पर कोई भी उसकी प्राणपन से रक्षा करना चाहता है।

उन मूल्यों की रक्षा की ख़ातिर खड़ा होता है, एक 'स्टैण्ड' लेता है। अपनी दृढ़ता को शब्द देता है। वह शब्द दूसरों के विचार बन सके, इसके लिए श्रम करता है। कलाएँ प्रतिरोध को अलग-अलग ढंग से साकार करती आई हैं। साहित्य ने भी इसे अपने ढंग से संभव किया है। इसलिए साहित्य की भी एक सत्ता है। रणेन्द्र ने भी प्रतिरोध की इस इबारत को रचने में कामयाबी हासिल की है। प्रतिरोध की कोई भी इबारत औचक ढंग से संभव नहीं की जा सकती है, इसके लिए एक सुचिंतित तैयारी की जरूरत होती है। तब तो और भी जब सत्ता प्रतिरोध को कुचलने के लिए किसी भी हद तक जा रही हो। 2014 के बाद देश के सद्भाव और सौहार्द्र को जिस ढंग से तबाह और बर्बाद करने की सुनियोजित कोशिशें हुईं, उसके प्रतिरोध का आख्यान विकसित करना साधारण काम नहीं है। अपने जानते रणेन्द्र ने इसे अपने तीनों उपन्यास में कारगर तरीके से किया है। यह नुक़्ता ही मुझे उन पर बातचीत की शुरुआत के लिए सर्वाधिक उपयुक्त लगा, इसलिए इसे ही उनके संदर्भ में प्रस्थान बिन्दु के बतौर प्रस्तावित कर रहा हूँ।

हिन्दी आलोचना में एक वाक्य प्रचलित है कि 'फलाँ रचना अपने समय में हस्तक्षेप करती है।' रणेन्द्र के इस उपन्यास को पढ़ते हुए इस वाक्य के आशय को समझा जा सकता है कि समय में हस्तक्षेप करने का अर्थ क्या होता है? अव्वल तो बगैर लगाव और प्रतिबद्धता के न तो ऐसे कथ्य का चुनाव संभव है और न ही कथ्य को ऐसे बरतने की अदा संभव है। यह दोनों गहरी चिंता और चिंतन की निरंतरता से ही साकार हो सकते हैं। सांप्रदायिकता के प्रत्याख्यान के लिए संगीत जैसी विधा का चुनाव, वह भी साहित्यकार के द्वारा, अपने आप में ही एक जोखिम भरा क़दम है। और इस जोखिम को साध ले जाने के कारण भी यह उपन्यास चर्चा की हकदार है। संगीत को आधार बनाकर लिखी गई कहानियों में यूँ तो योगेन्द्र आहूजा की कहानी 'मर्सिया' से बढ़ कर एकबारगी कुछ भी नहीं कौंधता। थोड़ा पीछे जायें तो संजीव की कहानी 'मानपत्र' भी दिखती है। विगत वर्षों में संतोष चौबे का उपन्यास 'जलतरंग' भी दिखता है। लेकिन रणेन्द्र अपनी टेक की वजह से इन सबसे अलग खड़े नजर आते हैं। देश की विरासत को सामने चाक-चाक होता हुआ देखकर एक रचनाकार अपना प्रतिरोध दर्ज़ कराना चाहे तो वह कैसे कर सकता है, रणेन्द्र का यह उपन्यास इसकी एक बुनियादी तमीज़ विकसित करता जान पड़ता है। गहरे सरोकारों से ऐसी रचना जन्म लेती है। ख़ुद को परिभाषित करने की कोशिशों से ऐसी रचना आकार लेती है। तब तुम कहाँ थे, जैसे सवालों का कोई पूरी ईमानदारी से जवाब देना चाहे, तब ऐसी रचना संभव होती है।

2014 के बाद यह देश सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक तक़रीबन हर स्तर पर एक नये किस्म के बदलाव से गुज़र रहा है, जो पुरानी संरचनाओं को सिरे से बदल देना चाहती है। इस बदलने के मूल में एक सचेत राजनीतिक दृष्टि काम कर रही है, जिसके मूल में साम्प्रदायिक सोच है। इस साम्प्रदायिक सोच ने भारतीयता और हिन्दुत्व के ताने-बाने को सिर के बल खड़ा कर दिया है। भारतीयता की जो अवधारणा सदियों में विकसित हुई थी, उसे 2014 के बाद के वर्षों में सिरे से तार-तार करने की सचेत और सुनियोजित कोशिशें हुईं हैं। इस सचेत और सुनियोजित प्रयत्नों के परिणामों को यह उपन्यास अपने जानते सामने लाने की जीतोड़ कोशिश करता है। बल्कि इसे रणेन्द्र अपनी शैली में संभव करते हैं। मतलब उनके उपन्यासों की एक बहुत बड़ी ख़ूबी रही है कि वे बदलाव को उसकी पूरी सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रिया के साथ पकड़ते हैं कि आख़िर वह घटित क्योंकर हुआ? उसके मूल में कौन-सी ताक़तें काम कर रहीं थीं। उसकी पूरी गतिकी क्या रही? उसके तमाम पहलुओं को अपने तईं वे 'डाक्यूमेंट'

करने की कोशिश करते हैं। पिछले उपन्यासों में दस्तावेज़ीकरण की इस प्रक्रिया में कथात्मकता कहीं-कहीं बाधित हुई थी, इस बार वह कमज़ोरी कम हुई है। पर पूरे तरीके से ग़ायब नहीं हुई है। कथा सूत्रों को पिरोकर कथावस्तु को समृद्ध करने की अदा उन्होंने अर्जित कर ली है। इस सूत्र के आलोक में उनके पिछले तीन उपन्यासों को एक साथ रखकर देखें तो यह भान होता है कि साहित्य जिस मानविकी का हिस्सा है, इनके उपन्यास उसी मानविकी के दरवाजे पर सीधे दस्तक देते हैं, बस उसकी ज़मीन साहित्य की ठहरती है। बल्कि उनके उपन्यासों में हमारे देश-काल का अक्स जिस ढंग से उभरता है, उस पर गौर करें तो उनके उपन्यासों का महत्त्व समाज विज्ञान की दृष्टि से भी उजागर होने लगता है। ऐसा नहीं है कि उपन्यास-लेखन की यह प्रविधि उनकी मौलिक है, इसकी एक समृद्ध परंपरा हिन्दी में रही है। इस वक्त इसके सबसे बड़े प्रतिनिधि संजीव ठहरते हैं। रणेन्द्र, संजीव की औपन्यासिक परम्परा के वाहक हैं। चयनित कथ्य को लेकर किये जानेवाले शोध और श्रम को दोनों के यहाँ देखा जा सकता है। फ़र्क़ इस बात का है कि संजीव के बिलकुल नवीनतम उपन्यासों को देखें खासकर 'फाँस' के बाद की तो वहाँ एक ढलान है, इसके उलट रणेन्द्र के यहाँ उठान है। मतलब यह कि रणेन्द्र ने कथ्य की शर्तों पर तथ्यों को बुनने का तरीक़ा अर्जित कर लिया है। अब वे थिगली की तरह ऊपर से चिपके नज़र नहीं आते हैं, जैसा उनके दूसरे उपन्यास 'ग़ायब होता देश' में दिख रहा था। कथा-सूत्रों को पिरोकर कथावस्तु को समृद्ध करने की दिशा में, वे इस उपन्यास में, अपने पिछले उपन्यासों से थोड़ा आगे बढ़े हैं। इसमें और थोड़ा गति और नियंत्रण हासिल करते ही उपन्यासकार के बतौर वे बड़ी लकीर खींच सकते हैं। खैर, आते हैं उपन्यास पर।

विजयदेव नारायण साही ने कभी साहित्य को परिभाषित करते हुए इस आशय की बात कही थी कि 'साहित्य अपने युग के मनुष्य को भी परिभाषित करता है।' रणेन्द्र का उपन्यास भी अपने दौर के मनुष्य को परिभाषित करता दिखता है। इस सामाजिक और राजनीतिक सत्य को पूरी संवेदनशीलता के साथ रेखांकित करता है कि विगत सात वर्षों में सदियों से अर्जित भारतीयता की अवधारणा तार-तार हुई है। भारतीय संस्कृति या हिन्दुस्तानी तहज़ीब जो लगभग एक-दूसरे के पर्याय थे। अब अलग-अलग अर्थों को ध्वनित करते हैं। इस अलगाव को संभव करनेवाली शक्तियों और उनकी कार्य पद्धति को रणेन्द्र बहुत बारीकी के साथ दर्ज करते हैं। कुछ इस तरह कि आपसी सद्भाव को वैमनस्य में तब्दील करने की पूरी 'क्रोनोलॉजी' समझ में आने लगती है। यह हमारे दौर का एक राजनीतिक उपन्यास है। मनुष्यता और भारतीयता के पक्ष में दिया गया एक उपन्यासकार का हलफ़नामा है। इस उपन्यास की ताक़त भारतीय सामासिकता और उसके विग्रहकारी शक्तियों की कार्य प्रणाली और उसकी सामाजिक प्रक्रिया को, उसकी गतिकी में पकड़ने में है।

उपन्यास की शुरुआत ही रुलाई से होती है और अंत भी। पूरे उपन्यास के मूल में रुलाई है। बेबस रुलाई जिसे रणेन्द्र 'गूँगी रुलाई' कह रहे हैं। यह वैसी ही रुलाई है जिसे हमारी ओर 'कपसना' कहते हैं। या आप इसे 'जबरा मारे और रोने ना दे' वाली बात से भी समझ सकते हैं। इस रुलाई को सत्ता-संरचना ने संभव किया है, जो वस्तुतः अमूर्त्त होते हुए भी हर जगह मूर्त्त और क्रियाशील है। 'हजार-हजार बाहों वाली' सत्ता-संरचना, जिससे लड़ना किसी व्यक्ति के लिए तक़रीबन असंभव है। इस लड़ाई में सत्ता को अपना 'लक्ष्य' चुनने की छूट है। वह अपने लक्ष्य के संधान में अचूक है। सत्ता के बरअक्स उसके लक्ष्य के पास बहुत सीमित विकल्प हैं। जीवित रहने की बुनियादी शर्त्त आत्म-समर्पण और सत्ता-संरचना द्वारा निर्धारित यातनाओं का आत्म स्वीकार है। यदि आप इसे स्वीकार नहीं करते तो गोविन्द पानसरे, एम॰

एम॰ कलबुर्गी, नरेन्द्र दाभोलकर, गौरी लंकेश, फादर स्टेन स्वामी वाली गति को प्राप्त हो सकते हैं। या फिर भीमा कोरेगाँव के मामले में बंद राजनीतिक बंदियों को याद कर लें। इससे हमारे दौर की अमूर्त्त राजनीतिक सत्ता की ताकत का अनुमान कर सकते हैं कि वह कितनी हिंसक और आततायी हो सकती है। इन कारणों से मैं इसे राजनीतिक उपन्यास कह रहा हूँ।

रुलाई इस उपन्यास का प्रस्थान बिन्दु है। रुलाई को साकार करने वाली क्रियाशील शक्तियों और उनके द्वारा निर्मित की जानेवाली परिस्थितियों को इस उपन्यास में घटित होते देखा जा सकता है। कैसे अमू अपने रुदन में अकेले रह गई है, कर दी गई है। वली दकनी के मज़ार का ज़मींदोज़ होना भी इस उपन्यास का प्रस्थान बिन्दु है। रणेन्द्र की ख़ूबी यह है कि वे एक परिवार को भारतीय सामासिक संस्कृति के उदाहरण के बतौर प्रस्तुत करते हैं। सदियों से अर्जित सामासिकता के विग्रह में शामिल ताक़तों को भी वे लेकर आते हैं। इस तरह एक ही परिवार हिन्दुस्तानी तहज़ीब का पर्याय भी दिखता है। और उस परिवार के विघटन के जरिए वे देश के सामासिक ताने-बाने के विघटन को भी रेखांकित करते हैं। एक परिवार को केन्द्र में रखकर इतिहास के चक्र के इस कदर घूमते हुए दिखाना आसान काम नहीं है। इसलिए उपन्यास की संरचना पर गौर करें तो पायेंगे कि उपन्यास में एक साथ सामासिकता के अर्जन का इतिहास भी है और उसके विघटन का समकाल भी है। उपन्यास एक साथ अतीत और वर्तमान दोनों में आवाजाही करता है। अतीत और वर्तमान में आवाजाही की युक्ति को रणेन्द्र के अन्य दोनों उपन्यासों में भी देखा जा सकता है। वैचारिक प्रतिरोध वाले कथा साहित्य में इस शिल्पगत युक्ति का इस्तेमाल अन्य उपन्यासकारों के यहाँ भी देखा जा सकता है। इस युक्ति की एक सीमा यह भी है कि यह घटनाओं का चुनाव अपने कथ्य के हिसाब से करती है। यह अपने चुनाव में सचेत तौर पर राजनीतिक होती है। यदि अपने चुनाव में वह कलात्मक रचाव का निर्वाह नहीं कर पाती है तो उसकी पठनीयता प्रभावित होती है और राजनीति उपन्यास की सतह पर तिरती दिखती है। इसलिए इस युक्ति का इस्तेमाल भी भरपूर रियाज़ की माँग करता है। अभ्यास के बिना इसे साकार करना संभव नहीं है।

उपन्यास के आरंभ में रुलाई से पहले एक कुर्सीनामा मौजूद है। कुर्सीनामा एक अर्थ में वंशावली। कुर्सीनामा एक दिन में तैयार नहीं होता है। पीढ़ियाँ खर्च हो जाती हैं। उपन्यास इस 'कुर्सीनामा' और 'मौसिक़ी मंजिल' के बनने और उजड़ने दोनों की दास्तान बयान करता है। यह दोनों स्वाभाविक तरीके से नष्ट नहीं हो रहे हैं, बल्कि उसे राजनीतिक तौर पर मटियामेट किया जा रहा है। उनका गुनाह उनकी अर्जित सामासिकता है, जो राजनीतिक झूठ के प्रचार और प्रवाह में बाधक है क्योंकि एक पूरी की पूरी वंशावली मौजूद है। सामासिकता का साक्ष्य मौजूद है। इसलिए झूठ को सच साबित करने के लिए उस वंशबेल को नष्ट करना आवश्यक है। उस वंशबेल को नष्ट करना एक अर्थ में इतिहास को नष्ट करना है। क्या यह अलग से कहने की बात है कि इतिहास किस कदर आज की सांप्रदायिक राजनीति के निशाने पर है। सांप्रदायिक इतिहास की राह में आनेवाला कोई भी सामासिक इतिहास, सामासिक संस्कृति, सामासिक परिवार जिस गति को प्राप्त होगा, उपन्यास उस गति और प्रक्रिया को संबोधित है। पूर्व के कुर्सीनामा को ज़मींदोज़ करना और वैसे किसी नये कुर्सीनामा के निर्मित होने की संभावना पर अविलंब विराम लगाना प्रतिगामी शक्तियों का बुनियादी राजनीतिक दायित्व-सा हो गया है। 'लव-जिहाद' के नाम पर पूरे देश में चलनेवाले मुहिम को गौर करें तो एक राजनीतिक दल के एजेंडे में प्राथमिकता में कौन-सी बातें हैं। उपन्यास इस बिन्दु को भी क़ायदे से उठाती है।

यह उपन्यास घृणा, द्वेष और अफवाह फैलानेवाली राजनीति और उसकी कार्य पद्धति

को सामने लेकर आती है कि आखिर चीजें घटित कैसे होती हैं? कैसे राजनीति किसी ख़ास मक़सद के लिए चीज़ों को डिजायन करती है। कैसे सामने आये बग़ैर वह एक ख़ास किस्म की मानसिकता को निर्मित करने में कामयाब होती है? कैसे तमाम संवैधानिक संस्थाओं के होते हुए भी चुनिंदा तरीक़े से सत्ता अपने नागरिकों के मन में भय को बोने में कामयाब होती है? कैसे वह दिन के उजाले में एक बड़ी आबादी को लोकतांत्रिक अधिकारों से वंचित करने में सफल है? कैसे लोकतंत्र के भीतर से फासीवाद जन्म लेता है? इसके लिए सत्ता को प्रत्यक्षतः सामने आने की आवश्यकता भी नहीं है। उसके पास इतने संगठन, कार्यकर्ता और गुर्गे हैं कि कब कौन किस रूप में कहाँ हमलावर हो उठे, इसका अनुमान कर सकना कठिन है। उसके 'बैक-अप' के लिए एक अदृश्य सत्ता हर कहीं मौजूद है। उनसे पार पाना कठिन है। 'स्टेट' और 'नॉन स्टेट प्लेयर' की यह ऐसी जुगलबंदी है, जिसके लिए कुछ भी असंभव नहीं है। एक व्यक्ति के लिए उससे पार पाना लगभग असंभव हो गया है। हत्या तक को अंजाम देने में इन्हें गुरेज़ नहीं है। मनचाहे कृत्यों को अंजाम देने का एक अदृश्य तंत्र इन्होंने विकसित कर लिया है, यह इस किस्म की राजनीति की एक बड़ी उपलब्धि है और जब कभी उसका कोई सिरा दृश्यमान हो उठता है, तब उस अदृश्य समांतर संरचना की विराटता और भयावहता दोनों का बोध होता है। तब यह अहसास होता है कि जो चीज़ें नामालूम तरीक़े से हमारे आस-पास घटित हो रही हैं, वह उतनी नामालूम नहीं हैं। इन घटनाओं की 'क्रोनोलॉजी' और 'फंक्शनिंग' को रणेन्द्र ने अपने इस उपन्यास में दर्ज किया है। इस उपन्यास से ही एक टुकड़ा साझा कर रहा हूँ, जिससे आप उपरोक्त बातों का मिलान कर सकें। ''इन वारदातों को अंजाम देने की प्लानिंग बड़ी जबरदस्त थी। हर वारदात में आठ से दस टीमों ने अपनी-अपनी भूमिका निभाई थी, जिनके बीच की कड़ियाँ अभी तक ग़ायब थीं। बन्दूक चलाने की ट्रेनिंग देनेवाली एक अलग टीम थी। इस टीम ने अपने धर्म की नुक़्ताचीनी करनेवालों को सबक सिखाने को बेक़रार लगभग पन्द्रह हज़ार जुनूनी युवाओं को पिछले दो-तीन वर्षों में ट्रेनिंग दी। किन्तु टार्गेट तय करना किसी दूसरी टीम के जिम्मे था। टार्गेट की दिन-रात महीनों रेकी करना तीसरी टीम का काम था। शूटर्स तय करना चौथी टीम की जिम्मेदारी, असलहा पाँचवीं टीम के हाथों, बाइक और वारदात वाले शहर से बाहर निकालने की जिम्मेदारी छठी टीम के कन्धों पर। रेकी करनेवालों के लिए किराये के मकान की व्यवस्था सातवीं टीम और शूटर्स के लिए ठहरने की व्यवस्था आठवीं टीम के जिम्मे। इन टीमों के लोगों में आपस में न कोई जान-पहचान थी और न कोई सूचना साझी की गई थी। सारी टीमों ने अलग-अलग अपने काम को बख़ूबी अंजाम दिया था। मोबाइल का उपयोग भी नहीं के बराबर किया गया था। गिरफ़्तार लोगों में एक डॉक्टर, एक आई. टी. प्रोफेशनल से लेकर छोटे शहर-कस्बे के छिनतई करनेवाले तीन छोकरों और दो हार्ड कोर क्रिमिनल तक शामिल थे। कोई तालमेल बैठ ही नहीं रहा था। इसलिए पहेली सुलझ नहीं पा रही थी। गोपनीयता इतनी ज़्यादा बरती गई थी कि इन गिरफ़्तार आरोपियों के घर के लोगों को भी नहीं मालूम था कि ये किस काम में लगे हुए थे। मतलब कड़ियाँ अभी पूरी तरह उलझी थीं। एस.आई.टी. को शक 'सुआर्यन जागरण सेना' पर तो था, किन्तु कोई ठोस प्रमाण अभी तक हासिल नहीं हो सका था। मास्टर माइंड अभी तक सात परदों के भीतर आराम से बैठा मुस्कुरा रहा था, अपनी लिस्ट के अनुसार नया टार्गेट तय करता।'' (पृ. 125-126) मास्टर माइंड तो पूरे उपन्यास में सामने नहीं आता है। मास्टर माइंड परिदृश्य से ओझल है, पर उसकी टीमें फ़ील्ड में उनके काम को अंजाम दे रही हैं। हालिया राजनीति के इस 'मॉडस ऑपरेंडी' को उपन्यास हमारे संज्ञान में लाने का काम करता है। इसके लिए वह जिस कथ्य का चुनाव

करता है, वह त्रासद है। वह त्रासदी यूँ तो एक परिवार के स्तर पर उपन्यास में घटित होती है, लेकिन वह परिवार का अतिक्रमण करते हुए 'गंगा-जमुनी तहज़ीब' की त्रासदी में परिणत हो जाती है। इस देश ने शताब्दियों में संस्कृति का जो समावेशी चरित्र या बोध अर्जित किया था, अचानक समकाल कैसे उसके प्रति असहिष्णु और हमलावर हो गया है, उपन्यास उसे उसकी ऐतिहासिकता में पकड़ने की कोशिश करता है। यह इस उपन्यास की एक उपलब्धि है।

उपन्यास के केन्द्र में एक परिवार है, जिसके पुरखे संगीत-साधना से जुड़े रहे। संगीत के अलग-अलग घरानों से इतर वे उसकी अलग-अलग परंपराओं से सम्बद्ध रहे हैं। और प्रकारान्तर से वे न केवल एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं बल्कि वैवाहिक संबंधों के ज़रिए सुर और संगीत के एक विलक्षण विरासत का पर्याय बन जाते हैं। इस विरासत में समावेशन की प्रक्रिया रही है, वह समावेशन जो हिन्द की विशेषता रही है। इस तरह देखें तो एक परिवार हिन्दुस्तानी संगीत और संस्कृति का पर्याय हो जाता है। उस विरासत, उसके दावे और उसके ज़िन्दा साक्ष्यों से एक ख़ास किस्म की राजनीति को परेशानी है, तो वह राजनीति उस विरासत, संस्कृति और उसके साक्ष्यों को इतिहास और वर्तमान के पन्नों से मिटाने पर आमादा है। ताकि भविष्य में उसका कोई अवशेष और दावा बचा न रह जाये। राजनीति इस विरासत और तहज़ीब के आखेट पर निकली है। और एक-एक कर के वह शिकार करते जा रही है। उस आखेट से बचने का कोई रास्ता नहीं है। मरना ही नियति है। इस अनवरत मरण का क्रंदन ही है—'गूँगी रुलाई का कोरस'। लेकिन यह रुदन केवल उस परिवार का न होकर एक देश की साझी तहजीब और साझी विरासत का बन जाता है। कथा के मंच पर एक-एक कर के चरित्र प्रकाशित होते हैं और बुझते चले जाते हैं। हर बुझते चिराग़ के साथ अँधियारा गहराता चला जाता है। 'मौसिक़ी मंजिल' के मर्द एक-एक कर के मारे जा रहे हैं और औरतों को जिम्मे रुदाली होना ही बचा है। उपन्यास के अंत मे शबनम खड़ी है, लेकिन कहानी आगे बढ़ी होती तो यह कहना मुश्किल है कि उसका हश्र क्या होता? यद्यपि वह खुद एक लंबा रास्ता तय करके और उसकी भारी क़ीमत अदा करके वहाँ पहुँची है। क़ीमत हर पीढ़ी ने किसी न किसी रूप में चुकायी है। उन सबके संघर्षों की कहानी यहाँ है। लेकिन जो बात इसे थोड़ी ज़्यादा ख़ास बनाती है, वह इस विषय पर की गई रणेन्द्र की मेहनत। संगीत जैसे विषय को प्रतिरोध का आख्यान में बदलने के लिए जिस सुचिंतित तैयारी की आवश्यकता बनती थी, उसको अपने जानते वे बिना किसी रियायत के पूरा करते हैं। इसी से वे शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत की सामाजिकता और उसके ताने-बाने को समग्रता में सामने लेकर आते हैं। उनके आपसी संबंधों पर बात करते हैं। एक ओर शास्त्रीयता का आग्रह है तो दूसरी ओर लोक में रचे-पगे बाउल और नाथपंथी जोगी-फकीर हैं। इनका प्रत्यक्षीकरण 'जक्स्टापोजिशन' संगीत के मामले में चिंतन के नये गवाक्ष तो खोलता है, संगीत को देखने की एक नयी दृष्टि भी प्रदान करता है। संगीत में जो शास्त्रीयता का आग्रह है, उसके आशय की परतों को रणेन्द्र अंतर्विरोधों के साथ सामने रखते हैं। लोक संगीत में समूह से जुड़ने या समूह को जोड़ने की जो एक नैसर्गिक ताक़त है और भी उसकी ख़ूबियों को पूरी बारीकी के साथ रणेन्द्र ने उकेरा है। बल्कि भारतीय संगीत के कई अनचीन्हे और अपरिचित पहलुओं को वे सामने लेकर आते हैं, विशेषकर बाउल और जोगियों के संदर्भ में। साम्प्रदायिक दृष्टि से कला और संस्कृति की शुद्धता का देशव्यापी अभियान जो इन दिनों पूरे देश में जारी है, उसके प्रत्याख्यान के लिए रणेन्द्र संगीत को लेकर आते हैं। संगीत में आप इस सांप्रदायिक विभाजन को कैसे अंजाम देंगे? रागों को कैसे शुद्ध करेंगे? जो राग ही समावेशन की प्रक्रिया से उपजे हैं उनको कैसे अलगायेंगे? जिनको विकसित होने में शताब्दियाँ लगी हों

उन्हें आप एकाध दशक में कैसे ठिकाने लगा देंगे? प्रतिगामी ताकतों के लिए यह चुनौती और भी कठिन हो जाती है जब उनके खिलाफ उदार और प्रगतिशील हिन्दुओं का एक बड़ा तबका मुक़ाबले के लिए खड़ा है। साझी तहज़ीब की जड़ें इतनी गहरी हैं कि इसकी फ़सल कोई चाहे भी तो रातों-रात काट नहीं सकता, हाँ जला जरूर सकता है, बर्बाद कर सकता है। लेकिन अगली सुबह फिर उसे जोतने-बोनेवाले हाथों की पर्याप्त संख्या मौजूद है।

विषय का चुनाव और उसे बरतने की रणेन्द्र की प्रविधि में शोध की अहम भूमिका रहती आई है। इस बात की तस्दीक़ उनके पिछले उपन्यासों से की जा सकती है। चूँकि ऐसे हस्तक्षेपकारी लेखन के मूल में किसी विचार को स्थापित करना होता है। तो कई बार इतिहास, समाज, राजनीति, मिथक, स्मृति, लोक आदि से अलग-अलग अनुशासनों से चीज़ें लेनी होती हैं। इन्हें कथा में पिरोने के क्रम में कई बार पठनीयता बाधित होती है। कई बार कथा अतिकथन का भी शिकार होती है, एक अनापेक्षित विस्तार भी दिखता है। रणेन्द्र अपने पिछले उपन्यासों की तुलना में इन मोर्चों पर थोड़ा ख़ुद को सँभाल तो सके हैं। लेकिन वह थोड़ा ही है। अच्छी बात यह है कि वे इसको निबाह ले गये हैं। विचारों को कथावस्तु में रूपान्तरित करने की दिशा में वे आगे बढ़े हैं। कथा का जो वितान उन्होंने चुना था और उसे जिस ढंग से बरतने की चेष्टा उन्होंने की है, उसे देखते हुए फिलहाल तो उसकी सराहना ही की जा सकती है।

रणेन्द्र के पिछले उपन्यासों पर गौर करें तो पायेंगे कि वे कहानी के धरातल पर कुछ जादुई-सा बुनने का जतन करते हैं। यह पूरी कथा के धरातल पर न होकर कुछेक दृश्यों के धरातल पर होता है। इस उपन्यास में भी दो-तीन प्रसंगों में उन्होंने यह कोशिश की है। जैसे गोरखनाथ की परंपरा के फकीर जोगी के संदर्भ में वे लिखते हैं कि ''इस औलिया फकीर के साथ एक शाप एक बद्दुआ छाया की तरह साथ-साथ चलती थी। देश में कहीं भी कोई बलवा होनेवाला होता, तो उनके एकतारे को उसकी ख़बर लग जाती। फिर जोगियों का झुंड चल पड़ता।'' (पृ. 16) इस बद्दुआ या शाप को उन्होंने उपन्यास में निभाया है, ज़िक्र कर के छोड़ नहीं दिया है। बल्कि इस शाप का जो समाहार किया है, वह सर्जनात्मक प्रतिरोध का एक सुंदर उदाहरण बन पड़ा है। कमोल जब नानू की हत्या के बाबत अब्बू से पूछता है कि 'नानू के कत्ल की ख़बर आपके इकतारे और आपको को क्यूँ नहीं हुई?' इसके जवाब में वे कहते हैं कि ''पहले छह माह-साल भर पर कभी-कभी वारदातें हुआ करती थीं। ...इसीलिए साल-छह महीने में कभी-कभी इकतारा काँपता तो हम उस कम्पन के सन्देश को बाँच पाते। अब तो लगता है कि नफ़रत किसी खर-पतवार की तरह हर कहीं फैलती-पसरती जा रही है। इसे काटने के लिए भी किसी ख़ास मुहूर्त का इन्तज़ार नहीं किया जा रहा। ...अब ऐसे माहौल में हमारा इकतारा दिन-रात काँपता रहता है। उसकी तरंगों को पढ़ना ही कठिन हो गया है।'' (पृ. 94-95) दूसरा प्रसंग रूपक गढ़ने का है। प्रतीक रचने का है। इस रूपक को गढ़ने के लिए रणेन्द्र जिस प्रतीक का इस्तेमाल करते हैं, वह भी उनकी सर्जनात्मकता का अच्छा उदाहरण है। सुआर्यन सेना के बी.बी. गुप्ता के गाल पर एग्जिमा (सिबोरिक डॅर्मटाइटिस) है, जो कई कारणों से फैल सकता है। अपने उस संक्रामक रोग को गुप्ता अपने लफ्फ़ाज़ी के बल पर अपने हृदय में उबलते धर्म, जाति और राष्ट्र प्रेम का प्रतीक घोषित कर देता है। यह प्रसंग अपने आप में बहुध्वन्यात्मक है। एक तो यह दर्शाता है कि धर्म, जाति और राष्ट्र के नाम पर मदांध लोगों को कुछ नहीं दिखता है। एक न्यूनतम बुनियादी बुद्धि का भी उनमें अभाव होता है। दूसरा, एग्जिमा जिस ढंग से संक्रामक और त्वचा पर फैलनेवाला रोग है। इस विचारधारा को मानने वालों का प्रसार भी वैसे ही तेजी से हुआ है और यह है भी संक्रामक। तीसरा यह कि यदि आप प्रभुत्वशाली हैं तो दाद-खाज को भी सौंदर्य में बदलने की क्षमता रखते हैं। एक तीसरा प्रसंग है जो बहुत

कारगर तो नहीं है लेकिन विचारणीय है। और वह है कि एक पवित्र पशु के स्थान पर 'कच्छप सेना' की परिकल्पना। 'कच्छप सेना' अपनी व्यंजना में कारगर है। लेकिन कच्छप के मांस को लेकर जो बवाल है वह यथार्थ की संगति में नहीं है। यहाँ रणेन्द्र की लेखनी में उस अनकहे सेंसरशिप का भय दिखता है, जो उस पवित्र पशु को कछुए से रिप्लेस करती दिखती है। (इस सेंसरशिप को अब कोई भी विचारवान या संवेदनशील व्यक्ति अपने रोजमर्रे के जीवन में लगातार महसूस कर रहा है। बल्कि उपन्यास में भी मुसलमान निपट मुसलमान होकर भारतीयता के दावे को प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। सामासिकता को उनके भारतीय होने के सबूत के बग़ैर प्रस्तुत किया जा रहा है।) ख़ैर कच्छप सेना वाला प्रसंग दूसरे धरातल पर अर्थपूर्ण हो जाता है कि कछुआ जैसे ख़तरे का संकेत पाकर ख़ुद को अपने खोल में बंद कर लेता है, वैसे ही यह सेना भी ख़तरा मोल लिए बिना छिप कर काम करना पसंद करती है। और जब वह अपने खोल में बंद हो तो आप उसका कुछ नहीं कर सकते हैं। कच्छप सेना के लिए मजबूत कवच का काम कौन कर रहा है? यह सवाल उठता है।

एक उपन्यास में कई अन्तःसूत्र होते हैं, जो उसकी औपन्यासिकता को पुष्ट करते हैं। यह उपन्यास भी ऐसे अनेक अन्तःसूत्र को अन्तर्वस्तु में धारण किये हुए है। संगीत की पृष्ठभूमि में राजनीति का प्रत्याख्यान रचते हुए उन्होंने इसके अलग-अलग तन्तुओं को यथाप्रसंग जगह दी है। उपन्यास के राजनीतिक पक्ष पर पर्याप्त चर्चा हो चुकी है तो थोड़ी बात संगीत वाले पहलू पर भी कर दे रहा हूँ। रणेन्द्र रेखांकित करते हैं कि संगीत को ख़तरा केवल कट्टरपंथियों से नहीं बल्कि पूँजी से भी है। इसके लिए वे शबनम और कोक स्टूडियो के फ्यूज़न वाला प्रसंग लेकर आते हैं। संगीत को अवसाद से निकालने वाली कला के बतौर वे सामने लेकर आते हैं। शास्त्रीय संगीत ने अपने आभिजातपन को बनाये रखने के क्रम में क्या-क्या गँवाया है, वे इसकी भी पड़ताल करते हैं। लोक संगीत की ताक़त को शिनाख़्त करते हैं। रागों में सामासिकता और समावेशन की प्रक्रिया को इतिहास के पन्नों से ढूँढ कर लाते हैं। संगीत को समग्रता में देखते हुए ही वे प्रतिरोध का साहित्य रचते हैं। राजनीति और संगीत के इन दो सिरों के बीच मानवीय संवेदनाओं की ऊष्मा है जो उपन्यास को थामे रहती है। शबनम, कमोल और कालिन्दी की कहानी है। बड़ो नानू और बड़ो बाबा की कहानी है। वागेश्वरी देवी और पंडित शिवशंकर की कहानी है। अमू और खुर्शीद शाह जोगी की कहानी है। इनकी कहानियों के बीच से रणेन्द्र राजनीति को निशाने पर लेते हैं। इन कहानियों को कहते हुए वे प्रकारांतर से अख़बारों के शेयर के ख़रीदे जाने की, जाली पेपर के जरिये बिल्डर के द्वारा ज़मीन को विवादित बनाने की, ख़बरों को फ्रेम करने की, व्हाट्सएप के जरिये माहौल बनाने की, बढ़ते लुम्पनिज्म का संज्ञान लेते हैं। वे बताते हैं कि अब शत्रुता की परिभाषा बदल गयी है। शत्रुताएँ व्यक्तिगत और मूर्त्त न होकर संरचनागत और अमूर्त्त हो गयी हैं। यदि सत्ता-संरचना के निशाने पर आप आ गये तो ठिकाने लगा दिये जाएँगे। अचानक से आपका जीवन घटनाओं की ज़द में आ जाएगा। उसे समझते-समझते और उसकी गिरहें सुलझाते-सुलझाते आप चूक जा सकते हैं। एक ही तरीक़ा है कि लामबंद हुआ जाए, संगठित हुआ जाए। यथासामर्थ्य प्रतिकार किया जाए, खड़ा हुआ जाए। अन्यथा हम अपनी विरासत की ख़ूबसूरत चीजों को धीरे-धीरे गँवाते चले जाएँगे।

गूँगी रुलाई का कोरस / रणेन्द्र / राजकमल प्रकाशन, दिल्ली / ₹ 250

संपर्क : 402, मीडास रेसीडेन्सी, लाल कोठी नंबर-2, पूरनदहा, देवघर (झारखंड), पिन-814112, मो-7979847926

'दूसरा जीवन' : स्वतन्त्र मानस का बेबाक विचरण

रेनू त्रिपाठी

आज जब साहित्य को विचारधाराओं में बाँटकर उसके टुकड़े किए जा रहे हैं, ऐसे समय में गिरधर राठी उस लेखिका की जीवनी लेकर आए हैं, जिनके पूरे जीवन में विरोध और अस्वीकार की तपन को महसूस किया जा सकता है। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की जो राह कृष्णा सोबती ने चुनी, उसे तराशा भी उन्होंने स्वयं ही। उनकी प्रत्येक रचना मानवीय सरोकारों में पगी होती है। विषय, भाषा और शिल्प की त्रिसंधि एक नया तेवर लिए होती है। गिरधर राठी उनके जीवन-दर्शन को विचारों में गूँथकर संपूर्णता में प्रस्तुत करने का जोखिम उठाते हैं क्योंकि सोबती जी के निराले अंदाज़, उनकी बेबाकी, प्रतिरोध की शैली सब कुछ को एक साथ समेटते हुए उनके अन्तर्मन की मार्मिकता को स्पर्श करना निश्चय ही बड़े साहस का काम है। वैसे भी, जीवनी या आत्मकथा में एक अलग सा आकर्षण होता है जो विविध अन्तः-बाह्य झंझावातों के बीच से व्यक्तित्व के धैर्य, उसकी गहराई को नाप सकता है और साहित्य-रस का स्वाद तो उसमें मिलता ही है।

कृष्णा जी के दृष्टिकोण में एक चिर नवीनता है। वह रचना-दर-रचना एक नए नज़रिए से समाज की पड़ताल करती हैं। एक नए नजरिए से स्त्री जीवन को पेश करती हैं और इस नवता में उनकी भाषा उनका खूब साथ निभाती है। कृष्णा जी जिन्हें 'इंटेन्सली प्राइवेट पर्सन' माना जाता रहा है, उनके निजीपन के भीतर राठी जी ने सधे कदमों से प्रवेश किया है। कभी उनकी रचनाओं के ज़रिए, कभी उनसे बात-चीत के अंशों में तो कभी उनके परिचितों-मित्रों के अनुभव-सूत्रों से। और इस क्रम में उनका जीवन कहीं कोमल तो कहीं चोखे-चटक रंगों के साथ झिलमिलाने लगता है। 'दूसरा जीवन' मूलतः एक विस्तृत कैनवास पर कृष्णा जी के पूरे जीवन की छाप है।

उनकी सोच का दायरा बहुत सघन था। केवल स्त्री-जीवन की व्यथा में सिमटकर ही वे नहीं रहीं। उनके व्यक्तित्व से उनके रचनाकार मानस को अलग करके देखना उनके साथ

न्यायपूर्ण नहीं होगा क्योंकि दोनों स्तरों पर वे मानवीय स्वतंत्रता के पक्ष में खड़ी होती हैं। आज़ादी का स्वप्न, गुलामी के दिनों की टीस और आज़ादी के बाद एक ऐसा समाज जो समानता और भाईचारे के मूल्यों से विलग न हो—यह था उनके व्यक्तित्व को इतना संघर्षशील बनाने वाला संकल्प। राष्ट्र की आत्मा का साक्षात्कार उनकी आत्मा का सर्वाधिक सबल पक्ष है। उनका अन्तर्मन 'धन्य-धन्य पुष्प-भरा, आमार देश वसुंधरा' के भाव से पुलकित था। उनके भीतर एक जुनून था जो उन्हें कठोर से कठोर अवसरों पर भी टूटने नहीं देता था। वैसे भी जिस शख़्सियत ने बचपन से ही जन्मस्थली से निर्वासन और फिर संघर्षों के न मिटने वाले दौर देखे हों, झुकना और टूटना उसके लिए हास्यास्पद ही लगता। राठी जी ने उन स्थलों की पहचान की है जब उनके लेखन में गुलामी की टीस उभर ही आती है, 'सर्दियों में ख़ूब बर्फ़ के गोले बनाते और गोल कमरे में रखे टब में इकट्ठा कर लेते। खिड़की में से वो नज़ारा भी अद्‌भुत लगता। एक बड़े मैदान में जमी बर्फ़ पर अंग्रेज़ मेम साहब घण्टों डांस करते। हम खिड़की में से देख-देखकर न अघाते। वहाँ जाकर डांस करने की इजाज़त हिन्दुस्तानी जोड़ों को नहीं थी। हम बच्चे तब तक समझने लगे थे कि हम हिन्दुस्तानियों और अंग्रेज़ों में क्या फ़र्क़ है। हिन्दुस्तान हमारा देश है लेकिन इस पर अंग्रेज़ों की हुकूमत है।' (पृ. 40)

राठी जी ने कृष्णा सोबती के व्यक्तित्व और कृतित्व के मर्म को बड़ी सरलता से एक शब्द में पिरो दिया है—'निर्भय' जो कि देश की आज़ादी का मूल मंत्र था। कृष्णा जी का रचनाकार व्यक्तित्व भी इसी निर्भयता का मूर्त रूप है। वे लिखते हैं : 'साहित्य और जीवन किस क़दर गुत्थमगुत्था होते हैं, इसका कुछ आभास यहाँ मिलेगा। रचनात्मकता और जुझारूपन। रचना के लिए आत्मसंघर्ष और जीवन तथा देश-दुनिया के लिए, मूल्यों के लिए मुखर संघर्ष। मानवीय, स्वतंत्र, समतापूर्ण, सेक्यूलर, लोकतांत्रिक, भविष्योन्मुख, उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी भारतीय राष्ट्र की परिकल्पना कृष्णा सोबती की रग-रग में बसी थी। गुलाम भारत की बेड़ियों का, अन्याय और दमन का तीखा एहसास और उसके प्रतिरोध का उत्कट संकल्प बालपन से ही उनके भीतर था। आम बातचीत में भी लेखकीय गरिमा, वैचारिक और अभिव्यक्तिगत स्वातंत्र्य, अनाचार, कदाचार की अस्वीकार्यता सहसा उभर आती थी। अकूत बलिदानों के बाद प्राप्त हुई भारत की आज़ादी का, संविधान की उज्ज्वलता का, परस्पर बिना किसी भेदभाव के भाईचारे का जो स्वप्न उनकी जागृत आँखों में उमड़ता रहता था...वैसा अविरल देश प्रेम... अपनी अच्छी-ख़ासी लम्बी इस जिन्दगी में किसी और रचनाकार की रोज़मर्रा की बातचीत में मुझे देखने-सुनने को नहीं मिला।' (प्रस्तावना, पृ. 13)

आज़ादी की लौ उनके भीतर सुलगती रही है। यह उनके व्यक्तित्व का अमिट पहलू है जो उनके रचना-कर्म में भी पात्रों के भीतर प्रत्यक्ष होता रहता है। विभाजन की पीड़ा उनकी अनेक रचनाओं में रिसती रहती है। कृष्णा जी के लिए विभाजन एक ऐसी विभीषिका थी जिसकी गूँज से हम बहुत बाद तक भी मुक्त न हो पाये। एक डार से बिछुड़कर दूसरी तक पहुँचने की जद्‌दोजहद उनके पात्रों में ग़ज़ब का साहस भर देती है। राठी जी ने भी माना है कि वे अधिकांशतः अपनी रचनाओं में जिजीविषा का ध्वज उठाती रही हैं। उनकी रचनाओं में बिखरे सूत्रों से वे उनकी संवेदनशीलता की थाह मापते हैं। एक ऐसा निजत्व जो अपनी ज़मीन से अलग होकर नयी जगह जमता है पर पुरानी याद बराबर बनी रहती है। जिसने आज़ादी का स्वप्न सबके साथ मिलकर देखा है और आज़ादी मिलने के बाद उन स्वप्नों के दरकने को भी गहराई से महसूस किया है। यह दरकन जाने-अनजाने उनके भीतर साहस, चुनौतियों का स्वीकार और अडिग रहने का आत्मविश्वास भी भरती चलती है और वे अपने लेखकीय जीवन में विरोध

और हानि झेलते हुए भी स्वत्व को खोना नहीं चाहतीं। राठी जी आरम्भ में ही कहते हैं कि वह इस जीवनी के बहाने कृष्णा सोबती के आलोचकों और पाठकों को आज़ादी का एक और स्वप्न अर्पित कर रहे हैं, मानो हमारी आँखों में वह सपना संवेदनशून्यता की भेंट चढ़ चुका है और उसे फिर से जीवंत करने की यह पुरज़ोर कोशिश है। 'दूसरा जीवन' उस स्वप्न के पुनर्नवता प्राप्त करने का संकेत है।

सोबती जी की रचनाओं में उनका निर्भीक, निडर व्यक्तित्व विराजता है। इसीलिए उनके नारी पात्र लीक से हटकर अपना रास्ता तय करते हैं और विद्रोह करने से परहेज नहीं करते। स्त्री रचनाकारों की पंक्ति में यह निर्भीकता उन्हें भीड़ से अलग एक विशिष्ट पहचान देती है। उनकी साफ़गोई उनके रचना-पात्रों की बेबाक अभिव्यक्ति में महसूस की जा सकती है। इसी के बल पर समकालीन लेखक मंच पर वे अपनी प्रबल उपस्थिति दर्ज कराती हैं। वस्तुतः जो रचनाकार जितना ही भावुक होगा वह उतना ही अपनी भावाभिव्यक्ति में स्वतंत्र और निष्पक्ष होगा। कृष्णा जी के व्यक्तित्व में यह अद्‌भुत और सुखद संयोग है। बचपन से ही भावुक कृष्णा जी अपने अनुभव साझा करती हैं : 'मोहर्रम, ताजिए, मातम मनाते लोगों की पीठ पर चाकू और कोड़ों की स्वतः मार से निकलती खून की लकीरें... भयभीत बच्चे, अन्त तक टकटकी लगाए देखते बच्चे, उस दृश्य को देख आती हुई रूलाई...' (पृ. 41) वहीं बहुत कुछ अनकहा, अव्यक्त सा है जो वे किसी के साथ नहीं बाँटती। मसलन ट्यूनीसिया की यात्रा के दौरान एक खोह में वे अपने मन की खोह में समा गयी थीं। अनुभूति की यह गहराई अथाह है जिसे कोई माप नहीं सका।

अपने को अधिक न खुलने देने वाली कृष्णा जी का मन जब-तब संवेदनाओं की कचोट से उचट सा जाता। एक बार ननिहाल से मौसी के यहाँ जाते समय घोड़े से गिर जाने पर उनकी कमर में चोट लगी और वे अस्पताल में भर्ती हुईं । वहीं पर नफ़ीसा नाम की बच्ची (जो हड्डियों की टी॰बी॰ की शिकार थी) से गहरा जुड़ाव हुआ। वे रोज़ उसे काग़ज़ के फूल बनाकर देतीं। नफ़ीसा का ज़िक्र करते हुए वे कहती हैं : 'सरवर, इसके बाद मैंने कभी काग़ज़ के फूल नहीं बनाये'। यह पंक्ति अपने आप में नफ़ीसा की मौत की दास्तां बयान कर जाती है। कागज के फूलों का विसर्जन नफ़ीसा की अन्तिम विदाई है। एक हद तक अन्तर्मुखता से युक्त सोबती जी के साथ व्यतीत क्षणों में जब भी अवसर मिला, राठी जी ने कुछ उनके जीवन के विभिन्न प्रसंगों से, कुछ उनकी रचनाओं से और जीवन को लेकर उनके अनोखे अन्दाज़-ए-बयाँ से उनकी इस जीवनी को विशिष्ट रूप-रंग देने की कोशिश की है।

कृष्णा जी अपने शब्दों के बेहद निकट हैं और यह निकटता उनके शब्दों की प्राणवत्ता बढ़ा देती है। उनकी भाषिक क्षमता की प्रशंसा बार-बार हुई है और 'स्त्री भाषा' की संरचना में उनकी भाषा की एक विशिष्ट भूमिका है। गिरधर राठी उनकी भाषा की सामर्थ्य के सम्बन्ध में डॉ॰ अनामिका के वक्तव्य का उल्लेख करते हैं : 'पहला परिवर्तन जो कृष्णा सोबती की भाषिक लय से स्पन्दित स्त्री-भाषा ने हिन्दी साहित्य में घटित किया है, वो ये कि अपने रूपकों में, टोन में, लय में यह अधिक अन्तरंग, अधिक अनौपचारिक, अधिक उच्छल और हँसमुख हुई है।' (पृ. 173) शब्दों के साथ उनका रागात्मक सम्बन्ध है। उन्होंने शब्दों के बीच के मौन को पकड़ने की बात श्रेष्ठ अनुवाद के सन्दर्भ में अनन्तमूर्ति जी से कही थी जो इस बात का संकेत है कि वे स्वयं शब्दों की बुनावट और उनके बीच पसरी भावनाओं को लेकर कितना सजग थीं। वे जो भी करतीं बारीकी से, परफेक्शन के साथ ताकि कमी की गुंजाइश न रहे। पुस्तकों के प्रकाशन में जीवनीकार ने उनके इस हुनर को रेखांकित किया है कि कैसे वे पुस्तक

के आवरण, साज-सज्जा जैसी एक-एक चीज़ को लेकर सतर्कता बरतती हैं। राठी जी ने एक स्थान पर कहा है कि कृष्णा जी के शब्द उनके लेखन और जीवन को समझने की कुंजी हैं : 'मैं किसी प्रेरणा या बाहरी दबाव से नहीं लिखती। मैं अपने समूचे होने में, रच कर, पैठ कर जीने की तरह लिखती हूँ। उसी वक्त लिखती हूँ जब लिख डालने के सिवा कोई चारा न रह जाए।' (पृ. 21) यहाँ तक कि वे यह भी स्वीकारती हैं कि काग़ज़ उन्हें लिखने के लिए उकसाते हैं। एक रचनाकार का कागज़ के साथ इतना लगाव सहज प्राप्य तो नहीं।

लेखक उनके पारिवारिक जीवन का भी सहज ब्यौरा देता चलता है। शिवनाथ जी और कृष्णा सोबती की अन्तरंगता का प्रसंग बड़ा आत्मीय बन पड़ा है। एक-दूसरे की पूर्णतः ईमानदार स्वीकार्यता और परस्पर सम्मान का भाव उनके रिश्ते को अर्थपूर्ण बनाता है। जहाँ अपने-अपने मूल्यों और आदर्शों के साथ निजी स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए दोनों एक पथ के सहयात्री बने रहते हैं। यह साहचर्य अनूठा है। वे लिखते हैं : 'कृष्णा जी ने एक-दो बार अपने आप शिवनाथ जी और अपनी दिनचर्या का ज़िक्र छेड़ा था। साहचर्य में उम्र का क्या सवाल? एक-दूसरे की उपस्थिति की ऊष्मा लेकिन आपस में किसी के काम या रूटीन में कोई हस्तक्षेप नहीं। सलाह-मशविरा, हाँ लेकिन कोई ज़बरदस्ती नहीं किसी पर।' (पृ. 90) कृष्णा जी की मित्र श्रीमती अंजलि भान उनके व्यक्तित्व को साफ़ शब्दों में बयान करती हैं। उनकी एक बात जो चौंकाती भी है कि कृष्णा जी भावनात्मक रूप से समृद्ध थीं किन्तु उनके भावों पर मस्तिष्क की मजबूत पकड़ थी। बौद्धिक स्तर पर उनकी ऊँचाई की माप और किन शब्दों में की जाय? इसी क्रम में एक और स्मृति राठी जी के मस्तिष्क में कौंधती है। 'सुकृता पॉल ने अपनी कुछ पेंटिंग्स उन्हें दिखाने के लिए ई मेल की थीं। कम्प्यूटर के स्क्रीन पर तीन चार चित्र देखकर उन्होंने फ़ोन पर कहा कि ये चित्र तो मुक्तिबोध की याद दिलाते हैं। हैरानी की बात यह थी कि सुकृता ने सचमुच मुक्तिबोध की कविताएँ पढ़ते हुए उन्हीं के प्रभाव में वे चित्र बनाये थे, हालाँकि किसी से भी इसका ज़िक्र तक नहीं किया था। अन्य लोगों को भी उन चित्रों में ऐसा कोई सुराग नहीं मिला था।' (पृ. 97)

'मित्र प्रसंग' के अन्तर्गत निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद और सोबती जी की मित्रत्रयी का उल्लेख राठी जी ने इस कदर किया है कि तीनों की विभिन्नताएँ, निजी अभिरुचियाँ और साथ ही साथ प्रतिस्पर्धात्मक धरातल भी खुलकर सामने आ जाता है। कृष्णा जी का आत्म 'हशमत' की संज्ञा लेकर स्मृतियों की रेखाएँ बुनता जाता है जिनमें निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद, नागार्जुन, अज्ञेय, नामवर सिंह, कमलेश्वर, अशोक वाजपेयी, स्वदेश दीपक, नासिरा शर्मा आदि अनेक नामचीन रचनाकारों के साथ बिताए पलों की सहज अभिव्यक्ति हुई है। कृष्णा जी अपने समकालीन अथवा वरिष्ठ लेखकों पर भी लिखती हैं तो लीक से हटकर कुछ कहने में हिचकती नहीं। निर्मला जैन ने उनकी पैनी दृष्टि को खूब सराहा है : 'अन्दाज़ नहीं लगाया जा सकता कि किस घटना का ज़िक्र करते-करते वे व्यक्तित्व या लेखन की किस ख़ूबी या ख़ामी पर सटीक टिप्पणी करके आगे बढ़ जाएँगी—अक्सर चुहलभरे अन्दाज़ में। कभी-कभी व्यंग्य-विनोद की मुद्रा में वे चरित्रों की ऐसी बखिया उधेड़ती हैं कि जिस पर पड़ी हो वह न रो सके, न शिकायत कर सके। तरीका ऐसा कि दाद देने का मन होता है क्योंकि उसमें आपको बदनीयती की शिकायत करने की गुंजाइश शायद ही मिले।' (कथा-समय में तीन हमसफर, पृ. 209)

एक लेखक सत्ता के मकड़जाल से सर्वथा मुक्त रहकर ही राष्ट्र की संस्कृति को जीवंत रख सकता है। कृष्णा जी ने लेखक को संस्कृति के केन्द्र में रखते हुए यह माना है कि उसकी

देयता नागरिकों के प्रति है जिनसे संस्कृति का निर्माण होता है। मुक्तिबोध को लेकर उनकी दृष्टि अलग रही है। वे उन्हें 'भारतीय मन की रचनात्मक ऊर्जा का स्वरूप' मानती हैं। उनकी सर्जनात्मकता को कृष्णा जी ने विशेष रूप से सराहा है। मुक्तिबोध का समूचा काव्य उनकी दृष्टि में भारतीयता का आख्यान है। मुक्तिबोध प्रसंग में राठी लिखते हैं : 'मुक्तिबोध की कविताओं या कविता के अंशों से सन्नद्ध, कवि से जुड़े अनेक मुखर छायाचित्रों से सँवरे छोटे-छोटे अध्यायों में कृष्णा जी ने कुछ विशिष्टताओं को बार-बार रेखांकित किया है : भारतीय सहनशक्ति, भारतीय मन, भारतीय आकाश, नागरिक के रुप में मुक्तिबोध, विविधताओं को सम्मान देता संविधान, आज़ादी का आन्दोलन, विभाजन की विभीषिका, भयावह यथार्थ का चित्रांकन... चित्रात्मकता, अपने को जाँचना, अहं का तिरस्कार...' (पृ. 160-161) वस्तुतः जो चिन्ता मुक्तिबोध की रचनाओं में सर्वत्र दिखायी देती है, वह कृष्णा सोबती के व्यक्तित्व का अनिवार्य पक्ष है। मुक्तिबोध की रचनाधर्मिता उन मूल्यों की तलाश करती है जो आज़ादी के साथ जुड़े हुए थे किन्तु जो व्यवस्था के कुचक्र में फँसकर दुःस्वप्न मात्र रह गए। और मुक्तिबोध की इस तलाश में कृष्णा जी भी कुछ वैसा ही तलाशती नज़र आती हैं।

कृष्णा जी का ज़िन्दगीनामा अत्यन्त रोचक, उत्साह से लबरेज़ और आज़ादपरस्त है। उनकी रचनाओं के पात्र निजी सत्ता के प्रति सतर्क हैं। 'इण्डिविजुअलिटी' की धमक उनके पात्रों को उन्हीं से मिली है। मित्रो की बेबाकी, पाशो की व्यथा, महकबानो की बग़ावत सब मिलकर कृष्णा जी को सम्पूर्णता में दिखा जाते हैं। उनकी रचनाओं में झाँक-झाँक कर गिरधर राठी ने उनके व्यक्तित्व के मर्म को तलाशा है। उनकी मानसिक संरचना उनकी सृजनशीलता को मज़बूती देती है। समझौता करते हुए जीवन में आगे बढ़ना उन्हें स्वीकार्य नहीं। इसीलिए लहरों से दो-दो हाथ करते हुए भी वे सागर के बीचो-बीच बढ़ती रहती हैं। किनारा पाने की कोशिश करती नहीं दीखती। अपनी रचना-यात्रा में उन्होंने जो भी विषय चुने हैं, उनमें वे जीवन-स्पंदन भर सकी हैं। स्त्रीवादी होने का दंभ भरे बिना वे सशक्त स्त्री चरित्र रचती हैं जो अपनी अस्मिता को निरन्तर सहेजते हैं। उनके सभी स्त्री पात्र चुनौतियों का डटकर सामना करते हुए अपने को खड़ा करते हैं। पुरुषवादी मानसिकता की बनी बनायी राहें उन्हें अरुचिकर लगने लगती हैं जब वे उनके लिए बेड़ियाँ मात्र हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में स्वयं निर्णय लेने की क्षमता और विरोध का साहस सोबती जी की नायिकाओं का चरित्र निर्मित करता है। गहरे तनावों को झेलती हुई वे अपनी लक्ष्मण रेखा ख़ुद तय करती हैं। 'दिलोदानिश' की महकबानो जो दूसरी औरत होने का दंश झेलती है और अन्ततः अपने अधिकारों के लिए बग़ावत करती है। उसकी यह बग़ावत पुरुष सत्तात्मक समाज में औरतों के लिए क़दम-क़दम पर बनायी गयी हदों को तोड़ने के लिए है। 'मित्रो का भाग्य' शीर्षक से राठी ने 'मित्रो मरजानी' की केन्द्रीय पात्र मित्रो पर विस्तार से चर्चा की है। मित्रो एक ऐसी स्त्री पात्र है जिसे केवल स्त्री देहधर्मिता से जोड़कर देखना अन्याय ही होगा। उसके भीतर सामाजिक संस्कारों की टकराहट भी साफ़ देखी जा सकती है। 'सूरजमुखी अँधेरे के' में रत्ती का चरित्र एक विशिष्ट भावभूमि पर रचा गया है। बचपन में हुए बलात्कार से उसके मन-मस्तिष्क पर भय की ऐसी कठोर परत चढ़ जाती है जो उसके स्त्री होने के एहसास को भी मार देती है। कृष्णा जी की अनेक रचनाएँ विभाजन के संत्रास को घरेती हैं फिर चाहे वह 'चन्ना' हो या 'ज़िन्दगीनामा' और राठी मानते हैं कि 'डार से बिछुड़ी' की पाशो का जीवन भी उसी पीड़ा से जुड़ा हुआ है।

इस तरह उनकी कोई भी स्त्री पात्र पुरुषवादी सोच के दायरे में नहीं बँधती बल्कि तयशुदा मर्यादाओं को तोड़कर वह अपने लिए नयी मर्यादाएँ गढ़ लेती हैं। किन्तु इसके समानांतर वह

नारीवादी विचारधारा के एकांगीपन से भी अलग छिटक कर अपनी राह बनाती है। पात्रों से अन्तरंगता इतनी थी कि उनकी छवि को धूमिल होने से बचाने का प्रयास भी कृष्णा जी को सबसे अलग करता है। गिरधर राठी ने उस प्रसंग को बड़े सहज ढंग से उकेरा है जब 'मित्रो मरजानी' पर फिल्म बनने की प्रक्रिया में मित्रो के चरित्र के साथ छेड़-छाड़ की संभावना देख वे व्यग्र हो उठती हैं और जैनी मेहरबान सिंह रच देती हैं।

राठी जी बड़ी सटीक स्थापना देते हैं कि महादेवी जी नारीवाद के जिस औदात्य को लेकर चली थीं जिसमें किसी के अस्तित्व के खण्डन का प्रश्न ही नहीं था, उसी परंपरा को आगे बढ़ाती हैं कृष्णा सोबती। वे स्त्री-पुरुष को एक दूसरे का पूरक मानती है और स्त्री के स्वत्व की एक नयी परिभाषा रचती दिखायी देती हैं। उन्होंने जो भी किया खुलकर किया। जो भी सोचा उसे अभिव्यक्ति का जामा पहनाया। किसी से दबकर या डरकर लेखकीय गरिमा को धुंधला नहीं होने दिया। विवादों के घेरे में भी अपनी दृढ़ता को कायम रखते हुए अनवरत् लिखती रहीं। लेखकीय जीवन के अति तनावपूर्ण क्षणों में भी उनकी रचनाएँ आती रहीं। जब बात रचनाकार के स्वातंत्र्य की हो तो वे ज़िद पर अड़ जाती थीं, कई बार तो अनावश्यक होने की हद तक।

वे स्त्री विमर्श का राग नहीं छेड़तीं किन्तु स्त्री-लेखन में एक नयी भूमिका निर्वाह करते हुए उसे गति देती हैं। यह भूमिका हर प्रकार के समझौतों से परे है, जो झुकना तो नहीं जानती। हाँ, हवा के विरूद्ध खड़े रहकर अपनी उपस्थिति का खट्टा-मीठा एहसास अवश्य कराती है। उनके व्यक्तित्व की बेबाकी जो प्रायः उन्हें निकट से न जानने वालों के लिए उनके घमण्डी होने का भ्रम पैदा करती थी। उस भ्रम को तोड़ने का राठी जी का अन्दाज़ निराला है। वे सोबती जी के शब्दों में इस भ्रम को उघाड़ देते हैं : 'दूसरों की निगाह से अपने को देखती हूँ तो एक मगरूर, घमण्डी औरत, चमक-दमक वाला लिबास और अपने को दूसरों से अलग समझने का अन्दाज़।' 'अपनी नजर से अपने को जाँचती हूँ तो एक सीधी-सादी खुद्दार शख़्सियत। वक़्त और ख़ुदा दोनों ही जिस पर ज़्यादा मेहरबान नहीं—फिर भी अपने जिगरे के ज़ोर से ज़िन्दादिल।' (पृ. 21) वे खुद अपने को पहचानती भी हैं तो अपने लेखन से ही। वे स्वीकारती हैं कि लेखन के समय वे अपने को पूर्ण महसूस करती हैं यानि उनका लेखन ही उनका जीवन-रस है। जड़ों में पैठना और नवता को अपनाने की चाह कृष्णा जी को अपनी माँ से विरासत में मिली थी। समय से आगे देखने की सोच में वे अपनी जननी को अधिक श्रेष्ठ मानती हैं : 'उनकी आँखों में दिखता कि वह मुझमें स्त्री के भविष्य की कल्पना कर रही हैं और मैं अपने तईं इतना भर ही कि अगर माँ मेरी बेटी होतीं तो मेरी सीमाओं का अतिक्रमण कर मेरी कमियों को पूरा करतीं। मुझसे कहीं आगे होतीं। अगर वह मेरी बेटी होतीं।' (पृ. 67)

सोबती जी की सर्जना का समग्र अवलोकन, उनके व्यक्तित्व को निहायत अदब से पेश करने की कोशिश इस जीवनी को अलग रंग देती है। उनके लेखकीय जीवन के उतार-चढ़ावों, संघर्षों को बड़ी साफ़गोई से सामने रखकर गिरधर राठी ने जीवनी विधा को एक नया स्वरूप दे दिया है। राठी जी ने बहुत पहले ही यह तय कर लिया था कि कृष्णा सोबती के सानिध्य में बिताए गए समय और निकटता से देखे उनके जीवन को जीवनी विधा का संस्पर्श देते हुए वे सामने लाएँगे। 'आजकल' के दिसम्बर 2019 के अंक में हरिमोहन मिश्र को दिए गए साक्षात्कार में उन्होंने इसका ज़िक्र भी किया था।

उनकी रचनाओं में बुलन्द तीखी आवाज़ एक अति भावुक मर्म भी छिपाए हुए है जो अन्याय बर्दाश्त कर पाने में अक्षम है और इसीलिए विरोध और अस्वीकार सदा ही कृष्णा जी

के सहचर बने रहते हैं। राठी जी ने उस प्रसंग को उद्धृत किया है जब सम्प्रदाय और अन्धविश्वास विरोधी लेखन का हवाला देकर कन्नड़ के कलबुर्गी और मराठी के पनसारे की हत्या कर दी गयी थी। इस घटना के विरुद्ध देश भर में आंदोलन हुआ और अनेक लेखकों ने अपने पुरस्कार लौटाकर अपना प्रतिरोध जताया। कृष्णा जी भी उन तमाम लेखकों, कलाकारों, बुद्धिजीवियों के साथ खड़ी होती हैं और 'ज़िन्दगीनामा' पर दिए गए साहित्य अकादेमी पुरस्कार तथा साहित्य अकादेमी की रत्न सदस्यता भी लौटा देती हैं। इसी तरह 'नया ज्ञानोदय' में विभूतिनारायण राय द्वारा स्त्री-लेखिकाओं के लिए प्रयुक्त 'छिनाल' शब्द पर कृष्णा जी खुला विरोध करती हैं। राठी जी ने लिखा है कि वे महादेवी से रोहिणी अग्रवाल तक की चर्चा करते हुए प्रश्न करती हैं : 'बतायें कि औसतन इस स्त्री लेखन समूह का रचनात्मक स्तर आपके साहित्यिक मानदण्डों से कितना नीचे है। क्या ये गर्म फुल्कियाँ बनाने और कशीदा काढ़ने के ही क़ाबिल हैं ? अब सोशियोलॉजी, सेक्सुअलिटी और सेक्स को नए सन्दर्भों में पढ़ने की ज़रूरत है। पिछली शताब्दियाँ गुज़र चुकी हैं।' (पृ. 225)

यह गिरधर राठी की ख़ूबी है कि कृष्णा जी से आत्मीयता के बावजूद वे बड़े तटस्थ भाव से विविध मुद्दों पर उनकी भूमिका को प्रकाश में लेकर आते हैं। आपातकाल में उनकी भूमिका समर्थक की थी या वे अपने चिर परिचित तेवर के साथ उसके विरोध में थी—इस बात को स्पष्ट करने के लिए राठी अनेक तर्क देते हैं, खोजबीन करते हैं, दूसरे लेखकों के साथ भेंटवार्ताओं का सहारा लेते हैं किन्तु अपनी ओर से कोई निष्कर्ष नहीं थोपते। उनकी यह शैली जीवनी की प्रामाणिकता और प्रभाव दोनों को अक्षुण्ण रखती है।

एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रसंग अमृता प्रीतम और कृष्णा सोबती के बीच 'ज़िन्दगीनामा' शीर्षक को लेकर चली लम्बी मुक़दमेबाजी का है, जिसे बिना कोई पक्ष-विपक्ष खड़ा किए राठी जी ने खुलकर सामने रखा है। उनका यह कहना बेहद अहम है कि 'अगर अमृता जी ने कृष्णा जी का सुझाव मान लिया होता या अगर कृष्णा जी ने इसे प्रतिष्ठा का प्रश्न न बनाया होता। तो इन दोनों की जीवनियों में कोई दूसरे रंग हम लोग खोज रहे होते...।' (पृ. 200) स्वयं कृष्णा जी के शब्दों के आलोक में देखें तो 'लेखन मात्र लिखना ही नहीं'; लिखना जीना है, भिड़ना है, सामना करना है, उगना है, उगते चले जाना है।'

लेखक के न रहने पर उसके व्यक्तित्व के अनदेखे पहलू, अनबूझी इच्छाएँ बलवती हो उठती हैं। अज्ञेय के सम्बन्ध में कृष्णा जी ने जिस नयी ज़िन्दगी की चर्चा की है, 'दूसरा जीवन' मानो उसी को पुष्ट करता दिखायी देता है। साहित्य जगत में कृष्णा जी की उपस्थिति के जो मायने थे, वो हमेशा रहेंगे किन्तु इस जीवनी के बहाने गिरधर राठी ने उनके मर्म को पहचानने और उनके दूसरे जीवन को प्रत्यक्ष करने का बीड़ा उठाया है। कुछ स्थानों पर दोहराव अवश्य प्रवाह को रोकता है और कहीं-कहीं पर क्रमबद्धता का अभाव होने से कथा सूत्र को जोड़ने में परिश्रम भी करना पड़ता है किन्तु इतनी सरलता से कृष्णा जी के जीवन का आकलन कर राठी जी ने उन्हें पाठकों के और क़रीब ला दिया है।

एक बार किन्हीं अलग सन्दर्भों में राठी जी ने संजीव मिश्र की कविता 'ज़िम्मेदारी' की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की थीं—

दुनिया की बढ़ती ग़ैर ज़िम्मेदारी में
सच्चाई को सँभालने के लिए
कल सबसे ज़्यादा ज़रूरत होगी

सही और ज़िम्मेवार
शब्दों की।'

और उस परिस्थिति में कृष्णा जी जैसे रचनाकारों के शब्द एक नयी परिभाषा गढ़ेंगे, राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वबोध की, एक स्वतन्त्र चेता के रूप में समाज के हर कोण को जाँचने-परखने की, निष्पक्ष और स्वतंत्रधर्मा साहित्य की। कृष्णा सोबती की इस वैचारिक स्वतन्त्रता की थाती को सहेजकर रखना हमारी ज़िम्मेदारी भी है और ज़रूरत भी। जहाँ तक इस जीवनी की बात है तो इसे पढ़ने के बाद जब कोई पाठक कृष्णा जी की रचनाओं की राह से गुजरेगा तो निःसन्देह कृष्णा जी भी उसकी साथी राहगीर होंगी।

दूसरा जीवन (जीवनी) / गिरिधर राठी / सेतु प्रकाशन, दिल्ली / ₹ 280

संपर्क : सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु, सिद्धार्थनगर-272202 (उ.प्र.)
मो : 6387910660

वाचिक परंपरा की लिखित अभिव्यक्ति है 'एक और जनी शिकार'

महेश कुमार

''आदिवासी साहित्य का मुख्य स्रोत इसकी पुरखा स्मृतियाँ हैं। इसे हिंदी कविता के रूप में लिपिबद्ध और लिखित अभिव्यक्ति देने में अभी तीसरी-चौथी पीढ़ी सृजनरत है। ग्रेस कुजूर हिंदी में आदिवासी कविता लेखन की पहली और दूसरी पीढ़ी के बीच की कड़ी हैं। इनका मानना है कि साहित्य की शुरुआत सृष्टि के सौंदर्य से होती है।''[1] उनके द्वारा दिए गए सृष्टि संबंधित दृष्टांतों का सार यह है कि सृष्टि सुंदर तो है पर इसकी शुरुआत खुरदुरेपन से होती है। जब इसे तराशा जाता है तब इसका सौंदर्य निखर कर प्रस्तुत होता है। इसी तरह आदिवासी साहित्य भी ''एक खुरदुरेपन से शुरू होता है।''[2] अर्थ यह हुआ कि जबतक आदिवासी समाज पर बाहरी हमले होते रहेंगे आदिवासी कविताएँ खुरदुरेपन की प्रक्रिया से होते हुए अपने दर्शन परंपरा के सौंदर्य को जनता के सामने प्रस्तुत करती रहेगीं।

इसी प्रतिबद्धता के कारण यह कविता संग्रह शुरू 'आग' से होता है और खत्म 'मशाल' पर है। 'मशाल' के लिए 'आग' का होना जरूरी है। 'आग' तभी अपनी ऊर्जा (ऊष्मा) बनाये रखती है जब उसे पर्याप्त ईंधन सामग्री मिलती रहे।

ग्रेस कुजूर की आदिवासियत की समझ, मुख्यधारा में काम करते हुए (आकाशवाणी में लंबे समय तक कार्यरत) दो भिन्न संस्कृतियों की मूलभूत वैचारिक समझ और अनुभव की गहनता तथा रचनात्मक लेखन में विषय वस्तु की विविधता, उनके अंदर की 'आग' को ईंधन देती रही है जिसे वे सामूहिक रूप से 'मशाल' के रूप में देखती हैं। कवयित्री की जीवन-दृष्टि और विश्व-दृष्टि देशजता से प्रेरणा पाती रही है जिसमें समाज को समग्रता में देखने के साथ-साथ नारी नेतृत्व की झलक भी स्पष्ट है। कुजूर जी के (आदिवासी) स्त्री चिंतन में मुख्य रूप से मुख्यधारा के समाज के सांस्कृतिक वर्चस्व और आर्थिक-सामाजिक नीतियों के विश्लेषण और प्रतिकार हैं। उनके यहाँ लैंगिक समानता के विचार उनके सांस्कृतिक मूल्य में ही निहित हैं इसलिए नस्लीय, जातीय हिंसा का अभाव है। विख्यात आलोचक वंदना टेटे अपनी किताब

'वाचिकता' में 'वाचिकता और आदिवासी स्त्रियाँ' शीर्षक के तहत लिखती हैं, ''हालाँकि कुछ बंदिशें यहाँ भी हैं, परंतु सामंती क्रूरता और धार्मिक आडंबरों के किले में आदिवासी स्त्री कैद नहीं है। आदिवासी समाज में पुरुष सत्ता नहीं होने से स्त्रीवाद भी नहीं है।''[3] ''उनके विमर्श में वर्चस्व की आक्रामकता नहीं, बचाव के युद्ध गीत हैं।''[4]

मुख्यधारा का स्त्री चिंतन प्रायः अपने ही समाज के सांस्कृतिक वर्चस्व से मुक्ति पाने के लिए संघर्षरत है जिसमें जातीय, नस्लीय और लैंगिक हिंसा से मुक्ति के प्रश्न मुखरता से आते हैं। मुख्यधारा की स्त्रियों को बाहरी सांस्कृतिक ताकतों से संघर्ष नहीं करना है। जबकि आदिवासी स्त्रियों को अपने ही देश के मुख्यधारा के सामंती और औपनिवेशिक हमलों से भी लड़ना है और वैश्विक सांस्कृतिक खतरों से भी जूझना है। दो भिन्न स्त्री समाजों के संघर्ष के समाजशास्त्रीय अध्ययन को इसी मूलभूत अंतर से समझा सकता है।

कुजूर जी इस अंतर को रचनात्मक अभिव्यक्ति देते हुए 'स्वाद' कविता में लिखती हैं :

मेरी शादी वहाँ नहीं करना
जहाँ के धान के खेत में
चलानी खाद लगा हो।
मेरी शादी वहाँ करना
जहाँ के भात का
माड़-झोर स्वाद लगता है।

माड़-झोर का स्वाद क्या मुख्यधारा के स्त्री चिंतन के लिए कोई गम्भीर विषय हो सकता है? शायद नहीं। उनके लिए विवाह संस्था एक गम्भीर विषय है जबकि आदिवासी स्त्री के लिए विवाह संस्था से ज्यादा अपने परिवेश का 'स्वाद' एक गम्भीर मामला है। उपर्युक्त कविता में 'स्वाद' उसी का एक घटक मात्र है। यहाँ कवयित्री के स्त्री चिंतन में प्रकृति और देशजता के प्रति लगाव को सहज रूप में पाठक समझ सकते हैं। आदिवासी स्त्री चिंतन की यही प्रमुख विशेषता है जिसे चिह्नित किए बिना आदिवासी स्त्री लेखन का विश्लेषण करना बेमानी है।

कुजूर जी अपने स्त्री चिंतन में आदिवासी जीवन के संदर्भ के अलावा मुख्यधारा में अपने जीवनानुभव की अभिव्यक्ति को भी स्थान देती हैं। वे इसके लिए नए बिम्बों के रचनात्मक प्रयोग के साथ-साथ परंपरागत बिम्बों की पुनर्व्याख्या भी प्रस्तुत करती हैं। जैसे वे 'पेंसिल' को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाती हैं। इस संदर्भ में रबर, कटर का प्रयोग होता है जो स्त्री पहचान और संघर्ष की हिस्सेदार बनती हैं। इन नवीन बिम्बों के माध्यम से कवयित्री हिंदी कविता के बिम्ब को समृद्ध करती हुई कलात्मक और वैचारिक योगदान देती है। यह आदिवासी स्त्री की मौलिकता की पहचान है :

मैं एक पेंसिल हूँ
थमाई जाती हूँ; दूसरे के हाथों
देह पर लगा ट्रेड मार्क
कंपनी का ठप्पा औरत...
छिली जाती हूँ बार-बार
सिरे के रबर से मिटाई भी जाती हूँ
बावजूद इसके जहाँ भी चलती हूँ
निशान अपना छोड़ जाती हूँ।

कुजूर जी; पुरुष समाज की भाषा में बसी स्त्रियों के प्रति यौनिक कुंठा का सांस्कृतिक

विश्लेषण करती हैं। पुरुष स्त्री से प्रेम, मित्रता, त्याग, सेवा सबकुछ चाहता है। इसके बावजूद जब दो पुरुष आपस में बहस या झगड़ा करते हैं तो आक्रोश के लिए माँ-बहन की गाली ही देते हैं जिसमें उनकी यौनिक कुंठा भद्दे तरीके से बाहर निकलती है। इस दोहरेपन पर तीखी आपत्ति दर्ज करते हुए वे कहती हैं :

तुम्हारी जिह्वा की बोली, भाषा हूँ
जिंदगी की मिठास भी हूँ
फिर तुम्हारी जुबाँ की निकृष्टतम गाली में
माँ, बहन, बेटी ही क्यों हूँ?

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस तरह के सांस्कृतिक वर्चस्व मुख्यधारा में जड़ें जमाए हुए हैं, जिनका विश्लेषण एक आदिवासी स्त्री कर रही है। ऐसा इसलिए क्योंकि उनको मुख्यधारा में काम करने का लम्बा अवसर मिला जिसे उन्होंने रचनात्मक अभिव्यक्ति दी। आदिवासी स्त्रियों की रचनाओं में, कविताओं और गीतों में, गैर आदिवासी मूल्यों और विकास को लेकर तीखी आलोचना है, गम्भीर विमर्श है।''[5] ''आदिवासी भाषाओं में मजदूर, चोर, अपराधी, लालच, घृणा और माँ-बहन की गालियों जैसे नकारात्मक शब्दों का नितांत अभाव है।''[6] यही कारण है कि ग्रेस कुजूर को लैंगिक कुंठाओं से युक्त गालियाँ परेशान करती हैं। वे मुख्यधारा में काम करते हुए भी अपनी दूरदर्शिता को बनाये रखती हैं और इस बात को रेखांकित करती हैं। ''आदिवासी कवि स्त्रियाँ जो सृजनरत हैं और संघर्ष के मचानों को बाँध रही हैं, इन सबका ताल्लुक विभिन्न आयु और श्रम की पृष्ठभूमि से है। समुदाय में हो रहे तमाम परिवर्तन, संकट, समस्या को लेकर वे चिंतित हैं।''[7] इसलिए कवयित्री का विचार है कि जब तक आदिवासी समाज में भी मौजूद स्त्रियों की समस्याओं पर विचार नहीं होगा, तबतक आदिवासी समाज की सामूहिकता का मार्ग भी अवरुद्ध रहेगा। इसलिए वे अपने समाज के धार्मिक अंधविश्वास पर तत्परता से कलम चलाती हुई 'गाँव निकाला' कविता में लिखती हैं :

सुसारी रो रही थी, ठिठुर रही थी
जोहार कर रही थी सभी को
भीड़ चिल्ला उठी डायन है यह
माँ फफक पड़ी
उसकी बेटी नहीं है 'डायन'
और गाँव वालों ने सुना दी सजा
गाँव निकाला।

किसी भी समाज के सशक्तिकरण के लिए दो बातें महत्त्वपूर्ण होती हैं। पहला, अपने समाज के अंतर्विरोधों की समझ और दूसरा, विभिन्न सत्ता समूहों से संघर्ष के लिए श्रम की महत्ता का समाजशास्त्रीय विश्लेषण। ग्रेस कुजूर की कविताओं में दोनों ही विचार प्रमुखता से बिम्बों के सर्जनात्मक प्रयोगों के साथ उपस्थित होता है। जहाँ प्रकृति के साथ आदिवासी महिलाओं के श्रम के संबंधों की बात है वहाँ वे गुहार करती हैं :

कितना पानी पियोगे सूरज
कुछ भी पीना उसके घड़े का
पानी मत पीना।
पीना है तो उसका पसीना पीना
आँखों के आँसू पीना

कल आना, बादलों के संग आना
पानी ढोती औरत
उठाएगी तुम्हारे लिए
फिर एक बार घूँघट अपना।

पारंपरिक बिम्ब (सूरज) का सर्जनात्मक प्रयोग यह स्वतः ही सिद्ध करता है कि आदिवासी जीवन में प्रकृति उनके मित्र और पूर्वज की तरह हैं जिनसे उनका रिश्ता सहजीविता का है। इसलिए वे प्रकृति पर विजय की आकांक्षा नहीं रखते बल्कि प्रार्थना और मनुहार करते हैं। लेकिन, जैसे ही उनका सामना मुख्यधारा के वर्चस्ववादी ताक़तों से होता है, जहाँ उनके श्रम की महत्ता नगण्य है, वे अपनी देशज बौद्धिकता और आदिवासियत की समझ के साथ संघर्ष के लिए प्रस्तुत होते हैं। कुजूर जी को इस बात की गहरी समझ है कि आदिवासी श्रम को मुख्यधारा में सीढ़ी की तरह प्रयोग किया जाता है। संसदीय राजनीति की कुर्सी की खींचातानी में आदिवासी श्रम और उनके संसाधन मुनाफा कमाने के साधन हैं :

चढ़ जाते हो गगनचुंबी नारियल के पेड़ों पर भी
बिना सीढ़ी के,
लेकिन, तुम्हें क्या मालूम
चार पैरों की कुर्सी पर बैठने के लिए
तुम किये जाते हो इस्तेमाल
कुर्सी की तरह।

आजादी के बाद झारखंड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, पश्चिम बंगाल और उत्तर-पूर्व के आदिवासी संसदीय राजनीति में विकास के नाम पर विस्थापन और जहालत झेल रहे हैं जिसकी पहचान जयपाल सिंह मुंडा, राम दयाल मुंडा ने बहुत पहले कर ली थी। बाजार के विस्तार ने पूरे आदिवासी क्षेत्र को मुनाफे का सट्टा बजार बना दिया है जिसके विरुद्ध तीखी अभिव्यक्ति वर्तमान आदिवासी लेखन में भी स्पष्ट है।

संघर्ष के लिए वैचारिक ऊर्जा आदिवासी अपने पुरखों से ही प्राप्त करते हैं। साहित्यिक आंदोलन भी उनकी देशज बौद्धिकता से अभिप्रेरित है। उनके साहित्यिक और रचनात्मक लेखन में हिंदी साहित्य की तरह पश्चिम के वैचारिक आंदोलनों के प्रभाव बहुत कम हैं। अखड़ा, डमचक, बेतरा, मांदर, तीर-धनुष, सिनगी दई आदिवासी साहित्य और कविता के केंद्र में रहते हैं।

'एक और जनी शिकार' के माध्यम से कवयित्री आदिवासी समाज में स्त्री-नेतृत्व को स्वर तो देती ही है, साथ में हिंदी कविता में आदिवासी जीवन के परिवेशगत शब्दावलियों का सार्थक समावेश करती है। इससे हिंदी कविता की वैचारिकता और शब्द ग्रहण (भाषिक क्षमता) की परंपरा में भी समृद्धि आयी है। यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली, आदिवासी स्त्रियों का बाहरी सत्ता के साथ संघर्ष जो इतिहास में वाचिक परंपरा के रूप में दर्ज है। 'एक और जनी शिकार' के दो से अधिक संस्करण उनके गीतों में मिलते हैं जिसमें दुश्मन के रूप में कहीं ''चोरों, बख्तियार खिलजी और कहीं मुग़ल के रूप में प्रस्तुत किया गया है। लेकिन तथ्य वस्तुनिष्ठ है कि रोहतास गढ़ में यह संघर्ष हुआ था जिसमें सिनगी दई की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।''[8] इतिहासकारों की अनदेखी के कारण लंबे समय तक यह संघर्ष मुख्यधारा के इतिहास पाठ से वंचित रहा और आज भी वंचित ही है। यही वजह है कि इंद्र कुमार चौधरी जैसे विद्वान सबाल्टर्न इतिहास लेखन के लिए वाचिक परंपरा को स्रोत के रूप में प्रयोग करने की बात कह रहे हैं।[9] लोकल हिस्ट्री को ग्लोबल बनाने के लिए यह तरीका अपनाना ही होगा, विशेषकर

आदिवासी इतिहास सामग्री के संदर्भ में। आदिवासी विचारक और साहित्यकार रामदयाल मुंडा, वंदना टेटे बराबर अपने आलोचनात्मक लेखन में इस बात पर जोर देते हैं। वंदना टेटे कई मुंडारी गीतों का संदर्भ देते हुए बताती हैं कि 'दुलायचंद्र मुंडा, रामदयाल मुंडा आदि ने तमाड़ विद्रोह, बिरसा उलगुलान, भूमिज विद्रोह आदि का जिक्र किया है।''[10] अलग-अलग आदिवासी भाषाओं के गीतों में विभिन्न विद्रोह के ऐतिहासिक स्वर दर्ज हैं। आज जो संघर्ष लिपिबद्ध है वह उसी वाचिक और सांगीतिक परंपरा का प्रस्तुतिकरण है। इस कविता का दूसरा पहलू इसकी साहित्यिकता और परिवेश से जुड़ा होना है।

हिंदी क्षेत्र की कविता संबंधी आलोचना प्रायः अपने मानकों पर आदिवासी कविताओं को मापती और खारिज करती रहती है। जैसे-जैसे संवेदनाएँ और परिस्थितियाँ बदलती हैं, कविता की भाषा, बिम्ब, प्रतीक, नाटकीय योजना बदल जाती है। इसलिए काव्य विश्लेषण का मानदंड भी बदलते रहना चाहिए। वरिष्ठ आलोचक नामवर सिंह ने भी इस बात की जरूरत महसूस की थी और 'कविता के नए प्रतिमान' की रचना की। वंदना टेटे इस प्रवृत्ति का जवाब देते हुए लिखती हैं कि मुख्यधारा के आलोचकों को 'ऑरलिटी'[11], 'आदिवासीपन'[12] की सही समझ नहीं है। यही कारण है कि आदिवासी कविताओं को मुख्यधारा के साहित्यिक सौंदर्य के आधार पर खारिज किया जाता रहा है। इनकी कविताओं में राज्य की सांस्कृतिक, आर्थिक हमलों के खिलाफ प्रतिक्रिया को ''स्थायी भाव मान लेना एक भयंकर भूल है, जिसके शिकार बाहरी समाज के सिद्धांतकार और लेखक रहे हैं।''[13] इसी बात को और स्पष्ट करने के लिए वंदना टेटे कनाडियन आदिवासी लेखिका जीनेट आर्मस्ट्रांग के विचार को उद्धृत करती हैं, जिनका मानना है कि ''आदिवासी साहित्य एक 'पाठ' के रूप में चाहे वाचिक हो या लिखित बहुत छोटे हिस्से को ही उपलब्ध है। ऐसे में आदिवासी साहित्य और सौंदर्यबोध विषय ही विरोधाभासी जान पड़ता है।''[14] फिर भी मुख्य धारा के मानकों और काव्यभाषा संबंधी मतों के आधार पर भी आदिवासी कविताओं को परखें तो वे शत-प्रतिशत सटीक हैं, खासकर 'लिपिबद्ध हिंदी आदिवासी कविताएँ'। यहाँ, इस संदर्भ में नामवर सिंह मत देखना चाहिए, ''यदि कविता का आंतरिक सूत्र ढूँढने के लिए पाठक को उस कविता से बाहर सामयिक परिवेश का सहारा लेना पड़े तो यह कविता की पराजय है।''[15]

'एक और जनी शिकार' कविता में उद्धृत सांस्कृतिक शब्द परिवेश, आर्थिक संरचना, सामाजिक व्यवस्था के बुनावट का बिना कृत्रिम बिम्ब के पाठक के सामने रख देते हैं जो बिल्कुल जीवंत और ताजगी लिए हुए है। भाषा का इतना रचनात्मक प्रयोग है कि हिंदी के काव्य सिद्धांत के साथ-साथ आलोचना भी नए सिद्धांत गढ़ने पर विचार कर सकती है। आदिवासी कविताओं में वह भाषा और विचार दोनों है जो हिंदी आलोचना और काव्य सिद्धांतों में बदलाव, नवीनता, मौलिकता, जीवंतता दे सकती है। जरूरी है मुख्य धारा के आलोचकों को अपने पूर्वग्रहों से मुक्त होकर नई बात सीखने की ललक और अपनी सीमाओं को स्वीकारने का अभ्यास।

अब 'एक और जनी शिकार' कविता के कथ्य पर विचार करते हैं। यह कविता संघर्ष के साथ-साथ उन आदिवासी जनता को धिक्कार भी प्रस्तुत करती है जो मुख्यधारा की चकाचौंध में आदिवासियत के केंद्रीय विचार को भूल चुके हैं। वह ऐसा कह पाती हैं क्योंकि ये स्त्रियाँ ''सवाल करती, उद्वेलित होती, पीठ पर छउआ (बच्चे को पीठ पर बाँधने वाला कपड़ा) उठाए शाल वनों से लेकर कंक्रीट के जंगलों में मोर्चे पर जाने की तैयारी करती साँवली छवियाँ हैं।''[16]

अब भी तुम्हारे हाथों की
उँगलियाँ थरथराई! तो जान लो,

मैं बनूँगी 'सीनगी दई'
बाँधूँगी फेंटा और कसेगी फिर से
बेतरा की गाँठ और तब होगा
फिर एक बार जबरदस्त जनी शिकार।

कुजूर जी की प्रतिबद्धता केवल जंगल या अपनी संस्कृति के लिए ही नहीं सीमित है। इस सामूहिकता का फलक विश्वव्यापी है जो उपभोग की संस्कृति के खिलाफ मुखर आवाज के रूप में सामने आती है। वे विकास की आर्थिक नीतियों में 'संभव वाद'(प्रकृति पर विजय पाने की आकांक्षा) और व्यवहारवादी सिद्धांत (मुनाफे के दृष्टिकोण) के खिलाफ हैं। आदिवासी चेतना में यह विचार साफ है कि प्रकृति पर विजय पाने की या अत्यधिक दोहन करने का विचार एक सनकीपन है जो अंततः सभ्यता को लील जाएगी। इसलिए कवयित्री चेतावनी देते हुए अपनी कविता 'हे समय के पहरेदारों' में कहती हैं :

तुमने अवश्य सुना होगा
एक वृक्ष की जगह
लगाओ दूसरा वृक्ष
क्या कभी सुना है
एक पर्वत के बदले उगाओ दूसरा पर्वत?
इसलिए फिर कहती हूँ
न छेड़ो प्रकृति को
अन्यथा यह प्रकृति एक दिन माँगेगी
हमसे-तुमसे अपनी तरुणाई का
एक-एक क्षण का हिसाब और
करेगी भयंकर बगावत
और तब न हम होंगे न तुम होंगे।

यह कविता पर्यावरण बचाने के तमाम वैश्विक दावे और सम्मेलनों को नंगा करती हुई बाजारवाद के विचार के खोखलेपन को स्पष्ट कर देती है। यही आदिवासी स्त्री लेखन की विश्व दृष्टि है। ''आदिवासी स्त्री अपने अस्तित्व को सामुदायिक आदिवासी अस्तित्व से अलग **ug° ekur°A**[17] यह एक बड़ा फर्क है मुख्यधारा की स्त्री और आदिवासी स्त्री में। कुजूर जी यह प्रेरणा पाती हैं अपने पुरखा ज्ञान परंपरा से, जिसमें 'प्रकृति' भी 'पुरखा' और मार्गदर्शक की तरह माने जाते हैं। इसलिए आदिवासी साहित्य अपने उद्देश्य में मनुष्य को नहीं, 'सृष्टि' को केंद्र में रखता है जिसके अंतर्गत मनुष्य और मानुषेतर सभी सजीव-निर्जीव शामिल हैं। उनके दर्शन में इंसान की भूमिका ''संरक्षक की है, मालिक या लॉर्ड की नहीं।''[18] रामदयाल मुंडा की किताब 'आदि धरम' (राम दयाल मुंडा, रतन सिंह मानकी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली) में यह विस्तार से आया है—आदिवासी धार्मिक और मिथकीय कथाओं, गीतों के जरिए। आज पर्यावरण के छेड़छाड़ का नतीजा है कि दुनिया कभी इबोला से जूझ रही है कभी कोरोना से। कुजूर जी की विश्व दृष्टि और आर्थिक नीतियों के विश्लेषण की क्षमता उन्हें एक सशक्त कवयित्री बनाती है। उनकी कविताओं में भूमंडलीकरण, शहरीकरण और उदारवादी नीतियों का आदिवासी संदर्भों के साथ आलोचनात्मक विश्लेषण है। भारत में चल रहे 'स्मार्ट सिटी' अभियान का काला सच दिखाने में उनकी कविता सफल ही नहीं सार्थक है, मारक है। झरिया शहर के माध्यम से यह तंज देखिए :

स्मार्ट सिटी रिंग रोड पर
झरिया का गाँव
शहरों को फैलता देखकर खुश था
शहर उसके गाँव तक आएगा
कुछ ही दिनों में झरिया देखता है
रिसते स्याह बदबूदार पानी को
खेतों में उतरते
उदास, हताश टूट जाता है झरिया
झरिया ने देखा-सोचा किसका सपना पूरा हुआ
उसका या स्मार्ट सिटी का?

कुजूर जी अपनी कविताओं के विषयवस्तु में विविधता को सँभाले हुए जीवन के विविध आयामों की ओर पाठक का ध्यान दिलाती हैं। बदलते समय के साथ आदिवासी समाज निश्चित तौर पर मुख्यधारा से जुड़ गया है, विभिन्न संस्थाओं में काम कर रहा है। ऐसे में आदिवासी मन की सांस्कृतिक संरचना में भी बदलाव आए। मुख्यधारा की मानसिक उलझनों ने उनके शारिरिक-मानसिक स्वास्थ्य और गरिमा को नकारात्मक रूप से प्रभावित किया है। उसकी अभिव्यक्ति भी अत्यंत व्यंग्यात्मक शैली में कुजूर जी प्रस्तुत करती हैं :

आज हर दफ्तर प्रेशर का शिकार है
मेरे बॉस को हाई ब्लड प्रेशर है
और मुझे लो ब्लड प्रेशर
डॉक्टर ने टेंशन न लेने की सलाह दी है
इसलिए हमने बीच का रास्ता निकाला है
न वो काम करते हैं
न हम काम करते हैं।

यह कविता अपने आप में तमाम आर्थिक समृद्धि के दावों को खारिज करती है और सभ्य समाज की विकास नीतियों की असफलता की कहानी कहती है। इस तरह की कविताएँ जिसमें गैर आदिवासी पृष्ठभूमि की झलक मिलती है, मुख्यधारा के आलोचक तुरंत नोटिस लेते हैं। लेकिन वहीं जब आदिवासियत की बात हो, जल-जंगल-जमीन की लड़ाई की बात हो तो कलात्मक आधार बनाकर दरकिनार कर देते हैं। 'सभ्य' समाज के मध्यवर्गीय अंतर्विरोधों पर लिखिए तो आप बड़ी कवयित्री की श्रेणी में शामिल हैं। ये दरअसल एक प्रकार का सेंसरशिप है जिसे मुक्तिबोध ने 'जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि' और 'सौन्दर्याभिरुचि का सेंसरशिप' कहा है। इस जाल में जो फँस गए वे अपने आदिवासियत के मूल विचार से कट जाते हैं। कुजूर जी इस साजिश की शिकार होने से बची रह गईं। वह बार-बार शहरों की दुनिया से पलायन करके वापस पुरखों की दुनिया में विचरण करती रहीं जिससे उनकी आदिवासियत बची रह गयी। उन्होंने आदिवासी समाज के अनुकूल आर्थिक समृद्धि की तुलना में 'जीवन की गरिमा और स्वतंत्रता' को ज्यादा महत्त्व दिया।

दरअसल मानवीय गरिमा और खुशी को जब तक मानव विकास की परिधि में शामिल नहीं किया जाएगा तब तक विकास के सारे दावे आर्थिक वृद्धि को संकेतित करते हैं न कि आर्थिक विकास को। अमर्त्य सेन और महबूब उल हक़ इसी को 'स्वतंत्रता और विकल्प (अवसर की निरंतरता) का मानव विकास के महत्त्व के रूप में विश्लेषण करते हैं।

इस प्रकार यह कविता संग्रह अपने विषयवस्तु की विविधता, आदिवासी स्त्री चिंतन की मौलिकता, देशज शब्दावलियों और वैश्विक समकालीन मुद्दों की विश्लेषण क्षमता के कारण आदिवासी रचनात्मक लेखन में प्रशंसा और पर्याप्त बहस की माँग करती है। कुजूर जी हिंदी आदिवासी कविता लेखन की शुरुआती पीढ़ी की महिलाओं में से एक हैं। इन्होंने साहित्यिक महिलाओं की पीढ़ियों को प्रेरणा दी, समुदाय की रीढ़ बनीं। अपनी कविताओं में मुख्यधारा और आदिवासियत के बीच के संतुलन को साधते हुए, संघर्षों के बीच सामंजस्य बनाते हुए यह सिद्ध किया कि ''आदिवासी साहित्य का उद्देश्य प्राकृतिक संसार के भीतर इंसानी गतिविधियों को, उसके सोच-विचार चिंतन आदि को शामिल करना है।''[19]

संदर्भ :

1. संपादक : रमणिका गुप्ता, आदिवासी समाज और साहित्य, कल्याणी शिक्षा परिषद, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015, पृ. 75
2. वही, पृ. 75
3. वंदना टेटे, वाचिकता (आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौंदर्यबोध), राधाकृष्ण पेपरबैक्स, प्रथम संस्करण, 2020, जगतपुरी, दिल्ली, पृ. 52
4. वही, पृ. 53
5. वही, पृ. 53
6. वही, पृ. 46
7. वही, पृ. 55
8. Anju Oseema Toppo and Nolina S.Minj, Jani Shikar & the Powerful History of Adiwasi Women Warriors, feminismindia.com, march 29, 2021
9. Indra kumar choudhary, from region to nation [The tribal revolts in jharkhand (1855-58)] Disha international publishing house; first published 2019, greater noida, pg: 15&29]
10. वंदना टेटे, वही, पृ. 18
11. वही, पृ. 46
12. वही, पृ. 46
13. वही, पृ. 35
14. वही, पृ. 36
15. नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान, पहला संस्करण- 1968, अठारहवाँ संस्करण- 2018, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ. 120
16. वंदना टेटे, वही, पृ. 53
17. वही, पृ. 54
18. वही, पृ. 45
19. वही, पृ. 34

एक और जनी शिकार / ग्रेस कुजूर / अनुज्ञा बुक्स शाहदरा, दिल्ली / प्रथम संस्करण, 2020

संपर्क : शोध-छात्र, हिन्दी विभाग, दक्षिण बिहार केंद्रीय विश्वविद्यालय, गया। ईमेल :manishpratima2599@gmail.com

खण्डहरों की वास्तविकता का वास्तुशिल्प

सुषमा भटनागर

साठोत्तरी हिंदी कविता के कवि डॉ. सुखबीर सिंह के चार संग्रहों का समवेत संचयन 'बयान बाहर से पुनर्सम्भवा तक' का हाल ही में प्रकाशित होकर आया हैं। 'भूमिका' में उनकी सुधी सहृदय पुत्री डॉ. मंजु मुकुल लिखती हैं कि किस प्रकार वर्षों पहले अपने संवेदनशील साहित्यकार पिता के असमय देहांत के पश्चात वे निरंतर इस दिशा में सोचती रहीं परन्तु अपने से अलग होकर अपनी 'तवील भूमिका' सहित यह कार्य इसी वर्ष संपन्न कर पाई। डॉ. सुखबीर सिंह हमारी पीढ़ी के लिए एक जाना पहचाना नाम है। 'दिविक' (दिल्ली विश्वविद्यालय कविता, 1969) के ज़माने से उनकी कविताएँ चर्चा में रहीं। 'दिविक' की कविताओं के लगभग पंद्रह वर्ष पश्चात उनका पहला कविता संग्रह 'बयान-बाहर' प्रकाशित हुआ। इस बीच उनकी पाँच आलोचनापरक कृतियाँ प्रकाशित हुईं। भविष्य में यदि इन पुस्तकों का भी पुनः प्रकाशन हुआ तो उनके विचारक रूप को अधिक गहराई से समझने में सहायता मिलेगी। कविता पर लौटा जाए तो इनके सभी कविता संग्रहों को संकलित कर डॉ. मंजु मुकुल ने उन्हें एक ही जिल्द में बाँधने का कर्तव्य निभाया है। जैसा कि उन्होंने लिखा भी है, यह किसी क्षणिक आवेग का परिणाम न होकर वर्षों से सीझते साहित्य प्रेमी गुणी मन का मर्यादित संकल्प है। पुस्तक के आभासी लोकार्पण समारोह में बोलते हुए उन्होंने बताया कि अपने पिता की कार्यस्थली अर्थात् दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रवेश करने के बाद किस प्रकार उनका भावार्त मन उस पिता को खोजता रहता है जिन्हें उन्होंने केवल उन्नीस वर्ष की अवस्था में खो दिया था। इस खोज का अंतिम शरण बार-बार पिता की कविताओं का अवगाहन होता जिसकी चरम परिणति है इस पुस्तक का संपादन।

अपने वरिष्ठ सतीर्थ कवि के विषय में यहाँ जीवनीपरक स्मृतियों का कोई भंडार नहीं है। अलबत्ता एक अवसर पर किसी गोष्ठी के पश्चात् दिल्ली विश्वविद्यालय के कॉफ़ी हाउस की गर्मागर्म बहस में उनका शालीन सस्मित वदन और गुरु गंभीर टिप्पणियाँ ही एकमात्र धरोहर कही जा सकती हैं। इन समग्र कविताओं को एक साथ पढ़ते हुए उन धूमिल सी स्मृति-रेखाओं

में उभरते व्यक्तित्व और इन रचनाओं में कोई दरार दिखाई नहीं दी। 1970 से 1985 के बीच अकविता की धुर दुपहरी में लिखी गई 'बयान-बहार' की कविताओं में अंधाधुंध मेढ़ें तोड़ने की हड़बड़ी अथवा अराजक आवेश का विस्फार नहीं मिलता। ये कविताएँ किसी शहनाई का दमकश बनकर आरोपित कोलाहल नहीं करतीं, ये किसी अनुष्ठान का अजपा जाप न होकर हाशिए पर धकेले गए मनुष्य की आर्त पुकार की निरायास प्रतिकृतियाँ हैं। ये अघाए हुए अतितृप्त वर्ग के बेचैन अलगाव का अष्टयाम कीर्तन न होकर दबे-कुचले, सीलन और दुर्गंध भरी कोठरियों के वासियों का प्रतिवेदन है, किसी पिटे-पिटाए ठेके पर गाया जाने वाला एकरस राग नहीं।

पहले स्वतंत्र कविता-संग्रह की शीर्षक कविता 'बयान-बाहर' की स्थितियों में व्याप्त ढोंग से बुरी तरह वितृष्ण मन, इन्हीं को व्यंग्य की धार पैनी करने का माध्यम बना लेता है। 'फाकों को व्रत' और 'विवशता को मोक्ष' कहने वाली व्यवस्था से उसकी ठनी रहती है। 'कूड़ाघर की नियामतों पर पलती गायों' की असलियत बेचैन किए रहती है। अलबत्ता 'बयान-बाहर' की एक-दो कविताओं में, जैसे, 'ठोस प्रेम' या 'सार्थक प्रेम' में अकविता का चालू मुहावरा या फिर 'स्वच्छ गिलास में स्वच्छ पानी' की अधकचरी मार्क्सवादी थियरी की परछाईं या कि परछावा झाँकता दिखाई पड़ता है। परन्तु इसी संग्रह की विशेषण रहित कविता 'प्रेम' में गंभीर गहन अनुभव और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। अगले संग्रह 'अनंतर' में ठीक इसी शीर्षक की कविता, यानी 'प्रेम' परिभाषाओं के अनुसंधान करती हुई उतना प्रभावित नहीं कर पाती। चारों संग्रह 'सब एक जगह' होने के कारण कविता का विकास क्रम सहज ही लक्षित होता जाता है। व्यापक सन्दर्भों से लगातार जुड़ते हुए उनकी कविता गहरी होती गई। 'पानी की छपाछप' में 'ठंडी हवस' के अनाचार से अभिज्ञ कवि मन जब इस अनुभव के दूसरे सिरे को थामता है तो जापानी खिलौने 'यो यो' की भाँति अनेक मधुर जीवंत प्रेम के क्षण साकार हो उठते हैं। 'अंश', 'तुम', 'सूखा फूल' इस दृष्टि से उल्लेखनीय प्रेम कविताएँ हैं। यहाँ कवि का एक दूसरा ही रूप दिखाई देता है :

अतीत!
जो ब्लाटिंग पेपर की तरह
सोखता तो है
मिटा नहीं पाता।

'रेगिस्तान' जैसी कविता में सर्वेश्वर की कविताओं की भी झलक दिखाई पड़ती है, परन्तु इसकी स्वीकारोक्ति कवि अपनी भूमिका में स्वंय कर चुका है। उनकी कविताओं में भावों का घात-प्रतिघात बराबर देखने को मिलता है, जो एकांगी मोहासक्ति का परित्याग है। इन प्रेम कविताओं के सैलाब में 'अँधेरे की परतें' जैसी कविता भी चली आती है जो विरस, दैनिक, दैहिक, आवर्ती संबंधों की निष्फल एकरसता का खुला बयान है। यह आरोह-अवरोह डॉ. सुखबीर सिंह की कविताओं का कैनवस विस्तृत करता चलता है। उनका कविता संसार किसी मतवाद की चौहद्दी तक सिमट कर नहीं रह जाता, कोई विचारधारा इसका पूर्णविराम नहीं बन पाती। सामाजिक-राजनैतिक सरोकार निजी जीवन से लेकर गाँव, शहर की सीमाएँ पार करते हुए राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों तक को समेट लेता है। इस पड़ताल के लिए उनका सबसे सशक्त हथियार व्यंग्य है। 'बयान-बाहर' की भूमिका में वे आह्वान करते हैं—

"वर्तमान परिवेश की माँग है कविता में प्रतीकों, मिथकों और कलात्मक बिम्बों का जंगल न खड़ा करके सहज संप्रेषणीय और व्यापक जनाधार से जोड़ा जाए। कविता को व्यंग्य की धार दी जाए ताकि उसका प्रभाव व्यापक एवं स्थायी हो सके।"

यही कारण है कि दूसरे संग्रह की शीर्षक कविता 'अनन्तर' में वे सामंती व्यवस्था के 'नक्काशीदार जालियों से बुने', 'गगनचुम्बी मीनारों के महल' या हवा महल' के स्थान पर एक खण्डहर की कल्पना करते हैं। 'गुम्बदों में लटके चमगादड़' उन्हें 'औंधे इतिहास' की याद दिलाते हैं। इन आधे-अधूरे अभिलेखों से तंग आकर वे व्यंग्य-विद्रूप का सहारा लेते हैं। साहिर लुधियानवी की प्रसिद्ध नज़्म 'आओ कि कोई ख़्वाब बुनें' की टेक पर वे 'आओ पूरे देश के लिए निर्जन खण्डहर बुनें' का कटाक्ष करते हैं और लोकधर्मी तेवर में अपनी बात सामने रखते हैं :

अपनी कील ठोंकने के लिए
आओ एक भुरभुरी ईंट चुनें!!

वे हर प्रकार की ग़ैर बराबरी को बेनक़ाब करते हुए, उसकी प्रेरणार्थक क्रियाओं का पर्दाफाश करते हैं। उनका स्त्री-विमर्श 'भूरि-भूरि ख़ाक धूल' छान लेता है—'और अकेली अबला औरत के जिस्म पर/ लिख दिया जाता है शिवलिंग' अथवा

अपना बच्चा डाल दिया
जैसे कुत्ते का पिल्ला
ताकि वे खाएँ सोने के निवाले और
दूध का करें कुल्ला

धर्म और जाति के सरौते से देश को खंड-खंड पाखण्ड बनाने वाली शक्तियों की वे खुलकर खबर लेते हैं। इस दृष्टि से उनकी कुछ कविताएँ जैसे 'बयान बाहर', 'भीड़ का तेवर', 'होली', 'अनंतर' एवं 'सूर्यांश' दोनों शताब्दियों का रोज़नामचा हैं।

'सूर्यांश' मात्र से अतृप्त एवं असंतुष्ट कवि सुधांशु की अमृत-वर्षा का आकांक्षी होता है। 'बयान-बाहर' की भूमिका में कवि ने इसे इंगित किया है—

"कविता का एक पैर वर्तमान में होता है और दूसरा भविष्य की सीमा रेखा के भीतर।" विशेषणवादी दृष्टि से विरत कवि, कविता में 'खरी' विशेषण लगाने में चुप लगा गये, क्योंकि यह लक्षण केवल खरी कविता का ही होता है। कविता और दैनन्दिनी में अंतर यही है कि वह कालबद्ध नहीं होती, नहीं होनी चाहिए। डॉ. सुखबीर सिंह की अधिसंख्य कविताएँ इस कालातीत विशेषता की धनी हैं। कुछ बानगी देखिए :

हमारे नेताओं का करिश्मा तो देखिए
बनाया है कुछ नगरों को स्वर्ग
और शेष देश की जनता को
स्वर्गवासी बनाया है।
अथवा

सिर्फ़ गिद्ध और कौवे जश्न मना रहे हैं
मंदिर के कंगूरों पर बैठकर
चिड़िया का मांस खा रहे हैं।
या फिर
जो खून आज़ादी की नींद में पड़ा था
वह अब विषवृक्ष बनकर फैल गया है
उस पर लदी हैं अनेक विष-बेल
लटके हैं विषफल।

इन रचनाओं की एक विशिष्टता जो विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है वह है बेहद बेतुकी विडम्बना भरी स्थितियों को एक निराली लय-ताल में प्रस्तुत किया जाना। एक बेताल लय इन ऊबड़-खाबड़ राहों में जैसे कवि का पीछा नहीं छोड़ती :

शायद यही दुनिया की रीत है
सभी के लिए सम्मान्य
मृत्यु का गीत है
जीवन के लिए तो
सभी कुछ विपरीत है।

क्लीन्थ ब्रूक्स ने जिस विडंबना को कविता की भाषा का प्रतिमान माना था वह इन कविताओं की आतंरिक बुनावट है :

अधूरा होता है जीवन। पूरा का पूरा व्यर्थ!

'सूर्यांश' संग्रह की कविता 'पत्थर का नगर' हिंदी ग़ज़ल के रियाज़ की भी पूर्वध्वनि लिए हुए है, जिसे उसकी अंतिम परिणति तक पहुँचाने की शायद कवि को मोहलत नहीं मिलीः

पत्थर के पावों में दुबके हैं पौधे
सहमे से आँखों को मूंदे खड़े हैं

तुकविहीन परिस्थितियों को इन संग्रहों की कविताई, कथ्य और रूप में द्वंद्वात्मक सम्बन्ध स्थापित करती हुई, तुकांत अभिव्यक्तियां साधती हैं। रूखे गद्य के क़तले काट-काट कर उन्हें काव्य मनवाने की ज़िद इन रचनाओं का स्वभाव नहीं। खण्डहरों की वास्तविकता की सीवन उधेड़ने का उनका अपना ही शिल्प है।

बयान-बाहर से पुनर्सम्भवा तक (डॉ. सुखबीर सिंह की अनंतर काव्य-यात्रा)/ संपादक : डॉ. मंजु मुकुल/ शिवालिक प्रकाशन, दिल्ली/ प्रथम संस्करण : 2021/ मूल्य : ₹ 995

संपर्क : एफ-85, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली-110016, मो. : 9818989647

भोजपुरिया प्रवसन का सांस्कृतिक इतिहास

संतोष कुमार

भारत में प्रवसन संबंधी इतिहास लेखन उपनिवेशवाद विरोधी चेतना का परिणाम है। इस संदर्भ में राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहास लेखन ने उल्लेखनीय कार्य किया है। दोनों ही तरह के इतिहास लेखन ने देश से बाहर होने वाले प्रवसन के बारे में अधिक लिखा है। लेखन शैली में भिन्नता होने के बावजूद राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहास लेखन प्रवसन को औपनिवेशिक शासन की शोषणकारी आर्थिक नीतियों और प्रवासी मजदूरों की विकट आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम मानता है। इतिहास लेखन की दोनों ही दृष्टियाँ अंग्रेज शासकों को एक शोषक की तरह और प्रवासी मजदूरों को एक असहाय शोषित की तरह पेश करती हैं। दोनों ही इतिहास दृष्टियाँ अपने लेखन के लिए आर्थिक आँकड़ों और आर्थिक परिस्थितियों को आधारभूत सामग्री बनाती हैं। बाद में प्रवसन के अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ वृज वी लाल ने आर्थिक आँकड़ों के आधार पर ही इन दोनों इतिहास दृष्टियों के शोषक-शोषित वाले सरलीकृत निष्कर्षों का खंडन किया और राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहास लेखन के एकांगी विश्लेषण की सीमाएँ बताई। दोनों ही इतिहास दृष्टियों और वृज वी लाल के इतिहास लेखन का देश के भीतर होने वाले प्रवसन पर ध्यान नहीं है। वे देश के भीतर की क्षेत्रीय असमानता और उससे उत्पन्न प्रवासी मजदूरों की समस्या पर ध्यान नहीं देते। अपने लेखन के लिए आर्थिक आँकड़ों तक ही सीमित रह जाने और औपनिवेशिक शासकों द्वारा भारतीय मजदूरों के आर्थिक शोषण पर अधिक ध्यान देने के कारण इतिहास लेखन की दोनों ही दृष्टियाँ देशज प्रवसन और उसके सामाजिक-सांस्कृतिक पहलुओं को नजरअंदाज कर देती हैं।

डॉ. धनंजय सिंह प्रवासी इतिहास लेखन की इस अपूर्णता को दूर करते हुए प्रवासी इतिहास लेखन में एक नया अध्याय जोड़ने की कोशिश करते हैं। एक तरफ यदि वह देश के भीतर होनेवाले प्रवसन का इतिहास लिखने की कोशिश करते हैं तो वहीं दूसरी तरफ आर्थिक आँकड़ों और आर्थिक परिस्थितियों के विश्लेषण के बजाय प्रवसन की सामाजिक-सांस्कृतिक निर्मितियों

और भाषा संबंधी विश्लेषण की तरफ अधिक ध्यान देते हैं। इसके लिए वह अपने इतिहास लेखन की आधारभूत सामग्री के रूप में मौखिक स्रोतों यथा कहावतों, पहेलियों, मुकरियों, लोक कथाओं, लोक गीतों, लोक आख्यानों और मुहावरों आदि का सहारा लेते हैं। इस मौखिक सामग्री की प्रमाणिकता की जाँच के लिए वे लिखित दस्तावेजों और मुद्रित लोक साहित्य का भी सहारा लेते हैं। यह इतिहास लेखन देश और राष्ट्र का इतिहास नहीं बताता। यह भोजपुरी बोलने वाले और भोजपुरिया अंचल में रहने वाले लोगों के देशज प्रवसन का सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास है। अपने इस इतिहास लेखन के प्रयास में इतिहासकार भोजपुरिया प्रवसन से प्रभावित हो रही लोक संस्कृति को तीन भागों में विभाजित करता है—सिपहिया लोक संस्कृति, बिदेसिया लोक संस्कृति और बनिजिया लोक संस्कृति।

भोजपुरी प्रदेश में रहने वाले लोगों की शौर्य और वीरता की मनोवृत्ति ने उनके प्रवसन में काफी योगदान दिया है। धनंजय सिंह अपनी पुस्तक में भोजपुरिया लोगों की शौर्य की मानसिकता के निर्माण के कारकों में लोक कहानियों और लोक गीतों की प्रमुख भूमिका देखते हैं। वह मध्य काल में जाते हुए आल्हा-उदल, लोरिकायन, रेशमा चुहड़मल इत्यादि गाथाओं के माध्यम से भोजपुरिया मानस में व्याप्त वीरता और शौर्य की भावना को रेखांकित करते हैं। मुगलिया सल्तनत और शेरशाह की सेना में इन भोजपुरिया जवानों की भरपूर उपस्थिति थी। उस दौर में सैनिकों की आपूर्ति की ठेकेदारी उज्जैनी राजपूतों के हाथ में होती थी और सिर्फ राजपूत जाति के लोगों को ही सेना में भर्ती किया जाता था। कभी-कभार दूसरी जाति के लोग भी राजपूत आइडेंटिटी के साथ ही सेना में शामिल किये जाते थे। औपनिवेशिक भारत में इसी शौर्य की मानसिकता की वजह से भोजपुरी भाषी जवान ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना में शामिल होते थे। इतिहासकारों के हवाले से धनंजय सिंह बतलाते हैं कि ईस्ट इंडिया कंपनी की बंगाल रेजिमेंट में सबसे अधिक सैनिक भोजपुर और अवध प्रांत के थे। कंपनी बहादुर की इस नौकरी का बहुत आकर्षण था क्योंकि इसमें महीने का वेतन और रिटायरमेंट के बाद पेंशन की भी व्यवस्था थी। इससे ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना में काम करने वाले इन सिपाहियों की आर्थिक जिंदगी काफी सुरक्षित हो जाती थी। अंग्रेजों की सेना में शामिल होने का एक आकर्षण और भी था। जमीन-जायदाद सम्बन्धी विवाद में अंग्रेज अफसरों की सिफारिशी पत्रों का बहुत महत्त्व होता था। देशी राजाओं और नवाबों के निर्णय इन सिफारिशों के पक्ष में होते थे। इस वजह से भी मँझोले और बड़े किसान अपने बेटों को कंपनी बहादुर की सेना में शामिल कराने को हमेशा ही तैयार रहते थे। भोजपुरिया लोक ने कंपनी बहादुर की सेना में शामिल सिपाहियों को पुरबिया, भोजपुरिया, तिलंगवा, बक्सरिया आदि संज्ञाओं से संबोधित किया। भोजपुरी के लोकख्यान और लोकागीत इन सिपाहियों को इन्हीं नामों से संबोधित करते हैं। धनंजय सिंह बतलाते हैं कि ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना में शामिल होने वाले यह सिपाही अधिकतर ब्राह्मण और राजपूत समुदाय के होते थे। निम्न जाति के लोगों को कंपनी बहादुर की बंगाल रेजिमेंट की सेना में शामिल नहीं किया जाता था। इस बात को दर्ज करते हुए धनंजय सिंह औपनिवेशिक सता के कारण भोजपुरिया समाज के बदलते शक्ति संबंधों और भारत के अलग-अलग हिस्सों में अंग्रेजों द्वारा अपनाई जा रहीं अलग-अलग नीतियों को रेखांकित करना चाहते हैं। सन 1857 के विद्रोह के समय में भी भोजपुरिया समाज की वीरता और शौर्य का परिचय मिलता है। 1857 के एक विद्रोही बाबू कुँवर सिंह को भोजपुरिया लोक ने एक नायक की उपाधि से विभूषित कर दिया। कुँवर सिंह और अमर सिंह की वीरता के किस्से आज भी भोजपुरिया लोकगीतों और लोकाख्यानों में प्रचलित हैं। यह लोकप्रियता इस बात का सबूत है कि भोजपुरी भाषी लोगों के मन में वीरता और शौर्य के प्रति आज भी गहरा आकर्षण

विद्यमान है। भारतीय सेना और दिल्ली-मुंबई की सुरक्षा एजेंसियों में भोजपुरिया जवानों की उपस्थिति शौर्य और वीरता के प्रति उनके आकर्षण का परिचायक है।

भोजपुरी समाज के सामंती ढाँचे के कारण आर्थिक संसाधनों पर बहुसंख्यक जन का कोई अधिकार नहीं रहा है। इस क्षेत्र के बहुसंख्यक जन मेहनत-मजूरी करके ही अपना जीवन बिताने को अभिशप्त रहे है। इस पर भी लगभग हर साल बाढ़-सुखाड़ और अकाल की परिस्थिति, कृषि के लिए मानसून पर निर्भरता आदि कारक बेरोजगार बहुसंख्यक जन को इस क्षेत्र से पलायन करने को मजबूर करते रहे हैं। आज भी यह स्थिति बदली नहीं है। उस दौर में भोजपुरिया जन कलकत्ता के जूट मिल, असम के चाय बगान और बॉम्बे के सूती कपड़ा के मिलों में मजदूर के रूप में काम करने के लिए जाया करते थे। धनंजय सिंह अपने इस शोध में बतलाते हैं कि इन मजदूरों के प्रवास से संबंधित गीत सुन्दरी बाई और दुनिया बाई के नाच और तमाशों में मिलते हैं। उन्हीं दिनों प्रवसनजनित विरह और वियोग के भाव को गाजीपुर के प्रसिद्ध बिरहा गायक बिहारीलाल यादव अपने बिरहा गीतों द्वारा संप्रेषित कर रहे थे। सन 1884 में पं बेनीमाधव राम ने अपने एक लोक गीत में बाहर गए पति के लिए 'बिदेसिया' शब्द का प्रयोग किया। लेकिन बिदेसिया लोक नाट्य शैली का पहला प्रयोग मीरगंज के मियाँ रसूल ने किया। बाद में भिखारी ठाकुर ने इस नाट्य शैली को लोकप्रियता दिलाई। भोजपुरी क्षेत्र में उनके बिदेसिया शैली के नाटकों ने धूम मचा दी। यह भिखारी ठाकुर के नाटकों का ही प्रभाव था कि भोजपुरिया लोक संस्कृति ने आजीविका के लिए शहर में गए पति को विरह-वियोग के कारण बिदेसिया कह कर संबोधित किया। उस जमाने में लोग रेलगाड़ी से कलकत्ता, ढाका, असम और बॉम्बे जाते थे। इसलिए लोक में प्रवसन और प्रवसन जनित वियोग का प्रतीक बनी रेल—पिया को परदेश ले जाकर बिदेसिया बनाने वाली रेल—'रेलिया बैरिन पिया को लिए जाये रे'। लोक में विरह का दूसरा प्रतीक है कलकत्ता—जहाँ बिदेसिया रोजगार की तलाश में गया है। भोजपुरिया लोक की प्रसिद्द कहावत है—'लागल झुलनिया के धाक्का, बलम कलकत्ता पहुँच गए।' उस जमाने में कलकत्ता देशज प्रवसन के साथ-साथ विदेशी प्रवसन का भी केंद्र था। अंग्रेजों द्वारा मॉरिशस और फिजी भेजे जाने वाले गिरमिटिया मजदूरों की भर्ती का केंद्र भी कलकत्ता में था। भोजपुरिया लोक में कलकत्ते की अनेक छवियाँ मिलती हैं। घर में रह गयीं परदेशी मजदूरों की पत्नियाँ कलकत्ते को विरह के प्रतीक के रूप में याद करती हैं। किसी के लिए कलकत्ते का पानी खराब है तो किसी के लिए वह मलेरिया का शहर है। किसी के लिए कलकत्ता बदनाम शहर है और वहाँ की औरतें जादू-टोने से परदेशी मर्दों को तोता-भेड़ा बना लेती हैं। इस लोक में कलकत्ते की सकारात्मक छवि भी है—उस कलकत्ते से मनीऑर्डर आता है; बिंदी, चुनरी, सिन्दूर, झुमका और गले का हार आता है।

भोजपुरिया क्षेत्र से सिर्फ फ़ौज के जवानों और मजदूरों का ही प्रवसन नहीं होता था बल्कि व्यापारियों का प्रवसन भी होता था। अंग्रेजी राज की स्थापना से पूर्व मध्यकाल से ही भोजपुरिया व्यापारी अपना माल बेचने के लिए बंगाल और नेपाल में प्रवसन करते थे। अलग-अलग वस्तुओं का व्यापार अलग-अलग जाति, समुदाय के लोग करते थे। तेली जाति और रौनियार बनिया समुदाय के लोग तेल और अनाज का व्यापार करने के लिए नेपाल की तराई से लेकर बंगाल तक जाते थे। शोभानायक बंजारा और कुँवर विजई की लोक कथा के माध्यम से धनंजय सिंह इन व्यापारियों के प्रवसन और प्रवसन के दौरान मार्ग में आने वाली बाधाओं, सुरक्षा संबंधी चिंताओं तथा लंबी दूरी के कारण होने वाली थकान और उसके निवारण के लिए मनोरंजन के साधनों के लिए किए जाने वाले उपायों का विस्तृत वर्णन करते हैं। इसी तरह लोरकी और बिरहा के माध्यम से यादवों के पशु व्यवसाय, सती बिहुला और लचिया रानी के गीत के माध्यम

से केवट और डोम समुदाय के लोगों के नदी-परिवहन संबंधी व्यवसाय, आल्हा-उदल के कथा गीत द्वारा नोनिया समुदाय के लोगों द्वरा सोरा के व्यवसाय में शामिल होने और सोरठी वृजभार, भरथरी व गोपीचंद के कथा-गीतों के माध्यम से जोगियों की घुमक्कड़ी को इतिहास में दर्ज करने की सफल कोशिश करते हैं।

वे अपने इतिहास में पुरुषों के प्रवसन के कारण उनकी स्त्रियों के वियोग, पारिवारिक-सामाजिक और यौन उत्पीड़न तथा असंख्य घरेलू जिम्मेवारियों को अकेले निभाने की पीड़ा को भी दर्ज करना नहीं भूलते हैं। वे विस्तार से बतलाते हैं कि आजीविका के लिए परदेश गए पुरुष की पत्नी के साथ परिजनों का व्यवहार बहुत ख़राब रहा है। उसे तरह-तरह से सताया जाता था। भोजपुरिया समाज द्वारा ऐसा ही व्यवहार उढ़री स्त्रियों, विधवाओं, परित्यक्ताओं और परदेशी द्वरा शहर से ब्याह कर लायी गयी स्त्रियों के साथ भी था। भोजपुरिया समाज ने इन मजबूर स्त्रियों के श्रम का शोषण किया। इन स्त्रियों का यौन शोषण करने तथा सामाजिक-सांस्कृतिक बहिष्कार करके कई बार उन्हें आत्महत्या करने या घर छोड़कर भाग जाने को मजबूर करने में भी इस समाज ने कोई कोताही नहीं की। इस लोक का ऐसा ही निष्ठुर व्यवहार जातिगत भेदभाव के रूप में भी देखने को मिलता है। लोक से अपनी तमाम आत्मीयता के बावजूद धनंजय सिंह भोजपुरिया लोक की इस अमानवीयता, संकीर्णता और निर्बल के प्रति क्रूरता के भाव को रेखांकित करना नहीं भूलते हैं। वे अपने इस नायाब इतिहास लेखन के दौरान यह भी बतलाते हैं कि प्रकाशन उद्योग के स्थापित होने पर इन लोकगीतों और लोक कथाओं को प्रकाशित करके इनका विपणन शुरू किया गया। पटना, बनारस और गोरखपुर इन चौपटिया पुस्तकों के प्रकाशन के केंद्र थे। प्रकाशित होने के बाद यह लोक साहित्य समुदाय और जातियों के दायरे को तोड़कर शहरी मध्य वर्ग तक पहुँचा। प्रकाशन के बाद इन लोकगीतों और लोक आख्यानों को नया रूप मिला और इनका मानकीकरण संभव हो सका।

लोक आख्यानों और लोक साहित्य के आधार पर भोजपुरिया प्रवासियों का इतिहास लिखते समय इतिहासकार लोक की अवधारणा पर भी अपना विचार प्रस्तुत करता है। यह प्रवासी इतिहास लेखक लोक संस्कृति की संरक्षणवादी और नियतिवादी विचार सरणियों का विरोध करता है। इस पुस्तक के लेखक का जीवन लोक में घुला-मिला है इसलिए वह लोक की जीवटता और जिजीविषा को बखूबी पहचानता है। वह लोक की प्रतिरोध की शक्ति का भी कायल है। वह मानता है कि आधुनिक शहर केन्द्रित व्यवस्था और उत्तर आधुनिक प्रौद्योगिकी की आँधी में भी लोक अपना अस्तित्व बचा पाने में सफल होगा। लोक संस्कृति और लोकप्रिय संस्कृति के आपसी संयोजन से लोक का बाहरी रूप भले बदल जाए लेकिन लोक की आत्मा में बसी मानवीयता, प्रकृति-प्रेम और लोक मंगल की भावना फिर भी बची रहेगी। लेखक को भरोसा है कि नयी प्रौद्योगिकी के सहारे लोक अपना बाहरी रूप भले बदलता रहे, लेकिन उसकी अंतरात्मा अक्षुण्ण रहेगी। भोजपुरिया लोक को जानने-समझने और प्रवसन के कारण वहाँ की लोक संस्कृति में होने वाले बदलाव को समझने के लिए यह पुस्तक उपयोगी है। इसकी उपयोगिता बढ़ जाती यदि भोजपुरिया प्रवसन का इतिहास लिखते हुए लेखक ने प्रवसन की सैद्धान्तिकी और विमर्शों से भी मुखामुखम किया होता। फिर भी हिंदी भाषा में नए तरीके के प्रवासी इतिहास लेखन के लिए इस पुस्तक का महत्त्व असंदिग्ध है।

पुरबियों का लोकवृत्त : वाया देस-परदेस / धनंजय सिंह / राजकमल प्रकाशन, दिल्ली / 2020 / ₹ 250

संपर्क : हिन्दी विभाग, शहीद भगत सिंह कॉलेज, नई दिल्ली–110017 मो. : 9868321431